एम.ए.एच.आई.-15

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

आधुनिक राजस्थान में समाज एवं अर्थव्यवस्था

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

आधुनिक राजस्थान में समाज एवं अर्थव्यवस्था

इकाई संख्या		पृष्ठ संख्या
इकाई - 1	राजस्थान में ब्रिटिश परमोच्चसता और नई परिस्थिति में सामन्तशाही	6–24
इकाई - 2	राजस्थान में सामाजिक स्तरीकरण एवं आर्थिक वर्ग	25–46
इकाई - 3	राजस्थान में जनसांख्यिकीय संरचना	47–64
इकाई - 4	सामाजिक कट्टरता एवं सामाजिक सुधार	65–78
इकाई - 5	शिक्षा एवं साहित्य	79–100
इकाई - 6	आधुनिक राजस्थान में सामाजिक व आर्थिक प्रवृत्तियां	101–125
इकाई - 7	भूस्वामित्व एवं अधिकार	126–138
इकाई - 8	भू-राजस्व निर्धारण पद्धतियाँ एवं वसूली	139–150
इकाई - 9	ग्रामीण कर प्रणाली	151–160
इकाई - 10	राजस्थान में कृषि उत्पादन का प्रारूप	161–174
इकाई - 11	मुद्रा बाजार,हाट एवं मंडी	175–184
इकाई - 12	पशुपालन एवं कृषि सम्बद्ध व्यवसाय	185–196
इकाई - 13	आधुनिक राजस्थान के मेले एवं त्योहार	197–220
इकाई - 14	अकाल-उसके सामाजिक व आर्थिक प्रभाव	221–233
इकाई - 15	ग्रामीण रिन ग्रस्तता	234–244
इकाई - 16	राजस्थान के कृषकों व कृषि मजदूरों की सामाजिक व आर्थिक स्थिति	245-273
इकाई - 17	राजस्थान की खानें व खनिज सम्पदा	274–291
इकाई - 18	उद्योग	292–307
इकाई - 19	व्यापार एवं वाणिज्य	308–323
इकाई - 20	परिवहन एवं संचार	324–332

पाठ्यक्रम विकास समिति

प्रो. भीम सेन शर्मा
कुलपति(अध्यक्ष)
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

डा. बृज किशोर शर्मा(संयोजक)
सह-आचार्य एवं विभागाध्यक्ष
इतिहास विभाग,
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

प्रो. जे.पी. मिश्रा
इतिहास विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,वाराणसी

प्रो. विजय कुमार वशिष्ठ
इतिहास विभाग
महर्षि दयानन्द सरस्वती विश्वविद्यालय, अजमेर

प्रो. एस.एन. दुबे
इतिहास विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

प्रो. डी.सी. शुक्ला
इतिहास विभाग
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय जोधपुर

प्रो. एस.पी. गुप्ता
इतिहास विभाग
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़

प्रो. रविन्द्र कुमार शर्मा
इतिहास विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

डा. कमलेश शर्मा
सहायक आचार्य, इतिहास विभाग
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

डा. याक़ूब अली खान
सहायक आचार्य, इतिहास विभाग
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

पाठ्यक्रम निर्माण दल

डा. राम प्रसाद व्यास
पूर्व विभागाध्यक्ष, इतिहास
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय जोधपुर(राज.)

श्री हरिशंकर शर्मा
खातीपुरा, जयपुर(राज.)

श्री सुखवीर सिंह गहलोत
जोधपुर (राज.)

डा. के.सी. माथुर
इतिहास विभाग
माणिकलाल वर्मा राजकीय महाविद्यालय
भीलवाडा (राज.)

डा. एल.पी. माथुर
पूर्व सह-आचार्य (इतिहास)
मोहनलाल सुखड़िया वि.वि. उदयपुर
(राज.)

डा. विनीता परिहार
सहायक आचार्य (इतिहास)
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय,
जोधपुर(राज.)

डा. अशोक शर्मा
सहायक आचार्य(राजनीतिशास्त्र)
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

श्री एच.सी.जैन
विभागाध्यक्ष,(इतिहास)
राजकीय महाविद्यालय, कोटा (राज.)

डा. बृज किशोर शर्मा
इतिहास विभाग,
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

डा. एच.एम. सक्सेना
विभागाध्यक्ष,(इतिहास)
दयानन्द महाविद्यालय, अजमेर(राज.)

डा. पी.एम. जैन
प्राचार्य
आचार्य तुलसी महाविद्यालय गंगापुर
भीलवाड़ा (राज.)

सम्पादक

डा. बृज किशोर शर्मा
इतिहास विभाग,
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा(राज.)

अकादमिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था

प्रो. .(डॉ.) नरेश दाधीच	**प्रो.(डॉ.) एम.के. घड़ोलिया**	**योगेन्द्र गोयल**
कुलपति	निदेशक(संकाय विभाग)	प्रभारी अधिकारी
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा (राज.)	**वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा (राज.)**	**वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा (राज.)**

पाठ्यक्रम उत्पादन

योगेन्द्र गोयल

सहायक उत्पादन अधिकारी,

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा(राज.)

पुनः उत्पादन- अगस्त 2010

इस सामग्री के किसी भी अंश को व. म. खु. वि., कोटा की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप मे मिमियोग्राफी (चक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यत्र पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

व. म. खु. वि., कोटा के लिये कुलसचिव व. म. खु. वि., कोटा (राज.) द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

इकाई – 1

राजस्थान में ब्रिटिश परमोच्चसत्ता और नई परिस्थिति में सामन्तशाही

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 सन्धियों की धाराओं का संक्षिप्त विवेचन

1.3 अधीनस्थ सन्धि–काल (1818–57) में ब्रिटिश परमोच्च सत्ता के सिद्धान्त की अवधारणा व विकास – "एक निगरानी" के सिद्धान्त की कार्यान्विति

1.3.1 अधीनस्थ सन्धि–काल (1858–1905) में ब्रिटिश परमोच्च सत्ता के सिद्धान्त की अवधारणा व विकास - "एक निगरानी के सिद्धान्त की कार्यान्विति"

1.4 ब्रिटिश परमोच्च सत्ता द्वारा (1906–1947) देशी राज्यों के प्रति पारस्परिक सहयोग, विश्वास व मित्रता की नीति का विवेचन

1.5 ब्रिटिश संरक्षण कालीन राजस्थान की नई व्यवस्था में सामन्तशाही,

1.6 सारांश

1.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

1.8 संदर्भ ग्रन्थों की सूची

1.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप अध्ययन करेंगे :–

- ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने किन परिस्थितियों में राजस्थान के राज्यों के साथ सब्जियाँ की–सन्धियों का स्वरुप ;
- ईस्ट इण्डिया कम्पनी सरकार द्वारा राजस्थान के राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप कर सर्वोपरिता की स्थापना करने का सतत् प्रयास;
- 1857 के विप्लव के पश्चात् ब्रिटिश क्राउन के शासन काल में ब्रिटिश परमोच्च सत्ता के सिद्धान्त की अवधारणा व विकास "एक निगरानी" सिद्धान्त की कार्यान्विति; . राष्ट्रीय आन्दोलन से अंग्रेजी सिंहासन को खतरा – ब्रिटिश परमोच्च सत्ता की नीति में परिवर्तन – देशी राजाओं के साथ पारस्परिक सहयोग, विश्वास व मित्रता की नीति; . द्वितीय विश्वयुद्ध व उसके बाद भारत को स्वतन्त्रता देने की प्रक्रिया के समय देशी राज्यों की भूमिका;
- 1947 में भारत स्वतन्त्र हुआ – सन्धियों का अन्त व राजस्थान के राज्यों को ब्रिटिश परमोच्च सत्ता से मुक्ति
- ब्रिटिश शासन काल में राजस्थान के राज्यों में सामन्ती ढाँचे में आये परिवर्तन।

1.1 प्रस्तावना

18वीं शताब्दी के उतरार्द्ध और 19वी शताब्दी के आरम्भ में राजपूताना के राज्यों में आन्तरिक युद्धों और बाह्य आक्रमणों के फलस्वरुप सर्वत्र घोर अशान्ति व अव्यवस्था व्याप्त थी। राज्यों के आय के स्त्रोत निरन्तर अवरुद्ध होते जा रहे थे और उनकी सीमाएं भी संकुचित हो रही थी। कृषि व व्यापार दोनों प्राय: नष्ट हो चुके थे। पिंडारियों की लूट–खसोट से प्रजा उत्पीड़ित थी। मराठों और अमीर खां के अत्याचारों से राजा से रंक तक सभी दुखी व संतप्त थे। 1786 ई. के पश्चात् राजपूत शासकों ने अंग्रेजों से सहायता प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करने आरम्भ कर दिये थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी अहस्तक्षेप व हस्तक्षेप की नीति का अनुसरण अपने हित को ध्यान में रख कर करती थी। कार्नवालिस के काल से अभी अहस्तक्षेप की नीति का पालन किया जा रहा था। अत: कम्पनी सरकार ने राजपूताना के देशी राज्यों को सैनिक सहायता देना स्वीकार नहीं किया। 1802 ई. में लार्ड वेलेजली ने मराठों के विरुद्ध युद्ध करने की योजना बनाई तब उसे राजपूत राज्यों के साथ सन्धि करने की आवश्यकता का अनुभव हुआ। 1803 ई. में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अलवर, भरतपुर और जयपुर राज्यों से सन्धियां की। जोधपुर राज्य से भी सन्धि करने का प्रस्ताव था, परन्तु वह फलीभूत नहीं हो सका।

होल्कर के साथ ईस्ट इण्डिया कम्पनी के युद्ध के समय भरतपुर के शासक रणजीत सिंह ने अंग्रेजों के साथ की गई सन्धि को भंग कर खुले रूप से होल्कर का साथ दिया। भरतपुर का घेरा डाला गया और इस पर अधिकार करने के अनेक प्रयास किए गए। अन्ततोगत्वा जाट राजा ने पुन: 17 अप्रैल 1805 ई को अंग्रेजों के साथ सन्धि कर ली। 30 जुलाई, 1805 ई. को कार्नवालिस ने एक बार फिर कम्पनी का शासन–भार सम्भाला। वह देशी राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप न करने की नीति का कट्टर अनुयायी था। इसके बाद सर जार्ज बार्लो ने भी इसी नीति का अनुसरण किया था। जयपुर राज्य पर सन्धि की परिपालना न करने का मिथ्या दोषारोपण कर 1803 ई. में की गई पारस्परिक सहायता सन्धि को भी उसने भंग कर दिया।

1813 ई में लार्ड हेस्टिंग्ज गवर्नर जनरल बना तब कुछ समय के बाद कम्पनी सरकार की नीति में परिवर्तन आया। सभी विरोधों का दमन कर वह देश में कम्पनी की परमोच्च सत्ता स्थापित करने के पक्ष में था। वह चाहता था कि कम्पनी महान मुगलों का स्थान ग्रहण करे और भारत में एकाकी शक्ति के रूप में शासन का संचालन करे। उस समय देश में पिंडारियों का बड़ा उत्पात था। लार्ड हेस्टिंग्ज ने पिंडारियों के आतंक को समाप्त करने का द्रुढ़ संकल्प किया। उसने राजस्थान के राजाओं को भी पिंडारियों के दमन में सहयोग देने को कहा। उन्हें इस बात के लिए आगाह भी किया कि यदि उनके द्वारा इस कार्य में किसी प्रकार का विघ्न डाला गया तो कम्पनी सरकार उन्हें शत्रु समझ उनके विरुद्ध कार्यवाही करने के लिए पूर्ण स्वतन्त्र होगी।

राजपूत राज्यों में मूलरूप से कुलीय प्रणाली सामन्ती व्यवस्था थी। सामन्ती उत्पात, मराठों के निरन्तर आक्रमण और पिंडारियों की लूट–खसोट से क्षुब्ध राजपूत शासक सार्वभौम सत्ता का संरक्षण प्राप्त करने के लिए अधीर थे। 1817 ई. में जब लार्ड हेस्टिंग्ज ने राजपूताना

के शासकों को ईस्ट इण्डिया कम्पनी के साथ संधि करने के लिए आमंत्रित किया तो वे तुरन्त तैयार हो गये।

सर्वप्रथम कम्पनी सरकार ने पठान अमीरखां को अपने लूट–खसोट के जीवन को समाप्त करने को कहा। उसे टोंक का शासक स्वीकार कर लिया गया और 15 नवम्बर 1817 ई. को उसके साथ ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने संधि कर ली। उसे ब्रिटिश संरक्षण में ले लिया गया। तत्पश्चात करौली (15 नवम्बर, 1807), कोटा (26 दिसम्बर 1817), जोधपुर (6 जनवरी 1818), उदयपुर (22 जनवरी 1818), बून्दी (10 फरवरी 1818), बीकानेर (21 मार्च 1818), किशनगढ़ (7 अप्रैल 1818), जयपुर (15 अप्रैल 1818) और जैसलमेर (2 जनवरी 1819) राज्यों के साथ ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने सन्धियाँ कर उन्हें अपने संरक्षण में ले लिया। 1823 ई में सिरोही राज्य के साथ भी संधि सम्पन्न हुई।

ये सारी संधियाँ दिल्ली स्थित रेजीडेन्ट मेटकाफ के माध्यम से हुई थी। दूसरी ओर मालवा के रेजीडेन्ट मेलकोम ने राजस्थान की अन्य तीन रियासतों डूंगरपुर, बांसवाड़ा और प्रतापगढ़ के साथ संधियाँ की और उन्हें कम्पनी का संरक्षण प्रदान कर दिया गया। इस प्रकार अंग्रेजों का राजस्थान में जो आधिपत्य स्थापित हुआ वह 1947 ई. में भारत के स्वाधीन होने तक अक्षुण रहा।

1.2 सन्धियों की धाराओं का संक्षिप्त विवेचन

सामान्यत: सभी राज्यों के साथ की गई सन्धियों को शाश्वत् मित्रता की सन्धि का नाम दिया गया और दोनों पक्षों के बीच सहकारिता और स्वार्थ की एकता को सदैव बनाये रखने के लिए कहा गया था। एक के मित्र तथा शत्रु दोनों के मित्र और शत्रु समझे जायेंगे। ब्रिटिश कम्पनी ने इस सभी सन्धिकृत राज्यों की रक्षा करने का दायित्व अपने ऊपर ले लिया। इन राज्यों ने कम्पनी आधिपत्य को स्वीकार कर लिया और यह निश्चित हुआ कि इन राज्यों के शासक कम्पनी सरकार अधीन रहते हुए सदैव सहयोग प्रदान करेंगे। वे अन्य किसी राज्य के साथ राजनैतिक सम्बन्ध नहीं रखेंगे और न किसी के साथ सन्धि व युद्ध करेंगे। यदि किसी पड़ौसी राज्य के साथ झगड़ा हो तो वे अपना झगड़ा कम्पनी के समक्ष मध्यस्थता के लिए प्रस्तुत करेंगे। इन सन्धियों में यह उल्लेख किया गया था कि सन्धिकृत राज्यों के शासक व उनके उत्तराधिकारी अपने राज्य के अबाधित शासक होंगे और ब्रिटिश सरकार इन राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगी। जो खिराज पहले मराठों को दिया जा रहा था वही खिराज अब इन राज्यों से कम्पनी सरकार को देय होगा। बीकानेर और जैसलमेर राज्यों ने मराठो को खिराज नहीं दिया था, अत: इन्हें कम्पनी सरकार को खिराज के रूप में कोई रकम नहीं देनी पड़ेगी। कोटा राज्य के साथ की गई संधि की ग्यारह धाराओं में मार्च 1818 ई में दो धाराऐं और जोड़ दी गई जिन्हें गुप्त रखा गया। इन शर्तों के अनुसार महाराव उम्मेदसिंह और उसके उत्तराधिकारी कोटा के राजा स्वीकार किये गये और जालिमसिंह और उसके वंशज राज्य के प्रधानमंत्री के उत्तराधिकारी होंगे। दूसरे शब्दों में कोटा राज्य के वास्तविक शासक बनने का अधिकार जालिमसिंह व उसके उत्तराधिकारियों को दे दिया गया। इन नई धाराओं के कारण झाला जालिमसिंह के उत्तराधिकारियों और कोटा के महाराव के बीच राज्य की वास्तविक सत्ता

की प्राप्ति हेतु संघर्ष हुआ जिसमें अत्यधिक रक्तपात हुआ। अन्ततोगत्वा 1838 ई. में झाला जालिमसिंह के उत्तराधिकारियों के लिए झालावाड़ एक नया राज्य स्थापित किया गया। इन संधियों के फलस्वरूप राजपूताना के शासक कम्पनी सरकार के अधीनस्थ सहायक के रूप में रहे।

1.3 अधीनस्थ सन्धि–काल (1818–57), में ब्रिटिश परमोच्च सत्ता के सिद्धान्त की अवधारणा व विकास – "एक निगरानी" के सिद्धान्त की कार्यान्विति

राजस्थान के राजाओं ने ब्रिटिश संरक्षण को स्वीकार कर लिया था जिससे उनकी बाह्य स्वतन्त्रता का अन्त हो गया। अपने पड़ौसी राजस्थानी राज्यों के साथ भी वे राजनीतिक सम्बन्ध नहीं रख सकते थे। उनके आपसी झगड़े कम्पनी की मध्यस्थता से ही निपटाये जा सकते थे। अंग्रेजी सरकार ने इन राज्यों को पूर्णरूप से एक दूसरे से पृथक कर दिया था। इसे अधीनस्थ पृथकता की नीति की संज्ञा दी जाती है। संधियों में स्पष्टत: स्वीकार किया गया था कि राजस्थान के नरेश अपने आन्तरिक मामलों में पूर्ण स्वतन्त्र रहेंगे तथा कम्पनी सरकार उनके आन्तरिक प्रशासन में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करेगी, लेकिन अंग्रेजी हुकूमत ने खिराज की बढ़ी रकम की वसूली के प्रश्न को हल करने के लिए, प्रधानमंत्रियों की नियुक्ति के विषय को लेकर तथा संधि की धारा की अवहेलना की जाने पर ब्रिटिश सरकार ने राजस्थान के राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप किया और अपनी सर्वोपरिता प्रातेष्ठित करने का प्रयास किया तथा एक निर्णायक की भूमिका का निर्वाह किया। कम्पनी सरकार की हस्तक्षेप और अहस्तक्षेप की नीति एक दूसरे की विरोधी न होकर एक ही लक्ष्य की पूरक थी; वह लक्ष्य था अंग्रेजी सर्वोपरिता की स्थापना। अन्तर मात्र इतना था कि अहस्तक्षेप समर्थक हस्तक्षेप कम से कम करना चाहते थे और हस्तक्षेप करने वाले अधिकारी हस्तक्षेप करने हेतु अवसर ढूंढने के लिए उत्सुक रहते थे। एक ही राज्य में दोनों नीतियाँ बहुत अल्प समय के अन्तर में द्रीष्टिगत होती है। जयपुर में 1834–35 ई. में पूर्णरूप से हस्तक्षेप की नीति अपनाई जा रही थी और जैसे ही बैरिसाल को सत्ता में बैठा दिया अहस्तक्षेप की नीति की दुहाई दी जाने लगी क्योंकि बैरिसाल अंग्रेजों का विश्वासपात्र था। वस्तुत: लार्ड हेस्टिग्ज के समय से डलहोजी के शासन काल तक अधीनस्थ पृथकता की नीति का अनुसरण करते हुए कम्पनी सरकार ने ब्रिटिश प्रभुता की स्थापना करने और देशी राज्यों को इस शक्ति के अधीन बनाने के लक्ष्य की पूर्ति हेतु प्रक्रिया अपनाई। राजस्थान के राज्य शक्तिहीन होते गये और उनके अधिकार शनै: शनै: घटते गये। आगे इस तथ्य के उदाहरण प्रस्तुत कर विश्लेषण किया गया है।

कम्पनी सरकार ने सन्धियों के अर्थ निकालने का समस्त अधिकार अपने पास ही रखा था क्योंकि यह कार्य सार्वभौम सत्ता का ही था। व्यवहारिक रूप में इससे देशी शासकों को अधिक आज्ञाकारी बनाया जा सकता था। उदाहरण के तौर पर संधियों में उल्लिखित था कि एक के मित्र अथवा शत्रु दूसरे के भी मित्र व शत्रु होंगे। इस धारा के विपरीत प्रथम तो राजाओं द्वारा लिखे अंग्रेज सरकार के पत्रों में अधीनस्थ शासकों की भाषा का प्रयोग किया गया था। द्वितीय में अंग्रेजों के मित्र व शत्रु तो तुरन्त राजाओं के मित्र व शत्रु बन जाते थे लेकिन राजाओं के

मित्र अथवा शत्रु कम्पनी सरकार के मित्र व शत्रु तभी होंगे जब उसके लिए सुविधाजनक होगा। राजाओं के आन्तरिक शत्रुओं को इस धारा की परिधि में नहीं लिया गया। परिणामत: राजाओं को जो लाभ मिलने वाला था वह सम्भव नहीं हो सका। बीकानेर राजा (1830), जयपुर राजा (1830 और 1838) और जोधपुर राजा (1828 और 1833) को उनके विद्रोही सामन्तों के विरुद्ध कम्पनी सरकार ने मदद नहीं की इसी प्रकार कोटा के महाराव को 1833 में अन्ता के राव के विरुद्ध अंग्रेजों ने सहायता नहीं दी। कम्पनी सरकार ने सहायता तभी दी जब सहायता देना उसके हित में था।

कम्पनी सरकार ने एक निर्णायक के रूप में अपने आदेशों की पालना पर बल दिया चाहे राज्य को आपत्ति ही क्यों न हो। एक राज्य का दूसरे राज्य के मामलों में हस्तक्षेप को सार्वभौम सत्ता का अतिक्रमण समझा। कोटा के विद्रोही किशोर सिंह को 1821 ई. में, घोकलसिंह को 1828 ई. में तथा टोंक नवाब को 1836 ई. में राजपूताना के शासकों को समर्थन देने की अनुमति नहीं दी जबकि 1830 इ. में बीकानेर–जैसलमेर सीमा विवाद को सुलझाने के लिए उदयपुर के महाराणा को कहा गया। 1844 ई. में प्रतापगढ़ के गोद लेने के विषय पर तथा कोटा के पक्ष में (1857) उदयपुर के महाराणा को बोलने का अधिकार नहीं दिया गया। बून्दी–मेवाड़ विवाद को सुलझाते हुए एक नया सिद्धान्त प्रतिपादित किया जिसके अनुसार यदि कम्पनी सरकार के निर्णय से दोनों पक्ष सन्तुष्ट न हों तब भी उन्हें एक दूसरे के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने की अनुमति नहीं थी। राजपूताना के राज्यों के अंग्रेजी क्षेत्र के सम्बन्ध में विवाद हो जाने पर सिद्धान्त बनाया कि समस्त क्षेत्र पर अंग्रेजी हुकूमत का अधिकार था, जब तक राज्य सरकार अपना अधिकार प्रमाणित न कर दे। इस सिद्धान्त के अनुसार उदयपुर का ब्यावर पर, जयपुर का कोटपूतली पर अधिकार स्वीकार नहीं किया गया। उमरकोट पर जोधपुर का अधिकार स्वीकार कर लिया गया, परन्तु इसे लोटाया नहीं गया। इसके बदले में 10,000 रुपयों की खिराज में छूट दे दी गई।

अंग्रेजी सर्वोच्चता का स्पष्ट उदाहरण गोद लेने के तथा उत्तराधिकार विषय सम्बन्धी विवादों में द्रीष्टिगत होता है। कम्पनी सरकार ने इन विवादों को निपटाना अपना कर्तव्य तथा अधिकार बताया। कर्तव्य तो सर्वोपरि सत्ता का था और अधिकार इसलिये था कि राज्य में शान्ति भंग न हो। जहां दो या तीन गद्दी के दावेदार होते वहाँ ब्रिटिश सरकार का महत्व बढ़ जाता था। अलवर और भरतपुर में उत्तराधिकार के विवाद महत्वपूर्ण थे। 1815 ई. में राव बख्तावर सिंह के निधन के पश्चात् अलवर राज्य गद्दी के लिए बन्ने सिंह और बलवन्त सिंह दो दावेदार थे। राजपूत सामन्त वर्ग बन्ने सिंह के पक्ष में था और मुसलमान समुदाय बलवन्तसिंह को गद्दी पर बैठाना चाहते थे क्योंकि वह मुसलमानी पासवान का पुत्र था। विचार विमर्श के बाद यह तय हुआ कि बन्नेसिंह को राजा बनाया जाये और बलवन्त सिंह को प्रशासन संचालन का कार्य सुपुर्द किया जाये। वे अभी भी एक दूसरे को हटाने के षड्यन्त्र चला रहे थे। अन्तत: ब्रिटिश सरकार ने बने सिंह के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही की जिससे बन्नेसिंह को राज्य का एक तिहाई भाग बलवन्तसिंह को देने के लिए समझौता करना पड़ा। इसी प्रकार भरतपुर के शासक रणधीर सिंह के निधन के पश्चात् गद्दी के लिए दो दावेदार खड़े हुए। बलवन्त सिंह रणधीर सिंह

के भाई बलदेवसिंह का अवैध पुत्र था और दुर्जनसाल रणधीर सिंह के एक अन्य भाई लक्ष्मणसिंह का अवैध पुत्र था। राज्य के सामन्त दुर्जनसाल के पक्ष में थे जब कि बलदेवसिंह ने अंग्रेजों से सांठ–गांठ कर अपने अवैध पुत्र के दावे को पुष्ट कर लिया। दुर्जनसाल के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही की गई। उसे बन्दी बना लिया गया। बलवन्तसिंह को भरतपुर का शासक बनाया। इन दोनों राज्यों में अंग्रेजी समर्थन प्राप्त प्रत्याशी को गद्दी प्राप्त हुई। कम्पनी सरकार ने अपनी सर्वोपरिता स्थापित की।

अंग्रेजी सर्वोपरिता का एक अर्थ यह भी था कि राजस्थान के राज्यों का मराठों व मुगलों से सम्बन्ध विच्छेद हो गया मुगल सम्राट बहुत समय तक इन राज्यों पर अपनी प्रभुता के भ्रम में रहे। 1832 ई. तक तो अंग्रेजों ने मुगल सम्राट से उपाधियाँ प्राप्त करने पर कोई आपत्ति नहीं की, परन्तु बाद में इसकी अनुमति राजाओं को नहीं दी गई। 1834 में पाटन के राव को 1835 में बीकानेर के शासक को तथा 1835 में सीकर के ठाकुर को मुगल सम्राट द्वारा दी गई उपाधियों को वापस लौटाने के लिए बाध्य किया गया।

कम्पनी सरकार ने राज्यों को क्षेत्रीय अखण्डता का आश्वासन दिया था। उस समय बाह्य शक्ति द्वारा इनकी अखण्डता के भंग के कोई आसार नहीं थे। अंग्रेजी सरकार ने अपने हित में किसी राज्य की अखण्डता को तोड़ने में संकोच नहीं किया। अलवर राज्य में एक समकक्ष ठिकाना स्थापित कर दिया। कोटा राज्य को तोड़कर 1838 ई में एक नये राज्य झालावाड़ की स्थापना कर दी। बाँसवाड़ा के विरुद्ध कुशलगढ़ के राव को मान्यता दे दी। मेरवाड़ा के कुछ गाँव मेवाड़ और मारवाड़ से लिए। मारवाड़ से मालानी तथा जयपुर से शेखावाटी के क्षेत्र कम्पनी सरकार ने अपने नियन्त्रण में कर लिए।

खिराज की वसूली के प्रश्न को लेकर कम्पनी सरकार ने मेवाड़, जयपुर व मारवाड़ राज्यों के आन्तरिक प्रशासन में हस्तक्षेप किया पालिटिकल ऐजेन्टों की नियुक्तियाँ कर वहाँ खिराज वसूली के साधन जुटाये गये तथा अंग्रेजी सत्ता की सर्वोच्चता प्रतिष्ठित करने का अभियान किया गया। प्रधानों व उच्च अधिकारियों की नियुक्ति में भी कम्पनी सरकार ने अपनी सर्वोच्चता का आभास करवाया। 1823 ई में उदयपुर के महाराणा ने शिवलाल को प्रधान पद से हटा दिया। अंग्रेजों के कड़े विरोध के फलस्वरुप शिवलाल को पुन: प्रधान के पद पर नियुक्त किया गया। संक्षेप में राज्य के प्रत्येक तत्व – रानी माँ, राजा, प्रधान, दीवान तथा सामन्त को भली भाँति अवगत करवा दिया गया कि वे सत्ता का प्रयोग कम्पनी सरकार की अनुमति से ही कर सकते थे। जयपुर और भरतपुर में रानी माँ को सुनियोजित ढंग से उनके अधिकारों से वंचित कर दिया गया।

गवर्नर जनरल लार्ड बैन्टिग अंग्रेजों के अधीन क्षेत्रों को एक साम्राज्य के भागों के रूप में गठित करने के लिए इच्छुक था । उदारवादी और मानवतावादी द्रीष्टिकोण को अंग्रेजी प्रभुता के अन्तर्गत अपनाना चाहता था । राजस्थान के राज्यों पर अंग्रेजी सर्वोपरिता को प्रायोगिक बनाने के लिए 1832 ई. में राजपूताना एजेन्सी की स्थापना की गई । सब राज्यों को अपने वकील अजमेर भेजने के लिए कहा गया । वकीलों के माध्यम से ए. जी. जी. आसानी से इन राज्यों में अपनी बात मनवा सकता था । इस नीति से राज्यों के प्रशासन पर अधिकार व नियन्त्रण पर हित निष्ठा व मूल्यों पर आधारित दिखाई देने लगा । प्रशासन में कुशलता,

अशान्ति व अराजकता को दूर करने, सार्वजनिक अपराधों में वृद्धि को रोकने तथा सामाजिक कुरीतियों जैसे सती प्रथा, कन्या वध, दासता आदि का उन्मूलन सम्बन्धी विषयों पर राजाओं को अंग्रेजी सरकार के परामर्श को स्वीकार करना होता था । 1832 ई. के पश्चात् ईस्ट इण्डिया कम्पनी सरकार का राजपूताना के देशी राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप बढ़ा ।

जोधपुर राज्य में नाथों के उत्पात को मिटाने व प्रशासन को चुस्त बनाने के दृष्टिकोण से राज्य के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही की गई और जोधपुर के गढ़ पर पाँच महीनों तक ब्रिटिश सेना का अधिकार रहा । प्रशासन का कार्य पालिटिकल एजेन्ट के नियन्त्रण में जागीरदारों की एक कौंसिल द्वारा संचालित किया जाने लगा । कम्पनी ने अपनी सार्वभौमिक शक्ति का प्रदर्शन किया था ।

राज्य के अवयस्क काल में कम्पनी सरकार का नियन्त्रण सुलभ था । जयपुर में दीर्घकाल तक राजाओं के अवयस्क होने के कारण अंग्रेजों का अधिक नियन्त्रण रहा ।

राज्यों की सीमाओं पर लूट–खसोट की घटनाओं की समस्याओं के समाधान तथा शरणा (शरणागत) के परम्परागत राज्य के अधिकार के दुरूपयोग को रोकने हेतु चार विभिन्न एजेन्सियों में "इन्टरनेशनल वकील कोर्टस" स्थापित किए । एक कोर्ट अजमेर में रखा जिसका दायरा अजमेर, किशनगढ़ और घोलपुर तक था । इसके अतिरिक्त इस कोर्ट में चार कोर्टों की अपीलों की सुनवाई भी की जाती. थी । अपील की सुनवाई के समय ए जी जी. अध्यक्षता करता था । अन्य चार कोर्टो की अध्यक्षता एजेन्सियों में नियुक्त पॉलिटिकल एजेन्ट किया करते थे । इन कोर्टत् के माध्यम से अंग्रेजी सन्देश अनौपचारिक तरीके से राजाओं के पास पहुँचने लगे और साथ ही पॉलिटिकल एजेन्टों की शक्ति में वृद्धि हुई । इस पद्धति से पॉलिटिकल एजेन्ट परोक्ष रूप से नियन्त्रण रखकर राज्य को वकील द्वारा सर्वोपरि सत्ता की इच्छाओं को मनवा सकते थे ।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि 1818 ई. से 1857 ई तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अपनी सर्वोपरि सत्ता को प्रतिष्ठित करने के लिए सतत् प्रयत्न किए ।

1.3.1 अधीनस्थ सन्धि–काल (1858–1905) में ब्रिटिश परमोच्च सत्ता के सिद्धान्त की अवधारणा व विकास – "एक निगरानी" के सिद्धान्त की कार्यान्विति

1858 ई में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन के अन्त हो जाने के पश्चात् ब्रिटिश क्राउन के नाम पर ब्रिटिश पार्लियामेन्ट (संसद) ने भारत के शासन की बागडोर अपने हाथ में ले ली थी । इस संवैधानिक परिवर्तन के कारण ब्रिटिश सरकार ने देशी रियासतों के प्रति नई नीति का सूत्रपात किया । अंग्रेजों ने बड़ी सूझ–बूझ और चतुराई से भारतीय नरेशों को अपने नियन्त्रण में रखा । 1858 ई के पूर्व भारतीय नरेश यह सोचते थे कि उनका कम्पनी सरकार के साथ बराबरी का सम्बन्ध है । यद्यपि उनका ऐसा सोचना भ्रमात्मक ही था, फिर भी वे समय–समय पर बराबरी का दावा किया करते थे । वे अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनाये रखने का स्वन देख रहे थे । अब स्थिति, स्पष्ट कर दी गई कि सम्पूर्ण भारत में ब्रिटिश सत्ता ही सर्वोपरि सत्ता थी । प्रत्येक देशी राज्य इसके अधीन रहकर कार्य कर सकता था । ब्रिटिश

सरकार और देशी राज्यों के बीच वास्तविक सम्बन्धों का आधार यही परमोच्च सत्ता का सिद्धान्त था । देशी नरेशों (राजस्थान के राज्यों सहित) का सम्बन्ध ब्रिटिश क्राउन से जोड़ा गया । उन्हें क्राउन के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने तथा निष्ठावान बने रहने के लिए प्रेरित किया गया । देशी नरेशों को गोद लेने की जो सनदें प्रदान की गई थी उनमें स्पष्टत: उल्लेख किया गया था कि उन्हें ब्रिटिश क्राउन के प्रति निष्ठा रखनी होगी । उनके साथ की गई सन्धियों की धाराओं के अनुरूप आचरण करना होगा । ब्रिटिश वायसराय लार्ड केंनिग ने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि देशी राज्यों में अराजकता व अशान्ति की स्थिति उत्पन्न हो जाने पर ब्रिटिश सरकार को अधिकार होगा कि अस्थायी रूप से उस राज्य का प्रशासन वह अपने हाथ में लें और वहाँ पुन: शान्ति व कानून व्यवस्था करें । इसी प्रकार राजद्रोह व सन्धि की धाराओं को भंग करने का गम्भीर अपराध करने वाले देशी नरेश को पदच्युत भी किया जा सकेगा ।

टोंक के नवाब मोहम्मद अली खाँ को सरंक्षण का सही अर्थ समझाया गया । हिन्दुओं पर अत्याचार करने, अपने चाचा की हत्या के षड्यन्त्र में संलग्न होने और लावा के ठाकुर के कुछ अनुयायियों की हत्या करवाने आदि अपराधों के कारण उसे गद्दी से हटा दिया गया । (1867 ई.) इस प्रकार अलवर के महाराजा शिवदान सिंह को गम्भीर अनुत्तरदायी व्यवहार के कारण 1870 में गद्दी से हटा दिया गया । 1896 ई. में झालावाड़ के राजराणा जालिमसिंह द्वितीय तथा 1900 ई. में भरतपुर के शासक रामसिंह को राज्य में कुप्रबन्ध, दुराचारी और अत्याचारी होने के अपराध के कारण अपदस्थ कर दिया गया था ।

वस्तुत: ब्रिटिश सरकार और देशी राज्यों के बीच सम्बन्धों का आधार परमोच्च सत्ता का सिद्धान्त माना गया । केनिंग ने पहली बार ब्रिटिश परमोच्च सत्ता के सिद्धान्त को प्रतिपादित करते हुए 1862 ई. में एक आयोजित दरबार में घोषणा की –

"ब्रिटेन का क्राउन सम्पूर्ण भारत में परमोच्च सत्ता है । भारत में इंग्लैण्ड का एकछत्र शासन है । ब्रिटिश राजमुकुट निर्विरोध शासक के रूप में हमारे समक्ष है और अपने अधीन भारतीय राजाओं तथा सामन्तों के साथ प्रथम बार उसका परोक्ष सम्बन्ध स्थापित हुआ है । भारतीय नरेश इंग्लैण्ड के ताज के आधिपत्य को सहर्ष स्वीकार करते है । "

इस महत्वपूर्ण सरकारी घोषणा में परमोच्च सत्ता और सामन्तों जैसे शब्दों का प्रयोग ब्रिटिश सरकार द्वारा देशी राज्यों के प्रति अपनाई जा रही नयी नीति का संकेत था । अब देशी राज्यों और ब्रिटिश सरकार के बीच सम्बन्धों में योजनाबद्ध बदलाव आने लगा । के. एम. पणिक्कर के शब्दों में "शान्तिपूर्ण ढंग से एक संवैधानिक क्रान्ति हुई जिससे ब्रिटिश सत्ता भारत में सार्वभौम बन गई" ।

परमोच्च सत्ता के सिद्धान्त की कभी स्पष्ट व्याख्या नहीं की गई । सन्धियों में दिये गये नरेशों के अधिकारों का भी परिसीमन नहीं किया गया । 1929 ई. में बटलर कमेटी की रिपोर्ट में मात्र यह दर्शाया गया कि "सर्वोच्च सत्ता को सर्वोपरि बनाये रखना चाहिए" । वस्तुत: परमोच्च शक्ति सिद्धान्त किसी निश्चित मत पर आधारित नहीं था । यह एक व्यावहारिक सिद्धान्त था जिसके अनुसार 1858 से 1947 ई. तक ब्रिटिश सरकार ने राजपूताना के देशी राज्यों पर अपना नियन्त्रण व प्रभाव बनाया रखा । देशी राज्यों के साथ अपनाये गये

राजनीतिक व्यवहारों (पॉलिटिकल प्रेक्टिस) से राज्यों की सन्धियों द्वारा स्वीकृत तथा निश्चित अधिकारों पर निरन्तर आघात पहुँचते रहे और इस प्रकार नरेशों की आन्तरिक सत्ता शनै: शनै: कम होती गई । समय–समय पर वायसराय की अध्यक्षता में दरबार आयोजित किये गये जहाँ देशी नरेशों को उपस्थित होने के लिए आमन्त्रित किया जाता था। इन दरवारों के माध्यम से देशी नरेशों को पूर्ण अधीनता की स्थिति में लाया गया। 1877 ई. में इंग्लैण्ड की रानी विक्टोरिया को भारत की सम्राज्ञी (भारतेश्वरी) घोषित किया गया और देशी नरेशों को व्यक्तिगत रूप से दरबार में अपनी राजभक्ति प्रदर्शित करने के लिए आमन्त्रित किया गया था।

ब्रिटिश सरकार ने मुगल सम्राट के समान एक परमोच्च शक्ति के रूप में स्वामी भक्त सजा महाराजाओं को विभिन्न प्रकार की पदवियाँ, उपहार, सनदें आदि प्रदान कर सम्मानित किया। 1860 ई. में सलामी तालिका पहली बार प्रकाशित की गई । प्रसन्नता व अप्रसन्नता प्रकट करते हुए सर्वोच्च सत्ता ने राजस्थान के नरेशों की सलामी की तोपों में बढ़ोतरी व कमी की थी । जोधपुर के महाराजा तख्तसिंह की सलामी की तोपें 17 से घटाकर 15 कर दी गईं, क्योंकि उसके व्यवहार से ब्रिटिश सरकार खिन्न थी । 1870 ई. में कोटा के महाराव से 5000 रुपये दण्ड के रूप में वसूल किए तथा उसकी सलामी की तोपें 17 से घटाकर 13 कर दी । उदयपुर के महाराणा शंभूसिंह को 1871 ई. में जी. सी. एम. आई. के खिताब से विभूषित किया गया। 1862 ई. में राजस्थान के राजाओं को गोद लेने की सनदें दी गई ।

1857 ई. के पश्चात् देशी राज्यों पर ब्रिटिश सरकार का अंकुश निरन्तर बढ़ता गया। 1817–18 ई. में की गई सन्धियों का महत्व धूमिल हो चुका था । देशी नरेशों के अधिकारों, गौरव व प्रतिष्ठा को बनाये रखने के आश्वासन दिये जाने के बावजूद ब्रिटिश सरकार वे इस काल में देशी राज्यों के मामलों में प्रबल मात्रा में हस्तक्षेप किया और उनके अधिकारों की अवहेलना की गई । देशी राज्यों पर नियन्त्रण रखने के अभिप्राय से भारत सरकर अपने प्रतिनिधि के रूप में पॉलिटिकल एजेन्ट व रेजीडेंट की नियुक्तियाँ किया करती थी। मेवाड़, मारवाड़, जयपुर, कोटा, भरतपुर आदि राज्यों में ब्रिटिश पदाधिकारी नियुक्त थे । ये राज्य की गतिविधियों का ध्यान रखते थे । ये पदाधिकारी बड़े शक्तिशाली थे। वस्तुत: रेजीडेंट देशी राज्यों के लिए भाग्य विधाता थे । कोई भी देशी नरेश रेजीडेंट को नाराज करने का साहस नहीं कर सकता था । उसकी सलाह को वह आज्ञा के रूप में स्वीकार करता था। पणिक्कर का कथन है कि "रेजीडेंसी में होने वाली फुसफुसाहट राज्य के लिए गरज हो जाती थी ।"

परमोच्च सत्ता के सिद्धान्त, जिसकी व्याख्या ऊपर की जा चुकी है, को आधार बनाकर देशी राज्यों में बिगड़ते हुए प्रशासन के समय, उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर, नरेश की अल्पवयस्कता की स्थिति में, मन्त्रियों की नियुक्ति आदि मामलों में ब्रिटिश सरकार ने देशी राज्यों में निसंकोच हस्तक्षेप किया अल्पवयस्कता के अवसर पर शासक को अपने नियन्त्रण में लेना तो पॉलिटिकल एजेंट का एक सर्वमान्य अधिकार बन गया । 1858 ई. के पश्चात् राजस्थान के राज्यों में अल्पवयस्क सरकारों का बड़ी संख्या में गठन हुआ था। इसके अतिरिक्त देशी राज्यों पर अपनी पकड़ मजबूत करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने आदेश प्रसारित किया कि किसी भी देशी राज्य में जब महत्वपूर्ण कानून बनाया जाये तो परमोच्च सत्ता की पूर्वानुमति

प्राप्त कर ली जाये । परमोच्च सत्ता का एक तरीका यह था कि वह देशी राज्य के प्रशासन के विरुद्ध राज्य की जनता की अपील सुनती थी । 1858 ई. के याद ब्रिटिश सरकार ने देशी राज्यों के प्रति दोहरी नीति का अनुसरण किया था। एक ओर देशी नरेशों को प्रसन्न कर मैत्री का हाथ बढ़ाना था तो दूसरी तरफ परमोच्च सत्ता के सिद्धान को प्रतिपादित कर देशी नरेशों को व्यवस्थित तरीके से शक्तिहीन बनाकर पूर्णरूप से अधीनस्थ स्थिति में परिणत करना था । 1857 के बाद ब्रिटिश सरकार ने अधिनस्थ एकत (one charge) के सिद्धान्त का अनुसरण किया । दूसरे शब्दों में सरकार ने अधीनस्थ एकता (Subordinate Union) की नीति अपनाई संवैधानिक तौर पर भारत दो क्षेत्र में विभाजित था, जिसमें एक क्षेत्र पर सीधे भारत स्थित ब्रिटिश सरकार द्वारा शासन संचालित् होता था और दूसरे भाग पर देशी नरेशों का आधिपत्य था । अब भारत सरकार का प्रयत्न सम्पूर्ण देश को एक इकाई के रूप में संगठित करना था । इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु प्रत्येक गवर्नर जनरल ने "एक निगरानी" के सिद्धान्त का अनुसरण किया । प्रशासनिक दृष्टि से तथा आर्थिक प्रगति के विषय को लेकर ब्रिटिश सरकार ने सम्पूर्ण भारत को एक इकाई के रूप में माना । 1860 ई. में प्रथम वायसराय लार्ड केनिंग ने घोषणा की थी कि परमोच्च सत्ता के रूप में इग्लैण्ड के क्राउन का निर्विवाद रूप से देशी राज्यों सहित सम्पूर्ण भारत पर आधिपत्य है । रेलवे लाइन के निर्माण और संचार माध्यमों के विकास सम्बन्धी निर्णय ब्रिटिश सरकार ने देशी राज्यों सहित पूरे भारत को दृष्टिगत रखकर लिये । आर्थिक, बौद्धिक व न्यायिक क्षेत्रों में जो प्रगति की गई उसमें ब्रिटिश सरकार ने भारत को एक इकाई के रूप में आंकने का प्रयास किया । व्यापार को उन्नत व समृद्ध बनाने के लिए सम्पूर्ण भारत में ब्रिटिश सिक्कों का प्रचलन किया गया । 1905 ई. तक राजपूताने की लगभग सभी रियासतों को अपनी टकसालें बन्द करने का निर्णय लेना पड़ा। देशी नरेशों को कहा गया कि वे अपने राज्यों में सीमा शुल्क को समाप्त कर दें । 1890 ई. तक राजपूताने की प्राय: सभी रियासतों ने अफीम आदि मादक द्रव्यों के अतिरिक्त अन्य किसी भी माल पर राहदारी का कर न लगाने के लिए अपनी सहमति प्रकट कर दी थी । ब्रिटिश सरकार ने नमक उत्पादन सम्बन्धी सभी अधिकार अपने पास लेने की नीति निर्धारित की । इस सम्बन्ध में राजस्थान के देशी रियासतों सें सन्धियाँ की जिनके अनुसार उन्हें नमक उत्पादन सम्बन्धि सभी अधिकारों से वंचित कर दिया गया। उन्हें बाहर से आने वाले नमक पर चुंगी या राहदारी वसूल न करने के लिए बाधा होना पड़ा।

ब्रिटिश सरकार की नीति रही कि राजपूताने की देशी रियासतों में ब्रिटिश शासन व्यवस्था के अनुरूप ही शासन व्यवस्था की जाये विशेषकर न्याय व राजस्व सम्बन्धी सुधार करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने देशी नरेशों पर जोर डाला ।

केनिंग ने देशी नरेशों को अगाह करते हुए 1860 ई. में कहा था कि भारत सरकार उनसे सुव्यवस्थित शासन की अपेक्षा करती थी । लार्ड मेयो ने अपने अजमेर में दिये गये भाषण में राजस्थान के नरेशों से कहा था "यदि हम तुम्हारी शक्ति बनाये रखने में तुम्हें मदद करते है तो हम इसके बदले में अच्छे प्रशासन की तुमसे आशा भी करते है. परिणामत: 19वीं शताब्दी के अन्तिम दो दशकों में राजस्थान की लगभग सभी छोटी बड़ी रियासतों में ब्रिटिश नियमानुसार पैमाइश करवाई गई और भूमिकर निर्धारित' किया गया । इसी प्रकार ब्रिटिश

शासित भारत में चल रही न्याय प्रणाली को इन देशी राज्यों में लागू करवाया गया । ब्रिटिश सरकार और राजपूताने के देशी राज्यों के बीच अपराधियों के लेन–देन सम्बन्धी नियम बने और इस सम्बन्ध में तैयार की गई सन्धियों पर देशी नरेशों के हस्ताक्षर करवाये गये । बौद्धिक दृष्टि से एकता बढ़ाने के अभिप्राय से राजस्थान की बड़ी–बड़ी रियासतों में कॉलेज खोले गये और इन्हें ब्रिटिश शासित भारत में स्थापित विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध किया गया। इस प्रकार आर्थिक, प्रशासनिक व बौद्धिक क्षेत्रों में भारतीय साम्राज्य के साथ राजस्थान के राज्यों की एकता बड़ी तेजी से सम्पन्न होने लगी । 1889 ई. में वायसराय लार्ड कर्जन ने बड़े गर्व के साथ कहा था कि हमारी नीति के फलस्वरुप देशी राज्य भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के अभिन्न अंग बन चुके है।

सैनिक दृष्टि से देशी रियासतों और ब्रिटिश शासित भारत में एकता लाने के लिए आवश्यक था कि इन दोनों की सेनाओं में साम्य हो । अत: जयपुर, जोधपुर, बीकानेर और अलवर राज्यों में नई सेनाऐं संगठित की गई जो इम्पीरियल सर्विस टूपस के नाम से सम्बोधित की जाती थी । ये सेनाऐं अंग्रेजी सेना नायकों द्वारा पाश्चात्य पद्धति के अनुसार प्रशिक्षित की जाती थी । इन सेनाओं का सारा व्यय सम्बन्धित राज्यों के द्वारा वहन करना पड़ता था ।

राजस्थान के देशी राज्यों को ब्रिटिश शासित भारत के साथ ऐक्य व साम्य लाने की प्रक्रिया में ब्रिटिश सरकार द्वारा इन देशी राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप निरन्तर बढ़ता जा रहा था। उनकी आन्तरिक सार्वभौमिकता पर प्रहार हो रहा था। लार्ड कर्जन के शासन काल (1899– 1905) में तो अंग्रेजों की शक्ति चरम सीमा पर पहुँची हुई थी । उसने स्पष्ट शब्दों में घोषित किया था "राजमुकट का प्रभुत्व सर्वत्र नतमस्तक होकर स्वीकार किया जा रहा है । हमारी नीति के फलस्वरुप अब देशी नरेश साम्राज्य के शाही संगठन के एक अखण्डात्मक अंग बन गये है" देशी नरेश अपने–अपने राज्यों के शासन चलाने वाले भारतीय अंग्रेजी सरकार के वंश परम्परागत शासक प्रतिनिधि मात्र समझे जाने लगे एवं जो अधिकार उन्हें सौपे गये है उनका दुरुपयोग न कर उनको उपयुक्त प्रमाणित करना उनके लिए आवश्यक हो गया। वस्तुत: देशी शासकों की स्थिति ब्रिटिश सरकार के समक्ष मात्र एक सामन्त की भांति थी । उनका अस्तित्व' परमोच्च सत्ता की दया पर निर्भर था । चिरकाल से की गई सन्धियों की धाराओं की ब्रिटिश सरकार ने मनमाने ढंग व मनचाही व्याख्या की जिससे देशी राजाओं के अधिकारों, प्रतिष्ठा व मर्यादाओं की उपेक्षा की जा रही थी । शासक वर्ग खिन्न था । ब्रिटिश सरकार के प्रति उनका रोष था, परन्तु वे इसे प्रकट नहीं कर सकते थे। उन्हें पृथक रखने की नीति का अनुसरण किया गया था। अत: देशी नरेशों को एक दूसरे से मिलकर अपने अधिकारों की सुरक्षा के लिए सामूहिक योजना बनाने की स्वतन्त्रता नहीं थी। कोई ऐसा मंच नहीं था जिसके माध्यम से देशी नरेश अपनी शिकायतों को भारत सरकार तक पहुँचा सकें । उन्हें मात्र इसमें सन्तोष कर लेना पड़ता था कि ब्रिटिश सरकार ने उनको वंश व राज्य को स्थायी व अक्षुण बनाये रखने के आश्वासन दे रखे थे तथा उन्हें अंग्रेजी सरकार का संरक्षण प्राप्त था।

1.4 ब्रिटिश परमोच्च सत्ता द्वारा (1906–1947) देशी राज्यों के प्रति पारस्परिक सहयोग, विश्वास व मित्रता की नीति का विवेचन

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में भारतीय राजनीति में परिवर्तन आया। बहुत से ऐसे तथ्य उभर कर आये जिनके फलस्वरूप ब्रिटिश सरकार को भारतीय नरेशों के साथ अपनाई जा रही नीति पर पुन: विचार करने के लिए बाध्य होना पड़ा। एक महत्वपूर्ण तथ्य था – भारत में राष्ट्रीय भावना का विकास। देश में राष्ट्रीय आन्दोलन जोर पकड़ रहा था । उग्रवादी विचारधारा के लोगों का उदय हुआ। उग्रराष्ट्रवाद का उदय, राजनीतिक निराशा, व्यापक आर्थिक असन्तोष तथा लार्ड कर्जन की उग्र नीति के फलस्वरूप हुआ था। सशस्त्र क्रान्ति करने वालों ने भी सिर उठाया। जब अंग्रेजों का सिंहासन हिलने लगा तब उन्हें एक बार फिर देशी नरेशों की याद आई । उन्हें देशी राजाओं की मदद की आवश्यकता हुई । उन्हें हृदय से लगाने की नीति अपनाई । ब्रिटिश सरकार ने अब देशी नरेशों के साथ अधीनस्थ सहयोग की नीति का अनुसरण करना चाहा । पारस्परिक सहयोग, विश्वास और मित्रता पर बल दिया जाने लगा । कर्जन के शासन काल की तूफानी उत्तेजना के बाद जब भारत के नये वायसराय लार्ड मिन्टों (1905–1911) ने पद सम्भाला तब उसने देशी राज्यों के आन्तरिक मामलों में अनावश्यक हस्तक्षेप करने तथा नरेशों पर अनुचित दबाव डालने की नीति का परित्याग कर दिया ।

लार्ड मिन्टो देशी राज्यों में गया और उसने नरेशों से खुलकर बातचीत की तथा उनकी समस्याओं को सहानुभूति पूर्वक सुना और उन्हें सुलझाने का आश्वासन दिया । नवम्बर 1909 ई. में वह उदयपुर पहुँचा । वहां उसने घोषणा की कि ब्रिटिश सरकार कुछ विशेष परिस्थितियों को छोड़कर सामान्यत: देशी राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगी । मिन्टों ने पॉलिटिकल अधिकारियों के उदण्ड व अशिष्ट व्यवहार से उत्पन्न असन्तोष को मिटाने का प्रयास किया । पॉलिटिकल अधिकारियों की भूमिका को कम बताते हुए उसने कहा कि देशी राज्यों में प्रशासनिक सुधार दरबार द्वारा ही किए जाने चाहियें और वे राज्यों की परम्पराओं के अनुरूप ही हों । उसने पॉलिटिकल अधिकारियों को आव्हान किया कि वे राज्य में प्रजा व राजा की भावनाओं को ठेस न पहुँचाए । उनकी भावनाओं का आदर करें ।

देशी राज्यों में पॉलिटिकल एजेंटों के अधिकारों में शनै: शनै: कमी आने लगी । उनकी कार्य संहिता का इण्डियन पॉलिटिकल प्रेक्टिस की तीन जिल्दों और पॉलिटिकल डिपार्टमेन्ट मेन्युअल में स्पष्ट उल्लेख था । पहले दीर्घकाल तक एक अधिकारी राज्य में नियुक्त रहता था । जैसे वाल्टर भरतपुर में और पाडलेट जोधपुर में क्रमश 11 और 12 वर्षों तक कार्यरत रहे । अब इनकी कार्य अवधि कम कर दी गई । परिणामत: वे राज्यों में अपना व्यक्तिगत प्रभाव स्थापित नहीं कर पाते । इसे अतिरिक्त वायसराओं द्वारा देशी नरेशों से सीधी बातचीत करने का सिलसिला चालू कर दिया गया जिससे पॉलिटिकल एजेंटों का देशी राज्यों में स्वत: ही वर्चस्व कम हो गया।

मिन्टों ने उदयपुर में अपने भाषण में एक अन्य बात यह कही कि ब्रिटिश सरकार और देशी राज्यों के हित समान है । भारतीय क्षितिज पर उभरते हुए उग्र' राष्ट्रीय बाद के विरुद्ध

संयुक्त मोर्चा बनाने का प्रयास किया था। उसे भारतीय नरेशों को अंग्रेजों के साथ भारतीय साम्राज्य के गौरव–कीर्ति को बढ़ाने में अपना योगदान देने के लिए कहा। उसने कहा कि उन्हें समूचे भारत की भलाई के लिए सोचना चाहिए । उसने अखिल भारतीय मामलों के सम्बन्ध में भारतीय नरेशों की सलाह लेने की नीति का श्रीगणेश किया । उसके उत्तरा– धिकारी हार्डिंग्ज ने इस नीति को गति प्रदान की । उसने समान हितों के प्रश्नों पर विचार करने के लिए 1913 ई. में देशी नरेशों का एक सम्मेलन आयोजित किया । बाद में इस तरह का सम्मेलन प्रति वर्ष बुलाया जाने लगा। इन सम्मेलनों में देशी नरेश को अपनी शिकायतें प्रस्तुत करने का अवसर दिया गया। कभी–कभी ये शिकायतें परमोच्च सत्ता के प्रतिनिधियों के विरुद्ध भी होती थी ।

इन सम्मेलनों में अखिल भारतीय विषयों पर विचार विमर्श किया जाता था। 26 फरवरी, 1916 ई. को के महाराजा सुमेरसिंह को वयस्क होने पर राज्य के पूर्ण अधिकार देने के समय लार्ड हार्टीग्ज ने कहा कि ब्रिटिश सरकार का उद्देश्य देशी नरेशों के साथ निकटता व मित्रता के सम्बन्ध स्थापित करना है । भारत सरकार आश्वस्त है कि वे ब्रिटिश साम्राज्य को महान व गौरवशाली बनाने में सहयोग व मदद करेंगे तथा अपने राज्य का प्रशासन बिना किसी बाह्य नियन्त्रण के वे जिम्मेदारी व दक्षता से चलायेंगे । देशी नरेश ब्रिटिश सरकार की इस नीति से प्रभावित हुए । वे सन्तोष व प्रसन्नता का अनुभव करने लगे थे ।

1914–1918 के प्रथम महायुद्ध में राजस्थान के नरेशों ने तन, मन और धन से ब्रिटिश सरकार की सहायता की और प्रमाणित किया कि वे ब्रिटिश. साम्राज्य के प्रबल समर्थक हे । बीकानेर के शासक गंगासिंह अपनी सेना के साथ रण क्षेत्र में उपस्थित हुये थे । जोधपुर के नवयुवक शासक सुमेरसिंह तथा उसका संरक्षक वयोवृद्ध सर प्रतापसिंह 70 वर्ष की आयु में भी राजकीय फौज के साथ युद्ध स्थल में गये थे । राजस्थान की छोटी बड़ी सभी रियासतों ने अपनी क्षमता के अनुसार धन और जन से अंग्रेजों की सहायता की थी । ब्रिटिश सरकार देशी राज्यों के सहयोग से बड़ी प्रभावित हुई थी । उसने युद्ध संचालन सम्बन्धी विषयों पर देशी नरेशों से विचार विमर्श करने का सिलसिला आरम्भ किया तथा उन्हें साम्राज्य की उच्चतम समितियों व परिषदों में सहयोगी व सलाहकार के रूप में नियुक्त किया । बीकानेर के महाराजा गंगासिंह को लन्दन में साम्राज्यिक युद्ध मण्डल तथा सम्मेलन में भाग लेने के लिए आमन्त्रित किया था । युद्ध समाप्त होने पर उसे शान्ति सम्मेलन में भाग लेने भेजा तथा राष्ट्रसंघ में भारतीय राज्यों का प्रतिनिधित्व करने का उन्हें सम्मान दिया गया । भारतीय नरेशों की एक निरन्तर माँग थी कि उनके व उनके राज्यों से सम्बन्धित विषयों पर चर्चा करने व निर्णय लेने के लिए एक मंच व परिषद की स्थापना की जाया देशी राज्यों की आंकाक्षाओं व आशाओं की पूर्ति हेतु प्रयास किए गये । अन्ततः 1921 ई. में नरेन्द्र मण्डल की स्थापना की गई । गंगासिंह की इसके निर्माण में महती भूमिका रही थी। वह नरेन्द्र मण्डल का प्रथम चाँसलर चुना गया । राजस्थान के शासक इसके सदस्य थे । अलवर के महाराजा जयसिंह नरेन्द्र मण्डल का महत्वपूर्ण व सक्रिय सदस्य था । उसने देशी नरेशों के प्रतिनिधि के रूप में अनेक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में भाग लिया था। धौलपुर का शासक उदयसिंह नरेन्द्र मण्डल का एक प्रभावी सदस्य था। वह इसका एक बार उपाध्यक्ष भी रहा था। इस मण्डल की स्थापना से देशी नरेश संगठित होने लगे और देश की राजनीतिक तथा आर्थिक समस्याओं को प्रभावित करने लगे ।

1921 ई. में नरेन्द्र मण्डल के उदघाटन के अवसर पर यद्यपि भारतीय नरेशों को विश्वास दिलाया था कि उनके अधिकारों पर अतिक्रमण नहीं किया जायेगा तथापि आवश्यकतानुसार यदा–कदा हस्तक्षेप ब्रिटिश सरकार द्वारा किया गया । जुलाई, 1921 ई. में मेवाड़ के महाराणा फतहसिंह को विवश किया गया कि मुख्य अधिकारों के अतिरिक्त सारा राज्य कार्य व्यस्क युवराज को सौप दें वायसराय लार्ड रीडिंग का देशी नरेशों के प्रति कठोरता का व्यवहार रहा । उसने हैदराबाद के निजाम को एक पत्र लिखा था कि ब्रिटिश क्राउन की सर्वोच्चता के परिणाम स्वरूप उसे देशी रियासतों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का भी अधिकार है । विभिन्न मात्रा में जिस आन्तरिक राजसत्ता का उपयोग देशी नरेश करते है, वह सब परमोच्च सत्ता के दायित्व की परिधि में निहित है । नरेशों में तीव्र असन्तोष उत्पन्न हो गया था। उन्होंने यह अनुभव किया कि ब्रिटिश सरकार से उनके सम्बन्धों को स्पष्ट रूप से परिभाषित किया जाना आवश्यक है क्योंकि आंगल भारत में प्रत्येक राजनीतिक परिवर्तन के साथ संधियों से प्राप्त उनके अधिकारों एवमं विशेषाधिकारों का हास होता जा रहा था। नरेशों ने ब्रिटिश सरकार के साथ अपने राजनीतिक सम्बन्धों का यथातथ्य अवबोधन एवमं यथोचित मूल्यांकन करने के लिए एक कमेटी की नियुक्ति के लिए माँग की । 1927 ई. में ब्रिटिश सरकार ने बटलर कमेटी की नियुक्ति की । इस कमेटी का मुख्य कार्य देशी राज्यों के साथ भारत सरकार के सम्बन्धों पर विचार करना था । देशी नरेशों ने बड़े प्रभावी ढंग से अपना पक्ष ब्रिटेन के प्रसिद्ध वकील लेसलें स्कॉट के माध्यम से रखा, परन्तु इससे उन्हें विशेष लाभ नहीं हुआ । 16 अप्रैल, 1929 ई. को रिपोर्ट प्रकाशित हुई रिपोर्ट से देशी नरेशों को सामान्यत निराशा ही हुई थी, क्योंकि रिपोर्ट में भारत सरकार की विगत एवमं वर्तमान कार्यवाहियों के औचित्य को स्वीकार किया गया था । उसमें परमोच्च शक्ति को परिभाषित करना सम्भव नहीं बताया और स्पष्ट रूप से इसमें उल्लेख किया गया था कि "सर्वोपरि सत्ता सर्वदा सर्वोपरि ही रहनी चाहिए" इससे देशी नरेशों को एक लाभ अवश्य पहुँचा, कमेटी ने स्वीकार कर लिया कि देशी नरेश ब्रिटिश क्राउन के प्रति उत्तरदायी थे और वे इसके अतिरिक्त किसी अन्य के प्रति वफादार नहीं हो सकते थे । ब्रिटिश क्राउन और देशी नरेशों के बीच सीधे सम्बन्ध स्वीकार किए गए । इसके साथ ही उन्हें ब्रिटिश भारत की उत्तरदायी सरकार से पृथक रहने का विकल्प दिया गया था ।

8 नवम्बर, 1927 ई. को जॉन साईमन के नाम से एक राजकीय आयोग की नियुक्ति की गई । 1930 ई. मई को साईमन कमीशन ने अपनी रिपोर्ट प्रकाशित कर दी । रिपोर्ट में ब्रिटिश शासित भारत में द्वैध शासन को समाप्त करने, संघ शासन की स्थापना करने, सेना का भारतीयकरण करने आदि राजनीतिक सुधारों के लिए सिफारिश की गई थी । रिपोर्ट में कहा था कि भविष्य में भारत के लिए एक संघ शासन की व्यवस्था की जाये जिसमें ब्रिटिश भारत के समस्त प्रान्त और समस्त भारतीय देशी राज्य सम्मिलित होंगे । भारत के भावी संविधान के सिद्धान्तों पर विचार विमर्श करने हेतु गोलमेज सम्मेलन का आयोजन किया गया जिसमें भारत और देशी राज्यों के प्रतिनिधियों को भाग लेने के लिए लन्दन में आमन्त्रित किया गया। राजपूताना के अलवर, बीकानेर और धोलपुर राज्यों के नरेशों ने इस सम्मेलन में भाग लिया। जब ब्रिटिश शासित भारत के प्रतिनिधि सर टी. बी. सप्रू ने भारत में संघीय प्रशासन लागू करने

का प्रस्ताव रखा तब सभी पक्षों की ओर से इसका समर्थन किया गया। देशी नरेशों की ओर से महाराजा गंगासिंह ने आश्वासन दिया कि देशी राज्य संघीय व्यवस्था में सम्मिलित होंगे, परन्तु वे अपने राज्यों के अस्तित्व को बनाये रखने के पक्ष में थे । इस निर्णय से भारतीय राजनीति में एक क्रान्तिकारी मोड़ आया । ब्रिटिश शासित भारत और देशी नरेशों के आपसी सम्बन्धों के इतिहास में नये युग का सुत्रपात हुआ ।

1931 ई. से 1935 ई. तक संघीय शासन व्यवस्था स्थापित करने की दिशा में भारत में जो राजनीतिक चहल–पहल रही उसमें देशी नरेशों की भूमिका भी थी । अब देशी राज्यों में एकजुटता नहीं रही । देशी नरेश दो गुटों में विभाजित हो गये थे । एक गुट का नेतृत्व पटियाला नरेश कर रहे थे जबकि दूसरा गुट भोपाल नरेश के द्वारा संचालित था जिसमें बीकानेर के महाराजा भी सम्मिलित थे । धोलपुर के शासक पटियाला गुट के साथ थे । अत: राजपूताना के नरेश भी अलग–अलग गुटों में बंटे हुए थे ।

भारत सरकार अधिनियम 1935 के द्वारा प्रथम बार देश में संघ स्थापना की व्यवस्था की गई थी । केन्द्र के दोनों सदनों में ब्रिटिश अधीन भारत के प्रतिनिधियों के अलावा देशी राज्यों के प्रतिनिधियों की सीटें निर्धारित कर दी गई । यह भी तय किया गया कि देशी राज्यों के प्रतिनिधि नरेशों द्वारा मनोनीत किये जायेंगे । देशी राज्यों को यह अधिकार दिया कि वे अपनी इच्छा के अनुसार संघ में शामिल होने का निर्णय कर सकते थे । परमोच्च सत्ता देशी नरेशों को सन्तुष्ट रखना चाहती थी । यह संघीय व्यवस्था मात्र कागज में ही बनी रही । इतनी रियायतें देने पर भी देशी नरेशों ने संघीय व्यवस्था में सम्मिलित होना स्वीकार–नहीं किया । 1939 ई. में जब द्वितीय विश्वयुद्ध आरम्भ हो गया तो ब्रिटिश सरकार ने संघीय व्यवस्था स्थापित करने का विचार स्थगित कर दिया ।

द्वितीय महायुद्ध के दौरान भारत के भावी संविधान के बारे में विचार का क्रम चलता रहा । क्रिप्स योजना में कहा गया था कि देशी राज्यों को भारतीय संघ में शामिल होने के लिए बाध्य नहीं किया जायेगा । अंग्रेजों की यह एक नयी चाल थी । देशी नरेशों का भी रवैया बदलने लगा । उन्हें अब भविष्य की चिन्ता होने लगी ।

द्वितीय युद्ध की समाप्ति के पश्चात् 1946 ई. में केबिनेट मिशन द्वारा योजना प्रस्तुत की गई थी जिसमें भारत में संघ शासन की व्यवस्था थी । नये संविधान निर्माण के लिए संविधान सभा की घोषणा की गई । भारतीय संविधान सभा के प्रति देशी नरेशों की नीति स्पष्ट नहीं थी । बीकानेर, जोधपुर, जयपुर आदि राज्यों' ने अपने प्रतिनिधि संविधान सभा में भाग लेने के लिए भेजे थे । भारत के अन्तिम वायसराय माउण्ट बेटन की योजना के अनुसार भारत और पाकिस्तान दो देश बनाये गये । 15 अगस्त, 1947 ई. को दोनों देश स्वतन्त्र होने थे । जुलाई, 1947 ई में इस हेतु ब्रिटिश संसद ने भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम पारित किया । इस अधिनियम के अनुसार देशी राज्यों पर से ब्रिटिश "क्राउन" की परमोच्च सत्ता को समाप्त कर दिया गया । देशी राज्यों और ब्रिटिश "क्राउन" के मध्य की गई सन्धियों को भी समाप्त कर दिया गया । इस अधिनियम के अनुसार भारत की सभी देशी रियासतें जिनमें राजस्थान की रियासतें भी सम्मिलित थी, स्वतन्त्र हो गई । इस प्रकार ब्रिटिश परमोच्च सत्ता के इतिहास का अन्त हुआ । नवगठित कांग्रेस सरकार को देशी राज्यों के सम्बन्ध में भारत में ब्रिटिश सरकार

का उत्तराधिकारी नहीं माना गया यह एक जटिल प्रश्न था जिसका समाधान पंडित जवाहर लाल व सरदार पटेल की सूझ–बूझ से सम्भव हो सका। शनैः शनैः राजस्थान की सभी स्टेट्स ने भारत संघ में विलय होना स्वीकार कर लिया ।

1.5 ब्रिटिश संरक्षण कालीन राजस्थान की नई व्यवस्था में सामन्तशाही

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वाद्ध तक सामन्तों का अपने राज्यों में महत्वपूर्ण स्थान था । वे अपनी जागीरों में एक स्वतन्त्र शासक की भांति आचरण व व्यवहार करते थे । बड़े सामन्तों के अपने दरबार होते थे । उनके स्वयं के अधिकारी, कर्मचारी व सैनिक हुआ करते थे । जिनकी सहायता से वे सुचारू रूप से अपनी जागीरों की शासन व्यवस्था किया करते थे । सामन्तों को व्यापक न्यायिक अधिकार प्राप्त थे । जागीर में लोगों को वे भूमि अनुदान दे सकते थे तथा उन्हें गढी में शरण देने का अधिकार प्राप्त था । व्यापारी वर्ग व दुकानदारों पर उनका नियंत्रण था । वे राहदारी व अन्य कर वसुल किया करते थे । शासकों की कमजोर स्थिति का लाभ उठाते हुए मेवाड़, बीकानेर, जयपुर आदि राज्यों में कुछ शक्तिशाली सामन्तों ने खालसा भूमि पर बलात् अधिकार कर लिया था और वहां से राजस्व एकत्र करने लगे थे ।

ब्रिटिश संरक्षण के पश्चात् राजपूत राज्यों में सामन्तों की स्थिति में परिवर्तन होने लगा था । ब्रिटिश सरकार की सहायता से राजाओं ने अपने सामन्तों पर निरंकुश नियन्त्रण स्थापित करने का प्रयास किया । उधर सामन्त अपने परम्परागत अधिकारों को छोड़ने के लिए तैयार नहीं थे । आपसी मतभेद व संघर्षमयी स्थिति बनी । ब्रिटिश सरकार की नीति किसी पक्ष विशेष के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करने की नहीं थी । उसकी नीति तो दोनों पक्षों को शक्तिहीन कर राज्यों की आन्तरिक व्यवस्था पर अपना नियन्त्रण कायम रखना तथा राजा व सामन्त दोनों को अपने आश्रित बनाने की थी ।

ब्रिटिश सरकार के प्रभाव व सहयोग से उदयपुर बीकानेर और जयपुर के शासकों ने अपने सामन्तों के अवैध अधिकृत खालसा भूमि लौटाने के लिए बाध्य किया । बीकानेर राज्य के सामन्तों के राजस्व वसूली सम्बन्धी अधिकारों को सीमित व निश्चित कर दिया गया । इसी प्रकार उदयपुर राज्यों के सामन्तों के राजस्व वसूली सम्बन्धी अधिकारों का सीमित व नियमित करने के लिए समय–समय पर कौलनामें तैयार किए गये और उन पर सामन्तों के हस्ताक्षर करवायें गये । जोधपुर राज्य में रेख, चाकरी व हुक्मनामा सम्बन्धी नियम बनाये गये तथा परिपालना के लिए कठोर कार्यवाही की गई । भूमि अनुदान सम्बन्धी अधिकारों से उन्हें वंचित कर दिया गया । अब सामन्त शासन व "डोली" के नाम पर किसी को भूमि अनुदान देने के लिए सक्षम नहीं थे । पहले जागीरदार का अपने क्षेत्र के निवासियों, धनी एवम् निर्धन, सभी पर पूर्ण नियन्त्रण था । ब्रिटिश सरकार ने राजाओं पर दबाव डाल कर सामन्तों के इस विशेष अधिकार को समाप्त करवा दिया । अब जागीरी क्षेत्र के सेठ साहूकार ब्रिटिश प्रान्तों में जाकर बसने लगे । व्यापारी वर्ग जागीरदारों के नियन्त्रण से मुक्त हो गया । जागीर के बाहर जाने के लिए वे स्वतन्त्र हो गये । इससे समाज में सामन्तों की प्रतिष्ठा में कमी आई ।

मेर रेजीमेन्ट, भील कोर, शेखावाटी ब्रिगेड, जोधपुर लीजियन और कोटा कंटिन्जेंन्ट की स्थापना की गई और इन बटालियनों के खर्चे के लिए सम्बन्धित राज्यों से नकद रुपये लिए जाने लगे । अब राजाओं को बड़ी सेनाएं रखने की आवश्यकता नहीं रही । राजाओं ने जागीरदारों से सैनिक सेवाओं (चाकरी) के बदले नकद रुपया लेना निश्चित किया । अब जागीरदारों के लिए सैनिक दस्ते रखना सम्भव नहीं रहा । इस परिवर्तन से सामन्तों की शक्ति काफी प्रभावित हुई । उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा को क्षति पहुँची । अब वे दरबार के विरुद्ध सिर नहीं उठा सकते थे । अंग्रेजों के आगमन से अब सामन्तों को पड़ौसी राज्यों से भी मदद नहीं मिल सकती थी । सामन्तों का यह आधार भी समाप्त हो गया ।

सामन्तों के न्यायिक अधिकारों में कमी कर दी गई । छोटे जागीरदारों के न्यायिक अधिकार समाप्त कर दिये गये । बड़े जागीरदारों के अधिकारों को भी सीमित कर दिया । राजस्थान के राज्यों में ब्रिटिश शासित भारत के अनुरूप न्याय पद्धति का अनुसरण किया जाने लगा । सरदारों के विरुद्ध अभियोगों की सुनवाई सरदार कोर्ट्स में. की जाने लगी । बीकानेर राज्य में तो जागीरदारें[को सामान्य न्यायालयों में उपस्थित होना पड़ता था । उन्हें भी न्यायालय शुल्क देना पड़ता था । न्यायिक अधिकारों के छिन जाने व सीमित हो जाने से सामन्तों का समाज में प्रभाव बहुत कम हो गया । वे साधारण जन की श्रेणी में आने लगे ।

पहले जागीरदारों के नाम पर आने वाले माल पर चुंगी नहीं ली जाती थी । अब उन्हें इस अधिकार से वंचित कर दिया गया । सामन्तों को व्यापारियों से राहदारी दाना–पानी आदि शुल्क वसूल करने के अधिकार से भी वंचित कर दिया । राहदारी शुल्क वसूल करने के अधिकार को सामन्तों से छीन लेने से सामन्तों का व्यापारी वर्ग में प्रभाव घट गया । पहले सेठ साहूकारो को अपने आसामियों से ऋण वसूली हेतु जागीरदारों के दरवाजों को खट खटाना पड़ता था । अब इसके लिए सार्वजनिक न्यायालय बन चुके थे । इस प्रकार शनै: शनै: सामान्तों का नियन्त्रण समाप्त होने लगा और इसके साथ ही सामाजिक संरचना में उनका वर्चस्व कम होने लगा । अब सामन्त राज्य में सत्ता के स्त्रोत नहीं रहे ।

पहले राजपूत राज्यों में कुछ ऐसे मुद्दे थे जिनके निर्णयों में रानी माँ, जातीय पंचायतों विशिष्ट व रियासत सरदारों की अनुमति व राय अनिवार्य रूप से ली जाती थी । जोधपुर में मानसिंह के निधन के बाद तख्तसिंह को गद्दी पर, आसीन करते समय मॉजी साहिबा, सामन्तों और मुत्सद्दियों से सलाह ली थी । अंग्रेजों के संरक्षण काल में उत्तराधिकार सम्बन्धी निर्णय में धीरे–धीरे सामन्तों को नियंत्रण प्राय: समाप्त हो गया । पॉलिटिकल एजेंट का ही निर्णय सर्वोपरि था ।

ब्रिटिश सरकार ने अपने हित को सर्वोपरि रखकर राजस्थान के राज्यों में ऐसी नौकरशाही को प्रोत्साहन दिया जो अपने प्रति निष्ठावान व स्वामिभक्त हो । 19वीं शताब्दी के अन्त तक लगभग सभी राज्यों में इस नई नौकरशाही का बोलबाला था । प्रशासन व्यवस्था में सामन्तों की उपेक्षा की गई । उनके प्रभाव को कम करने का प्रयास किया गया । भारत के स्वतंत्र होने के पूर्व कुछ राज्यों में पढ़े लिखे सामन्त प्रशासन में उच्च पदों पर आसीन किए गए थे, परन्तु उनसे यह अपेक्षा की जाती थी कि वे अंग्रेजों के प्रति निष्ठावान रहेंगे तथा राज्य में बढ़ते हुए राष्ट्रवाद को रोकने में सहयोग देंगे ।

ब्रिटिश संरक्षण के पूर्व सामन्तों की प्रतिष्ठा थी क्योंकि वे अपनी जागीरों में उपस्थित रहते थे और अपनी प्रजा के कल्याण कार्यो में रत थे । वे वाणिज्य व्यापार के संरक्षक, शान्ति और व्यवस्था दायक तथा न्याय के अनुपालक माने जाते थे । वस्तुत वे जन नेता थे । 19वीं वे 20 वीं शताब्दी में सामन्तों की स्थिति में तेजी से परिवर्तन आया । परिवर्तित सामाजिक जीवन में पूंजी, अर्थव्यवस्था, व्यापारिक सम्बन्धों व शैक्षणिक योग्यता आदि का अत्यधिक महत्व था । राजपूत सामन्तों ने आधारभूत तथ्यों की ओर ध्यान नहीं दिया । व्यापार, वाणिज्य तथा पूंजी विनिमय को उन्होंने वैश्यों का क्षेत्र माना और शिक्षा को आजीविका का साधन समझा । जागीरी क्षेत्र में स्कूलों खुली परन्तु थोथी प्रतिष्ठा के चक्कर में जागीरदारों ने अपने बच्चों को उन स्कूलों में पढ़ाना पसन्द नहीं किया । इस प्रकार प्रगति की दौड़ में पीछे रह गये । समाज में उनकी पहले वाली प्रतिष्ठा नहीं रह सकी ।

जागीरदार, जो अंग्रेजी शासन पद्धति के अन्तर्गत अपने को सुरक्षित अनुभव करने लगा था, अत्याचारी बन गया अब उसे कृषकों को खुश रखने की आवश्यकता नहीं थी । पाश्चात्य प्रभाव से उत्प्रेरित जागीरदार वर्ग विलासी व निष्क्रिय होता जा रहा था । विदेशी वस्तुओं के प्रति उनका आर्कषण बढ़ने लगा । वे विदेशी शराब के आदी होने लगे थे । ऐसी स्थिति में उन्हें अतिरिक्त धन की आवश्यकता थी । आलोच्य काल में जागीरदारों ने अपने किसानों से अनेक प्रकार के कर वसूल किए । उनसे लाग–बाग व बेगार ली जाने लगी । अब जागीरदारी प्रथा पैतृक नहीं रहकर शोषणात्मक बन गई थी । देश में राष्ट्रवाद का उदय हुआ व नवचेतना का संचार हुआ । इसका प्रभाव राजस्थान के पद दलित किसान पर भी पड़ा । परिणामत: किसानों ने जागीरदारों के विरुद्ध आन्दोलन किए । बिजोलिया, बून्दी व सीकर किसान आन्दोलनों का व्यापक प्रभाव पड़ा । राजनीतिक संगठनों द्वारा राजस्थान के विभिन्न राज्यों में जागीरदारी प्रथा के विरुद्ध आवाज उठाई गई जिससे जागीरदारों का अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया । 1947 ई. के पूर्व तक सामन्ती व्यवस्था चरमरा गई थी । जागीरदारी प्रथा उन्मूलन की सशक्त भूमिका तैयार हो चुकी थी ।

1.6 सारांश

इस इकाई में आपने ईस्ट. इण्डिया कम्पनी द्वारा राजस्थान के राज्यों के साथ की गई सन्धियों का अध्ययन किया । सन्धियों में स्पष्ट रूप से कहा गया था कि कंपनी सरकार राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेंगी परन्तु हस्तक्षेप किया गया और कंपनी सरकार ने अपनी सर्वोपरिता स्थापित करने का सतत् प्रयास किया । 1857 ई. के विप्लव के पश्चात् संवैधानिक परिवर्तन आये । अब राजस्थान के राज्यो का सीधा सम्बन्ध ब्रिटिश क्राउन से जोड़ा गया और ब्रिटिश सरकार और राजस्थान के देशी राज्यों के बीच वास्तविक संबन्धो का आधार परमोच्च सत्ता का सिद्धान्त माना गया । देशी नरेशों को ब्रिटिश क्राउन के पति सम्मान प्रदर्शित करने तथा निष्ठावान बने रहने के लिए प्रेरित किया गया । देशों नरेशों को व्यवस्थित तरीके से अपने ही राज्यों में शक्ति हीन बना कर अधीनस्थ स्थिति में लाना था । अधीनस्थ एकता की नीति द्वारा भारत सरकार ने सम्पूर्ण देश को एक इकाई के रूप में संगठित करने का प्रयास किया । 20 वी शताब्दी के आरम्भ में भारत में राष्ट्रीय भावना के प्रबल होने से

भयभीत होकर ब्रिटिश सरकार ने देशी राज्यों के साथ अपनी नीति में परिवर्तन कर देशी नरेशों को गले लगाया । उनके साथ पारस्परिक सहयोग, विश्वास व मित्रता का व्यवहार किया । दोनों के समान हितों की दुहाई दी गई । देशी रेशों को देश की संघीय शासन में भागीदारी देने का प्रयास रहा । अखिल भारतीय सम्बन्धी विषयों पर उनसे विचार विमर्श की नीति अपनाई । उन्हें विशेष सुविधाएं दी गई । अन्ततः देश स्वतन्त्र हुआ । तब राजस्थान के राज्यों का अन्य राज्यों की भाँति स्वतंत्र घोषित कर दिया गया । उनके साथ की गई संधियों को समाप्त कर दिया गया । परमोच्च सत्ता का अन्त हो गया । इस इकाई में आपने ब्रिटिश संरक्षण काल में राजस्थान के राज्यों में सामन्ती व्यवस्था में आये परिवर्तनों का भी अध्ययन किया है ।

1.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. ईस्ट इण्डिया कम्पनी सरकार ने राजस्थान के देशी राज्यों में अपनी सर्वोपरि सत्ता प्रतिष्ठित करने हेतु कौन से साधन अपनाए? उसे इसमें कहां तक सफलता प्राप्त हुई?
2. ब्रिटिश परमोच्च सत्ता के सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए । इसका राजस्थान के राज्यों में कैसे विकास हुआ?
3. ब्रिटिश सरकार द्वारा राजस्थान के देशी राज्यों के प्रति अपनाई गई नीति के विभिन्न चरणों की विवेचना कीजिए ।
4. ब्रिटिश संरक्षण काल में राजस्थान के राजपूत राज्यों में सामन्ती व्यवस्था में आये परिवर्तनों की व्याख्या कीजिए ।

1.8 संदर्भ ग्रन्थों की सूची

आर. पी. व्यास : "राजस्थान का वृहत् इतिहास" खण्ड प्रथम, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर ।

आर. पी. व्यास : "आधुनिक राजस्थान का इतिहास" खण्ड द्वितीय, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर ।

एम. एस. जैन : "आधुनिक राजस्थान का इतिहास", पंचशील प्रकाशन, जयपुर।

जगन्ना प्रसाद मिश्र : “आधुनिक भारत का इतिहास”, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

: British Paramountcy and Indian Renainssance Part I (Relevant Portion), Bhartiya Vidhya Bhawan’s Series Vol. IX. Jodhpur.

Radhey Mohan Mathur : “Rajput States & East India Company”, Sundeep Prakashan, Delhi.

इकाई 02

राजस्थान में सामाजिक स्तरीकरण एवं आर्थिक वर्ग (सन् 1818–1949 ई.)

इकाई की रूपरेखा

02.0 उदेश्य

02.1 पृष्ठष्टभूमि

02.2 उन्नीसवीसदी में सामाजिक स्तरीकरण तथा आर्थिक वर्ग (सन् 1818–1900 ई॰)

02.2.1 प्रदेश के परिदृश्य में शासक समाज

02.2.2 सामाजिक संरचना

02.2.2.1 अभिजात वर्ग

02.2.2.2 अलवर रियासत

02.2.2.3 जैसलमेर रियासत

02.2.2.4 झालावाड़ रियासत

02.2.2.5 जोधपुर रियासत

02.3 बीसवीं सदी में सामाजिक स्तरीकरण तथा आर्थिक वर्ग (सन् 1901–1949 ई.)

02.3.1 जाति समाज

02.3.1.1 जाति समाज द्वारा जाति के ऊंच नीच के मापदंड

02॰3.1.2 जाति की पहचान

02.3.2 सामाजिक संरचना में जातियां

02.3.2.1 ब्राह्मण

02.3.2.2 राजपूत

02.3.2.3 महाजन

02.3.2.4 अन्य जातिया

02.3.2.5 कृषि एवं पशुपालन कार्य से सम्बन्धित जातियां

02.3.3 समाज के अन्य वर्ग

02.4 आर्थिक वर्ग की संरचना एवं सम्बन्धित जाति–वर्ग

02.4.1 सामंती व राजरांत्रिक शासन व्यवस्था में जाति/वर्ग को विशेषाधिकार

02.4.2 ग्रामीण समाज

02.5 ब्रिटिश शासित अजमेर मेरवाड़ा क्षेत्र

02.6 बदलाव की ओर

02.7 सारांश

02.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

02.9 संदर्भ ग्रंथों की सूची

02.0 उद्देश्य

इस इकाई में दी गई सामाग्री का उद्देश्य सामाजिक स्तरीकरण तथा आर्थिक वर्ग के विभिन्न पहलुओं से अवगत कराना है । उन्नीसवीं सदी में रियासतों की ईस्ट इण्डिया कंपनी के साथ हुई संधियों का प्रभाव सामाजिक तथा आर्थिक पहलुओं पर भी पड़ा । प्रदेश के सामाजिक परिदृश्य में शासक समाज सर्वोपरि था तथा रियासतों में सामाजिक संरचना, उसमें विभिन्न जाति–वर्गो का प्रभाव व उनकी स्तरीकरण, तथा जातियों व उप–जातियों की अर्थव्यवस्था में योगदान की विवेचना की गई है। बीसवीं सदी में जाति समाज का सामाजिक संरचना में योगदान, विभित्र पेशों व व्यवसायों में जुड़ी जातियां तथा उप–जातियां, उनका समाज में स्थान, आर्थिक वर्ग की संरचना और जाति–वर्ग, सामंती व राजतांत्रिक शासन व्यवस्था में जाति–वर्ग को दिए गए विशेषाधिकार, ग्रामीण समाज का चित्रण तथा सामाजिक बदलाव में स्वतंत्रता आन्दोलन की भूमिका पर कुछ प्रकाश डाला गया है ।

2.1 पृष्ठभूमि

राजस्थान प्रदेश उन्नीस छोटी–बड़ी रियासतों, दो ठिकानों (chiefships) और ब्रिटिश शासित अजमेर–मेरवाड़ा क्षेत्र के एकीकरण से बना था। उससे पूर्व इन रियासतों में राजतंत्रात्मक शासन प्रणाली तथा सामंती व्यवस्था थी जिसमें शासक का स्थान सर्वोपरि होता था। वह अपने सामंतों की सहायता से रियासतों की आंतरिक सुरक्षा और सामाजिक सामंजस्य व संतुलन बनाये रखता था । सन् 1817–18 ई. तथा उसके आस–पास इन रियासतों तथा ईस्ट इण्डिया कंपनी के बीच हुई राजनैतिक संधियों से इन शासकों की सत्ता पर कुछ अंशों में अंकुश जरूर लग गया था क्योंकि शासक अब आपस में न तो युद्ध कर सकते थे और आपसी पत्र व्यवहार भी ब्रिटिश सरकार के माध्यम से करना आवश्यक कर दिया गया था। इन संधियों की शर्तों से अनुसरण में अधिकांश शासकों से नियमित रूप से बड़ी राशि के रूप में कर (tribute) वसूला जाने लगा जिससे रियासतों की वित्तीय स्थिति जर्जर होने लगी ता विवश होकर कुछेक शासकों को कर की अदायगी के लिए अपनी रियासत के वित्तीय स्रोतों को ब्रिटिश सरकार को पट्टे पर देना पड़ा । इससे उन रियासतों के शासकों की सामाजिक प्रतिष्ठा पर आंच आई। कुछ रियासतों के शासकों को अपनी अपनी रियासत के सेठ साहूकारों से ऋण लेकर कर की राशि का चुकारा करना पड़ता था । परोक्षरूप से इससे उन रियासतों में महाजनों की सामाजिक प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई।

02.2 उन्नीसवीं सदी में सामाजिक स्तरीकरण तथा आर्थिक वर्ग (सन्1818–1900 ई॰)

रियासतों में सामाजिक स्तरीकरण तथा आर्थिक वर्ग का अध्ययन दो भागों में करना उपयुक्त होगा– (i) सन् 1818 से 1900 ई. तक, जब विरासत में मिले मध्ययुगीन रियासती सामाजिक ढांचे में ईस्ट इण्डिया कम्पनी से की गई संधियों के फलस्वरूप ब्रिटिश हुकुमत के दखल देने से बदलाव प्रारम्भ हुआ तथा (ii) सन् 1901 से 1949 ई. तक, जब जनगणना के

आकड़ों के आधार पर सामाजिक सूचकांक की तस्वीर स्पष्ट हुई तथा स्वतंत्रता आन्दोलन से सामाजिक परिवेश में बदलाव आया।

सामाजिक स्तरीकरण के संदर्भ में रियासतों के शासकवर्ग की अहम् भूमिका रही है क्योंकि राजस्थान में सामंती व्यवस्था के बीज तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों में निहित थे। युद्ध में विजेता रहने पर शासक बनने के बाद अपने भाई–बंधुओं और सगे–सम्बन्धियों को विजित क्षेत्र में उनके भरणपोषण एवं स्वामीभक्ति के लिए वांछित गांव व भू–भाग देने से सामंती व्यवस्था प्रारम्भ हुई । यह व्यवस्था परम्परागतरूप से चलती रही और राजस्थान के एकीकरण के समय प्रदेश के लगभग 60% भू–भाग में जागीरें थी ।

02.2.1 प्रदेश के सामाजिक परिदृश्य में शासक समाज

शासक वर्ग में राजपूत शासकों का बहुमत था। प्रदेश की 19 रियासतों में से 16 के शासक विभिन्न राजवंशों के वंशज थे, दो (भरतपुर तथा धोलपुर) के शासक जाट जाति के थे तथा एक रियासत (टोंक) के नवाब पठान थे । अजमेर–मेरवाड़ा क्षेत्र ब्रिटिश सरकार द्वारा शासित था ।

रियासतों में जिस जाति विशेष के शासक थे उस रियासत में वे बहुतम में हों, यह आवश्यक नहीं था । बिडम्बना तो यह थी कि संख्या की दृष्टि से उनकी जाति रियासत में दूसरे या तीसरे स्थान पर आती थी तथा जिस शाखा या गोत्र से वे स्वयं थे, उनकी संख्या तो और भी कम थी ।

तत्कालीन राजपुताना प्रदेश के सामाजिक परिदृष्य में शासक वर्ग आपसी व्यवहार में अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए सचेष्ट रहे। उदयपुर के महाराणा जो 'हिन्दुआ सूरज' कहलाते थे शासक वर्ग के समाज में सबसे अधिक प्रतिष्ठित थे। ब्रिटिश सरकार के साथ सम्बन्धों में भी ये अपने सामाजिक प्रतिष्ठा के अनुरूप स्थान पाने का प्रयत्न करते थे चाहे ब्रिटिश दरबार में जाने का प्रश्न हो अथवा दरबार में उपयुक्त स्थान के आवंटन का, या ब्रिटिश सरकार द्वारा दी गई विभित्र पदवियों से अलंकृत करने का। इसी प्रकार गद्दीनशीनी के समय ब्रिटिश सरकार से प्राप्त होने वाली खिलअत तथा भेंट की वस्तुएं, ब्रिटिश सरकार द्वारा स्वीकृत की जाने वाली सलामी की तोपों की संख्या, टकसालों को मान्यता आदि ऐसे मामले थे जिनमें सभी शासक अपनी परम्परा के अनुरूप सम्मान चाहते थे।

शासकों में आपसी प्रतिस्पर्धा भी रहती थी ताकि उनकी रियासत का सिर ऊंचा रहे। मेयो कॉलेज फण्ड, लेडी डफरिन फण्ड तथा अन्य इस प्रकार की योजनाओं में अपनी रियासत की ओर से वे मुक्तदान करते थे। वाल्टरकृत राजपुत्र हितकारिणी सभा के द्वारा सुझाए गए सामाजिक सुधारों तथा सती प्रथा, कन्या वघ, जीवित समाधि आदि कुप्रथाओं की रोकथाम के यथासंभव उपाय किए गये। इनमें आपसी प्रतिस्पर्धा के भी कई उदाहरण मिलते है। तीर्थराज पुष्कर में लगभग सभी शासकों द्वारा अपने–अपने घाट बनाये गये थे तथा उनके अलग–अलग पुरोहित थे जिन्हें दान–दक्षिणा, जागीर, भूमिदान, गौदान आदि में प्रतिस्पर्धा रहती थी। बीकानेर के महाराजा रत्नसिंह जब सन् 1836 में तीर्थयात्रा हेतु गया तीर्थस्थल गए तो अपने साथ

6000 साथियों तथा जनाना को ले गए तथा मार्ग में ब्रिटिश सरकार द्वारा उनकी सुरक्षा व सम्मान का पूरा ध्यान रखा गया। सन् 1857 में जब अलवर रियासत के पन्द्रह वर्षीय महाराज मंगलसिंह ने मेयो कॉलेज अजमेर में प्रवेश लिया तो वे अपनी प्रतिष्ठा के अनुरूप हाथी पर बैठकर पढ़ने जाते थे। जब कोटा के महाराव ने मेयो कॉलेज में प्रवेश लिया तो उनके अभिभावक, निजी शिक्षक, सेवक, रसोईये, खचांजी, हाथी, घोड़े, पालकी, खच्चर, बग्गियां, महावत, सेवकगण, नाई आदि कुल मिलाकर 200 लोग उनके साथ गए तथा पढ़ाई के दौरान वे वही रहे जिनके ठहरने के लिए विशेष व्यवस्था करनी पड़ी ।

शासक समाज में प्रतिष्ठा पाने के लिए शासकों की यही चेष्टा रहती थी कि शादी–विवाह अपने से उच्च कुल में हो। उनकी यश कीर्त्ति चारण एवं भाटों के माध्यम से रियासत तथा रियासत के बाहर फैलती थी ।

02.2.2 सामाजिक संरचना

प्रत्येक रियासत की सामाजिक व आर्थिक संरचना वहां के शासक की नीति तथा भौगोलिक परिस्थिति तथा विभित्र जातियों पर निर्भर थी। समाज में हिन्दू धर्म के अनुयाईयों का बहुमत था तथा पुराने वर्णाश्रम का आदर्श, जो सदियों पहले ही विकृत होकर जाति व्यवस्था में परिणित हो चुका था, उत्रीसवीं सदी की पीढ़ी को विरासत में मिला था जो अब सामाजिक स्तरीकरण व आर्थिक वर्ग का आधार बन गया था। सदियों से हिन्दुओं से सम्पर्क में रहने से मुसलमानों में भी जाति व्यवस्था जड़ ले चुकी थी ।

हिन्दु वर्ण व्यवस्था में ब्राह्मणों का उच्चतम स्थान था। वे यज्ञ, हवन तथा पठन–पाठन के प्रसारण व धार्मिक कृत्यों को निभाते हुए हिदू धर्म के पोषण के लिए उत्तरदायी थे। कालान्तर में राजनैतिक परिस्थितियों के कारण इन मूल कर्तव्यों के पालनार्थ उनकी संख्या घटती गई और वे जीविकोपार्जन हेतु अन्य कृत्यों में लग गए। कुछेक कृषि पर निर्भर हो गए तो कुछ व्यापार करने लगे। कुछेक अपनी बुद्धि चातुर्य से राज्य सेवा में चले गए। जिनके पास जीविकोपर्जन का कोई स्रोत नहीं रहा वे सन्यासी, बैरागी, भिक्षुक आदि बन गऐ। जो कर्मकाण्ड के ज्ञाता थे उनमें भी विभाजन हो गया। कुछेक केवल मंगल एवं शुभ कार्य सम्पन्न कराने लगे। जो ब्राह्मण मृतक संस्कार कराने लगे उन्हें समाज हीन दृष्टि से देखने लगा। इस प्रकार ब्राह्मण समाज बंटता गया और उनमें इतनी शाखाएं, प्रवर, शासन आदि हो गये कि उनका समाज में सही स्थान निर्धारण करना कठिन हो गया। कृषि, व्यापार तथा विभिन्न उद्योग–धंधों में कार्य काने वालों ब्राह्मणों ने अपनी अलग पहचान बनाली। उनमें उप–जातियां बनती गईं।

लगभग यही स्थिति राजपूत व वैश्यों की थी। कालान्तर में वे अपने मूल दायित्व से विमुख हो गए तथा जीविकोपार्जन के लिए अन्य कृत्यों में लग गए। सन् 1817–18 की संधियों के पश्चात् तो रियासतों के बाहरी सुरक्षा का दायित्व भी धीरे–धीरे ब्रिटिश सरकार के अधिकार में चला गया तथा आन्तरिक सुरक्षा के लिए भी विशेष परिस्थिति में वे सहायता करने के लिए तैयार थे। रियासतों की सेना सीमित कर दी गई थी जिससे युद्ध प्रिय राजपूतों को जीविकोपार्जन के लिए अन्य क्षेत्रों में जाना पड़ा। वैश्य वर्ग भी, जो वर्ण के अनुसार समाज के पोषण सम्बन्धी उत्पादन (कृषि, पशुधन, व्यापार) के लिए उत्तरदायी था, सिमटकर अधिकांशत:

वाणिज्य एवं व्यापारिक गतिविधियों में लग गया और अभिजात वर्ग में उच्च पदों की प्राप्ति और सामाजिक प्रतिष्ठा की प्राप्ति के लिए प्रतिस्पर्धा होने लगी। शुद्र वर्ग भी अन्य तीनों वर्णों की सेवा के कर्तव्वों से विमुख हो गया और अनेकों ने उत्पादन के क्षेत्र में प्रवेश किया। इन सबका परिणाम यह हुआ कि समाज में एक ऐसे वर्ग का निर्माण हुआ जो पेशेवर वर्ग कहलाया जिसमें विभिन्न जातियों के लोग शामिल थे।

बदलते हुए परिवेश में कुछ उत्पादो की आवश्यकता में कमी आ गई। सन 1818 के पश्चात् रियासतों के आपसी युद्ध की संभावनाएं क्षीण हो गई थी। सैन्य उपकरणों की आवश्यकता घटने से सिरोही में तलवारों तथा नागौर में तोपों तथा अन्य युद्ध सामग्री के उत्पादन में लगा वर्ग भी अन्य पेशों में जाने को मजबूर हो गया और नई पेशेवर जातियों का जन्म हुआ। ब्रिटिश शासित क्षेत्रों में सरकार द्वारा व्यापारिक वर्ग को रियायतें देने से उनका रियासतों से पलायन हुआ और नए कस्बों में एक सर्व जातिय/वर्गीय समाज पनपने लगा।

02.2.2.1 अभिजात वर्ग

राजप्रसाद में शासक के अपने स्वामीभक्त ड्योढ़ीद्वार(door keepers) होते थे। राजपंडित व राज पुरोहितों के पद वंशानुगत होते थे। इसी तरह भाट व चारण भी चयनित वर्गो से होते थे। निजी सेवा चाकरी के लिए बढ़ारण, खवास, चेले व गोले–गोलियां होती थी जिन्हें विवाह के अवसर पर दहेज में दिया जाता था । '

रियासत में शासक के इर्द–गिर्द एक अभिजात वर्ग था जिसमें शासक के पूर्वजों के नजदीकी वंशजों के परिवारों के सदस्य होते थे जिन्हें दरबार में बैठने के विशेषाधिकार प्राप्त थे। इन्हें ताजमी सरदार कहते थे तथा उन्हें जागीरें प्राप्त थीं। राजकार्य के उच्च पदों पर मुतसद्दी नियुक्त होते थे जिनके स्वामीभक्त पूर्वज भी उन पर्दो पर कभी आसीन थे। परदेशियों(रियासत के बाहर के लोग) को भी कुछ पद प्राप्त थे। ये अंग्रेजी भाषा के भी ज्ञान रखने वाले होते थे ताकि ब्रिटिश सरकार से पत्र व्यवहार हो सके।

02.2.2.2 अलवर रियासत

अलवर के शासक नरूका राजपूत थे। अभिजात वर्ग में नरूका शाखा के 12 परिवार थे जो 'बारह कोटड़ी' के नाम से जाने जाते थे। अन्य जागीरदारों में चौहान, कलानोत, पालानोत, राजावत, शेखावत, गौड़, राठौड़, जादों, भाटी, तंवर, बड़गूजर आदि थे। 'बारह कोटड़ी ' का परिवार व अन्य जागीरदार जिन्हें 'ताजमी' श्रेणी में रख गया था, दरबार में उनके उपस्थित होने पर शासक खड़े हो कर उनका अभिवादन स्वीकार करते थे। अन्य अभिजात श्रेणी में गौड़ ब्राह्मण (मिश्र) का परिवार था जो गद्दीनशीनी के समय राजतिलक करता था तथा राज परिवार में मांगलिक गार्ये को सम्पन कराता था। माछेरी का एक पारीक, ब्राह्मण परिवार राज परिवार में पुरोहित कार्य के लिए नियुक्त था। कामां के गोंसाई महाराज शासक के गुरू थे। चारणों को कई गांव जागीरों में दान दिए हुए थे। राज परिवार में 200 खवास/चेले थे जिनमें से पांच को राज दरबार में बैठने का अधिकार प्राप्त था।

कुल राजपूतों की संख्या रियासत की जनसंख्या का 1/20वां भाग थी। कुछ मुसलमान पूर्व में राजपूत थे। मेव (सब मुसलमान) रियासत की जनसंख्या के 50% थे। ये 52 वर्गों में विभक्त थे तथा अच्छे कृषक थे। ब्राह्मणों में सारस्वत, कान्यकुब्ज, गौड़, गुजराती आदि थे। इनके 59 गौत्र थे जिनमें 6 प्रमुख थे– आदि गौड़, खान–पान करते थे परन्तु उपरोक्त अन्य चार का इनसे सम्बन्ध नहीं होता था ।

महाजन या बनियों में खण्डेलवाल तथा अग्रवाल थे। मीणाओं में दो वर्ग थे– जमींदारी और चौकीदारी। जमींदारी मीणा अच्छे कृषक थे। चौकीदारी मीणा अपने को जमींदारी मीणाओं से सामाजिक स्तर में ऊंचा मानते थे। मीणाओं में 32 शाखयें थी। गूजर व जाट भी अच्छे कृषक थे। जाटों में मुख्य शाखाएं थी– कदालिया, सिमराला, कासनवाल, सदावत तथा गूजरों में चंदीजा, रावत, चंदेला, नेवर तथा भेड़ी। रियासत में अहीर भी अच्छे कृषक थे। इनमें मुख्य शाखायें थी: मेला कनोचिया, भगवाना, जादों, बाकरिया, सीसोदिया।

02.2.2.3 जैसलमेर रियासत

राजपरिवार में महारावल के पश्चात् ठाकूरों(राजपूत परिवार के प्रमुख) का प्रथम स्थान आता था, उसके पश्चात् भूमिया तथा अन्य राजपूतों का। राज्य के प्रशासनिक अधिकारियों का स्थान उनके बाद था। समाज में ब्राह्मण, राजपूत व महाजन उच्चवर्ग के माने जाते थे। ब्राह्मणों में कई जातियां थी– पुष्करणा, श्रीमाली, जोशी, राजगौड़ अथवा केसरिया, पालीवाल, गूजरगौड़ आदि।

महाजनों में अग्रवाल, माहेश्वरी तथा ओसवाल थे। अन्य जातियों में चारण, भाट, अरोड़ा, लोहानी, भोजक(निम्न श्रेणी के ब्राह्मण), सुनार, जाट, विश्नोई, रेबारी, शमी, गोंसाई, जती(यति), साधु, खत्री, माली, कलाल(शराब बराने वाले), दर्जी, खाती, सिलावट, कुम्हार, नाई, लखेरा, कलईगर, मोची, देशान्तरी(डाकोत) धोबी, ओड(मकान बनाने वाला राजपूत जाति का कारीगर)। मेघवाल जो समाज में निम्न श्रेणी के माने जाते थे, भेड़, बकरी व ऊंट के बालों से लोई, कम्बल, ऊंट की जीन के नीचे बिछाने का कपड़ा, तथा पहनने का कपड़ा आदि बनाते थे।

चरवाहों के पास भेड़–बकरियां थी तथा 10000–12000 बकरियों तथा 4000–5000 भेड़ों की वार्षिक बिक्री हो जाती थी। रियासत की जनसंख्या में एक तिहाई मुसलमान थे जिनमें कुछ ऐसे थे जो पूर्व में राजपूत थे।

02.2.2.4 झालावाड रियासत

रियासत के शासक झाला राजपूत थे। रियासत में हाड़ा, राठौड़, चन्द्रावत, राजावत, सोलंकी, सीसोदिया, शक्तावत तथा खींची राजपूत भी थे। अन्य जातियों में ब्राह्मण, महाजन और कायस्थ के अलावा पेशेवर जातियां इस प्रकार थी– खाती, कुम्हार, रंगरेज (dyer), कलईगर (tinker), लुहार, तेली, छीपे (cloth printer), जुलाहा (weavers)। पत्थर–श्रमिक के रूप में कार्य करने वाला राजपूत वर्ग 'ओड' के नाम से जाना जाता था। सांठिया, कंजर, नट तथा सोंधिया (जो चौमहला क्षेत्र में खेती भी करते थे) घूम्मड़ जाति में गिने जाते थे। झाला

राजपूत खेती भी करते थे। वाणिज्य में तीन–चौथाई जैन तथा एक चौथाई वैष्णव महाजन थे। बोहरा जाति के लोग टिन व लोहे के खुदरा व्यापरी थे । कायस्थ क्लर्क थे।

02.2.2.5 जोधपुर रियासत

दरबार में अभिजात वर्ग की तीन श्रेणिया थी– (i) जिनके दरबार में आगमन और दरबार से जाते समय महाराजा खड़े होकर दाहिना हाथ ऊंचा उठा उनका अभिवादन स्वीकार करते थे (ii) जिनके आते व जाते समय खड़े हो जाते थे तथा (iii) जिनके आने पर महाराजा खड़े हो जाते थे । अभिजात वर्ग के सभी लोग शोभायात्रा में महाराज के आगे–आगे चलते थे। रात्रि को किले में 4 बार घड़ियाल बजते थे तथा किसी प्रमुख ठाकुर की मृत्यु पर उसे इज्जत देने के लिए तीन बार ही बजाए जाते थे तथा महाराजा शोक प्रकट करने उसके घर जाकर परिवार से मिलते थे। राज्य के मुलाजिम की मृत्यु पर भी महाराजा स्वयं शोक् प्रकट करने उसके घर जाते थे। वर्ष में 6 बड़े दरबार लगते थे– आखातीज, दशहरा, दीवाली, होली, महाराजा के जन्मदिन तथा रक्षाबंधन पर। पहले चार अवसरों पर महाराजा तथा उनके प्रमुख ठाकुर अपने–अपने पदानुसार एक कमरे में बैठकर भोजन करते थे परन्तु खाना अलग–अलग थालियों में परोसा जाता था। आखातीज व रक्षाबन्धन के अवसरों को छोड़कर महाराजा को नजर भेंट की जाती थी। रियासत के सामाजिक उच्च वर्ग में निम्न लिखित परिवारों का महाराजा पर प्रभाव था :

(i) भंडारी(ओसवालों की एक शाखा) परिवार जो पूर्व में रियासत के दीवान, बक्शी, मुसाबात वर्गरह उच्च पदों पर रहे थे।

(ii) मोहनोत एवं लोढ़ा परिवार

(iii) आसोपा परिवार जो पूर्व में रियासत के विभिन्न उच्च परों पर रहे थे।

(iv) पंचोली कायस्थ परिवार जो पूर्व में रियासत के विभिन्न उच्च पदों पर रहे थे।

(v) सभावत राजपूत परिवार जो पूर्व में रियासत में ड्योढीदार रहे थे।

(vi) व्यास एवं पुरोहित ब्राह्मण परिवार जो रियासत में वंसानुगत रहे थे। वे सभी धार्मिक कृत्य जिसमें महाराजा स्वयं शरीक होत थे, वे व्यास ब्राह्मण द्वारा कराये जाते थे जैसे गद्दीनशीनी, विवाह आदि। पुरोहित या राजगुरू व महाराजा व उनके परिवार में मृतक संस्कारों को कराने के लिए अधिकृत थे।

(vii) रियासत के वंशानुगत चारण व भाट परिवार।

दरबारा में अभिजात वर्ग के अलावा समाज की संरचना में ब्राह्मण, राजपूत तथा महाजन (हिन्दू व जैन) उच्च वर्ग में माने जाते थे। इनमें भी अनेक वर्ग एवं उप जातियां थी। ब्राह्मणों में तैलंग, पारीक, सुखवाल, गौड़, कनोजिया, पुष्करणा, सेवग, श्रीमाली, सारस्वत, खंडेलवाल, सरवरिया, गुजराती, पुरोहित, दायमा, गूजरगौड़, सनाढ्य, नंदवाना, सांचोरा, पालीवाल, जोशी, लोहाना, भोजक आदि थे। राजपूतों में राठौड़, भाटी, पंवार, चौहान, गहलोत, गौड़ व बड़गूजर थे। महाजनों में ओसवाल, माहेश्वरी, अग्रवाल, पोरवाल, श्रीमाल, श्री श्रीमाल, बीजाबर्गी(विजयवर्गी) व सरावगी थे। वंशोंच्चारक एवं विरदावली के लिए चारण व भाट थे।

चारण–भाटों के परिवार में विवाह के अवसर पर उनसे मांगने वाले मोतीसर कहलाते थे। पंचोली(कायस्थ) प्रशासन में कार्य करते थे। समाज के अन्य वर्गों में निम्न जातियां कार्य शील थी ।

(1) जाटा, गूजर, सिरवी, कलबी, विश्नोई- कृषि व पशुपालन। (2) सुनार/सोनी– सोने–चांदी का व्यापार तथा जेवरात बनाना। इनमें दो उप–जातियां थी ब्राह्मणिया सुनार व मेर सुनार। (3) खाती– इन्हें खरादी भी कहते थे। घर के लिए लकडी का सामान, खेती के उपकरण, कूएं का चाक, बेलगाड़ी आदि बनाते थे। (4) दर्जी – कपड़े सीने का कार्य, कुछेक खेती भी करते थे। (5) बड़ी– पत्तल व डोने बनाने का कार्य (6) भड्भूजा– चना–धानी भूनने का कार्य (7) डबगर– ऊँट के खाल की कुप्पी बनाने का कार्य जो घी आदि रखने के काम आती थी। (8) घांचा - टोकरी बनाने वाले (9) जगड़ी - ढपली बनाने वाले (10) गवारिया – मूंज व रस्सी बनाने वाले (11) खन्त्री– रंगे व छपे कपड़ों का व्यापार करने वाले (12) माली– सब्जी व फलों की खेती करने वाले (13) संगा– शराब बनाने का कार्य करने वाले (14) सिलावट– पत्थर तराशने व मकान बनाने के कारीगर, चक्की बनाने वाले (15) घांची– तेल निकालने वाले; तेली (16) कुम्हार– इनमें तीन वर्ग थे (i) करसा, जो कृषक थे (ii) कुम्हार, जो मिट्टी के बर्तन, घड़े, अनाज रखने के बड़े मटके, दीए आदि बनाते थे (iii) जटिया कुम्हार जो खेती के साथ–साथ जट तथा बकरी/ऊंट के बालों की रस्सी बनाते थे। (17) नाई – बाल काटना, घेरलू कार्य, स्त्रियां दाई का काम तथा घरों में बर्तन साफ करने का काम करती थी। (18) लखेरा– लाख की चूड़िया बनाने का काम (19) मोची– जूते, जूतियां कूएं से पानी खींचने के चरस बनाते थे। (20) ढोली– विवाह, पुत्रजन्म व अन्य खुशी के अवसर पर ढोल बजाने का कार्य (21) धोबी– कपड़े धोने का कार्य (22) मेघवाल– इनमें तीन वर्ग थे– (i) भाम्बी, जो मरे हुए पशुओं की खाल उतारने तथा अन्य कपड़े का काम करते थे (ii) जटिया या रेगर, जो चमड़े की पकाई व रंगाई का काम करते थे (iii) बंगड़ा, जो कपड़ा बनाते थे तथा खेती भी करते थे। मेघवालों के धार्मिक कृत्य कराने वाले गुरुडा कहलाते थे जो खेती भी करते थे। (23) बागड़ी– पशु चिकित्सा का कार्य करते थे तथा कुछेक आपरेशन से पथरी निकालने का काम भी करते थे। अन्य खेती व व्यापार करते थे। (24) सरगड़ा– खेती में श्रमिक का कार्य तथा ढोल–ताशे बजाने का काम करते थे। (25) करकटिया– निम्न श्रेणी के ब्राह्मण जो शमशान घाट पर मृतक के परिवार द्वारा दिया गया भोजन स्वीकार करते थे। कुछेक खेती भी करते थे । (26) भंगी – अपशिष्ट स्थानों की सफाई करने वाले।

मुशलमान–

हिन्दुओं के सम्पर्क में आने से मुसलमानों में भी जातियां बन गई थी। यहां इनकी 41 जातियां थी। (1) सैयद (2) दरस, (3) समेजा (4) सभा (5) राहमा (6) नहरी (7) अरिसर (8) मंगलिया (9) मलाया (10) बकिया (11) जोनिजा (12) हालीपोत्रा (13) अबरा (14) भामसरा (15) म्हेर (16) चाम (17) जंज (18) भ्या (19) सांड (20) संगरासी (21) कलार (22) चीचाड़ (23) सहता (24) दल (25) राजड (26) गजू (27) झाकरा (28) थाबा (29) रामदवा

(30) भट्टी (31) कट्टी (32) तालौजी (33) देवत (34) हिन्गोड़ा (35) सराई (36) धांधल (37) चौपन (38) समरा (39)पनु (40) रिन्ड (41) जेसर

उपरोक्त उदाहरण से समाज में विभिन वर्गों की संरचना व उनका सामाजिक व आर्थिक स्तर का आभास होता है। समाज में जाति और उपजातियों की इतनी अधिक संख्या थी कि उनमें आपस में ऊँच–नीच का स्तर निर्धारित करना कठिन था।

02.3 बीसवी सदी में सामाजिक स्तरीकरण तथा आर्थिक वर्ग(सन् 1901–1949 ई)

सन् 1901 की जनगणना के अनुसार राजपुताने की रियासतों की कुल जनसंख्या 97,27301 थी जिसमें से 80, 89,513 अथवा 83.0% हिन्दू थे। उन्नीस में से आठ रियासतों में तो उनकी संख्या इस औसत प्रतिशत से अधिक थी, जैसे बीकानेर(84.0%), किशनगढ़(87.0%), झालावाड़ (89.0%), जयपुर (90.0%), शाहपुरा (90.0%), बूंदी (91.0%), धोलपुर(92.0%) तथा करौली(94.0%)। हिन्दू धर्म की वर्ण व्यवस्था विकृत होकर जाति व्यवस्था के रूप में व्याप्त थी जैसा कि पहले इंगित किया जा चुका है।

02.3.1 जाति समाज

यद्यपि ब्राह्मण, राजपूत तथा वैश्य वर्ग समाज के प्रतिष्ठित वर्गों में माना जाता था परन्तु न केवल इन जातियों में बल्कि अन्य वर्गों में भी इतनी जातियां और उप–जातियां बन गई थी कि एक रियासत में पाई जाने वाली जातियां दूसरी रियासत में पाई जाने वाली उसी नाम की जातियों एवं उपजातियों से खान–पान, रीति–रिवाज, रहन–सहन, शादी–विवाह के नेगाचार आदि में इतनी भिन्न थी कि उनके सामाजिक स्तर का सही–सही आकलन करना दुष्कर था। वास्तविकता तो यह थी कि आम लोगों को जाति की सही व्याख्या नहीं आती थी और वे गोत्र, प्रवर, शासन अथवा पेशे/व्यवसाय के आधार पर अपनी जाति बता देते थे। स्वगोत्र वैवाहिक सम्बन्धों के कारण अथवा अन्य जाति–उपजाति में अथवा विधवा विवाह (जहां वर्जित हो) के कारण कई लोग असली जाति छिपकर कोई नई जाति का नाम रख लेते थे जिसका समाज में सही स्थान निर्धारण करना मुश्किल हो जाता था। इसलिए जाति पंचायतों की स्थापना हुई जो परम्पराओं एवं वास्तविक व्यवहार के आधार पर उनका सामाजिक आकलन करती थी।

जनगणना के आयुक्त ने सन् 1901 में जाति की जो व्याख्या की थी उसके अनुसार "जाति एक सर्वमान्य नाम वाला वह सगोत्रीय समूह अथवा कई समूहों का एक समुदाय थे जो अपने एक से परम्परागत पेशे तथा अपनी एक सी उत्पति के कारण एक समरूप(homogenous) बिरादरी का हो तथा जिसके घटक (constituents) समाज के किसी अन्य वर्ग की बजाय आपस में एक दूसरे से अधिक निकट हों।" इस प्रकार जाति के लिए (i) सगोत्री होना (ii) परम्परागत एक सा पेशा होना तथा (iii) उत्पति का समान आधार(common origin) होना आवश्यक था। परन्तु अक्सर लोगों को अपनी जाति की उत्पत्ति का सही ज्ञान नहीं था और न ही गोत्र का। बीकानेर रियासत में 189 से ऊपर जातियां थी। इसी प्रकार कोटा

रियासत में 233 जातियां थी जिनमें 108 प्रमुख थी। यदि सभी रियासतों की जातियों की गणना करें तो यह संख्या हजारों में बैठती थी।

02.3.1.1 जाति समाज द्वारा जाति के ऊंच नीच के मापदंड

जाति समाज के ऊंचे अथवा नीचे स्तर की पहचान के लिए कुछ मापदंड निर्धारित थे, जो इस प्रकार थे :

(i) एक जाति के लिए यदि दूसरी जाति में विवाह व भोजन कर लेते थे तो इन जातियों को अपने–अपने समाज में हेय दृष्टि से देखा जाता था।

(ii) स्वगोत्र में विवाह करना उसे सामाजिक स्तर से गिरा देता था।

(iii) अपनी जाति द्वारा वर्जित भोज्य पदार्थ का सेवन करने से वह जाति समाज में नीचे स्तर का माना जाता था।

(iv) अपनी जाति से निम्न जाति के यहां सेवा करने या हुक्का–पानी का व्यवहार रखने से वह जाति समाज में हेय हो जाता था।

(v) ऐसे धंधे व्यवसाय करने से जो जाति के लिए अपमानजनक अथवा अप्रतिष्ठ हो, व्यक्ति जाति–समाज में गिर जाता था।

(vi) अछूत जाति के वर्गों को अपने कूएं से जल देने अथवा उनके कूओं से जल लेने से जाति–सामाज में हेय माना जाता था।

02.3.1.2 जाति की पहचान

राजस्थान की रियासतों के हिन्दू व मुसलमान समाज में एक विशेषता थी जो मोटे रूप से हर जाति की पहचान करा सकती थी। वह थी उनका पहनावा। हर जाति का अलग–अलग पहनावा होता था जिससे पहली नजर में ही उनकी सामाजिक स्थिति की पहचान हो जाती थी। सिर पर धारण करने वाली पोशाक, पगड़ी, पाग, साफा, फेंटा, टोपी आदि कई नामों से जानी जाती थी तथा हर जाति के लिए उसका रंग, पहनने का तरीका (style) लम्बाई आदि परम्परागतरूपप से तय होती थी। यही बात शरीर पर धारण किए गए अन्य पहनावे के बारे में लागू होती थी । अंग्रेजी लिबास से यह प्रथम दृष्टा–पहचान समाप्त हो गई।

02.3.2 सामाजिक संरचना में जातियां

02.3.2.1 ब्राह्मण

पिछली शताब्दी की भंती समाज में इस जाति का अब भी सर्वोच्च स्थान था क्योंकि हिन्दू में जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त विभिन्न धार्मिक कृत्यों तथा संस्कारों को विधिपूर्वक कराने के लिए इनकी आवश्यकता होती थी, यहां तक कि समाज के निम्न वर्ग की जातियां भी अपने धार्मिक कृत्यों को ब्राहणों की कुछ उप–जातियों से परम्परागत रूप से कराती थी। पूजा स्थलों का नियंत्रण ब्राहणों के हाथों में था। प्रतिष्ठित घरों में अनुष्ठान, पूजा–पाठ तथा कथा–वचन भी ये ही करते थे। शिक्षा के क्षेत्र में भी अग्रणी होने से यह सामान्य शिक्षक तथा शासकों के निजी

शिक्षक नियुक्त किए जाते थे। शिक्षा व योग्यता के बल पर ये प्रशासन में भी उच्च स्थान पाते थे। आयुर्वेदिक चिकित्सा, ज्योतिष विद्या, शकुनशास्त्र आदि में निपुणता पाकर ये समाज में प्रतिष्ठित होते थे। जिन्हें पूजा पाठ का विधान नहीं आता था, वे व्यापार अथवा कृषि कार्यों से जीविकोपार्जन करते थे। जिन्हें कुछ भी नहीं आता था वे भिक्षुक, बैरागी, साधु आदि का मार्ग अपनाकर जीवनयापन करते थे। इबटसन ने समाज में इनके (ब्राह्मणों) महत्व के बारे में लिखा है :

> No child is born, named, betrothed, or married; nobody dies or is burnt, no juourney is under taken or auspicious day selected, no house is built, no agricultural operation of importance begun or harvest gathered without the Brahmans being fed; a portion of all the produce of the fields is set apart for their use; they are consulted in sickness and in health, they are feasted in sorrow and in joy.

इनकी सामाजिक समत्ता तथा शासकों द्वारा इन्हें संरक्षण दिए जाने क कारण ये हर रियासत के हर भाग में थे। जनसंख्या की दृष्टि से सन् 1901 में ये प्रदेश की जनसंख्या का 10.4% थे तथा जयपुर रियासत में सबसे अधिक(13.1%) थे। धार्मिक स्थलों के रखरखाव तथा धर्मादा, पुन्यार्थ तथा उनके(ब्राह्मणों) उदरोपालनार्थ जागीरें दी जाती थी। राजस्थान बनने के समय कुल 56,981 जागीरें इन कार्यों के लिए दी हुई थी जिनमें से 5534(अर्थात् 10.0%) केवल जयपुर रियासत में थी।

पंच गौड़ और पंच द्रविड़ ब्राह्मणों के विभाजन के पश्चात् कई बार इन शाखाओं में विभाजन और उप–विभाजन होते रहे। फलस्वरूप इतनी उपजातियां बनती गई और उनके रीति–रिवाज इतने भिन्न होते गए कि किसी भी उप–जातियां पेशे तथा व्यवसाय के कारण बन गई। मोटे रूप में वे ब्राह्मण जो मांगलिक कार्यों और संस्कारों को कराते थे वे उन ब्राह्मणों से जो मृतक संस्कार कराते थे, जाति व समाज में उच्च स्तर के माने जाने लगे। परन्तु समाज में आवश्यकता सभी प्रकार के ब्राह्मणों की रही।

02.3.2.2 राजपूत

सन् 1901 की जनगणना के समय राजपूतों की संख्या प्रदेश की जनसंख्या का 6.4% थी। प्रदेश की 19 रियासतों में से 16 के शासक राजपूत जाति से थे। प्रदेश के राजपूतों में राठोड़ों की संख्या सबसे अधिक थी। अन्य में कच्छवाह, चौहान, जादों, सीसोदिया, पंवार, सोलंकी तथा परिहार थे। जोधपुर, बीकानेर तथा किशनगढ़ रियासतों में राठोड़ों का शासन था; उदयपुर, डूंगरपुर, बांसवाड़ा, प्रतापगढ़ तथा शाहपुरा में सीसोदिया और उनकी उप–शाखाओं का; सिरोही, बूंदी तथा कोटा में चौहानों की उप शाखाओं(क्रमश: देवड़ा तथा हाड़ा); जयपुर में कच्छवाहों तथा

अलवर में उनकी उप–शाखा नरूकाओं का; जैसलमेर तथा करोली में क्रमश : भाटी और जादों राजपूतों का शासन था। झालावाड़ रियासत में झाला राजपूत शासन करते थे।

ब्राह्मणों की भांति राजपूतों की मूल शाखाओं और उप–शाखाओं में भी विभाजन होता चला गया और खांपें बनती रही। भरण–पोषण हेतु नजदीकी भाई–बमुओं को शासक द्वारा दी गई जागीरें वंशानुगत चलती रही। रियासतों के एकीकरण के समय इनके पास 2,41,915 जागीरें थी। शासक नजदीकी सम्बन्धियों के अलावा शासक की खांप(clan) से जुड़े राजपूतों को विशेषाधिकार प्राप्त थे। अन्य असली रक्त के राजपूतों को भी समाज में मान मर्यादा प्राप्त थी परन्तु वे राजपूत जो मिश्रित रक्त के थे अथवा जिन्होंने मुसलमान धर्म ग्रहण कर लिया था, वे समाज में हीन दृष्टि से देखे जाते थे।

02.3.2.3 महाजन

महाजन का शाब्दिक अर्थ है 'बड़े आदमी' जिसमें सेठ, साहूकार तथा व्यापारी वर्ग आता था। ये सन् 1901 में प्रदेश की कुल जनसंख्या का 7.8% थे। इनमें जैन तथा हिन्दु दोनों धर्मों के समुदाय थे। जैनियों में प्रमुख रूप से ओसवाल, सरावगी, पोरवाल, श्रीमाल तथा श्रीश्रीमाल थे तथा हिन्दुओं में माहेश्वरी, अग्रवाल, बीजावर्गी(विजयवर्गीय) आदि थे। कालान्तर में इनमें भी अनेक शाखाएं एवं उपशाखाएं होती गई। समाज का धनढ़या और व्यापारी वर्ग होने के कारण इनकी आवश्यकता रियासत के शासक से लेकर गरीब से गरीब काश्तकार तक को होती थी ।

वाणिज्य और व्यापार के अलावा इनका शासक वर्ग में भी काफी प्रभाव था इनमें से कुछ परिवार तो वंशनुगत रूप से रियासतों में उच्च पदों पर रहे। ठिकानों में ये अक्सर कामदार के पदों पर नियुक्त थे।

02.3.2.4 अन्य जातियाँ

व्यवहारिक तौर पर सामाजिक समीकरण में उपरोक्त तीनों जाति वर्गो का वर्चस्व था। दुख–सुख में आध्यात्मिक सहारे व लोक–परलोक के लिए ब्राह्मणों का आश्रय हर जाति वर्ग को जीवन में लेना पड़ता था। आंतरिक सुरक्षा और राजनैतिक स्थिरता के लिए राजपूत शासक व प्रशासन की आवश्यकता थी। रियासत की समृद्धि के लिए वाणिज्य एवं व्यापार में लगे वैश्य वर्ग तथा खाद्य और उपभोक्ता की अन्य वस्तुओं के उत्पादन के लिए अन्य कार्यशील वर्गों की आवश्यकता थी। हर रियासत में सामाजिक ढांचे की संरचना इसी प्रकार की ही थी।

02.3.2.5 कृषि एवं पशुपालन कार्य से सम्बंधित जातियां

इनमें जाट, विश्नोई, गूजर, मीणा, धाकड़, कलबी, कुनबी, मेव(मुसलमान) सोंधिया, अहीर, पटेल आदि थे।

जाट– ये सन् 1901 में प्रदेश की कुल जनसंख्या का 8.7% थे। बीकानेर किशनगढ़ व जोधपुर रियासतों में ये बहुसंख्यक थे। समाज में इनकी अच्छे काश्तकार के रूप में काफी प्रतिष्ठा थी। बीकानेर में राजा की गद्दीनशीनी के समय इनके गोदारा खांप के मुखिया को उनका

राजतिलक करने का अधिकार प्राप्त था। भरतपुर तथा धोलपुर रियासतों के शासक क्रमश : सिनसिनीवार तथा बामरोलिया राना शाखा के जाट थे।

ये परिश्रमी तथा मेहनत से अपनी खुशहाली अर्जित करते थे। इस कारण सारे प्रदेश में 'जठे जाट बठे ठाठ'(जहां जाट, वहां सम्पन्नता) कहावत प्रसिद्ध थी। हष्ट–पुष्ट होने के कारण ये अच्छे सैनिक थे और रियासत की सेनाओं में इन्हें स्थान प्राप्त था।

सामाजिक परिपेक्ष में इनके प्रमुखत: तीन वर्ग थे – (1) असली, जिनमें दो शाखायें गोदारा व पूनिया की थी (2) जाट–राजपूत वर्ग तथा (3) अंजना जाट, जो सामाजिक स्तर में उपरोक्त दोनों से निम्न माने जाते थे। अन्य जातियों की भांति इनमें भी अनेक उप–जातियां व शाखायें बन गई थी। छैत्रियात ब्राह्मण इनके पुरोहित होते थे।

अधिकांश जाट तेजाजी का चांदी का जंतर गले में पहनते थे। तेजाजी नागोर क्षेत्र के खरनाल गांव के थे जो गायों की रक्षा करते समय सर्पदंश से कालगति को प्राप्त हुए। उन्हें बड़े सम्मान से पूजा जाता था तथा समाज में ऐसी मान्यता थी कि सर्पदंश का असर तेजाजी के नाम का जाप करने से जाता रहता था। जांभाजी के 29 सिद्धान्तों को मानने वाले जाट, बिश्नोई (बीस + नौ) विश्नोई कहलाए। मुख्यत : ये चार रियासतों में ही मिलते थे– बीकानेर, जोधपुर, जैसलमेर तथा उदयपुर। समाज में इनकी अच्छी प्रतिष्ठा थी।

गूजर– ये भी मेहनी कृषक एवं पशुपालक थे। सन् 1901 में इनकी संख्या, प्रदेश की जनसंख्या का 4.7% थी। इनकी बाहुल्यता बूंदी, टोंक, लावा, ठिकाना, धोलपुर व भरतपुर रियासतों में थी।

मीणा– इनमें दो वर्ग थे (1) जमींदारी मीणा जो खेती और पशुपालन कार्यो पर निर्भर थे तथा (2) चौकीदारी मीणा जो सेना, पुलिस, चौकीदारी सेवा पर निर्भर थे। समाज में चौकीदारी मीणा अपने को जमीदारी मीणाओ से ऊपर मानते थे। मीणाओं में 32 शाखायें थी।

धाकड़– ये मुख्यत: हड़ोती(बूंदी, कोटा, व झालावाड़) तथा मेवाडी क्षेत्रों में थे तथा मेहनती काश्तकार थे। समाज में इनकी प्रातिष्ठा मर्यादा से चलने वाले वर्ग में मानी जाती थी। इनके मुख्य वर्ग नागर, मालव, किराड़ और नथफोड़ थे।

मेथ– ये मुख्यत: अलवर रियासत के मेवाती क्षेत्र में थे तथा कुछेक सीमावर्ती भरतपुर रियासत के क्षेत्रों में भी मिलते थे। सन् 1901 में इसकी संख्या अलवर रियासत की जनसंख्या का 13.0% थी तथा भरतपुर में 8.2% थी। ये सब मुसलमान थे। इनकी 12 प्रमुख शाखाएँ 'पाल'' कहलाती थी तथा अन्य 'गोत'(गोत्र) कहलाती थी। ये जीविकोपार्जन के लिए कृषि तथा पशुपालन पर निर्भर थे।

अन्य– झालावाड़ रियासत में सोंधवाड़ क्षेत्र के शोधिए, बीकानेर के राठ(मुसलमान), डूंगरपुर के पटेल तथा अलवर के अहीर भी खेती तथा पशुपालन पर निर्भर करते थे। समाज में प्रतिष्ठित अहीर अपने को 'राव' कहते थे।

कुछ ऐसी जातियां भी थी जो खेती तो करती थी परंतु अच्छ काश्तकार के रूप में जिनकी पहचान नहीं थी जैसे भील, गिरासिया, सहरिया आदि। भील तथा गिरासिए पहाड़ी क्षेत्रों में रहने के कारण हर वर्ष वन काट कर 'वालर' पद्धति से खेती करते थे। यद्यपि भीलों को

मेवाड़ के राज–चिन्ह(emblem) में राजपुतों के समकक्ष दर्जा दिखाया गया था परन्तु इसका सामाजिक स्तर पिछड़े वर्गो के बराबर था। माली जाति के लोग भी काश्तकार थे।

02.3.3 समाज के अन्य वर्ग

अन्य कई ऐसे वर्ग थे जो अपने–अपने कार्यो के आधार पर विभिन्न सामाजिक स्तर पर माने जाते थे। धार्मिक कृत्यों और साधु–सन्यासियों से जुड़ी जातियों में मंदिर के सेवक, वैरागी, दाद पंथी, गुंसाई, जोगी, नाथ, साधु, जति, आदि थे। वंशावली रखने तथा विरदावली रचैयता के रूप में भाट, चारण, मोतीसरा तथा रावल हिन्दुओं में तथा मिरासी व डोम मुसलमान जातियों में थे। भाट व चारणों की राजपुतों में ब्राह्मणों जैसी प्रतिष्ठा थी। अपराधी–वृत्ति की जातियों में कंजर, सांसी, बावरी आदि आते थे जिन्हें समाज के निम्न वर्ग में माना जाता था।

02.4 आर्थिक वर्ग की संरचना एवं संबन्धित जाति–वर्ग

प्रत्येक रियासत की अर्थव्यवस्था वहाँ की भौगोलिक एवं राजनैतिक स्थिति पर निर्भर करती थी। रेगिस्तानी रियासतों की अर्थव्यवस्था में आर्थिक वर्ग की भूमिका उन रियासतों से भिन्न थी जहां भूमि और इलाका सरसब्ज था। इसी प्रकार खनिज की बाहुल्यता अथवा वनों की बाहुल्यता का भी इन वर्गों पर प्रभाव पड़ता था। मोटे रूप में प्रदेश की 56.0% जनसंख्या अपने जीविकोपार्जन हेतु मुख्यरूप से खेती पर निर्भर करती थी जिनमें कृषि–मजदूर सम्मिलित थे। लगभग 2.25% जनसंख्या आंशिक रूप से खेती पर निर्भर करती थी जिनका मुख्य पेशा कोई अन्य था। लगभग 5.5% सामान्य श्रमिक थे जिनमें से कुछ खेतों पर भी मजदूरी करते थे। उत्पादन के कार्य में लगभग 18.0% जनसंख्या कार्यरत थी। इनमें से एक तिहाई खाद्य एवं पेय पदार्थो का उत्पादन करते थे; एक–चौथाई कपड़ा बनाने के कार्य में तथा 12.5% चर्म–उद्योग में कायरत थे। लगभग 4.75% निजी एवं घेरलू सेवा में तथा 2.5 प्रतिशत वाणिज्य एवं व्यापार के क्षेत्र में कार्यशील थे। लगभग 11.00% जनसंख्या ऐसी थी जिनका कोई पेशा नहीं था।

कृषि एवं उससे संबंधित कार्यों में रत वर्गो की विवेचना ऊपर की जा चुकी है। वाणिज्य एवं व्यापार में क्रियाशील जातियों का भी उल्लेख किया जा चुका है। हर रियासत की राजधानी में भी इनकी शाखायें स्थापित थी। जिनके माध्यम से वे माल खरीदते व बेचते थे तथा हुण्डियों द्वारा भुगतान करते थे। पिछली शताब्दी के पूर्वाद्ध में अफीम और नमक का व्यापार प्रदेश के व्यापारियों के लिए काफी लाभप्रद था परंतु ब्रिटिश सरकार की नीति से ये दोनों व्यापार ठप्प हो गए। पाली एक प्रमुख व्यापारिक केन्द्र था जहां पूर्व तथा पश्चिम के देशें से माल का आदान प्रदान होता था। ब्रिटिश सरकार द्वारा ब्यावर शहर को बसाने से पाली का महत्व धीरे–धीरे घट गया। रियासतों में रेलवे के आगमन के बाद पारम्परिक व्यापारिक मार्ग समाप्त हो गए तथा बलदियों (जो बैलगाड़ियों में माल ले जाते थे) और बनजारों का काम ठप्प हो गया। रियासतों की नीति के कारण व्यापारियों का निष्क्रमण शुरु हो गया। अनेक उद्यमी रियासतें छोड़कर परदेश (ब्रिटिश शासित क्षेत्र) चले गये और कारखाने व प्रतिष्ठान स्थापित कर लिए। धीरे–धीरे

वैश्य वर्ग ब्रिटिश संरक्षण ढूंढने लगा तथा स्वतंत्रता आन्दोलन में भी प्रत्यक्ष व परोक्षरूप से अपना प्रभाव बनाने लगा। धनाढ्य होने से रियासतों में भी वे प्रतिष्ठित रहे।

उत्पादन व अन्य कार्य क्षेत्रों में कार्यशील जातियों को निम्न वर्गो में विभाजित किया जा सकता है.

(अ) उद्योग

(1) कताई, बुनाई एवं रंगाई– बलाई, छींपा, जुलाहा, कन्देरा, पिंजारा, रंगरेज

(2) लुहारगिरी एवं बढ़ई गिरी– लुहारएवं खाती

(3) चर्म उद्योग– भांबी, चमार, खांगर, मोची, रेगर

(4) लाख व कांच उद्योग– लखेरा, मनिहार, कचारा, पटवा

(5) जेवरात– सुनार, सोनी

(6) पीतल उद्योग– ठठेरा, भरावा

(7) नमक उद्योग– ओढ़, खरवाल

(8) टोकरी उद्योग– बांसफोड, सहरिया

(9) शराब उद्योग– कलाल

(10) भवन निर्माण– बेलदार

(11) तेल उद्योग– तेली, घांची

(12) मिठाई उद्योग– कन्दोई, हलवाई

(आ) भवन निर्माण में कार्यरत– बेलदार, चेजारा, सिलावट, खाती, सुथार

(इ) अन्य व्यवसायों में कार्यरत– तम्बोली, भडुभूजा, कसाई, दर्जी, कुम्हार

(ई) गांव के सेवक– धोबी, बब्बर, नाई, भिश्ती, चाकर, भंगी

02.4.1 सामंती राजतांत्रिक शासन व्यवस्था में जाति वर्ग को विशेषाधीकार

जैसा पहले बताया जा चुका है कि सामंती व्यवस्था में शासकों के नजदीकी रिश्तेदारों तथा सगे सम्बन्धियों को भरण–पोषण हेतु जागीरें दे दी जाती थी जो परम्परागतरूप से चलती रहती थी। कई बार अच्छी सेवाओं के लिए भी जागीर दी जाती थी। जागीरें कई प्रकार की होती थी। ताजमी जागीरदारों में कई श्रेणियां थी जिनको शासक की ओर से अनेक अधिकार व सुविधाएं दी हुई थी। ताजमी सरदार की मृत्यु पर शासक स्वयं मातमपुर्सी के लिए जाते थे। गैर ताजमी जागीरदार शासक को नजराना तथा कर देते थे। कुछेक जागीरदारों को विशेष अवसरों (दशहरा आदि) पर अपने सैनिकों व घोडों के साथ शासक की सेवा में आना पडता था। बडे दर्जे के जागीरदारों को नक्करा, निशान, सोने की छडी, चपरास रखने, अपने ठिकानों में घडियाल बजाने आदि के अधिकार दे रखे थे। कई जागीरदारों को मुकदमें के समय सरकारी कचहरियों में उपस्थिति देने की माफी थी। रियासत की व्यवस्थापक सभा में भी इनको प्रतिनिधित्व दिया जाता था। कुछेक जागीरदारों को कचहरी लगाने और मुकदमें सुनने के अधिकार दिए हुए थे। ब्राह्मण वर्ग को भी जागीरें दी जाती थीं।

अन्य रियासतो की तुलना में जयपुर रियासत में सबसे अधिक जागीरदारों की संख्या थी औ राजपूत, वैश्य, ब्राह्मण, कायस्थ, मुसलमान, ईसाई तथा अनेक अन्य वर्ग व जातियों को जागीरें दी हुई थी। अभिजात वर्ग के कुछ लोगों को मानद मजिस्ट्रेट के अधिकार दे दिए जाते थे। जागीरी क्षेत्र में ठाकुर का वाक्य ही कानून था। इस संदर्भ में जागीर के ग्रामीण समाज का चित्रण करना उपयुक्त होगा।

02.4.2 ग्रामीण समाज

ठाकुर– गाँव के राजपूत जागीरदार इज्जत से ठाकुर साहब कहलाते थे। उन्हें और उनकी हवेली यागढ़ी को, जो गांव में ऊंचाई पर बनी थी तथा जिसकी छत से गांव का हर मकान दिखाई देता था, गांव का हर कोई व्यक्ति ज़नता था। गांव के बीच में कुछ मकान ब्राह्मणो, बनियों और राजपूतों के थे। समाज के निम्न वर्ग के लोग जो गाँव में रहने के अधिकारी नहीं थे, गांव के बाहर रहते थे। मंदिर भी गांव की सरहद पर पेड़ की झुरमुटों के बीच था। एक दो मंदिर गांव में भी थे जहां प्रात: और गोधूलि के समय बाह्मण पुजारी आरती करते थे और घंटियों की ध्वनि दूर तक सुनाई देती थी। गांव के श्रद्धालुजन मंदि और पुजारी को दान दक्षिण मुक्त हस्त से देते थे। गांव में एक–दो कुएं व तालाब थे जहां ग्रामीण महिलाऐं रंग–बिरंगे पहनावे में सुबह और शाम पानी भरने जाती थी।

ठाकुर साहब यदि अपने पूर्वजों की परम्पराओं पर चलते, स्वयं जीते और दूसरों को जीने देते, रुपया उधार लेते और ब्याज चुकाते, तो उनकी सभी कमजोरियों के बावजूद गांव वाले उनका आदर करते। उन्हें जागीरदार के सब अधिकार थे। कभी–कभी अपनी प्रतिष्ठा की परवाह किए बिना वे अपने अनुचरों के बीच बैठते। चाहते तो कठोर हृदय बन जाते। यदि ऐसा कभी–कभी होता तो लोग इसका बुरा नहीं मानते। गांव वालो की नजरों में वे सर्वगुण सम्पन्न थे। उनकी घुड़सवारी और शिकार की प्रशंसा होती और उनकी असफलता की अनदेखी। दशहरे जैसे बडे त्यौहार पर चारण और भाट विरदावली गाते और गांव की महिंलाऐं ठाकुर और उनके पूर्वजों की महिमा मंडित करने वाले गीत।

गांव के समस्त कारीगर और सेवकगण ठाकुर के यहां अपनी सेवा तथा अपने उत्पादन मुफ्त में देते और बदले में कुछ मुटठी अनाज प्राप्त कर लेते।

ठाकुर कभी–कभी सहृदय हो जाते। घर पर आने वालों का अमल और राजपूत मित्रों का शराब के प्याले से स्वागत करते। गांव से बाहर के व्यक्तियों से मिलना जुलना उन्हें पसंद नहीं था। उन्हें अपने गांव, गांव वालों और अनुचरों के बीच ही सकून मिलता।

ठाकुर का कामदार जागीर का प्रशासन चलाता और स्वयं के लिए धनोपार्जन करता। यदि ठाकुर अव्यस्क होते और परिवार की मुखिया ठाकुर की विधवा मां होती, तो कामदार की पांचों अंगुलियां घी में रहती।

ठकुराईन ठाकुर के कुल के बराबर अथवा उनके कुल से ऊंची होती तो अच्छा था। गांव वाले ठाकुर के घर कई ठकुराईनों की आशा रखते थे।

गांव के सभी असली राजपूतों को कई अधिकार प्राप्त थे। वे ठाकुर साहब के ही भाई–बन्दे कहलाते और समाज की परंपरा निभाते थे चाहे उनके जीविकोपार्जन के साधन कुछ भी हों। अशुद्ध रक्त वाले राजपूत समाज और गाव वालों द्वारा हीन दृष्टि से देखे जाते थे।

ग्रामीण समाज में ब्राह्मण का उच्च स्थान था। उसका उचित स्थान मंदिर था पर उनकी आबादी बढ़ने से अनेकों ने दफ्तरों में काम करना, सेना में भर्ती होना, दुकान पर बैठना तथा कृषि कार्य पर निर्भर रहना प्रारम्भ कर दिया। सभी ब्राह्मणों को कुछ विशेष अधिकार व सुविधायें मिली हुई थी। उन्हें चोट पहुंचाने पर कठोर सजा मिलती थी और उनके श्राप से बडे से बड़ा व्यक्ति भी डरता था। वह शादी–विवाह कराता, मृतक संस्कार कराता, जन्म पर बच्चों के नाम निकालता, ज्योतिष से मौसम की भविष्यवाणी करता और यात्रा के लिए दिशा–शूल बताता और छोटी–मोटी दवा–दारू भी करता।

वित्तीय दृष्टि से गांव का बनिया बहुत महत्वपूर्ण व्यक्ति था। वह गांव के सभी आयात, निर्यात तथा स्थानीय मुद्रा बाजार को कन्ट्रोल करता। नकद रुपया व बीज अपने गांव वालों को अगाऊ देकर वह उन्हें बंधुआ बना लेता। ऐसा माना जाता था कि जब वह देता तो 25% मूल्य बढ़ा कर और लेता, तो 25% मूल्य घटाकर। इस प्रकार वह गांव के बावरी से कम लुटेरा नही था। फिर भी वह समाज का एक बहुत उपयोगी सदस्य था।

जब बनिया परदेश से धन कमा कर गांव लौटता तो वह 'सेठजी' कहलाता और गांव में नाम कमाने के लिए ब्राह्मणों व गरीबों को खूब दान देता, मंदि बनवाता, कूएं खुदवाता, प्याऊ लगवाता और यात्रियों के लिए धर्मशाला बनवाता। शादियों में तथा मृत्युभोज पर वह खूब व्यय करता और गांव में अपने कर्जदारो के प्रति नरम रूख अपनाता।

खराब फसलों के वर्षों में गांववालो को अन्य स्त्रोतों से कोई सहायता नहीं मिलती तो गांव का बनिया ही उसके काम आता। उनको बीज और नकद रकम देता, उन्हें भूखा मरने से बचाता और यद्यपि वह अपने पूंजी निवेश पर उनसे काफी लाभ की आशा रखता था परंतु इसमें उसे सफलता हमेशा नहीं मिलती।

बनियाइन घर का सारा काम करती। कुएं से पानी लाती। उनके बच्चे कुछ कक्षा तक पढ़ते लिखते और दुकान का काम देखते।

जाट, सिरवी, गूजर बिश्नाई आदि अच्छे कृषक थे। पैदावार का 1/5 से 1/2 हिस्सा ठाकुर को उसकी भूमि को जोतने के एवज में चला जाता। इसके अलावा अन्य कर भी देने पड़ते।

खाती और लोहार गाड़ी और हल बनाते और उनकी मरम्मत करते; मोची और चमार जूतिया बनाते और चमड़े की रंगाई करते; कुम्हार घरेलू उपयोग के लिए बर्तन बनाता, दर्जी कपड़े बनाता, शादियों, मेलों, त्यौहारों के समय रंगरेज की काफी मांग रहती क्योंकिं स्त्रियां रंगीन कपड़े और पुरुष रंगीन पगड़ी पहनने के शौकीन थे। खाली समय में ठाकुर के यहां बेगारी करते।

भांबी कपड़े की बुनाई करते और कताई लगभग सभी वर्ग की महिलायें करती। माली सब्जियाँ और प्याज उगाता। सुनार असली और नकली जेवरात बनाता। खरवाल नमक बनाता।

धोबी और भिश्ती समाज के ऊंचे वर्गों के परिवार के कपड़े धोते और पानी भरते। आम व्यक्ति स्वयं अपने कपड़े धोता और पानी भरता। ढोली शादी–विवाहों के अवसर पर ढोल जाते

और गीत गाते। चारण यजमानों की विरदावली गाते। नाई घरेलू काम और हड्डियों के फ्रेक्चर को बिठाने का काम करता। रेबारी और ग्वाले रेवड़ चराते।

मुसलमान अक्सर लोहे का समान बनाते और मरम्मत का काम करते। उनमें से कुछेक कसाई घर चलाते।

02.5 ब्रिटिश शासित अजमेर–मेरवाड़ा क्षेत्र

सन् 1818ई. से ही अजमेर–मेरवाड़ा एक ब्रिटिश शासित क्षेत्र रहा। इस लिए वहां स्थिति रजवाडों से कुछ भिन्न थी, यद्यपि सामाजिक संरचना में शासक के अलावा वे सभी वर्ग थे जो रियासतों में थे। भूमि इस्तमरारदार, जागीरदार, तथा भूमियो में वितरित थी। बची हुई भूमि खालसा थी। ब्रिटिश सरकार द्वारा अनेकों बार भू–प्रबंध कराये गए जिन के अनुसार लगान की वसूली की जाती थी।

रियासतों की भांति यहां भी हिन्दू बहुमत में थे। सामाजिक स्तर में ब्राह्मण प्रथम श्रेणी में आते थे जो यहाँ की जनसंख्या का 6.5% थे। इनमें पंच दविड और पंच गौड़ शाखायें थी। इनमें भी विभाजन हो गए थे। वैश्य अथवा महाजन 7.8% थे जिनमें ओसवाल, अग्रवाल, माहेश्वरी, बीजाबर्गी(विजयवर्गीय) आदि थे। इन लोगों की वित्तीय स्थिति बड़ी सुदिर्ड थी। यहां कायस्थों में माधुर, भटनागर, श्रीवास्तव तथा सक्सेना थे जो कार्यालयों तथा शिक्षण संस्थानों में कार्यरत थे। इनमें से कई वंशतगतरूप से कानूनागों थे।

भू:–मालिक के रूप में सामाजिक वर्ग में राजपूतों का प्रथम स्थान था परंतु खेती वे काश्तकारों से कराते थे। उनमें राठौड़, सीसोदिया, कच्छवाह आदि शाखायें थीं। काश्तकारों में जाट व गूजर थे। मेरवाड़ा क्षेत्र में रावत, मेर और मेड़त काफी संख्या में थे।

समाज की पेशेवर जातियों में कुम्हार, खाती, चाकर, दरोगा, (घरेलू नौकर)नाई, चमार, दर्जी, धोबी, कहार(पालकी उठाने वाले) लुहार, सुनार, छीपें, खरोल(नमक तैयार करने वाले), ढोली, गडरिये, लखेरा, रंगरेज, तम्बोली, बेलदार, भड़भूजा, घोसी(दूघ बेचने वाले) सिलावट(masons), सिकलीगर तथा ठठेरा थे।

मुसलमानों में शेख, सैयद, मुगल तथा पठान थे। पिछली शताब्दी में आर्य समाज के प्रवर्तक स्वामी महर्षि दयानन्द के प्रयत्नों से अजमेर में आर्य समाज की स्थापना हो गई थी। सन्1901 की जनगणना के समय 366 आर्य समाजी थे।

क्षेत्र की 54.0% जनसंख्या खेती पर निर्भर करती थी। उद्योग–धंदों में 18.0% जनसंख्या थी जिसमें मुख्य रूप से कपड़े और चमड़े के उद्योग थे। लगभग 11.0% श्रमिक थे। निजी घरेलू नौक रजनसंख्या के 6.0% थे। वाणिज्य व्यापार में 4.0% व्यवसायों में 3–0% तथा सरकारी नौकरियों में 2.0% जनसंख्या थी। ऐसे व्यक्ति जो किसी पेशे में नहीं थे, वे 2.0% थे।

ब्रिटिश शासित प्रदेश होने से यहां विचारों की स्वतंत्रता रियासतों की बजाय ज्यादा थी। यहां से कई अखबार निकलते थे तथा कई राजनैतिक दलों के कार्यालय थे। समाज में भी खुलापन था। कानून का राज होने से न्याय की आशा ज्यादा रहती थी। यद्यपि कई बार लोगों को ब्रिटिश निरंकुशता का शिकार होना पड़ता था।

02.6 बदलाव की ओर

शासक वर्ग में अब प्रतिस्पर्धा का नया रूप पनप रहा था। रियासतों के बाहर से आने वाले सेठ साहूकार तथा व्यापारी वर्ग ब्रिटिश भारत में हो रहे बदलाव की बात जब अपने समाज में करते थे तो शासक आशंकित हो उठता था। ठाकुर के कान खड़े हो जाते। अधिकांश शासकों की, कुछ अपवादों को छोडकर (अलवर के नरेश जयसिंह अंग्रेजी शासन के प्रबल विरोधी थे।) यह मानसिकता रही कि ब्रिटिश सरकार का अधिक से अधिक सहारा मिले। उन्होंने प्रथम महायुद्ध में उदारता पूर्वक हर प्रकार से सरकार का साथ दिया था। बीकानेर के महाराज गंगासिंह की इस संदर्भ में बड़ी अहम भूमिका रहीं

अंग्रेजी हुकुमत के साथ–साथ शासकवर्ग नरेन्द्र मंडल(chamber of princes) में भी सक्रिय हो उठे ताकि अवसर आने पर एक दूसरे का सहयोग ले सकें। महाराजा गंगासिंह इसके प्रथम चांसलर(1921ई.) बने और लगातार पांच वर्षों तक रहे। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में प्रतिर्स्पधावश मुक्त हस्त से दान देते थे। महाराजा गंगासिंह सन्1929 से मृत्युपर्यन्त उसके कुलपति रहे।

परंतु शासकों के इन बाहरी सम्बन्धों से रियासतों के प्रशासन अथवा सामाजिक व आर्थिक संरचना में अन्तर नहीं आया। हां, अब प्रशासन में वंशनुगत परिवार की नियुक्तियों न होकर बाहरी व्यक्तियों की होने लगी। पनिक्कर बीकानेर में, राघवाचार्य उदयपुर में तथा मिर्जा इस्माईल जयपुर में नियुक्त किय गये। अन्य रियासतों में भी इसी प्रकार की स्थिति थी। परन्तु बेगारी प्रथा अभी भी प्रचलित थी। काश्तकारों पर अभी भी करों का बोझ बढ़ता जा रहा था। किसी–किसी रियासत में तो 300 से अधिक लाग–बाग प्रचलित थी। ये रियासत द्वारा तथा जागीरदारों द्वारा वसूली जाती थी। ठिकानों में लगान का निर्धारण जातियों के आधार पर होता था। भ्रष्ट्राचार बहुत अधिक व्याप्त था। यह कहावत प्रचलित थी कि सरकारी खजाने के लिए एक तांबें का टक्का वसूलने में पटवारी एक चांदी का सिक्का तथा हाकिम एक स्वर्णमुद्रा कमाता था। काश्तकारों तथा अन्य जातियों को उच्च वर्ग के रीति–रिवाजों के करने का अधिकार नहीं था। उन्हें ब्याह–शादियों में घोड़ी पर चढ़ने का अधिकार नहीं था। निम्न वर्गों को मंदिर में प्रवेश नहीं दिया जाता था। छूआछूत का समाज में बोलबाला था।

समय का रूख बदल रहा था। झालावाडत्र नरेश महाराज राणा राजेन्द्र सिंह ने हरिजनोंद्वार हेतु रियासत के हरिजनों को मंदिर में प्रवेश दिलाया। पिछड़ें वर्गों के लिए कई संगठन बने जो उनकी सामाजि व आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए प्रयत्नशील रहे। प्रजामंउल के कार्यकर्त्ता भील, सहरिया, गिरासिया तथा अन्य पिछड़े वर्गों के बीच जाकर उनमें सामाजिक चेतना जागृत करने लगे।

आजादी के बाद हवा का रूख उलट गया। जो शासक वर्ग अधिकार और सुविधाएं जागीरदारों और अभिजात वर्गों में बांटते थे, वे सुविधाएं पाने के लिए एकजुट होकर प्रयत्न करने लगे। प्रिवी पर्स तथा कुछेक औपचारिकता की अन्य सामाजिक व पारस्परिक सुविधाएं उनको दी गई। परन्तु कितने समय के लिए? समाज बदल रहा था क्योंकि राजतंत्रात्मक व सामन्ती व्यवस्था चूर–चूर हो चकी थी और प्रजातंत्र के युग का सूत्रपात हो रहा था।

02.7 सारांश

उनीसवीं सदी में समाज का जो ढ़ाचा विभिन्न रियासतों को मध्ययुगीन परम्पराओं के साथ मिला था उसमें वर्ण व्यवस्था जर्जर होकर जाति व्यव्स्था का रूप धारण कर चुकी थी। रियासतों की ईस्ट इंडिया कम्पनी से हुई संधियों के फलस्वरूप कर(tribute) के रूप में भारी राशि उन्हें कम्पनी को देनी पड़ती थी जिससे रियासतों की वित्तीय स्थिति चरमरा गई और उन्हें या तो सेठ साहुकारों से ऋण लेना पड़ता था अथवा अपने आय के स्त्रोतों को ब्रिटिश सरकार को पट्टे पर देना पड़ता था। इससे जहां एक ओर शासक वर्ग की समाज में साख गिरी, सेठ साहूकारों का समाज में प्रभाव बढ़ने लगा। परन्तु ब्रिटिश नीति के कारण अफीम और नमक का व्यापार ठप्प हो गया तथा बाद में रेल मार्ग खुलने से परंपरागत व्यापारिक मार्ग बंद हो गए और व्यापारिक केन्द्र उजड़ने लगे। साथ ही सामंती व्यवस्था की नीतियां भी व्यापार के लिए उत्साहजनक नहीं थी। अत: रियासतों से व्यापारियों का निष्क्रमण होने लगा तथा वे ब्रिटिश क्षेत्र में अन्यत्र जाकर व्यापार करने लगे।

प्रदेश में शासक वर्ग में राजपूत जाति का बाहुल्य था यद्यपि रियासतों में उनकी संख्या अन्य जातियों की तुलना में अधिक नहीं थी। अपने नजदीकी सगे सम्बन्धियों को भरणपोषण हेतु जागीरें दी हुई थी तथा उन्हें विशेषाधिकार देकर अभिजात वर्ग में रखा गया था। ब्राह्मणों की समाज में काफी प्रतिष्ठा थी। भाट व चारण भी शासक वर्ग में प्रतिष्ठित था। वैश्व वर्ग का भी समाज में काफी प्रभाव था। शासक वर्ग इन जातियों के परिवारों को परंपरागतरूप से ऊँचे पदों पर नियुक्तियां देते थे। कृषि कार्य में कार्यशील जातियां– जाट, गूजर, धाकड़ मीणा, मेव, अहीर आदि थे परंतु सामाजिक परिपेक्ष में वे अपेक्षाकृत कम स्तर पर थे। उत्पादन के कार्यों में कार्यशील जातीय पेशेवर थी तथा कताई, बुनाई, रंगाई, लुहारगिरी, बढाईगिरी, चर्म उद्योग, लाख व कांच का उद्योग, पीतल उद्योग, जेवरात बनाना, नमक बनाना, टोकरी उद्योग, भवन निर्माण, तेल उत्पादन तथा अन्य उद्योगों में कार्यरत थीं। सेवक वर्ग में कुम्हार, धोबी, भिश्ती, चाकर, भंगी आदि थे। सामाजिक तथा आर्थिक वर्गों का ढ़ाचा सभी रियासतों में न्यूनांधिक रूप में एक सा था। ग्रामीण समाज में ठाकुर या जागीरदार का प्रभुत्व होता था। वह बेगारी लेने का हकदार था।

सब जातियों में अनेक शाखाऐं तथा उपजातियों बन गई थी जिससे उनका सामाजिक स्तर जानने में कठिनाई आती थी। धीरे–धीरे पेशेवर जातियों की संख्या में वृद्धि हुई।

शासक एवं जागीदार सभी वर्गो का आर्थिक शोषण करते थे, महिलाओं के इस आंदोलन में भाग लेने से जातिपति और समाज के बंधन ढीले पड़े। आजादी मिलने पर सामंती व्यब्सथा का अंत हुआ और प्रजातांत्रिक व्यवस्था कायम हुई।

ब्रिटिश सरकार का प्रभाव बढ़ने से शासक वर्ग उनकी ओर झुका। परंतु स्वतंत्रता आंदोलन की हवा ब्रिटिश क्षेत्रों से चलकर रियासतों में भी प्रवेश कर गई थी। ब्रिटिश क्षेत्रों में रहने वाले व्यापारीगण जब अपनी रियासतों में आते तो विचारों के आदान–प्रदान से लोगों को देश की स्थिति का भान होता। रेल में यात्रा करने से जाति–पांति में शिथिलता आई। स्थानीय प्रजामंडलों के कार्यकर्ताओं ने पिछड़े वर्गों में सामाजिक चेतना जागृत की। महिलाओं के इस

आंदोलन में भाग लेने से जाति–पांति और समाज के बंधन ढीले पड़े। आजादी मिलने पर सामंती व्यवस्था का अंत हुआ और प्रजातांत्रिक व्यवस्था कायम हुई।

02.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. प्रदेश की सामाजि संरचना के संदर्भ में शासक वर्ग की क्या भूमिका रही तथा उन्होंने अपना सामाजिक स्तर किस प्रकार बनाये रखा?
2. समाज में ब्राह्मण, राजपूत तथा महाजन वर्ग को उच्च स्तर क्यों प्राप्त था तथा वे किस प्रकार यह स्तर बनाये रखते थे?
3. समाज में जाति व्यवस्था का क्या स्थान था तथा जाति व्यवस्था में ऊंच–नीच के स्तर की पहचान क्यों नहीं जो पाती थी?
4. राजतंत्रात्मक व सामंती व्यवस्था में समाज के आर्थिक वर्ग के शोषण पर प्रकाश डालिए।

02.9 संदर्भ ग्रंथो की सूची

अर्सकिन, के. डी. — इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इंडिया– प्रोविशियल सीरीज, राजपुताना, कलकत्ता(1908)

गवर्नमेंट ऑफ इंण्डिया — सेंसस् ऑफ इंण्डिया,1891 राजपुताना, पार्ट I–II कलकत्ता(1892)

गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया — सेंसस् ऑफ इण्डिया,1801 वोल्यमू 25 पार्ट I, राजपुताना रिपोर्ट

गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया — सेंसस् ऑफ इण्डिया,1831 वोल्यमू 27 राजपुताना एजेंसी रिपोर्ट एण्ड टेबल्स

टॉड, जेम्स — एनल्स एण्ड एटिक्यूटीज ऑफ राजस्थान खण्ड I–III, ओ॰ यू. पी.(1920)

ड्रेक ब्रोकमेन — मेडिको–टोपोग्राफिकल गजेटियर ऑफ ईस्टर्न राजपुताना स्टेट्स, कलकत्ता (1900)

लटूश,जे॰डी — गजेरियर ऑफ अजमेर–मेरवाड़ा इन राजपुताना, कलकत्ता(1875)

सेंटर फॉर राजस्थान स्टडीज युनिवर्सिटी ऑफ राजस्थानल जयपुर राजस्थान — पॉलिटकल अवेकनिंग एंड इण्डियन फ्रीडम मूवमेंट, संपादक जी.एन शर्मा तथा वी॰के॰वशिष्ठ(1903)

शारदा, हरबिलास — अजमेर हिस्टॉरिकल एण्ड डिक्रप्टिव, अजमेर(1941)

निहाल सिंह — दि किग्स इंडियन एलाईज– दि राजाज एण्ड देअर इंडिया, लंदन(1916)

रसल,आर.वी. — दि ट्राइब्स एंड कास्ट्स ऑफ दि सेंट्रल प्रोविंसेज ऑफ इंडिया, वोल्यूम II, लन्दन(1916)

- — राजस्थान हिस्ट्री कांग्रेस के विभिन्न अंक

इकाई03

राजस्थान में जनसांख्यिकीय संरचना (सन् 1818–1949 ई.)

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 जनसांख्यिकी के प्रति चेतना का अभाव और उसके कारण

3.2 उन्नीसवीं सदी में जनसांख्यिकीय आंकड़े एवं जनसांख्यिकीय संरचना (1818 – 1891 ई.)

3.2.1 सन् 1881 की जनगणना

3.2.2 सन् 1891 की जनगणना

3.2.3 जनसांख्यिकीय संरचना के अध्ययन के लिए ठोस आधार का अभाव

3.3 बीसवीं सदी में जनसांख्यिकीय आंकड़ो की संग्रह पद्धति में सुधार एवं जनसांख्यिकीय संरचना

3.3.1 ग्रामीण एवं शहरी जनसंख्या

3.3.2 धर्म के अनुसार वर्गीकरण

3.3.3 जनसंख्या का घनत्व

3.3.4 स्त्री–पुरुष अनुपात

3.3.5 वैवाहिक स्थिति

3.3.6 जनसांख्यिकीय संरचना के संदर्भ में स्वास्थ्य कल्याण

3.3.7 साक्षरता का प्रतिशत

3.3.8 जनसांख्यिकीय संरचना की विवेचना

3.4 अजमेर–मेरवाड़ा में जनगणना और जनसांख्यिकीय आंकड़े

3.5 तीन दशकों की जनसंख्या की तुलना (सन् 1881–1901)

3.5.1 आगे के दशकों की स्थिति

3.5.2 राजनैतिक उथल–पुथल (1947–49 ई.) का जनसांख्यिकीय संरचना पर प्रभाव

3.6 सारांश

3.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

3.8 संदर्भ ग्रन्थों की सूची

3.0 उद्देश्य

इस इकाई में दी गई सामग्री का उद्देश्य समाज की जनसांख्यिकीय संरचना और सम्बन्धित पहलुओं का अध्ययन एवं विश्लेषण करना है । किसी क्षेत्र की जनसांख्यिकीय संरचना में मुख्य रूप से जिन विषयों का अध्ययन किया जाता है वे है – जनगणना के आंकड़ो का विभिन्न रूपों में विवेचन तथा उन पर आधारित सामाजिक एवं आर्थिक ढांचे का स्वरूप, जनसंख्या के परिवर्तन (वृद्धि अथवा कमी) तथा उसके लिए उत्तरदायी कारणों का विवेचन

अर्थात् जन्म–मृत्यु के आकड़ों का प्रभाव, जन्म–मृत्यु दर, वैवाहिक स्थिति, साक्षरता का प्रभाव, परिवार एवं स्वास्थ्य कल्याण के उपाय, आदि।

3.1 जनसांख्यिकी के प्रति चेतना का अभाव ओर उसके कारण

आर्थिक एवं सामाजिक विकास के लिए जनसंख्या के आकड़ों के अध्ययन के प्रति जितनी चेतना अर्थशास्त्रियों, समाजशास्त्रियों व अन्य वर्गों में स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् आई है, उतनी पहले नहीं थी। अनेक धर्म और जातियों वाले इस प्रजातांत्रिक देश में आजादी के बाद जनसंख्या के आकड़ों के विभिन्न पहलुओं का महत्व इसलिए और भी बढ़ गया है क्योंकि आर्थिक एवं सामाजिक रूप से पिछड़े वर्गों के उत्थान की योजनाओं तथा उनके लिए विभिन्न स्तरों पर आरक्षण के लिए इनका उपयोग होने लगा है। बढ़ती हुई आबादी पर नियंत्रण के लिए सरकार का चिंतित होना स्वाभाविक है ताकि देश में चलाई जा रही विभिन्न योजनाओं को सफलतापूर्वक क्रियान्वित किया जा सके। परन्तु रियासती समय में बढ़ती–घटती जनसंख्या और उससे जुड़ी समस्याओं के सामने नहीं आने से जनसांख्यिकी के प्रति सामान्य चेतना का अभाव रहा।

रियासतों में राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था आज से भिन्न थी। उस व्यवस्था में प्रदेश की छोटी बड़ी सभी रियासतों पर ब्रिटिश सरकार का सार्वभोम सत्ता के रूप में अंकुश, उनका आर्थिक शोषण, राजस्व के सीमित साधन, रियासतों में परम्परागत राजतंत्र और सामन्ती शासन पद्धति एवं क्षेत्राधिकार की सीमित सीमाएं आदि ऐसे कारण थे जिनकी वजह से प्रदेश व्यापी विस्तृत आर्थिक एवं सामाजिक विकास की परिकल्पना भी नहीं की जा सकती थी । ऐसी परिस्थितियों में ब्रिटिश सरकार ने अपने हित में जो योजनायें रियासतों में चालू की, विशेष तौर पर रेल परिवहन तथा दूर संचार व्यवस्था, उनको छोड़कर कोई ऐसी परियोजना पूरे प्रदेश के लिए नहीं बनी जिसमें जनसांख्यिकी से सम्बन्धित आकड़ों के प्रति रियासती प्रशासन अथवा समाज में जागृति और जागरूकता पैदा होती । रियासतों का शिक्षा के क्षेत्र में पिछड़ापन भी एक कारण था जिसकी वजह से जनसांख्यिकीय आकड़ों की विभिन्न क्षेत्रों में उपयोगिता जन साधारण के समझ के बाहर रही। ब्रिटिश सरकार उनके द्वारा शासित प्रांतों में इस बारे में पूरी तरह सजग थी तथा जनसंख्या के आंकड़े एकत्रित करने के लिए उन्होंने दशकीय जनगणना की योजना बनाई । उनके निर्देशों से रियासतों में भी जब दशकीय जनगणना का कार्य आरम्भ हआ तो इसका काफी विरोध हुआ तथा अनेक भ्रांतियाँ, शंकाएं तथा आशंकाये पैदा हुईं । यद्यपि सन 1881 ई. से लगातार प्रत्येक दस वर्ष बाद जनगणना का कार्य प्रत्येक रियासत में हुआ परंतु इनका उपयोग किसी रियासत द्वारा अपनी किसी आर्थिक अथवा सामाजिक विकास की योजना के लिए शायद ही कभी किया हो । इन आकड़ों का उपयोग ब्रिटिश सरकार द्वारा समय–समय पर अवश्य होता रहा । अतः रियासतों में जनसांख्यिकीय ढांचा तत्कालीन स्थानीय परिस्थितियों के अनुरूप ही बना रहा ।

3.2 उन्नीसवीं सदी में जनसांख्यिकीय आकड़े एवं जनसांख्यिकीय संरचना (1818–1891 ई.)

राजस्थान प्रदेश को सन् 1950 से पूर्व सरकारी दस्तावेजों में अक्सर राजपुताना के नाम से जाना जाता था जिसमें रियासतों तथा ठिकानों (chiefships) के अतिरिक्त अजमेर–मेरवाड़ा का ब्रिटिश शासित क्षेत्र सम्मिलित था । रियासतों के निवासियों का रहन–सहन तथा खान–पान वहां की क्षेत्रीय भौगोकि परिस्थितियों के अनुसार ढला हुआ था । आवागमन एवं दूर–संचार के साधन सीमित थे । रेगिस्तानी तथा पहाड़ी भागों में जनसंख्या का घनत्व (अर्थात् प्रति वर्ग मील अथवा प्रति वर्ग किलोमीटर पर बसी हुई जनसंख्या) कम था जबकि सरसब्ज व उपजाऊ भागों में यह अधिक था ।

क्षेत्र की जनसांख्यिकीय संरचना के अध्ययन के लिए वहां के विभिन्न ग्रामीण व शहरी लोगों की धर्म, जाति तथा पेशे के अनुसार जनसंख्या जानना आवश्यक है । घर–घर जाकर आधुनिक पद्धति से जनगणना करने का कार्य देश में लगभग एक शताब्दी पूर्व प्रारम्भ हुआ था परन्तु उससे पहले भी रियासतों के शसकों के पास उन द्वारा शासित क्षेत्रों के प्रत्येक गांव की आबादी की सूचना मय धर्म, जाति, पेशे आदि के, गांव–स्तर पर 'दस्तूर गांवाई ' तथा 'वाजिब–उल–अर्ज ' तथा अन्य राजस्व सम्बन्धी दस्तावेजों में दर्ज की जाती थी । गांव में किस जाति के कितने घर थे, यह सूचना गांव के मुखिया तथा जाति पंचायत के पास रहती थी । इस प्रकार की सूचनाओं का प्रशासनिक तथा सामाजिक महत्व था । मृत्यु भोज, विवाह के लिए निमंत्रण तथा जाति पंचायतों में इस प्रकार की सूचनाओं का उपयोग होता था । अपराध–प्रवृति वाली जातियों की सूचना प्रशासन के काम आती थी । परन्तु किसी विकास योजनाओं के लिए इस सीमित सूचना का रियासतों में शायद ही कोई उपयोग हुआ हो ।

उन्नीसवीं सदी के दूसरे दशक में जब लेफ्टिनेंट कर्नल जेम्स टॉड उदयपुर में 'वेस्टर्न राजपुताना स्टेट्स' के ब्रिटिश पॉलिटीकल एजेन्ट नियुक्त थे (1818–1822 ई.) तब. उन्होंने कुछेक रियासतों की जनसंख्या के आकड़े एकत्रित कराये थे । बीकानेर रियासत की जनसंख्या ज्ञात कराने हेतु उन्होंने वहां के कुल गांवों तथा 12 प्रमुख कस्बों के आवासों की संख्या विभिन्न जातियों के मुखियाओं से ज्ञात की और प्रत्येक मकान को औसतन 5 व्यक्तियों के एक परिवार का आवास मानते हुए रियासत की जनसंख्या 5,39,250 आंकी गई । इसी पद्धति से जोधपुर (मारवाड़) और जैसलमेर रियासतों की जनसंख्या क्रमश 20 लाख तथा 74,400 आंकी गई । सन् 1824–25 ई. में विशप हैबर, सन 1828–29 ई. में बम्बई केन्द्रित ब्रिटिश–कमाण्ड के लेफिटनेंट बर्नस तथा सन् 1835 में मिस्टर ए. एच. ई. बोल्ये ने भी अपनी राजपुताने की यात्रा के दौरान उन रियासतों की जनसंख्या के आकड़े दिए है जहां–जहां वे गए थे । परन्तु ये आकड़े भी वास्तविक गणना के आधार पर नहीं बल्कि स्थानीय लोगों द्वारा बताये गये अनुमान पर आधारित थे ।

जयपुर रियासत के तत्कीन ब्रिटिश पोलिटिकल ऐजेन्ट जे. सी. बुक ने अपनी पुस्तक 'पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ जयपुर ' (1868 ई.) में उल्लेख किया है कि जयपुर शहर की विस्तृत

जनगणना सन् 1858 तथा 1861 ई. के मध्य की गई थी जिसमें न केवल प्रत्येक मकान की गणना बल्कि मकान मालिक, उसका व्यवसाय, उसके परिवार के सदस्यों के बारे में विस्तृत जानकारी एकत्रित की गई थी । सन् 1870 में जयपुर में पुन: जनगणना का विस्तृत कार्य हुआ। इस बारे में राजपुताना के तत्कालीन ए.जी.जी. (एजेणअ टू द गवर्नर जनरल) कर्नल डब्लू. एच. बेनन लिखते है कि जनयपुर रियासत के शासक सवाई रामसिंह भी इस गणना की पद्धति को लेकर चिंतित थे क्योंकि उन्हें अन्देशा था कि कहीं उच्च वर्ग रूढ़ीवादी लोग इसको लेकर कोई बखेड़ा न खड़ा कर दें ।

अलवर के ब्रिटिश पोलिटीकल एजेण्ट मेजर केडल द्वारा वर्ष 1872 ई. में उस रियासत की कराई गई जनगणना में वहां की जनसंख्या 7,78,596 दर्ज हुई । बीकानेर रियासत में सन् 1872 में वहां के पोलिटिकल एजेण्ट केप्टेन पाउलेट के आग्रह पर कराई गई जनगणना में 2,90710 की आबादी आंकी गई । ये आकड़े टॉड के द्वारा आंकी गई आबादी से काफी कम थे । गणना की पद्धति के बारे में पाउलेट अपनी अनभिज्ञता दर्शाते हुए लिखते है कि "मै यह मानकर चलता हूं कि आवासों की गिनती सही की गई होगी तथा प्रत्येक घर में 5 व्यक्तियों के परिवार के हिसाब से रियासत के 1771 गांवों में 58142 घरों में 2,90,710 की आबादी आंकी गई । परन्तु मुझे गांवों की संख्या संदिग्ध दिखाई देती है । रतनगढ़ को सम्भवत : इसमें सम्मिलित नहीं किया गया है । शासक के कथनानुसार गांवों की संख्या 1797 है, 1771 नहीं, जबकि यह संख्या दो वर्ष पूर्व 1870 ई. में 1814 थी । "

कर्नल जी. बी. मालेसन द्वारा लिखित पुस्तक 'एन हिस्टॉरीकल स्केच आफ द नेटिव स्टेट्स आफ इण्डिया' (1875 ई.) में तत्कालीन रियासतों के क्षेत्रफल तथा जनसंख्या के बारे में निम्नलिखित सूचना दी गई है:

रियासत	क्षेत्रफल	जनसंख्या
	(हजार वर्ग मील)	(लाखों में)
उदयपुर (मेवाड़)	11.7	11.61
जयपुर	15.0	19.00
जोधपुर (मारवाड़)	35.6	17.84
बूंदी	2.3	2.20
कोटा	5.0	4.33
डालावाड़	2.5	2.20
टोंक	2.0	1.82
करौली	2.0	1.88
किशनगढ़	0.7	0.70
धोलपुर	1.6	5.00
भरतपुर	2.0	6.5
अलवर	3.3	10.00

बीकानेर	17.6	5.39
जैसलमेर	12.0	0.74
सिरोही	3.0	0.55
डूंगरपुर	1.0	1.0
बांसवाड़ा	1.5	1.50
प्रतापगढ़	1.4	1.50
कुल क्षेत्रफल एवं जनसंख्या	120.2	93.76

* 1 वर्गमील = 2.59 वर्ग कि.मी.

यदि उपरोक्त तालिका में दर्शाई गई अलवर तथा बीकानेर रियासतों की जनसंख्या की तुलना उक्त दोनों रियासतों की 1872 ई. में आंकी गई जनसंख्या (क्रमश: 7.78 लाख तथा 2.90 लाख) से की जाये तो दोनों आकड़ों में बहुत ज्यादा अन्तर आता है ओर दोनों आंकड़ों की सत्यता संदिग्ध लगती है । इसका मुख्य कारण आबादी की वास्तविक गणना न करके, जानकार लोगों द्वारा अनुमानित अथवा आंकी गई जनसंख्या का होना है ।

3.2.1 सन् 1881 ई. की जनगणना

ब्रिटिश शासित प्रांतों तथा कुछेक रियासतों में यद्यपि जनगणना का कार्य सन् 1872 में किया गया था परन्तु यह अलग–अलग चरणों तथा भिन्न–भिन्न तिथियों में हुआ था जिससे आकड़ों में तुलनात्मक एकरूपता नहीं आ सकी । सन् 1881 में पहली बार ब्रिटिश शासित प्रांतों और रियासतों में व्यवस्थित रूप से जनगणना का कार्य हुआ जिसमें विभिन्न प्रकार की सूचनायें घर–घर जाकर एकत्रित की गईं और गांवों ओर शहरों की संख्या, आवासों की संख्या, आयु, लिंगभेद, धर्म, जाति, शिक्षास्तर, जन्म स्थान व नागरिकता के अनुसार जनसंख्या का वर्गीकरण तथा सारणीकरण किया गया । परन्तु जैसा कि राजपुताना के तत्कालीन ए. जी. जी. कर्नल सी. के. एम. वाल्टर ने लिखा है कि "रियासतों के पास ब्रिटिश शासित जिलों के मुकाबले में प्रशासन की ऐसी मशीनरी नहीं है जो कि जनसंख्या की सही–सही गणना, एकत्रित किए गए आंकड़ों का वर्गीकरण तथा सूचनाओं का सारणीकरण कर सके । इसी कारण राजपुताना में अपनाई गई जनगणना की पद्धति' तथा ब्रिटिश प्रांतों में अपनाई गई पद्धति में अन्तर था क्योंकि रियासतों में इस कार्य के लिए नियुक्त व्यक्तियों की शैक्षणिक योग्यता, दक्षता और पूर्व अनुभव ब्रिटिश प्रांतों इस कार्य के लिए लगाये गये पटवारियों की तुलना में नहीं के बराबर थे ।"

जब इस मर्दुमशुमारी के घर–घर जाकर गिनती करने की पद्धति पहली बार अपनाई गई तो राजपुताने की कई रियासतों में इस प्रकार की गणना के मन्तव्य को लेकर हड़कम्प मच गया। तरह–तरह की अफवाहें और भ्रांतियां फैलने लगी । इनमें सबसे आम अफवाह यह थी कि ब्रिटिश सरकार अफगान युद्ध के लिए धन इकट्ठा करने के इरादे से हर गांव और कस्बे के लोगों की गिनती करके उन पर बराड़ (कर) लगाना चाहती है । आदिवासी भीलों में यह आशंका फैली कि अफगान युद्ध में भेजने हेतु हष्ट–पुष्ट व्यक्तियों की गिनती की जा रही है । भीलों के

कुछेक क्षेत्रों में यह अफवाह फैली कि सरकार उनकी आबादी को घटाने अथवा न बढ़ने देने के लिए कोई गुप्त योजना तैयार कर रही है और इसीलिए उनकी गिनती की जा रही है । कई क्षेत्रों में यह अफवाह भी फैली कि सरकार सभी स्त्री–पुरुषों का वजन लेगी और हष्ट–पुष्ट पुरुषों को हष्ट–पुष्ट महिलाओं तथा दुबले–पतले पुरुषों को दुबली–पतली महिलाओं से विवाह के लिए बाध्य करेगी । इन सब अफवाहों के चलते कई स्थानों पर गणना अधिकारियों और भीलों में टकराव की स्थिति भी पैदा हो गई । वास्तव में आम लोगों तथा विशेषकर आदिवसियों के मन में यह बात घर कर गई थी कि यह योजना उनके किसी न किसी अनिष्ट की शुरुआत के रूप है ।

इसलिए घर–घर जाकर गणना करने से होने वाले संभावित तनाव को मध्येनजर रखते हुए यह उचित समझा गया कि ऐसा करने की बजाय भीलों के प्रमख गामेतियों (मुखिया) से उनके क्षेत्र की भील बस्तियों की अनुमानित संख्या ज्ञात कर ली जाये और प्रत्येक परिवार में औसतन 4 व्यक्तियों के हिसाब से अनुमानित जनसंख्या दर्ज कर ली जाय । इस प्रणाली के बावजूद भी भीलों की कई बस्तियों में बलवा हो गया जिस पर काबू पाने के लिए मेवाड़ी सेना को भेजना पड़ा । बून्दी रियासत में आदिवासी क्षेत्र के लोग अपने–अपने गांव छोड़कर अन्यत्र जाकर कई दिनों तक छिपे रहे । इन घटनाओं का असर यह हुआ कि दस वर्ष पश्चात् जब पुन: सन् 1891 में जनगणना हुई तब भी मेवाड़ क्षेत्र के भीलों ओर सिरोही क्षेत्र के गिरासियों की वास्तविक गणना न करके केवल अनुमान के आधार पर उनकी जनसंख्या दर्ज कर ली गई ।

सन् 1881 की जनगणना के अनुसार राजपुताने की रियासतों की आबादी 1,01,00,542 (53,72, 880 पुरुष और 45,61,319 महिलायें) थी। शेष 166,343 व्यक्तियों का लिंगभेद अंकित नहीं कराया गया क्योंकि यह भील गांवों की वह आबादी थी जिसकी बिना लिंगभेद के केवल अनुमानित संख्या अंकित की गई थी। उपरोक्त कुद आबादी में टोंक रियासत के वे भाग (छबड़ा, पिड़ावा तथा सिरोंज) जो सेन्ट्रल इण्डिया में स्थित थे तथा ब्रिटिश शासित अजमेर–मेरवाड़ा क्षेत्र की आबादी सम्मिलित नहीं है जो क्रमश : 1,67,850 तथा 4,60,722 थी ।

3.2.2 सन् 1891 की जनगणना

गत जनगणना के अनुभव को देखते हुए इस बार भी भील बाहुल्य क्षेत्रों में उनकी वास्तविक गणना न करके उनकी केवल अनुमानित संख्या ही दर्ज की गई । अन्य क्षेत्रों में घर–घर जाकर निर्धारित प्रपत्रों में सूचना एकत्रित की गई । प्रदेश की रियासतों की कुल आबादी 1,22,20,343 (64,55,608 पुरुष तथा 57,64,735 महिलाएं) दर्ज की गई जो सन् 1881 की जनसंख्या की तुलना में 20.98 प्रतिशत अधिक थी । इनमें सेण्ट्रल इण्डिया में स्थित टोंक रियासत के जिलों तथा ब्रिटिश शासित अजमेर मेरवाड़ा क्षेत्र की जनसंख्या जो क्रमश : 1,81,135 तथा 5,42,358 थी, सम्मिलित नहीं है ।

धर्म के अनुसार जनसंख्या का वर्गकरण निम्न प्रकार से था:

धर्म	संख्या	प्रतिशत
हिन्दू	1,01,95,689	83.433
मुसलमान	9,91,351	8.112
जीववादी (Animist)	6,12,459	5.012
जैन	4,17,618	3.417
ईसाई	1,855	0.015
सिख	1,116	0.009
अन्य	255	0.002

ग्रामीण जनसंख्या 87.5 प्रतिशत तथा शहरी जनसंख्या 12.5 प्रतिशत पाई गई ।

प्रत्येक जनगणना के प्रतिवेदन (रिपोर्ट्स) ब्रिटिश सरकार द्वारा विभिन्न खण्डों में प्रकाशित कराये गए तथा कुछेक रियासतों ने अपने स्तर पर भी जनगणना की रिपोर्ट प्रकाशित कराई। उदाहरणार्थ, जोधपुर रियासत की 'मर्दुमशुमारी राज मारवाड़ ' जो रायबहादुर मुंशी हरदयाल सिंह (जो मुसाहिब आला के सचिव तथा मारवाड़ के सेंसस सुपरिन्टेंडेन्ट थे) के द्वारा लिखी गई थी, जोधपुर रियासत की समकालीन सामाजिक एवं आर्थिक पहलुओं पर जनसांख्यिकी के अनेक प्रकार के आंकड़े तथा प्रमुख जातियों की उत्पति का विवरण, उनके रीति–रिवाज, रहन–सहन, व्यवसाय आदि के बारे में व्यापक एवं रोचक सामग्री प्रस्तुत करती है ।

3.2.3 जनसांख्यिकीय संरचना के अध्ययन के लिए ठोस आधार का अभाव

गत दो गणनाओं में सीमित विषयों पर आकड़े एकत्रित किए गये थे तथा आदिवासी क्षेत्रों की जनसंख्या भी अनुमानित आकड़ों पर आधारित थी । अत: आंकड़ों की इन सीमाओ के कारण जनसांख्यिकीय संरचना का ठोस आधार रियासतों में नहीं बन सका विशेषतौर पर शिक्षा के अभाव में । परन्तु कुछेक रियासतों द्वारा रोगमुक्ति हेतु एलोपैथिक पद्धति को अंगीकार करना तथा रोग–अवरोध के रूप में टीकाकरण शुरू करना जनसांख्यिकीय संदर्भ में दीर्घायु प्राप्ति की ओर एक क्रांतिकारी कदम कहा जा सकता है।

3.3 बीसवीं सदी में जनसांख्यिकीय आकड़ों की संग्रह पद्धति में सुधार एवं जनसांख्यिकीय संरचना

अगली जनगणना सन् 1901 में हुई जो इस सदी की प्रथम जनगणना थी । गणना की पद्धति तथा सारणियों में सुधार के कारण सरकारी दस्तावेजों में इस मर्दुमशुमारी के आंकड़े आमतौर पर पूर्व में की गई मर्दुमशुमारियों से अधिक विश्वसनीय माने जाते है । गत दो जनगणनाओं (1881 व 1891 ई) के समय सिरोही रियासत के भाखर क्षेत्र के गिरासियों तथा मेवाड़, बांसवाड़ा, डूंगरपुर तथा प्रतापगढ़ क्षेत्र के भीलों की वास्तविक गणना न करके क्षेत्र के जानकार लोगों से उनकी अनुमानित संख्या दर्ज कर ली गई थी परन्तु इस बार उनकी वास्तविक गणना की गई । इस जनगणना के समय प्रदेश की रियासतों की जनसंख्या 97,23,301 (52% पुरुष तथा 48% महिलायें) दर्ज की गई जिसमें सेन्ट्रल इण्डिया में स्थित

टोंक जिलों तथा ब्रिटिश शासित अजमेर मेरवाड़ा क्षेत्र की आबादी जो क्रमश : 1,29,871 तथा 4,76,912 थी, सम्मिलित नहीं है ।

3.3.1 ग्रामीण एवं शहरी जनसंख्या

सन् 1891 की गणना के समय ग्रामीण जनसंख्या 87.5% तथा जनसंख्या 12.5% पाई गई। सन् 19०1 में रियासतों के कुद 29,901 गांवों में 16,22,787 आवास थे जिनमें 83,13,109 लोग रहते थे जो कुल जनसंख्या का 85.5% था। एक गांव में औसतन 54 आवास थे तथा प्रत्येक आवास में औरसतन 5.12 व्यक्ति रहते थे । पश्चिमी रियासतों में प्रति गांव औसतन जनसंख्या 278 से 335 के बीच थी जबकि दक्षिणी रियासतों में यह संख्या 153 थी । रियासतों में कुल 128 शहर थे जिनके 2,88,696 आवासों में 14,10,192 लोग रहते थे जो कुल जनसंख्या का 14,5% था । प्रति आवास औसतन 4,88 व्यक्ति रहते थे । जयपुर शहर जिसकी आबादी 1,60, 167 थी, का जनसंख्या की दृष्टि से देश में 16वां स्थान था । प्रदेश की कुल जनसंख्या के 97 .6% लोगों का जन्म स्थान प्रदेश की रियासतों में ही था, शेष लोग प्रदेश के बाहर जन्में थे ।

3.3.2 धर्म के अनुसार वर्गीकरण

धर्म के अनुसार जनसंख्या का वर्गीकरण निम्न प्रकार से था :

धर्म	संख्या	प्रतिशत
हिन्दू	80,89,513	83.19
मुसलमान	9,24,656	9.50
जीववादी (Animist)	3,60,543	3.75
जैन	3,42,595	3.50
ईसाई	2,840	0.03
सिख, पारसी व अन्य	3,154	0.03

3.3.3 जनसंख्या का घनत्व

प्रदेश में जनसंख्या का घनत्व 76 व्यक्ति प्रति वर्ग मील (29.34 व्यक्ति प्रति वर्ग कि. मी.) था । पश्चिम के रेतीले क्षेत्रों में यह 35 व्यक्ति प्रति वर्ग मील, दक्षिण के उपजाऊ व पर्वतीय वानाच्छादित क्षेत्र में 79 व्यक्ति प्रति वर्ग मील तथा पूर्व के उपजाऊ क्षेत्रों में 165 व्यक्ति प्रति वर्ग मील था। सबसे अधिक घनत्व भरतपुर रियासत में 316 व्यक्ति प्रति वर्ग मील तथा सबसे कम (पूरे देश में भी) जैसलमेर रियासत में 4.5 व्यक्ति प्रति वर्ग मील था।

3.3.4 स्त्री–पुरुष का अनुपात

इस जनगणना में हर धर्म मतावलम्बियों में (जैनियों के अलावा) पुरुषों का स्त्रियों से अनुपात अधिक था । प्रत्येक 1000 पुरुषों की तुलना में 905 स्त्रियां थी जबकि देश में इसका

अनुपात 1000 : 963 था । स्त्री–पुरुष के अनुपात में अन्तर का कारण बताना कठिन है । यद्यपि किसी समय यह माना जाता था कि कुछ जातियों में बालिकाओं को जन्म लेते ही मार दिया जाता था परन्तु सन् 1901 की गणना के समय के आकड़ों से इस तरह की धारणा की पुष्टि नहीं होती । एक से दो वर्ष के आयु के बच्चों में बालिकाओं की संख्या बालकों से अधिक पाई गई थी । अगले दशकों में प्रदेश में स्त्री–पुरुष का अनुपात नीचे दी गई तालिका के अनुसार रहा ।

स्त्री–पुरुष का अनुपात (प्रति 1000 पुरूषों पर)

वर्ष	स्त्रीअनुपात
1911	908
1921	896
1931	907
1941	906
1951	921

3.3.5 वैवाहिक स्थिति

पुरुषों से 48% अविवाहित तथा 43% विवाहित थे तथा 9% विधुर थे । इसी प्रकार महिलाओं में 30% अविवाहित, 50% विवाहित तथा 20% विधवायें थी । पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अविवाहितों की कम प्रतिशत होना इस बात का संकेत है कि लड़कियों का कम उम्र से विवाह होने की प्रथा प्रचलित थी । विधवाओं का प्रतिशत अधिक होना इस बात का द्योतक है कि विधवा–विवाह को हतोत्साहित किया जाता था ।

सन् 1901 की जनगणना से समाज में बहु विवाह (polygramy) प्रथा की ओर संकेत मिलते है क्योंकि आकड़ों के अनुसार पति–पत्नियों का अनुपात 1000:1046 था ।

3.3.6 जनसांख्यिकीय संरचना के संदर्भ में स्वास्थ्य कल्याण

जनसांख्यिकीय सरंचना के संदर्भ में दीर्घायु (Longevity) के लिए चिकित्सा एवं जनस्वास्थ्य सेवाओं को काफी महत्वपूर्ण माना जाता है । रियासतों में आयुर्वेदिक तथा कुछेक स्थानों पर युनानी स्वास्थ्य सेवायें लोगों को उपलब्ध थी । सन् 1885 के आसपास एलोपेथिक चिकित्सा पद्धति भी कुछेक रियासतों में प्रारम्भ हो गई थी । उक्त वर्ष में प्रदेश में इस पद्धति की 5 डिस्पेंसरी थी जिनकी संख्या 1871 में बढ़कर 58 हो गई । नीचे दी गई तालिका में अस्पताल/डिस्पेन्सरी की संख्या, उपचार किए गए रोगियों की संख्या आदि दर्शाई गई है:

क्र. सं.	विवरण	1881	1891	1901	1904
1.	अस्पताल/डिस्पेंसरी की संख्या	74	128	178	178
2.	अंतरंग(Indoor) रोगियों के लिए शैया	459	855	1388	1480
3.	उपचार किए गए कुल रोगियों की संख्या (लाखों में)	2.64	6.75	11.40	11.17

4.	आपरेशन की संख्या	15,832	45,078	59,022	57,068

इनमें 6 अस्पताल केवल महिलाओं के लिए थे जिनमें 191 अंतरंग (Indoor) रोगियों के लिए भर्ती की सुविधा थी । इनके अलावा अजमेर–मेरवाड़ा क्षेत्र में सात अस्पताल थे ।

बाद के वर्षो में चिकित्सा सुविधाओं में विस्तार हुआ तथा रियासतों के एकीकरण के समय प्रदेश में 385 अस्पताल/डिस्पेंसरी विद्यमान थी जिनमें 5200 शैयायें (Beds) अंतरंग (Indoor) रोगियों के लिए सुविधाएं थी । परंतु ये सुविधाएं आज के परिप्रेक्ष में पर्याप्त नहीं कही जा सकती क्योंकि औसतन एक चिकित्सा केन्द्र 42,000 व्यक्तियों अथवा 340 वर्ग मील क्षेत्र के लिए उपलब्ध था तथा 2900 रोगियों के पीछे केवल एक शैया (Bed) उपलब्ध थी। प्रदेश की रियासतों में पाये जाने वाले मुख्य रोग थे – मलेरिया, फोड़े–फंसी, अल्सर, चर्मरोग, आंख व कान के रोग, स्वास एवं गठिया के रोग, दस्त एवं पेचिश । हैजा, प्लेग, फ्लू तथा चेचक भी महामारी के रूप में कभी–कभी प्रदेश के लोगों को ग्रसित करते थे ।

चेचक पर काबू पाने के लिए टीकाकरण का कार्य सन् 1855–56 के आसपास कुछेक रियासतों में प्रारम्भ किया गया था । उस वर्ष 1740 लोगों के टीके लगाये गए जिनकी संख्या सन् 1871 में बढ़कर 53000 हो गई । आगे के वर्षों में इनकी संख्या में काफी वृद्धि हुई तथा 1904–05 में 2, 86,628 लोगों को टीका लगाया गया ।

जन्म–मृत्यु के आंकड़ो को पंजीकरण करने का कार्य सन् 1904 में कुछेक रियासतों में प्रारमी किया गया था । बाद में वर्षो में अन्य रियासतों में भी यह कार्य प्रारम्भ हो गया परन्तु दोनों ही प्रकार के आकड़ों (जन्म तथा मृत्यु) की सत्यता की विश्वसनीयता (केवल कुछ बड़े शहरों को छोड़कर) कभी नहीं बनी जिसके कारण जनसांख्यिकीय संरचना का एक मूल आधार नहीं पनप सका ।

3.3.7 साक्षरता का प्रतिशत

साक्षरता के मामले में लगभग सभी रियासतें पिछड़ी हुई थी । सन् 1901 में औसतन प्रति 1000 जनसंख्या में 62 पुरुष तथा 2 स्त्रियां साक्षर थी । यदि धर्म के संदर्भ में साक्षरता का विवेचन करें तो 71% ईसाई, 67% पारसी तथा 24% जैन लिख–पढ़ सकते थे । हिन्दुओं और मुसलमानों में साक्षरता का प्रतिशत क्रमश: 2.7 तथा 2.4 था । शिक्षा के प्रति रुझान की कमी के कारण जनगणना के आकड़ों के प्रति चेतना जागृत नहीं हो सकी और उनका उपयोग जनसांख्यिकीय सरचना को गतिशील बनाने के लिए नहीं हो सका ।

3.3.8 जनसांख्यिकीय संरचना की विवेचना

जनसांख्यिकीय संरचना के उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि संरचना का आधार जनगणनाओं के समय एकत्रित की गई विभिन्न पहलुओं पर सामग्री एवं उसका सारणीबद्ध वर्गीकरण है । सन् 1931 तक की जनगणनाओं में विभिन्न वयवसायों एवं पेशे से जुड़ी जातियों की अलग से गणना की जाती थी परन्तु उसके बाद जातिवार गणना दर्ज करनी बन्द कर दी गई ।

संरचना के उपरोक्त तत्वों के अलावा आर्थिक संरचना के संदर्भ में कृषि–आधारित जनसंख्या का प्रथम स्थान था । सन् 1901 की गणना के समय लगभग 56% जनसंख्या का जीवनयापन का मुख्य स्त्रोत कृषि था जिसमें 51% जमींदार तथा काश्तकार थे तथा 5% खेतिहर मजदूर । इनके अलावा लगभग 2.5% जनसंख्या के जीवनयापन का मुख्य स्त्रोत तो कुछ और था परन्तु आंशिक तौर पर वे भी कृषि कार्य से जुड़े हुए थे । जनसंख्या के लगभग 5.5% लोग सामान्य मजदूरी करते थे जिसमें खेत पर की गई मजदूरी भी शामिल थी । कुल जनसंख्या के लगभग 5.5% लोग सामान्य मजदूर करते थे जिसमें खेत पर की गई मजदूरी भी शामिल थी । कुल जनसंख्या के लगभग 18% लोग खाने–पीने की चीजें तैयार करने, सूती वस्त्र बनाने तथा चर्म उद्योग में कार्यशील थे । निजी एवं घरेलू सेवा में 4.75% तथा वाणिज्य एवं व्यापार के क्षेत्र में कुल जनसंख्या के मात्र 2.5% लोग थे ।

प्रदेश की प्रत्येक रियासत में हिन्दुओं का बाहुल्य था । मुसलमानों में अधिकांश (97%) सुन्नी मत के थे । जैन धर्मावलम्बियों में अधिकांश श्वेताम्बर मत के थे । आदिवासी भील जिन्हें जनगणना प्रतिवेदनों में जीववादी (Animist) वर्गीकृत किया है, प्रदेश की 11 रियासतों में थे । युरोपियन तथा युरेशियन ईसाईयों की संख्या देशी (Native) ईसाईयों से कम थी। प्रदेश की कौमवार संरचना में सन् 1901 की गणना के समय प्रदेश की कुल जनसंख्या में विभिन्न जातियों का प्रतिशत निम्न प्रकार से था :

जाति	प्रतिशत	जाति	प्रतिशत
ब्राह्मण	10.4%	राजपूत	6.4%
जाट	8.7%	मीणा	4.9%
महाजन	7.8%	गूजर	4.7%
चमार	7.0%	भील	3.5%

वैसे तो सभी रियासतों में न्यूनाधिक संख्या–में हर जाति के लोग निवास करते थे परंतु बुल्यता की दृष्टि से जयपुर, भरतपुर, करौली, धोलपुर तथा बीकानेर रियासतों में ब्राह्मणों का प्रतिशत काफी था। इनमें से अधिकांश पुरोहितगिरी करते थे तथा कुछेक व्यापार, राज्य सेवा तथा कृषि में भी कार्यरत थे ।

बीकानेर, किशनगढ़ और जोधपुर रियासतों में जाटों की बह्लल्यता थी । कृषि इनके जीवकोपार्जन का मुख्य आधार था । भरतपुर व धोलपुर रियासतों के शासक इस वर्ग के होने के कारण उन रियासतों में ये सामाजिक व राजनैतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण थे ।

महाजन वर्ग के लोग अधिकतर वाणिज्य व व्यापार में रत थे तथा देश के अन्य भागों में भी फैले हुए थे । प्रदेश में इनकी संख्या बीकानेर, जोधपुर सिरोही, जयपुर, तथा प्रतापगढ़ रियासतों में काफी थी । इनमें अग्रवाल, ओसवाल, माहेश्वरी, खण्डेलवाल, सरावगी और पोरवाल प्रमुख थे।

चमार जाति के लोग चमड़े तथा चमड़े की वस्तुओं के उत्पादन कार्य से जुड़े हुए थे । इनमें से कुछ श्रमिक तथा कुछेक कृषि कार्य से भी जुड़े हुए थे । भरतपुर, धोलपुर, करौली, कोटा और टोंक रियासतों में इनकी संख्या काफी थी ।

राजपूतों में राठौड़ों की जनसंख्या सर्वाधिक थी । अन्य में कछवाह, चौहान, जादों, सीसोदिया, पंवार, सोलंकी तथा परिहार थे । शासक वर्ग से जुड़े होने के कारण राजपूत जागीरदारों की सामाजिक प्रतिष्ठा थी तथा उनको जागीर में काफी भूमि प्राप्त थी । परंतु जिनके पास भूमि नहीं थी उनका कृषि की बजाय सरकारी नौकरी (सेना, पुलिस आदि) की तरफ ज्यादा झुकाव था ।

मीणा जाति का बाहुल्य बूंदी, कोटा, जयपुर, करौली, अलवर तथा टोंक रियासतों में था। इनमें दो वर्ग थे – जमींदार मीणा तथा चौकीदार मीणा, जिनका जीविकोपार्जन का मुख्य आधार क्रमश: खेती तथा चौकीदारी था ।

गूजर जाति के लोग अधिकांशत: पशुपालन व कृषि कार्यों में रत थे । इनकी बाहुल्यता बूंदी, टोंक, लावा, धोलपुर व भरतपुर में थी ।

भील आदिवासी थे तथा मेवाड़, डूंगरपुर, बांसवाड़ा और प्रतापगढ़ रियासतों में काफी संख्या में थे ।

अजमेर–मेरवाड़ा में मुख्य आबादी महाजनों की थी जो व्यापारी वर्ग के थे तथा जिनमें प्रमुखत: ओसवाल, अग्रवाल, माहेश्वरी तथा सरावगी थे । गूजर जाति के लोगों की संख्या भी अजमेर–मेरवाड़ा में काफी थी जिनका मुख्य धंधा कृषि कार्य और पशुपालन था ।

रियासतों में जाति पर आधारित परम्परागत काम–धंधे तथा व्यवसाय थे ।

परंपरागत धंधों में सुनार, लहार, खाती, खरादी, कसेरा, ठठेरा, सिलावट, दर्जी, भड़भूजा, छीपा, जुलाहा, बलाई, पिजारा, धुनिया, तेली, धांची, कुम्हार, मनिहार, कचारा, खरोल, चुनारी, कलाल, कसाई, खटीक, चमार, मोची, रेगर, भाम्बी, मेघवाल, रावत, संगतराश, सिकलीगर, चेजारा, सांसी आदि जाति के लोग कार्यरत थे जो स्थानीय लोगों की आवश्यकता की पूर्ति करते थे । ये सामाजिक ढांचे की संरचना के आवश्यक अंग थे तथा इनसे सम्बंधित आकड़े जनसांख्यिकीय गंरचना की विवेचना के लिए जनगणना के समय एकत्रित किय जाते थे ।

3.4 अजमेर–मेरवाड़ा में जनगणना ओर जनसांख्यिकीय आकड़े

ब्रिटिश शासित अजमेर–मेरवाड़ा क्षेत्र में प्रथम जनगणना सन् 1865 में हुई । तब इसकी आबादी 4,25,710 दर्ज की गई । सात वर्ष पश्चात् वर्ष 1872 में पुन : की गई जनगणना में यह 25.8 % घट कर 3,16,032 रह गई ।

सन् 1868 से 1870 के बीच पड़े भयंकर अकाल को इस घटना का एक बड़ा कारण माना जा सकता है परन्तु तत्कालीन प्रशासनिक अधिकारियों को सन् 1872 में हुई गणना की सत्यता में संदेह था अत: सन् 1876 में पुन : गणना कराई गई जिसमें जनसंख्या 3,96,331 अंकित की गई जो पिछली गणना से 25.4% अधिक थी ।

सन् 1881, 1891 तथा 1901 की जनगणना के समय क्षेत्र की आबादी क्रमश: 4,60,722; 5,4 2,358 तथा 4,76,912 अंकित की गई । सन् 1901 में कुल गांव 740 थे तथा शहर 4 थे । आवासों की कुल संख्या 1,07,401 थी तथा 73.8% जनसंख्या गांवों में तथा शेष 26.2% शहरों में रहती थी । सन् 1891 की गणना के समय ग्रामीण तथा शहरी जनसंख्या का प्रतिशत क्रमश: 78 एवं 22 था परन्तु सन् 1901 में शहरी जनसंख्या का प्रतिशत 26 हो गया ।

विभिन्न धर्मो के व्यक्तियों की संख्या एवं कुल आबादी में उनका प्रतिशत वर्ष 1891 व 1901 के लिए निम्नांकित सारणी में दर्शाया गया है ।

वर्ष	सन् 1891 ई.		सन् 1901 ई.	
	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत
हिन्दू	4,36,831	80.54	3,80,453	79.77
मुसलमान	74,265	13.69	72,031	15.10
जैन	26,939	4.46	19,922	4.17
ईसाई	2,683	0.49	3,712	0.78
अन्य	1640	0.32	794	0.18

3.5 तीन दशकों की जनसंख्या की तुलना (सन् 1881 – 1901)

रियासतों में पहली और दूसरी जनगणना के समय परिस्थितियों के कारण आंकड़ों में उतनी प्रामाणिकता नहीं आ सकी जितनी कि सन् 1901 की गणना के समय आई । इसका कारण था इस कार्य के लिए नियुक्त किए गए स्टाफ का अनुभव, उनकी योग्यता तथा जन सहयोग । गणना की प्रणाली तथा सारणीकरण में भी निरनतर सुधार हुआ । निम्नलिखित सारणी में प्रदेश की तत्कालीन रियासतों तथा ब्रिटिश शासित अजमेर–मेरवाड़ा क्षेत्र की तीन दशकों की जनसंख्या निकटतम लाखों में दर्शाई गई है:

(संख्या लाखों में)

क्र.सं.	**रियासत/ठिकाना/ब्रिटिश शासित क्षेत्र**	**गणना वर्ष**		
		1881	**1891**	**1901**
1	**2**	**3**	**4**	**5**
1.	जोधपुर	17.50	25.20	19.36
2.	जैसलमेर	1.08	1.16	0.73
3.	बीकानेर	5.09	8.3	25.85
4.	जयपुर	25.34	28.32	26.59
5.	किशनगढ़	1.13	1.25	0.91
6.	अलवर	6.83	7.68	8.28
7.	भरतपुर	6.45	6.40	6.27
8.	धोलपुर	2.50	2.80	2.71

9.	करौली	1.49	1.56	1.57
10.	टोंक (राजपुताने में स्थित क्षेत्र)	1.70	1.99	1.43
11.	बूंदी	2.55	2.96	1.71
12.	शहपुरा	0.52	0.64	0.43
13.	कोटा	5.17	5.26	5.45
14.	झालावाड़	3.40	3.44	0.90
15.	प्रतापगढ़	0.79	0.88	0.52
16.	बांसवाड़ा	1.52	2.12	1.65
17.	डूंगरपुर	1.53	1.65	1.00
18.	उदयपुर	14.94	18.63	10.30
19.	सिरोही	1.43	1.91	1.54
20.	लावा ठिकाना	0.03	0.03	0.03
21.	अजमेर–मेरवाड़ा (ब्रिटिश क्षेत्र)	4.61	5.42	4.77
कुल	105.6	127.62	102.0	

उपरोक्त तालिका इंगित करती है कि वर्ष 1881 व 1891 के बीच जनसंख्या में 20.98% वृद्धि की हुई जबकि पूरे देश में यह वृद्धि 9% थी। रियासतों में इस आश्चर्यजनक एवं अनअपेक्षित वृद्धि का कारण मोटे रूप में प्रथम जनगणना में कई दोषों का होना तथा दूसरी गणना में अधिक सतर्कता के कारण आंकड़ों का पहले की तुलना में अधिक सही होना था। अगले दशक (1891–1901) में जनसंख्या में लगभग 20% की कमी आई जिसका कारण था सन् 1899– 1900 का भयंकर अकाल (छपनिया काल) और सन् 1892, 1899, अगस्त 1900 व फरवरी 1901 में फैली महामारी के प्रभाव । दूसरा कारण था इस गणना के समय एकत्रित किए गए आंकड़ों को पहली बार विश्वसनीय माना जाना । तीसरा कारण था अकाल की वजह से लोगों का पशुधन के साथ अन्य राज्यों में पलायन कर जाना तथा गणना के समय बड़ी संख्या में उनका रियासत के बाहर रहने से गणना के समय अनुपस्थित रहना ।

रियासतें जिनकी जनसंख्या में 35% से अधिक की घटत दर्ज की गई, वे थी बूंदी (42.1%), डूंगरपुर (39.5%), जैसलमेर (36.6%), उदयपुर (44.7%) झालावाड़ रियासत का वर्ष 1899– 1900 में पुनर्गठन किया जाना भी उसके क्षेत्रफल व जनसंख्या में कमी का कारण था ।

3.5.1 आगे के दशकों में स्थिति

आगे के दशकों में प्रदेश की रियासतों व अजमेर–मेरवाड़ा क्षेत्र में कराई गई जनगणना के आधार पर जनसंख्या निम्न प्रकार पाई गई :

गणना वर्ष	जनसंख्या (लाखों में)	पिछली गणना से घटत/बढ़त
		(प्रतिशत)
1911	109.8	+6.7

1921	102.9	–6.3
1931	117.5	+14.1
1941	138.6	+18.1

वर्ष 1901–1911 के मध्य बढ़ी जनसंख्या का प्रतिशत (+6.7%) अगले दशक (191 – 1921) के दौरान महामारियों तथा विश्वयुद्ध के कारण निष्फल हो गया क्योंकि जनसंख्या में 6.3% की गिरावट आ गई । अगले दो दशकों में जनसंख्या उत्तरोत्तर बढ़ती रहीं । सन् 1941 में प्रदेश की जनसंख्या 138.6 लाख थी जिसका रियासतवार ब्योरा नीचे दी गई तालिका में दर्शाया गया है :

प्रदेश की जनसंख्या (1941 ई)

(संख्या)

क्र.सं	**रियासत/ठिकाना/ब्रिटिश क्षेत्रफल (वर्ग मील)**		**जनसंख्या**
1.	उदयपुर	13,170	19,26,698
2.	बांसवाड़ा	1,606	2,58,760
3.	डूंगरपुर	1,460	2,74,282
4.	प्रतापगढ़	873	91,967
5.	कुशलगढ़	340	41,153
6.	अलवर	3,198	8,23,055
7.	जयपुर	15.610	30,40,876
8.	किशनगढ़	837	1,04,127
9.	टोंक	2,543	3,53,687
10.	शहपुरा	405	61,173
11.	बीकानेर	23,181	12,92,938
12.	जोधपुर	36,120	25,55,904
13.	जैसलमेर	15,980	93,246
14.	सिरोही	1,988	2,33,879
15.	बूंदी	2,205	2,49,374
16.	भरतपुर	1,978	5,25,625
17.	धोलपुर	1,173	2,86,901
18.	झालावाड़	824	1,22,299
19.	करौली	1,227	1,52,413
20.	कोटा	5,714	7,77,398
21.	लावा ठिकाना	20	2,808
22.	अजमेर–मेरवाड़ा	2,40	05,83,693

कुल	1,32,852	1,38,52,256

3.5.2 राजनैतिक उथल–पुथल (1947–49 ई.) का जनसांख्यिकीय संरचना पर प्रभाव

सन् 1947 में देश के विभाजन के कारण लोगों का बड़ी संख्या में शरणार्थियों के रूप में पलायन करने तथा बड़ी संख्या में विस्थपितों के आने के कारण तत्कालीन रियासतों ओर बाद में राजस्थान प्रदेश बनने के पश्चात् यहां की जनसांख्यिकीय संरचना काफी बदलाव आ गया । स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् केन्द्रीय सरकार द्वारा वर्ष 1948 में बनाये गये जनगणना अधियिम (1948) को देश के हर प्रदेशउ में लागू किया गया तथा राज्य सरकारों को अपने–अपने क्षेत्रों में जनगणना कराने तथा उसके लिए समुचित स्टाफ नियुक्त करने के लिए अधिकृत किया गया। स्टाफ के लिए गणना कराने सम्बन्धी नियम एवं दिश–निर्देशिका बनाई गई ताकि पूरे देश में गणना की एक ही पद्धति अपनाई जा सके तथा जनसांख्यिकीय संरचना सम्बन्धी आंकड़े देश के समस्त राज्यों में एकरूपता के आधार पर जनगणना के समय एकत्रित किए जा सकें । गणना के कार्य में लगे कर्मचारियों के अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का उल्लेख तथा कर्त्तव्यों को न करने पर दण्ड का प्रावधान परिभाषित किया गया। नागरिकों से यहां सहयोग की अपेक्षा की गई, वहीं इस कार्य के लिए नियुक्त स्टाफ को भी निर्देश दिए गए कि वे नागरिकों को किस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर देने के लिए बाध्य न करें।

संविधान में अनुसूचित जाति तथा जनजाति के प्रावधान के कारण भी उक्त संरचना प्रभावित हुई । इसी प्रकार स्थानीय बोलियों तथा संविधान में परिभाषित भाषाओं के अनुरूप जनसंख्या को वर्गीकृत करने से विभिन्न जनसांख्यिकीय समूह सृजित हुए। इनके साथ–साथ विभिन्त व्यवसायों,विशेषकर उनके आधार पर किए गए आर्थिक वर्गीकरण भी जनसांख्यिकीय परिवर्तन में सहायक हुए । सन् 1951 में की गई जनगणना के लिए एकत्रित सूचनाओं का दायरा बदली हुई परिस्थितियों के अनुरूप बदला तथा बढ़ाया गया । सन् 1951 में कराई गई जनगणना इसी के आधार परहुई जिसमें प्रदेश की जनसंख्या 1,59,70,774 दर्ज की गई ।

3.6 सारांश

प्रारम्भ में प्रदेश की विभिन्न रियासतों की राजैतिक, सामाजिक तथा आर्थक व्यवस्था में भिन्न्ता के कारण प्रदेश की जनसांख्यिकीय संरचना अपरिभाषित रही तथा सामान्यतया इस ओर जनजागृति पैदा नहीं हो सकी । इसके कारण न तो इस संदर्भ में आंकड़े एकत्रित किए जा सके और न ही जन विकास की कोई योजना विकसित हुई । सन् 1818 से 1881 तक जनसंख्या के जो आंकड़े समय–समय पर एकत्रित किये उनका कोई उपयोग नहीं हो सका। रियासतों में सन् 1881 व 1891 में जो जनगणनाए की गई उनके आंकड़े भी अधिक विश्वसनीय नहीं थे । सन् 1901 में हुई जनगणना के समय एकत्रित किए गए आंकड़ों को विश्वसनीय माना जाता है तथा इनके आधार पर रियासतों जनसांख्यिकीय संरचना व उनके परिपेक्ष में प्रेदेश की तत्कालीन जनसांख्यकीय संरचना का ढांचा तैयार किया जाकर बाद के वर्षो में हुए बदलाव को आंका जा सकता है । इस संदर्भ में जनसंख्या का ग्रामीण व शहरी वर्गीकरण, धर्म व जातिवार वर्गीकरण, भाषा के आधार पर वर्गीकरण, जनसंख्या का घनत्व,

स्त्री/पुरुष अनुपात, गांवों व आवासों की संख्या, जनसंख्या में वृद्धि अथवा कमी के कारण, वैवाहिक स्थिति रोग निदान/दीर्घायु हेतु स्वास्थ्य कल्याण, जीविकोपार्जन सम्बन्धी व्यवसायों का वर्गीकरण आदि आंकड़ों को जनसांख्यिकीय संरचना के मूल तत्व के रूप में उपयोग किया जा सकता है । देश के विभाजन तथा संविधान में रखे गए प्रावधानों के कारण जो बदलाव सन् 1947 से 1949 के मध्य हुआ उसका अत्यधिक प्रभाव विभिन्न रियासतों तथा बाद में राजस्थान प्रदेश की जनसांख्यिकीय संरचना पर पड़ा ।

3.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. रियासतों में जनसांख्यिकी के प्रति सामान्य चैतना का अभाव क्यों था?
2. सन् 1818 व 1891 के मध्य रियासतों में जनगणना के क्या आधार थे तथा एकत्रित किए गए आंकड़े जनसांख्यिकीय संरचना का ठोस आधार क्यों नहीं बन सके ।
3. सन् 1901 की जनगणना पर आधारित जनसांख्यिकीय संरचना के प्रमुख तत्वों का वर्णन एवं उनकी विवेचना कीजिए ।
4. सन् 1901 से पहले तथा बाद की दशकीय जनगणनाओं की पद्धति में मौलिकरूप से क्या अन्तर था? समीक्षा कीजिए।
5. सन् 1947 से 1949 के बीच हुई राजैतिक उथल–पुथल का जनसांख्यिकीय संरचना पर किस प्रकार प्रभाव पडा?

3.8 संदर्भ ग्रन्थों की सूची

अर्सकिन, के डी.	— इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इण्डिया: प्रोविंशियल सीरीज– राजपताना, कलकत्ता (1908)
गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया	— रिपोर्ट आन द पॉलिटीक एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ राजपुताना स्टेट्स एण्ड अजमेर–मेरवाडऋरी 1880–81, कलकत्ता (1881)
गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया	— रिपोर्ट आन द पॉलिटीक एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ राजपुताना स्टेट्स एण्ड अजमेर–मेरवाडऋ 1881–82, कलकत्ता (1882)
गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया	— रिपोर्ट आन द पॉलिटीक एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ राजपुताना स्टेट्स एण्ड अजमेर–मेरवाडऋ 1890–91, कलकत्ता (1891)
गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया	— रिपोर्ट आन द पॉलिटीक एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ राजपुताना स्टेट्स एण्ड अजमेर–मेरवाडऋ 1891–92, कलकत्ता (1892)
गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया	— रिपोर्ट आन द पॉलिटीक एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ राजपुताना स्टेट्स एण्ड अजमेर–मेरवाडऋ 1900–01, कलकत्ता (1902)
गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया	— सेंसस ऑफ इण्डिया 1881, रिव्यू एण्ड प्रोविजनल टेबल्य कलकत्ता (1882)
गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया	— सेंसस ऑफ इण्डिया 1891, राजपुताना पाट I - II कलकत्ता (1892)
गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया	— सेंसस ऑफ इण्डिया 1901, वोल्यूम 25 पार्ट I, राजपुताना

	रिपोर्ट
गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया	— सेंसस ऑफ इण्डिया 1901, वोल्यूम 24 पार्ट 3, राजपुताना
टॉड, जैम्स	— एनल्स एण्ड एंटिक्यूटीज ऑफ राजस्थान, खण्ड I–III, ओ यू. पी. (1920)
ढोंढियाल बी. एन.	— गजेटियर ऑफ द बीकानेर स्टेट, गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया, कलकत्ता (1874), रिप्रिंट बीकानेर (1935)
बोल्ये, ए.एच.ई.	— पर्सनल नेरेटिव ऑफ ए टूर बिटवीन द वेस्टर्न स्टेट्स ऑफ रजवाड़ा इन 1835
मालेसन, जी.बी.	— एन हिस्टॉरिकल स्केच ऑफ द नेटिव स्टेट्स ऑफ इण्डिया, लन्दन (1875)
लटूश, जे.डी.	— गजेटियर ऑफ अजमेर–मेरवाड़ा इन राजपुताना, कलकत्ता (1875)
शारदा, हरबिलास	— अजमेर हिस्टॉरिकल एण्ड डिस्क्रिप्टिव, अजमेर (1941)
हेबर, आर,	— नेरेटिव ऑफ द जर्नी थ्रू द अपर प्रोविसेंज ऑफ इण्डिया (1824–25), वाल्यूम II, लन्दन
हेन्डले, टी. एच.	— जनरल मेडिकल हिस्ट्री ऑफ राजपुताना, कलकत्ता (1900)

इकाई - 4

सामाजिक कट्टरता एवं सामाजिक सुधार

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 सामाजिक स्वरूप - परंपरागत सामाजिक ढांचा

4.3 विभिन्न क्षेत्रों में सामाजिक कट्टरता

4.4 समाज सुधारों की आवश्यकता

4.5 सामाजिक सुधार

4.5.1 सती प्रथा

4.5.2 डाकिन प्रथा

4.5.3 कन्या वध

4.5.4 दास प्रथा

4.5.5 समाज एवं शिक्षा

4.5.6 मानव व्यापार

4.6 समाज सुधार एवं आर्य समाज की भूमिका

4.7 देश हितेशषनी सभा एवं समाज सुधार

4.8 समाज सुधारों में वार्नर कृत हितकारी सभा का योगदान

4.9 उपसंहार

4.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

4.11 संदर्भ ग्रन्थों की सूची

4.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप अध्ययन करेंगे –

- 19वीं सदी के राजस्थान की सामाजिक स्थिति।
- समाज में प्रचलित विभिन्न कट्टरताऐं
- कट्टरताओं का सामाजिक प्रभाव ।

सामाजिक सुधार ।

सामाजिक सुधारों में आर्य समाज, देश हितैषनी एवं वाल्टर कृत हितकारी सभा का योगदान।

4.1 प्रस्तावना

राजस्थान का सामाजिक ढाँचा लम्बे समय से कुलीय परम्परा पर आधारित था। जो परम्परागत रूप से ऊँच–नीच, पद–प्रतिष्ठा तथा जातियों के आधार पर संगठित था। समाज में जातियों का आधार विशुद्ध व्यवसाय थे जो उनके द्वारा परम्परागत रूप से अपनाये जाते थे ।

प्रारम्भिक काल में जाति व्यवस्था में मुख्य रूप से चार वर्ण ही विद्यमान थे जिन्हें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शुद्र की संज्ञा दी गई थी। कालान्तर में इन वर्णों ने विभिन्न जातियों का रूप धारण कर लिया जिनकी संख्या अनिश्चित है जातियों में निरन्तर बढ़ोतरी का कारण विभिन्न व्यवसाय ही है।

इस जाति व्यवस्था को समाज का स्थायी अंग बनाने में जाति–पंचायतों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। ये जाति पंचायतें अपनी जाति को व्यवस्थित रूप से संचालित करने की दृष्टि से खानपान, रीति–रिवाजों से सम्बन्धित विभिन्न नियमों का निर्माण करती है। इन नियमों के पालन का दायित्व भी जाति पंचायतें ग्रहण करती है। 18वीं शताब्दी में शासकों–सामन्तों के आपसी संघर्ष, कलह मराठों की घुसपैठ आदि गतिविधियों ने राजस्थान की आर्थिक स्थिति को झकझोर दिया फलस्वरूप विभिन्न जाति के लोगों को अपने जीवन–यापन के उद्देश्य से अपनाये गये परम्परागत व्यवसायों को त्यागते हुए कुछ अन्य व्यवसाओं को अपनाने के लिए बाध्य होना पड़ा । जिसने यहाँ की सामाजिक व्यवस्था को प्रभावित किया।

4.2 सामाजिक स्वरूप – परम्परागत सामाजिक ढाँचा

भारतीय' समाज परम्परागत रूप से जाति व्यवस्था पर आधारित है। जैसा कि हमने पूर्व में कहा है प्राचीन सामाजिक व्यवस्था में चार वर्ण–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र प्रचलित थे जिन्होंने कालान्तर में विभिन्न जातियों का रूप धारण कर लिया। परम्परागत सामाजिक संगठन में ब्राह्मण सर्वोपरि स्थान रखता था। ब्राह्मणों में अनेक उपजातियाँ विभाजित थी। लेकिन नैतिक जीवन का आधार ब्राह्मण को ही माना जाता था। अध्ययन–अध्यापन, धार्मिक कर्मकाण्ड, आराधना ध्यान आदि कार्य ब्राह्मण ही सम्पादित करवाते थे। आगे चलकर वे राजा के सलाहकार भी नियुक्त किये जाने लगे। कृषि कार्य में भी उनकी रूचि परिलक्षित होती है। हमारे अध्ययन काल में ऐसे भी अनेक उदाहरण मिलते है कि ब्राह्मणों ने राज्य की कूटनीतिज्ञ गतिविधियों में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। उदाहरणार्थ–मेवाड़ द्वारा मराठों के साथ की गई समझौता वार्ता एवं संधियों में अमरचन्द बड़या का सराहनीय योगदान था।

ब्राह्मणों के पश्चात् राजस्थान में क्षत्रियों अथवा राजपूतों के प्रति आदर भावना थी। इस प्रदेश में राजपूतों की प्रमुखता के कारण ही इसे राजपूताना की संज्ञा दी गई थी। इनके अधिकांश सामन्त भी राजपूत ही हुआ करते थे। अत : कहा जा सकता है कि राज्य व धर्म की रक्षा का दायित्व राजपूत अथवा क्षत्रियों पर ही था।

तीसरा वर्ण वैश्य था जिसे सामान्य रूप से बनिये की संज्ञा दी जाती थी जिनका मुख्य कार्य कृषि था लेकिन आगे चलकर वे व्यापारी बन गये । इन राजपूत शासकों की आर्थिक सहायता में इनका महत्वपूर्ण योगदान रहता था। भविष्य में ये भी अनेक उप शाखाओं जैसे – ओसवाल, माहेश्वरी, पोरवाल, खण्डेलवाल आदि में विभाजित हो गये।

शूद्र जो प्रारम्भ से ही समाज के सामान्य कार्य से जुड़ा हुआ था, चतुर्थ वर्ण था। इसका दायित्व समाज सेवा तक सीमित था।

उपर्युक्त वर्णन से हमारे सामाजिक ढाँचे की स्थिति स्पष्ट होती है।

4.3 विभिन्न क्षेत्रों में सामाजिक कट्टरता

19वीं सदी में राजस्थान की सामाजिक स्थिति परिवर्तनशील थी। इसका प्रमुख कारण सामन्तों के प्रति अंग्रेजों की नीति में उतार–चढ़ाव था। फलस्वरूप यहाँ पर अनेक सामाजिक कट्टरताओ ने जन्म लिया।

19वीं सदी में प्रमुख सामाजिक कट्टरताओं में सती प्रथा, कन्या वध, त्याग, डाकन प्रथा, कन्याओं का क्रय–विक्रय, घरेलू दास–दासियाँ आदि सामाजिक कुरीतियाँ परम्परागत रूप से विद्यमान थी। सती प्रथा का सर्वाधिक प्रचलन राजपूत जाति में था। हिन्दुओं की उच्च जातियों में भी यह प्रथा प्रचलित थी। सती प्रथा के अंतर्गत अपने पति की मृत्यु पर पत्नी स्वयं शव के साथ जल मरती थी राज परिवार में तो यह प्रथा अनिवार्य रूप से प्रचलित थी। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते है जब शासक की प्रतिष्ठा का अनुमान इस बात से लगाया जाता था कि उसके साथ कितनी स्त्रियों ने जौहर किया। इन तथ्यों से यह अनुमान लगाया जाता है कि सती प्रथा को एक धार्मिक रूप दिया गया था, लेकिन यह नैतिकता और न्याय के बिल्कुल विपरीत थी।

सामाजिक कट्टरताओं में एक अन्य महत्वपूर्ण बुराई कन्या वध के रूप में सामने आती है। जिसका उल्लेख अनेक पोलिटिकल अधिकारियों के साथ–साथ टॉड ने भी अपनी पुस्तक "एनल्स एण्ड एन्टीक्यूटिज ऑफ राजस्थान" में किया है । इनके अतिरिक्त राजस्थान के इतिहास के प्रमुख लेखक – गौरीशंकर हीराचंद ओझा, रेऊँ के साथ–साथ वीर विनोद के लेखक श्यामलदास ने भी इस कुप्रथा को अपने ग्रंथों में स्थान दिया। इस प्रथा के पीछे क्या कारण थे? इसके कारणों पर बहुत अधिक भिन्नता है और किसी भी इतिहासकार ने इसके स्पष्ट कारणों का उल्लेख नहीं किया है । लेकिन इस बात का स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि कन्या वध निम्न स्तरीय राजपूत परिवारों तक सीमित था। जिसके पीछे महत्वपूर्ण भूमिका विवाह योग्य दहेज न जुटा पाना माना जाता है।

कन्या वध के साथ–साथ राजस्थान में स्त्रियों पर अत्याचार करने वाली एक अन्य प्रथा–डाकन प्रथा प्रचलित थी। जिसके अनुसार कभी–कभी स्त्री को डाकन घोषित कर उसे अमानवीय ढंग से मार डाला जाता था। यह कट्टरता भील और मीणा जाति में अधिक प्रचलित थी।

19वी सदी के राजस्थान में हमें कन्याओं के क्रय–विक्रय के भी अनेक उदाहरण देखने को मिलते है । कुछ राज्यों में तो इन अवैधानिक व्यापार को वैधानिक रूप दिया जा चुका था। ऐसे भी कई उदाहरण मिलते है कि कई राज्य इनके क्रय–विक्रय पर कर वसूल करते थे। इन किशोरियों के क्रय के भी कई कारण बताए जाते है लेकिन सामान्य धारणा यह है कि अनेक राजपूत अपनी कन्याओं के विवाह के समय दहेज के रूप में इन्हें दासी बनाकर दिया करते थे। कुछ सम्पन्न परिवार के लोग इन्हें अपनी कामुकता का अंग बना लेते थे। यहाँ तक कि इनसे वेश्यावृत्ति भी करवाई जाती थी।

राजस्थान के ऊपर एक कलंक वेश्यावृत्ति का परम्परागत रूप था। इन वेश्याओं को राज्य की ओर से भी संरक्षण प्राप्त था। राजपूत जाति में घरेलू दास–दासी प्रथा भी प्रचलित थी

उससे इसको बढ़ावा मिलता था। अनेक दास–दासियाँ राजपूतों की अवैध संताने थी। जिन्हें सामान्य रूप से गोला–गोली, चाकर आदि नामों से पुकारा जाता था।

19वीं शताब्दी के मध्य तक राजस्थान में पितृ सत्तात्मक पद्धति पर आधारित संयुक्त परिवार प्रथा प्रचलित थी। परन्तु इस शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जब भूमि बंदोबस्त का कार्य नये ढंग से सम्पादित हुआ तो संयुक्त परिवार प्रथा लुप्त होती हुई दिखाई देने लगी। अब किसान भूमि और लगान के लिए व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी होने के कारण उसमें व्यक्तिगत अधिकार की भावना जागृत हुई। फलस्वरूप परिवार व भूमि का विभाजन होने लगा। परिवार टूटने लगे। सम्पत्ति का बँटवारा होने लगा और धीरे–धीरे संयुक्त परिवार प्रणाली व्यक्तिगत परिवार प्रणाली में रूपान्तरित होने लगी।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि 19वी शताब्दी के राजस्थान का सामाजिक जीवन सामान्यत: अंधविश्वास, रूढ़िवादिता एवं पुरातनवादी कट्टरताओं को लिये हुए था। वे परम्परागत चली आ रही व्यवस्था के पक्षधर थे। अत: यहाँ सामाजिक परिवर्तन मंद गति से सम्भव हो सका।

4.4 समाज सुधारों की आवश्यकता

19वीं सदी में राजपूत राज्यों की अंग्रेजों के साथ संधियों के पश्चात् खालसा भूमि पर जागीरदारों का अनाधिकृत नियंत्रण समाप्त हो गया। भूमि व आय वृद्धि के नवीन स्त्रोत भी उपलब्ध नहीं रहे। इन स्थितियों में जागीरदारों और ठिकानेदारों के समक्ष आर्थिक कठिनाईयाँ उत्पन्न होना स्वाभाविक था। इसका प्रभाव सामाजिक स्थिति पर पड़े बिना नहीं रह सका। इन संधियों के फलस्वरूप युद्ध प्राय: समाप्त से हो गये थे, जिससे सामन्ती परिवारों की सदस्य संख्या बढ़ने लगी। अर्थाभाव के कारण वे अपने पारिवारिक दायित्व को निभा पाने में असमर्थता व्यक्त करते थे। राजपूतों के परिवार को सीमित आय के साधनों में अपनी बेटियों का उच्च कुल में विवाह असम्भव सा प्रतीत होता था। इन सभी परिस्थितियों ने समाज सुधार की भावना को प्रेरित किया।

4.5 सामाजिक सुधार

4.5.1 सती प्रथा

भारत में सती प्रथा अति प्राचीन काल से प्रचलित थी। प्राचीन काल में यह मान्यता थी कि मृतक नरेश को अगले जन्म में स्त्री आदि भोग के साधनों की आवश्यकता होती है। इस कारण उसकी रानियाँ उसी की चिता के साथ जलकर मर जाती थी। भारत में सती प्रथा को धार्मिक कर्तव्य माना जाने लगा और ऐसी स्त्रियाँ देवी की श्रेणी में रखी जाती थी। स्मृतिकारों ने कहा कि पतिव्रता स्त्री के लिए सती होना ही स्वर्गीय मोक्ष का मार्ग है। इस प्रकार धार्मिक प्रोत्साहन से स्त्रियाँ अधिक संख्या में सती होने लगी थी उसे हीन दृष्टि से देखा जाता था जो सती नहीं होती और उसके परिवार जन भी उसकी निन्दा करते थे।

राजस्थान में भी सती प्रथा विशेष रूप से राजपूत जाति में व्यापकता लिए हुए थी। यद्यपि राजपूतों के अलावा ब्राह्मण, जाट, नाई, धोबी, गूजर आदि अनेक जातियाँ और थीं

जिनमें सती प्रथा का प्रचलन था। ब्रिटिश संरक्षण के पश्चात् राजस्थान में स्वत: ही सती–प्रथा की व्यापकता में कमी आई। अंग्रेजी शिक्षा और यूरोपियन विचारों के प्रसार ने भी इस प्रथा के विरोध में वातावरण निर्मित किया। इस कार्य में राजाराम मोहनराय की भूमिका भी सराहनीय थी। राजाराम मोहनराय ने संवाद कौमुदी नामक पत्रिका के माध्यम से सती प्रथा के विरोध में आवाज उठाते हुए इसे शास्त्रों के विरूद्ध बतलाया। इससे राजाराम मोहनराय संकट में पड़ गये लेकिन वे अपने पथ से विचलित नहीं हुए। इसी मध्य लार्ड विलियम बौंटिक भारत के गवर्नर जनरल नियुक्त हुआ जो स्वयं सुधारवादी प्रवृत्ति का व्यक्ति था। वह इस तथ्य से भली–भांति अवगत था कि शिक्षित वर्ग सती प्रथा के विरूद्ध है। इतना होने पर भी उसने जनमानस को अपने पक्ष में करने की दृष्टि से कई सैनिक व असैनिक अधिकारियों से इस कुप्रथा की जाँच करवाई और इसे अमानवीयता का दर्जा दिया। इतना ही नहीं उसने ४ दिसम्बर, 1829 को आदेश प्रसारित किया जिसके अनुसार सती होना या सती होने के लिए किसी को प्रेरित करना अपराध घोषित करते हुए उसे हत्या के समान मान लिया गया।

इन सब गतिविधियों का स्पष्ट प्रभाव राजस्थान पर पड़ा। यद्यपि राजस्थान की स्थिति कुछ भिन्न थी क्योंकि यहाँ बड़ी–बड़ी रियासतों ने सरकार की अधीनता तो स्वीकार कर ली थी लेकिन वहाँ का आन्तरिक शासन राजाओं के हाथों में ही था। अभी तक ब्रिटिश भारत का कानून वहाँ लागू नहीं होता था। अभी तक सरकार ने भी समस्त देश के लिए एक सा कानून नहीं बनाया था। फिर भी इस अमानवीय प्रथा को बन्द करना सरकार अपना प्रथम दायित्व समझती थी।

इन सब गतिविधियों का सुफल यह देखा गया कि जयपुर राजघराने में 1818 ई. के बाद कोई रानी सती नहीं हुई। इसी प्रकार 1828 ई. के पश्चात् बीकानेर राजघराने में भी सती होने का कोई उदाहरण नहीं मिलता है। लेकिन इन तथ्यों के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता है कि राजस्थान में सती प्रथा बन्द हो गई थी। अभी भी सती प्रथा के अनेक उदाहरण देखने को मिलते है जैसे 1838 ई. में महाराजा जवानसिंह की मृत्यु पर उसकी आठ रानियाँ सती हुई थी। इसी के तुरन्त बाद बांसवाड़ा के महारावल के साथ उसकी छ: रानियाँ सती हुई। मारवाड़ के महाराजा मानसिंह की मृत्यु 1843 ई. में हुई उस समय भी उसकी एक रानी व चार पड़दायतियों के सती होने का उदाहरण मिलता है। इन सभी घटनाओं से मानव मन विचलित हो गया। उस समय मारवाड़ का राजनीतिक अधिकारी (पॉलिटिकल एजेन्ट) कैप्टन लुडलो थे। लुडलो १८४४ से 1848 ई. तक जयपुर राज्य में रीजेन्सी कौंसिल का अध्यक्ष भी रहा। उसने जयपुर राजघराने के राजगुरू पं. सुखराम भट्ट की सहायता से जयपुर राज्य के सामन्तों को सती प्रथा बन्द करने के लिए तैयार किया। इसके परिणाम स्वरूप 26 अप्रैल, 1846 ई. को रीजेन्सी कौंसिल के माध्यम से जयपुर राज्य में सती प्रथा को अवैध घोषित करने के आदेश पारित किए गए। इसे दण्डनीय अपराध की संज्ञा दी गई। जयपुर राज्य में लिये गये इस निर्णय का राजस्थान के अन्य राज्यों पर अच्छा प्रभाव पड़ा।

भारत सरकार ने भी राजस्थान के ए.जी.जी. को आदेश भिजवाया कि राजस्थान के राजाओं को भी सती प्रथा की क्रूरता को समझाते हुए उन्हें यह परामर्श दिया जाय कि इस दूषित प्रथा को बन्द किया जावे। इसके लिए सम्बन्धित नरेश सती प्रथा को अपराध घोषित

करते हुए कानून बनाए। इस आशय का प्रथम पत्र ए.जी.जी. ने उदयपुर के महाराणा को लिखा। क्योंकि उदयपुर महाराणा का स्थान परम्परागत रूप से सबसे ऊँचा माना जाता था। 1845 में इसी प्रकार का एक पत्र जयपुर महाराजा के पास भेजा गया। इन सबका परिणाम हुआ 1847 ई. तक धौलपुर, भरतपुर, जैसलमेर, सिरोही, प्रतापगढ़, टोंक, बांसवाड़ा डूंगरपूर आदि राज्यों में सती प्रथा बन्द कर दी गई। 1860 में जोधपुर व 1862 में कोटा में लगभग सती प्रथा बन्द हो गई। मेवाड़ के महाराणा ने सती–प्रथा को बन्द करने में आनाकानी की, परन्तु 1860 में महाराणा स्वरूप सिंह को राजनीतिक अधिकारी ने पुन: पत्र भेजकर इस प्रथा को समाप्त करने हेतु आग्रह किया। इस प्रथा के विरोध में लगभग 15– 16 वर्षों तक अंग्रेजी सरकार व महाराणा के मध्य पत्र व्यवहार होता रहा। अन्ततोगत्वा 1861 में महाराणा स्वरूप सिंह को अंग्रेजी सरकार की इच्छानुकूल सती प्रथा को बन्द करने के आदेश जारी करने पड़े। इसके बाद भी राजस्थान में सती होने की छुट–पुट घटनाएँ घटित होती रही परन्तु 19वीं सदी के अन्त तक सती प्रथा प्राय: समाप्त सी हो गई।

4.5.2 डाकिन प्रथा

भारत में विशेषकर राजस्थान में सम्भवत: 12वीं शताब्दी से डाकनियों के अस्तित्व पर विश्वास किया जाता था। इसमें 13वीं शताब्दी में और अधिक दृढ़ता आई। यह माना जाने लगा कि प्रत्येक गाँव में एक या दो डाकिन स्त्री के रूप में रहती है। किसी भी बदसूरत औरत को डाकिन समझ लिया जाता है। सामान्य मान्यता थी कि डाकनियाँ बच्चों को खा जाती है और कमजोर स्त्रियों को बीमारी लगा देती है। यह भी धारणा बनती जा रही थी कि डाकिन बच्चे के कलेजे को खा जाती थी व शमशान भूमि में रहती थी और वहाँ छोटे बच्चे के शव को भूमि से निकाल कर खाती थी।

19वीं शताब्दी में भील, मीणा जातियों में डाकनियों के प्रति अति आक्रोश था। डाकिन घोषित स्त्री को समाज के लिए अभिषाप माना जाता था ऐसी स्त्री को जीवित जला दिया जाता था अथवा पीट–पीट कर मार डाल दिया जाता था। राज्य द्वारा भी डाकिन घोषित स्त्री को मृत्यु दण्ड दिया जाता था। एक महत्वपूर्ण तथ्य यह था कि यदि किसी स्त्री को डाकिन समझ लिया जाता तो गाँव का कोई भी व्यक्ति उसका विरोध नहीं करता था। इस प्रकार सैकड़ों निरअपराध औरतों को घोर यातनाएँ ही सहन नहीं करनी पड़ती थी वरन् अपने प्राणों से भी हाथ धोना पड़ता था।

1840 में ब्रिटिश सरकार का ध्यान इस अन्धविश्वास और कूरता की ओर गया। 1852 में मेवाड़ भील कोर के कमाण्डेंट ब्रूक ने ए.जी.जी. का ध्यान इस कुप्रथा की ओर आकर्षित किया। ए.जी. जी. ने महाराणा को डाकिन के नाम पर हो रही पाशविकता को समाप्त करने का निर्देश दिया। ब्रिटिश सरकार के निरन्तर बढ़ते हुए दबाव के कारण महाराणा को विवश होकर घोषित करना पड़ा कि यदि कोई व्यक्ति किसी स्त्री को डाकिन होने के संदेह में यातना देगा तो उसे 6 माह की सजा दी जाएगी। ऐसी स्त्री की हत्या करने के अपराध से दण्डित किया जाएगा। महाराणा द्वारा डाकिन प्रथा के लिए घोषित इस नीति का प्रभाव यह हुआ कि अन्य राज्यों ने

भी इस प्रकार घोषणाऐं करना प्रारम्भ कर दिया। परिणामत: डाकिनों को पीड़ित करना बन्द कर समाज में दीर्घकाल से चले आ रहे अंधविश्वास का अन्त किया गया।

4.5.3 कन्या वध

19वीं शताब्दी के मध्य तक कन्या वध की प्रथा प्रचलित थी। सामान्यत: भारत में कन्या जन्म को अच्छा नहीं माना जाता था। पुत्र की अपेक्षा कन्या हीन समझी जाती थी। पतंजली ने अपने महाभाष्य में लिखा कि पुत्र तो प्रकाश के समान है पुत्री संकट का स्रोत है। एक अन्य स्रोत के माध्यम से इस धारणा की पुष्टि होती है कि पुत्री जन्म के साथ ही सारे परिवार को दु:खी कर देती है और जब उसका विवाह होता है तो सबसे कुछ न कुछ छीनकर ले जाती है। यौवन के समय न जाने क्या कर बैठे इसलिए पुत्री का जन्म माता–पिता के हृदय को बड़ा आघात पहुँचाता है।

वैसे तो राजस्थान में हिन्दूओं में कोई भी ऐसी जाति नहीं मिलती जहां पुत्री जन्म का अभिन्दन किया जाता हो परन्तु राजपूतों में तो पुत्री जन्म को सर्वाधिक दु:खदायी माना जाता था। इसलिए यह कुप्रथा विशेषरूप से राजपूतों से जुड़ी हुई थी। कवि श्यामल दास, गौरी शंकर ओझा, रेऊ ने भी अपनी पुस्तकों में कन्या वध का वर्णन किया है। इस संबंध में महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि राजघराने व सामन्त परिवार इस कुप्रथा से बचे हुए थे।

इस कुप्रथा के अनेक कारण थे जिसका महत्वपूर्ण पहलू इन कन्याओं के विवाह से संबंधित था राजपूतों की वैवाहिक परम्परा के अनुसार अपनी पुत्री का विवाह अपने कुल में नहीं कर सकता था। उदाहरण के लिए राठौड़ वंशीय राजपूत किसी दूर के राठौड़ कुल में अपनी पुत्री का विवाह नहीं कर सकता था क्योंकि राठौड़ वंशीय सभी राजपूत एक दूसरे को भाई–बहिन मानते थे। अत: राजपूतों को अपनी कन्या के लिए वर ढूंढना बहुत कठिन होता था। इसके अतिरिक्त राजपूत की आकांक्षा इतनी थी कि वह अपनी पुत्री का विवाह अपने से उच्च परिवार अथवा कम से कम अपने समकक्ष परिवार में करें। इसके लिए अपार धन की आवश्यकता होती थी इस धन राशि की व्यवस्था करना एक सामान्य राजपूत के लिए संभव नहीं था।

भरतपुर के जाटों की धारणा थी कि अपनी पुत्री का विवाह कर अन्य घर में भेजना अपने आप को कलंकित और अपमानित करने के समान है। मीणा व मेर पुत्री जन्म को आपत्ति का द्योतक मानते थे। इस प्रकार अहम भावना गरीबी कुल प्रतिष्ठा और प्रचलित अंधविश्वासों के कारण इस कुप्रथा ने अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया था। जिसका धर्म से कोई संबंध नहीं था। वह पूर्णरूपेण एक सामाजिक समस्या थी।

इस कुरीति की ओर सर्वप्रथम अंग्रेज उच्चाधिकारियों का ध्यान गया उन्होंने यह समझाने का प्रयास किया कि कन्या वध कूर कर्म है। इसको बन्द कर देना चाहिए। ब्रिटिश पदाधिकारियों ने राजस्थान के शासकों पर इस बात के लिए दबाव भी डाला कि वे कन्या वध निषेघ संबंधित निर्देश प्रसारित करें। सर्वप्रथम कोटा के महारावल ने 1834 में कन्या वध को अपने राज्य में गैर कानूनी घोषित किया। इसी वर्ष मेवाड़ के महाराणा ने भी कन्या वध पर रोक लगाई। 1837 में बीकानेर के सामन्तों ने कन्या वध रोकने के लिए प्रतिज्ञा की और 1839 में जोधपुर राज्य में कन्या वध रोकने के लिए कुछ नियम बनाये गए। कन्या वध को

समाप्त करने में सराहनीय कार्य लारेंस और विलिकिन्स नामक अंग्रेजों ने किया जो 1833–34 तक हाड़ौती का पॉलिटिकल एजेन्ट था। इसके प्रयत्नों से कोटा, बूंदी, उदयपुर, राज्यों में कन्या वध को रोकने के लिए आदेश जारी किया। परिणाम स्वरूप इन सबके प्रयत्नों से 19वीं शताब्दी के अन्त तक कन्या वध की प्रथा सम्पूर्णतया समाप्त हो चुकी थी।

4.5.4 दास प्रथा

राजपूतों के उदय के साथ दास–प्रथा का प्रचलन तेजी से बढ़ा जो 19वीं सदी के अन्त तक यथावत् चलता रहा। घरेलू दास–दासी राजपूत व अमीर लोगों के घरों में वंशानुगत सेवक के रूप में कार्यरत थे। इन्हें गोला–गोली, दरोगा, चाकर आदि विभिन्न नामों से पुकारा जाता था। वंशानुगत दास–दासियाँ स्वामी की सम्पत्ति मानी जाती थी। इनकी बहिन–बेटियों को जागीरदार स्वामी अपनी पुत्रियों के विवाह के समय दहेज में दिया करते थे। वे अपने स्वामी की सेवा में रत रहती है। इसके बदले उन्हें भोजन, वस्त्र आदि दिया जाता था। ये प्रथा सदियों से चली आ रही थी।

19वीं सदी राजस्थान के इतिहास में सुधारों के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण मानी जाती है। इस समय शिक्षा का भी विकास हुआ। घरेलू दासों में भी जागृति आई। गौरीशंकर ओझा की अध्यक्षता में एक सम्मेलन आयोजित किया गया जिसमें लगभग 200 दास–दासी उपस्थित हुए। जिसमें यह प्रस्ताव पारित किया गया कि उन्हें गोला न कहकर रावणा राजपूत कहा जाय। वे अपने स्वामियों से बहुत अधिक भयभीत थे।

20वीं सदी के आरम्भ में इन दास–दासियों को वंशानुगत परतंत्रता से मुक्त करवाने की दृष्टि से प्रयत्न किये गये। परन्तु इस जघन्य अपराध को समाप्त करने में विशेष सफलता नहीं मिल सकी। 1916 में जोधपुर राज्य द्वारा प्रसारित एक सूचना में यह स्पष्ट किया गया कि इन घरेलू दासों के स्वामी इन्हें भोजन, वस्त्र और विवाह, जन्म व मृत्यु का व्यय देते है। इसलिए मालिक को दास से सेवा करवाने का अधिकार मिला हुआ है। 1921 की जनगणना के अनुसार राजस्थान में घरेलू दास–दासियों की संख्या एक लाख साठ हजार सात सौ पचपन बतलाई गई। इनमें से आधे दास ऐसे थे जिनका जन्म अपने मालिक के घर में हुआ था।

20वीं सदी के अन्तिम चरण में राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय दबाव व शिक्षा के प्रसार के परिणामस्वरूप घरेलू दासों को मुक्त करवाने की दृष्टि से प्रयास किये गये। 1926 में जोधपुर राज्य में इस प्रथा को अवैध घोषित किया गया। वास्तविकता में 1947 ई. में देश के स्वतंत्र होने के साथ ही इस प्रथा का अन्त हुआ।

4.5.5 समाज एवं शिक्षा

किसी भी देश के लिए अशिक्षा अभिशाप मानी जाती है। अशिक्षा गरीबी को बढ़ावा देने में सहायक सिद्ध होती है। 1818 की संधियों से पूर्व राजस्थान की रियासतों के शासकों को भी जनता में शिक्षा प्रसार के सम्बन्ध में विशेष रूचि नहीं थी। लेकिन 1818 में अंग्रेजों से संधि हो जाने के बाद अंग्रेज प्रशासकों को राजपूत राजा महाराजाओं के साथ पत्र व्यवहार में

कठिनाईयों का सामना करना पड़ रहा था। वे यहाँ अंग्रेजी भाषा का प्रसार चाहते थे। इस परिस्थिति में राजस्थान में अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार प्रारम्भ हुआ।

1819 में अंग्रेज पादरी जांवेज करे को शिक्षा अधीक्षक नियुक्त किया गया। उसने अजमेर में एक स्कूल खोला और इसी वर्ष एक अन्य स्कूल पुष्कर में खोला गया। इसके तीन वर्ष पश्चात् 1822 में एक–एक स्कूल भिनाय और केकड़ी में आरम्भ किया गया। लेकिन निरन्तर तीन वर्षों तक विद्यार्थियों की संख्या में वृद्धि नहीं होने के कारण अजमेर को छोड़ अन्य तीनों स्कूल बन्द हो गये।

1836 में अजमेर–मेरवाड़ा में पुन: शिक्षा प्रसार के प्रयत्न आरम्भ किए गए। मई, 1836 में अजमेर में एक स्कूल खोला गया और मि. मार्केस हेरी को प्रधानाध्यापक नियुक्त किया गया। कुछ समय पश्चात् ही ये स्कूल पुन: बन्द कर दिये गये जिसके पीछे कोई महत्वपूर्ण कारण तो नहीं थे लेकिन शिक्षा के प्रति लोगों की उदासीनता प्रमुख थी। 1861 में अनेक गाँवों में स्कूलें प्रारम्भ की गईं परन्तु विद्यार्थियों की संख्या में कोई खास वृद्धि नहीं हुई। शिक्षा के प्रसार में मिशनरियों का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा। 1860 के बाद इन ईसाई मिशनरियों ने अन्य राज्यों में भी स्कूल खोले और अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार किया।

जयपुर में महाराजा माधोसिंह के काल में शिक्षा की दृष्टि से "महाराजा स्कूल" खोला गया जो कालान्तर में महाराजा कॉलेज के नाम से प्रसिद्ध हुआ। महाराज रामसिंह के काल में जयपुर में संस्कृत कॉलेज की स्थापना की गई। 1861 में जयपुर में एक मेडिकल कॉलेज खोला गया। इसी प्रकार जोधपुर राज्य में शिक्षा की शुरूआत आम जनता द्वारा की गई। 1867 में महाराजा मोतीसिंह ने कुछ गणमान्य व्यक्तियों के सहयोग से जोधपुर में एक अंग्रेजी स्कूल की स्थापना की। बीकानेर राज्य में शिक्षा की शुरूआत कुछ विलम्ब से हुई। यहाँ 1872 में प्रथम सरकारी स्कूल खोली गई। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उदयपुर राज्य में अंग्रेजी शिक्षा कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ। धीरे–धीरे राजस्थान के सभी शासकों ने अपने यहाँ अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार करना प्रारम्भ किया।

इसमें सन्देह नहीं कि राजस्थान राज्य के निर्माण के पूर्व तक देशी राज्यों में शिक्षा के विस्तार की गति धीमी ही रही। आज भी शिक्षा के क्षेत्र में राजस्थान देश के अन्य प्रांतों की तुलना में बहुत पीछे है।

4.5.6 मानव व्यापार

तत्कालीन प्रलेखों और ब्रिटिश संरक्षण काल में नियुक्त ब्रिटिश उच्च पदाधिकारियों की रिर्पोट से स्पष्ट संकेत मिलता है कि राजस्थान में स्त्रियों, किशोर–किशोरियों का क्रय–विक्रय सामान्य रूप से प्रचलित था। गरीब माता–पिता विशेषकर अकाल के समय भूख से बचने के लिए अपने बच्चों को बेच देते थे। राजस्थान में भरतपुर, हिंडोज व पंचभदरा मानव व्यापार के केन्द्र थे। ऐसे भी उदाहरण मिलते है कि कुछ राज्यों में इस प्रकार के क्रय–विक्रय पर नियमानुसार कर वसूल किया जाता था।

स्त्रियों व बच्चों के क्रय–विक्रय का व्यापार मुख्यत: बंजारे किया करते थे। राजस्थान में राजपूतों की अधिकता के कारण इन बच्चों को खरीदने वालों की संख्या अधिक थी। क्योंकि राजपूत परम्परा के अनुसार जब ये लोग अपनी पुत्री का विवाह करते थे उस समय दहेज के साथ–साथ दास–दासियाँ भी देते थे। इसके लिए उन्हें ऐसे बच्चों की आवश्यकता होती थी। इसके अतिरिक्त इन्हें घरेलू नौकर–नौकरानियों के रूप में भी रखा जाता था। वेश्यावृत्ति और रखैल के उद्देश्य से भी लड़कियों का क्रय–विक्रय किया जाता था। यहाँ तक कि साधु वर्ग भी इसमें सम्मिलित था वे भी अपने शिष्य बनाने के लिए लड़कों को खरीदते थे।

ब्रिटिश सरकार ने इस घृणित व्यापार को रोकने की दृष्टि से सतत् प्रयत्न किये। जिसके परिणामस्वरूप 1847 में मानव व्यापार पर रोक लगा दी गई। फरवरी, 1847 में जयपुर राज्य में सर्वप्रथम इनके क्रय–विक्रय को अवैध घोषित करते हुए इसके व्यापार करने वालों पर कड़ी कार्यवाही करने की चेतावनी दी गई। इसी प्रकार जोधपुर राज्य में इस प्रकार के व्यापार करने अथवा प्रोत्साहन देने वालों के लिए एक वर्ष की कड़ी सजा व 200 रुपये जुर्माना का प्रावधान रखा गया। कोटा राज्य में 1862 तक यह व्यापार चलता रहा। 1862–63 में एक बार पुन: इस प्रकार के क्रय–विक्रय को बंद करने के उद्देश्य से आदेश प्रसारित किये गये। इन सब प्रयत्नों का सुफल यह हुआ कि मानव व्यापार तो बन्द हो गया लेकिन वेश्यावृत्ति व दास प्रथा का अभी तक अन्त नहीं हुआ था।

4.6 समाज सुधार तथा आर्य समाज की भूमिका

19वीं शताब्दी में भारत में ब्रह्म समाज और आर्य समाज की स्थापना हो चुकी थी। जिसके कारण यहाँ पुनर्ज्ञागरण का युग प्रारम्भ हुआ, समाज में एक नई चेतना जागृत हुई और समाज आधुनिकरण की ओर बढ़ने लगा। ब्रह्म समाज का राजस्थान में अधिक प्रभाव नहीं था परन्तु आर्य समाज राजस्थान में परम्परागत सामाजिक ढाँचे को झकझोरने वाला सिद्ध हुआ। पिछली शताब्दी के धर्म सुधारक आन्दोलन में इसकी भूमिका भिन्न थी। आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती सर्वप्रथम समाज में स्त्रियों को उचित स्थान दिलवाने हेतु प्रयत्नशील थे। स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहन, पर्दा प्रथा व बाल विवाह का विरोध उनके मुख्य सुधार बिन्दु थे। उन्होंने विधवा विवाह को भी प्रोत्साहन दिया।

स्वामी दयानन्द सरस्वती की योजना में कुलीन और अभिजात वर्ग के लिए विशेष स्थान था। उनकी मान्यता थी कि शासक जागीरदार और ठिकानेदारों को प्रेरणा देकर जन साधारण में एक नई चेतना जागृत की जा सकती है। उनकी मान्यता थी कि शासक और जागीरदार वर्ग पुनर्जागरण का नेतृत्व करेंगे तो सुधार की संभावना और अधिक बन सकेगी। समाज में जागृति लाने के दृष्टिकोण से स्वामी जी ने अपने जीवन के ढाई वर्ष राजस्थान में ही व्यतीत किए और आर्य समाज की राजस्थान के सभी राज्यों में शाखाएँ खोली। अजमेर राजस्थान का प्रमुख केन्द्र था। आर्य समाज के आन्दोलन को गति प्रदान करने में हरविलास शारदा का नाम मुख्य रूप से लिया जाता है। उन्होंने बाल–विवाह के विरुद्ध जनमत तैयार किया। उन्हीं के सद्प्रयासों से 1927 ई. में विधानसभा में बाल–विवाह निरोधक विधेयक प्रस्तुत किया गया। जिसे 1929 में विधानसभा द्वारा पारित कर दिया गया। अप्रैल, 1930 में बाल–

विवाह निरोधक कानून शारदा एक्ट के नाम से लागू कर दिया गया जिसके अनुसार विवाह योग्य कन्या की आयु 14 वर्ष और लड़के के लिए 18 वर्ष निश्चित की गई। स्वामीजी ने परोपकारिणी सभा के सदस्यों को बदलकर मेवाड़ के महाराणा को उसका अध्यक्ष बनाया ताकि महाराणा के नेतृत्व में सामाजिक कुरीतियों को अतिशीघ्र समाप्त किया जा सके। परन्तु शासकों की शान शौकत ने इस कार्य में कोई गति नहीं दी। फिर भी स्वामी जी का परिश्रम व्यर्थ नहीं गया उनकी यह मौलिक शिक्षा कि सामाजिक जीवन के विभिन्न अंग धर्म से सम्बन्धित नहीं थे दूरगामी सिद्ध हुआ। धार्मिक ग्रंथों की व्याख्या का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को देकर ब्राह्मणों का ग्रंथों पर एकाधिकार समाप्त कर दिया। सामाजिक रीति–रिवाजों को धर्म से पृथक करके उनके सुधार अथवा परिवर्तन के लिए नवीन मार्ग प्रशस्त किया।

आर्य समाज के उपर्युक्त सुधारों के अतिरिक्त महत्वपूर्ण प्रभाव स्त्रियों पर पड़ा। उनकी स्थिति में शनैःशनैः परिवर्तन आने लगा। शहरी क्षेत्र में बाल–विवाह की प्रथा समाप्त होने लगी। स्त्री शिक्षा के प्रति भी पढ़े–लिखे परिवारों में विशेष जागृति पैदा हुई पर्दा प्रथा में भी कुछ अंशों तक ढिलाई बरती जाने लगी।

4.7 देश हितेषनी सभा एवं समाज सुधार

वैसे तो समय–समय पर अलग–अलग राज्यों ने इस समस्या को हल करने का प्रयत्न किया। लेकिन 2 जुलाई, 1877 को उदयपुर में देश हितेषनी सभा की स्थापना से एक संगठित प्रयास प्रारम्भ हुआ। देश हितेषनी सभा की स्थापना करना मेवाड़ के महाराणा सज्जन सिंह का एक क्रांतिकारी कदम था। देश हितेषनी सभा में राजपूतों में उत्पन्न विवाह सम्बन्धी कठिनाइयों को दूर करने के लिए दो प्रकार के प्रतिबंध लगाये गये – पहला राजपूतों के विवाह के अवसर पर होने वाले खर्च को सीमित कर दिया गया और दूसरा राजपूतों, ब्राह्मणों, महाजनों में बहुविवाह के सम्बन्ध में नियम बना दिये गये।

पुत्रियों और ज्येष्ठ पुत्र के विवाह पर खर्च होने वाली राशि की अधिकतम सीमा वार्षिक आय का 25 प्रतिशत निर्धारित कर दी गई। दूसरे पुत्र के विवाह पर इसे कम कर 10 प्रतिशत निर्धारित की गई। इसी प्रकार महाजनों और ब्राह्मणों के लिए वार्षिक आय का 25 प्रतिशत विवाह पर खर्च किया जाना निश्चित किया गया। बहुविवाह के लिए यह निश्चित किया गया कि ब्राह्मण और महाजन 40 वर्ष की आयु तक दूसरा विवाह कर सकते हैं। परन्तु यह नियम उसी स्थिति में लागू होगा जब उनके पहली पत्नी से कोई संतान न हो। राजपूतों के लिए दो विवाह सामान्य माने जाते थे। और तीसरे विवाह की अनुमति 45 वर्ष की आयु तक उसी स्थिति में दी जायेगी जब उनके कोई संतान न हो। निर्धारित सीमा से अधिक आयु वाले ब्राह्मणों व महाजनों को दूसरा और राजपूतों को तीसरा विवाह करने के लिए सभा से अनुमति लेनी होती थी।

इस सुधारों से महाराणा को विशेष सफलता नहीं मिली। उसने 1879 में अपने पोलिटिकल एजेन्ट से अनुरोध किया कि इन सुधारों को सफल बनाने हेतु वह अन्य राज्यों के नरेशों को भी प्रेरित करें। परन्तु इस कार्यवाही का भी कोई आशाजनक परिणाम नहीं निकला। नरेशों ने इसमें कोई विशेष रूचि नहीं ली और न ही ब्रिटिश सरकार ने इसमें कोई विशेष भूमिका निभाई। इस प्रकार मेवाड़ दरबार का समाज सुधार प्रयोग अपने ही बलबुते पर चलता

रहा। इसमें संदेह नहीं कि देश हितेषनी सभा के नियमों ने इन राज्यों में शादी–विवाह पर होने वाले खर्चों को कम करने का वातावरण तैयार किया।

4.8 समाज सुधारों में वाल्टर कृत हितकारी सभा का योगदान

सामान्यत: हितकारिणी सभा को राजस्थान में समाज सुधार के लिए बहुत श्रेय दिया जाता है। इस सभा का संगठनकर्ता राजस्थान का कार्यवाहक ए.जी.जी. वाल्टर था। यद्यपि वाल्टर भारत सरकार की दृष्टि में कोई योग्य प्रशासक नहीं था । परन्तु उसकी दीर्घकालीन सेवाओं को ध्यान में रखते हुए उसे यहाँ का कार्यवाहक ए.जी.जी. नियुक्त किया गया। इस नियुक्ति को वह अपने सेवा निवृत्ति काल तक बनाये रखना चाहता था, जिससे उसे अपनी पेंशन में लाभ हो सके। यहाँ यह कहना भी उचित होगा कि राजस्थान के सामाजिक सुधारों में उसकी कोई रूचि नहीं थी। यही कारण था कि उसने मेवाड़ महाराणा द्वारा स्थापित देश हितेषनी सभा के कार्यों में कोई सक्रिय भूमिका नहीं निभाई इस समय भारत का गवर्नर जनरल लार्ड डफरिन था जो सुधारवादी प्रवृत्ति का होने के कारण भारत में सामाजिक सुधारों को लागू करना चाहता था। वाल्टर ने उसके समक्ष अपने आप को सुधारक के रूप में प्रस्तुत करने के लिए 1887 में राजस्थान के सभी राज्यों के पोलिटिकल अधिकारियों को एक गश्ती चिट्ठी भेजी जिसके अनुसार प्रत्येक राज्य से एक अधिकारी, एक चारण और एक जागीरदार को मार्च, 1888 को अजमेर भेजने के लिए लिखा गया। जहाँ भरतपुर, धौलपुर और बाँसवाड़ा को छोड़ कुल 41 प्रतिनिधि उपस्थित हुए। 10 मार्च को वाल्टर ने इस सम्मेलन में भाग लिया। इस सम्मेलन में श्यामलदास भी आमंत्रित थे। उन्होंने भी इस सम्मेलन में अपना भाषण दिया जो पूर्ण रूप से वाल्टर के पक्ष में था। सभा की इस प्रथम बैठक में विचारणीय बिन्दु निम्नलिखित थे:

1. राजपूतों में विवाह अवसर पर होने वाले खर्च को नियंत्रित करना।
2. मृत्यु भोज में खर्च नियंत्रित करना; और
3. लड़के–लड़कियों की विवाह योग्य आयु निर्धारित करना।

यह प्रस्ताव बूंदी के प्रतिनिधि द्वारा रखा गया था। इस सभा की कार्यवाही की रिपोर्ट भारत सरकार को भिजवाई गई और इग्लैण्ड की संसद के उच्च सदन में भारत में सामाजिक सुधारों के संदर्भ में प्रश्न पूछे गये।

इस सभा की दूसरी बैठक के लिए जनवरी, 1889 में वार्नर ने एक अन्य पत्र भेजकर सभी पोलिटिकल अधिकारियों को ये निर्देश दिया कि उन सभी प्रतिनिधियों को जिन्होंने मार्च, 1888 की बैठक में भाग लिया था पुन: फरवरी, 1889 में बैठक में भाग लेने के लिए अजमेर भेजे। इसके लिए तर्क यह दिया गया कि दूसरी बैठक के माध्यम से कुछ अन्य प्रस्ताव पारित कर नई समस्याओं पर विचार करना था। सभी सदस्यों को एक रिपोर्ट लाने के लिए भी कहा गया। वाल्टर के भरसक प्रयासों के बावजूद भी पुराने सभी सदस्य अजमेर नहीं आये। 1888 की बैठक में उपस्थिति 41 सदस्यों में से केवल 20 ही सदस्य उपस्थित हुए और 14 नये प्रतिनिधियों ने भाग लिया। वाल्टर इस कमेटी के सदस्यों से 22 फरवरी को मिला और अनेक सुझाव दिये जिसमें सबसे महत्वपूर्ण सुझाव कमेटी के नामकरण से सम्बन्धित था। जिसमें उसने

सफलता अर्जित कर इस कमेटी का नाम वाल्टरकृत राजपूत हितकारिणी सभा रखवा लिया। जो उसके लिए बहुत बड़ी सफलता थी। अजमेर कमिश्नर को उसका उपाध्यक्ष बना दिया गया।

वाल्टरकृत हितकारिणी सभा के कार्य –

वाल्टर सभा के नियम मेवाड़ देश हितकारिणी सभा के नियमों के अनुकूल ही थे। वाल्टर सभा की नियमावली केवल तीन विषयों पर भिन्न थी:

1. वाल्टर सभा ने अपने नियमों में बहुविवाह को पूर्णत: समाप्त कर दिया।
2. टीके व रीत की प्रथा को बंद कर दिया गया, और
3. विवाह योग्य आयु निर्धारित करना, जो लड़की के लिए 14 वर्ष और लड़के के लिए 18 वर्ष मानी गई।

इसके अलावा मृत्यु भोज के ऊपर भी व्यय की सीमा निर्धारित की गई। त्याग नियम और चारणों के एक राज्य से दूसरे राज्य में आने–जाने पर प्रतिबंध देश हितेषनी सभा के अनुकूल ही रखे गये थे।

वाल्टर के उपर्युक्त सुधार निसंदेह अच्छे थे और वे राजपूतों के लिए हितकारी भी कहे जा सकते हैं। परन्तु वाल्टर की महत्वपूर्ण भूल यह थी कि उसने राजपूत वर्ग के सामाजिक रीति–रिवाजों को समझने का प्रयास नहीं किया। अत: यह सुधार सफल नहीं हुए। वाल्टर ने बहु विवाह व टीके के रिवाज को समाप्त किया। जिसके परिणाम स्वरूप उच्च कुल की लड़कियों को वर मिलना कठिन हो गया। क्योंकि उस काल में एक परिवार की प्रतिष्ठा इससे आँकी जाती थी कि उसकी पुत्री का विवाह किसके साथ हुआ है। इसलिए पिता बहु विवाह की चिन्ता किये बिना टीके के आकर्षण से अपनी पुत्री के लिए उच्च वंशीय लड़का प्राप्त करने में सफल होता था। परन्तु वाल्टर के सुधारों ने उसके मार्ग में कठिनाईयाँ उत्पन्न की।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि वाल्टर के सामाजिक सुधार मूल रूप से हितकारी होते हुए भी अप्रत्यक्ष रूप से राजपूत समाज में अनेक बुराईयों के कारण बन गये। इसमें संदेह नहीं कि यह सभा वाल्टर के लिए लाभप्रद रही। वह अपने मूल उद्देश्य में सफल रहा। इसकी स्थापना करके वह अपना नाम समाज सुधारकों में लिखवाना चाहता था। और ऐसा ही हुआ।

4.9 उपसंहार

राजस्थान के कई राजा और उनकी जनता इतनी रूढ़िवादी थी कि 1869 तक नवीन शिक्षा के क्षेत्र में कोई उल्लेख योग्य उन्नति नहीं हुई। विद्रोह के दमन के बाद देशी रियासतों को अंग्रेजी राज्य का अभिन्न अंग माना जाने लगा था इसलिए इतना काफी नहीं समझा जाता था कि रियासतें ब्रिटिश सरकार को वार्षिक कर देती रहें और इच्छा या अनिच्छा से सरकार के दबाव के कारण कुछ नाम मात्र का प्रशासनिक सुधार जारी कर दें। इसलिए सरकार को प्रशासनिक उन्नति और शिक्षा के प्रसार में स्वयं ध्यान देना पड़ा।

4.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. 19वीं सदी के राजस्थान की सामाजिक स्थिति का वर्णन करते हुए प्रचलित कुरीतियों पर प्रकाश डालिये।

2. अंग्रेजों की सुधार नीति का उल्लेख कीजिए। सती–प्रथा के निवारण में उनके योगदान का वर्णन कीजिए।
3. डाकिन प्रथा व कन्या वध पर टिप्पणी लिखिये।
4. वाल्टरकृत हितकारिणी सभा के कार्यो का मूल्यांकन कीजिए।

अभ्यासार्थ प्रश्नों के उत्तर के लिए संकेत –

प्रश्न संख्या–	1 देखें –	4.2 व 4.3
प्रश्न संख्या–	2 देखें –	4.4 व 4.5 (1),
प्रश्न संख्या–	3 देखें –	4.5 (2) व 4.5 (3)
प्रश्न संख्या–	4 देखें –	4.8

4.11 संदर्भ ग्रन्थों की सूची

1	ओझा, गौरीशंकर हीराचन्द	:	जोधपुर राज्य का इतिहास
		:	बाँसवाड़ा राज्य का इतिहास
		:	डूंगरपुर राज्य का इतिहास
		:	प्रतापगढ़ राज्य का इतिहास
2	गहलोत, जगदीश चन्द्र	:	राजस्थान का सामाजिक जीवन
3	गुप्ता, निर्मला	:	राजस्थान का आधुनिकीकरण
4	जैन, एम. एस	:	आधुनिक राजस्थान का इतिहास
5	मयंक, मांगीलाल	:	जैसलमेर राज्य का इतिहास
6	रेऊ	:	मारवाड़ का इतिहास
7	शर्मा, जी. एन.	:	राजस्थान का इतिहास
8	शर्मा, कालूराम	:	19वीं सदी के राजस्थान का सामाजिक और आर्थिक जीवन
9	शर्मा, एम. एल.	:	हिस्ट्री ऑफ दि जयपुर स्टेट
10	सिंह, रघुवीर	:	पूर्व आधुनिक राजस्थान
11	सक्सेना, के.एस	:	राजस्थान में राजनीतिक जागृति
12	टॉड, कर्नल	:	एनल्स एण्ड एन्टीक्यूटिज ऑफ राजस्थान, भाग–प्रथम व द्वितीय
13.	व्यास, आर.पी.	:	राजस्थान का वृहत इतिहास भाग–प्रथम व द्वितीय

इकाई – 5
शिक्षा एवं साहित्य

इकाई की संरचना

5.0 उद्देश्य
5.1 प्रस्तावना
5.2 राजस्थान में शिक्षा का आरम्भिक स्वरुप – प्राचीन काल से 1800 ई. तक
5.3 राजस्थान के प्रमुख राज्यों में अंग्रेजी शिक्षा का आरम्भ एवं विकास
5.4 शासकों एवं सामन्तों के पुत्रों के लिए शिक्षा की पृथक व्यवस्था
5.5 शिक्षा के विकास में ईसाई मिशन शिक्षण संस्थाओं का योगदान
5.6 निजी शिक्षण संस्थाएँ एवं उनका शिक्षा प्रसार में योगदान
5.7 राजस्थान में साहित्य सृजन का आरम्भिक स्वरुप एवं विकास
5.8 आधुनिक काल में साहित्य का विकास
(अ) चारण साहित्य (ब) राजस्थानी भाषा का साहित्य
5.9 सारांश
5.10 अभ्यासार्थ प्रश्न
5.11 सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची

5.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप अध्ययन करेंगे

— भारतीय समाज में प्राचीन काल में शिक्षा की स्थिति क्या थी ।
— राजस्थान के राज्यों में 18वीं सदी के अन्त तक शिक्षा की क्या स्थिति थी ।
— राजस्थान के विभिन्न भागों में अंग्रेजी शिक्षा का प्रचलन क्यों आरम्भ हुआ ।
— अंग्रेजी शिक्षण संस्थाओं की स्थापना विभिन्न राज्यों में कब हुई ।
— राजपूत जाति के शिक्षण की पृथक व्यवस्था क्यों की गई ।
— ईसाई मिशनरियों ने मिशन स्कूलों की स्थापना पर बल क्यों दिया । जनता का इन स्कूलों के प्रति कैसा रुख रहा ।
— गैर सरकारी शिक्षण संस्थाओं की स्थापना क्यों हुई ।
— राजस्थान में साहित्य सृजन का क्या उद्देश्य रहा।
— चारण साहित्य का आधुनिक साहित्य के विकास में क्या योगदान रहा ।

5.1 प्रस्तावना

भारतीय समाज में प्राचीन काल से ही शिक्षा का प्रभुत महत्व रहा है । स्वयं वेदों की व्याख्या ज्ञान परक है । गीता के अनुसार ज्ञान के समान पवित्र वस्तु दूसरी नहीं है । अतएवं सम्पूर्ण जीवन का विकास शिक्षा में निहित है । वैदिक युग में ज्ञानी व्यक्ति की प्रतिष्ठा सर्वोच्च थी । जीवन को सार्थक व परिष्कृत बनाने के लिये शिक्षा के प्रमुख तत्वों गुरु - शिष्य सम्बन्ध गुरुकुल प्रणाली, शिक्षा के विषय आदि पर बल दिया जाता था । इन विविध उपक्रमों

के माध्यम से सर्वोच्च ज्ञान प्राप्त किया जाता था और इन्हीं के द्वारा संस्कृति की संभावनाएँ विकसित होती थी ।

प्राचीन काल की भारतीय शिक्षा की भांति राजस्थान में भी शिक्षा की परम्परा परिलक्षित होती है । यद्यपि यहां नालन्दा तथा तक्षशिला के समकक्ष उच्च शिक्षा के कोई केन्द्र नहीं थे । फिर भी यहां की शिक्षा विशेष उद्देश्यों को लेकर दी जाती थी जिसमें न केवल आर्थिक वरन् सामाजिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक तत्व प्रमुख थे। मध्यकालीन व्यवस्था में उद्योग धन्धे वंशानुगत स्वरुप ले चुके थे । अत: पिता अपने पुत्र को उसके व्यवसाय से शिक्षित करता था । अठारहवीं सदी के अन्त तक शिक्षा का उद्देश्य केवल अक्षर ज्ञान प्राप्त करना था नैतिक मूल्यों को सीखना एवं आत्म अवलोकन करना था । अंग्रेजों के साथ राजस्थान के राज्यों की संधियों के कारण यहां शिक्षा का स्वरुप बदला तथा अंग्रेजी – शिक्षा का प्रचलन आरम्भ हुआ । बीसवीं सदी के आरम्भ तक राजस्थान के प्रत्येक बड़े राज्य में उच्च शिक्षा की व्यवस्था हो चुकी थी ।

शिक्षा के विकास का प्रमुख मापदण्ड साहित्य सृजन है । राजस्थान में यह साहित्य प्रारम्भ में संस्कृत व प्राकृत में रचा गया क्योंकि प्राचीन काल में व्यापक रूप से इन्हीं भाषाओं की मान्यता थी । मध्य युग के आरम्भ काल से अपभ्रंश और उससे जनित मरुभाषा और स्थानीय बोलियों जैसे मारवाड़ी, मेवाडी, मेवाती, ढुढाडी, मालवी और बागड़ी में साहित्य की रचना होने लगी । यदि हम राजस्थानी भाषा का मौलिक रूप देखना चाहें तो "रास" नामक रचनाओं में मिलेगा । "रास" में नृत्य, गान एवं अभिनय तीनों कलाओं का समावेश है । इस साहित्य को पनपाने का श्रेय जैन कवियों को है । जिन्होंने धर्म प्रधान तत्वों का ऐसी कृतियों द्वारा उन्मोलन किया था ।

चारण साहित्य ने राजपूत युग के शौर्य तथा जन जीवन की झाँकी प्रस्तुत की है । इनमें वीर रस तथा श्रृंगार रस की प्रधानता रही है । धीरे धीरे राजस्थान में हिन्दी भाषा का विकास हुआ और 19वीं तथा 20 वीं सदी में हिन्दी भाषा में साहित्य सृजन होने लगा।

इस प्रकार प्राचीन काल से ही शिक्षा और साहित्य ने राजस्थान के जनमानस के नैतिक एवं आध्यात्मिक धरातल को समाज की आवश्यकता के अनुरूप बनाने का प्रयास किया था । समय–समय पर इसमें आवश्यक परिवर्तन होते रहे एवं आज राजस्थान शिक्षा एवं साहित्य के क्षेत्र में अन्य राज्यों के समकक्ष माना जाता है ।

5.2 राजस्थान में शिक्षा का आरम्भिक स्वरुप – प्राचीन काल से 18वीं सदी तक

अठारहवीं शताब्दी तक राजस्थान की शिक्षा व्यवस्था तत्कालीन सांस्कृतिक, सामाजिक एवं धार्मिक व्यवस्था के अनुरुप व्यवस्थित थी, जिसे 'देशी शिक्षा ' कहा जाता था । देशी शिक्षा में हिन्दुओं में पाठशाला, अस्थल एवं मठ जैनियों के उपासरे तथा इस्लाम धर्म के मकतब एवं मदरसा आदि प्रमुख शिक्षण केन्द्र होते थे । इस प्रकार देशी शिक्षा धर्म से जुड़ी हुई थी और शिक्षण संस्थाओं का उद्देश्य भी धर्म से प्रभावित था।

डा. गोपीनाथ शर्मा का मानना है कि शिक्षा की अनौपचारिक व्यवस्था के अन्तर्गत परिवार बालक की शिक्षा का प्राथमिक केन्द्र था । परिवार में बालक सामाजिक रीति नीति के

अतिरिक्त अक्षर ज्ञान एवं हिसाब आदि का ज्ञान प्राप्त करता था। आरम्भिक ज्ञान प्राप्त करने के अतिरिक्त परिवार में व्यावसायिक शिक्षा भी प्राप्त की जाती थी । तत्कालीन व्यवस्था के अनुसार व्यक्ति का व्यवसाय मुख्यत: वर्ण व्यवस्था से प्रभावित होता था। तदनुसार बालक परिवार में ही वंशानुगत व्यवसाय के अनुरुप शिक्षा प्राप्त करता था । उस समय की शिक्षा में घरेलू शिक्षा का बहुत महत्व था ।

इस घरेलू अध्ययन के पश्चात गुरुकुल में विद्याध्ययन करने की परम्परा थी । भारत में गुरु बनाने की प्राचीन परम्परा रही है, गुरु के ज्ञान बिना व्यक्ति की विद्वता अधूरी ही मानी जाती है । गुरु द्वारा प्रदान शिक्षा का आरम्भ उपनयन विधि द्वारा गायत्री मंत्र सुनने के पश्चात होता था । इन गुरुकुलों में नि:शुल्क शिक्षा दी जाती थी। 'आचार्यो की आवश्यकता की पूर्ति समृद्ध परिवार अथवा राजा कर दिया करते थे । एकलिंग माहात्म्य में सोम शर्मा का वर्णन मिलता है जिसके लिए प्रसिद्ध था कि वह सभी वेदों तथा शास्त्रों में अपने शिष्यों को पारंगत बना देता था । कभी–कभी ऐसे आचार्यो के निर्वाह के लिए दानी शासक गांव की सम्पूर्ण उपज इनको अर्पित कर देते थे जिससे इन्हें अपने पालन पोषण की कोई चिन्ता नहीं रहती थी । वे तो निरन्तर विद्या का वितरण सुपात्र शिष्यों में ही करते रहते थे ।

आश्रमों से शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों की शास्त्रार्थ द्वारा परीक्षा ली जाती थी और विद्वानो की उपस्थिति में उनको सम्मानित किया जाता था। ऐसे आश्रमों के अतिरिक्त राजस्थान के नगरों और कस्बों में जैन उपासरे (उपाश्रय) भी होते थे जहां रहने वाले साधु सतत् शिक्षा को बढ़ावा देने में प्रयत्नशील रहते थे । वे अपने शिष्यों के लिए उपयोगी ग्रन्थों की प्रतिलिपियां तैयार करते थे । और जन साधारण को शिक्षित बनाते थे । इन उपासरों में सभी विषयों के हस्तलिखित ग्रंथ रहते थे । समृद्ध व्यक्ति ऐसे उपासरों का निर्माण करवाते थे । मठों में भी शिक्षा का प्रबन्ध रहता था, जहां शिष्यों के रहने, खाने–पीने की नि:शुल्क व्यवस्था रहती थी, जिनका आर्थिक भार दानी व्यक्ति वहन करते थे ।

गांवों में शिक्षा का कार्य स्थानीय अध्यापकों के द्वारा होता था जो पाठशाला, नेसाल, पोशाल आदि में ग्रामीणों को शिक्षित करते थे । ऐसी संस्थाओं का वित्तीय भार स्थानीय जनता पर रहता था। इस प्रकार राजस्थान में शिक्षा को प्रोत्साहन गाँव–गाँव में मिलता रहा है । आरम्भिक शिक्षा अधिकांशत: मौखिक होती थी और एक पाठ को कई बार दोहरा कर कण्ठस्थ कराया जाता था ।

इसके अतिरिक्त राजस्थान के प्रमुख नगर विद्या के केन्द्र थे जहां से विद्या के प्रसार को बढ़ावा मिलता था । चित्तौड जैसे विद्या केन्द्र की विभूतियों में जिन भट्ट, हरिभद्र, रोलाचार्य, वीरसेन तथा जिनवल्लभ सूरि के नाम विशेष उल्लेखनीय है । भीनमाल को ब्रह्मदत्त जैसे ज्योतिषि और माघ जैसे कवि ने विभूषित किया । अजमेर में विग्रहराज चतुर्थ का विद्यालय सर्वत्र प्रसिद्ध था । अन्य केन्द्रों में जालोर, त्रिभुवन गिरी शिखर, आबू, चन्द्रवती, भंडानाक (बयाना), मालवा नगर और चाटसू के नाम उल्लेखनीय है । जहां अनेकानेक पण्डित, साधु, आचार्य उपस्थित होते थे । ये स्थान अनेक विद्वानों एवं शिष्यों के एकत्रित होने के केन्द्र होने के नाते सांस्कृतिक संगम स्थल के रूप में विकसित हुए ।

डा. गोपीनाथ शर्मा का मानना है कि प्राचीन व मध्यकालीन शिला लेखों व काव्य ग्रन्थों से प्रतीत होता है कि विद्यारम्भ 5 वर्ष की आयु से प्रारम्भ हो जाता था और गुरु शिष्य का उसकी योग्यता, विनम्रता, सदाचार के आधार पर चयन करता था । 15 वर्ष से 18 वर्ष की अवधि तक गुरु शिष्य का सानिध्य इतना प्रभावशाली रहता था कि शिष्य कई विद्याओं में पारंगत हो जाता था । पठन–पाठन के विषय में वेद, शास्त्र, नाट्य शास्त्र रामायण, महाभारत, नीति मीमांशा, धर्मशास्त्र, कर्मकाण्ड, पुराण, ज्योतिष, गणित, साहित्य आदि विषयों को पावयक्रम में उचित स्थान दिया जाता था । सैनिक एवं राजनीति की शिक्षा केवल राजकुमारों एवं क्षत्रियों को दी जाती थी । चित्रकला, संगीत, नृत्य, चिकित्सा आदि विषय पावयक्रम में सम्मिलित थे । उच्चस्तरीय शिक्षा प्राप्त करने वालों को पण्डित, आचार्य, उपाध्याय, महा महोपाध्याय आदि की उपाधियां दी जाती थी जिनकी समाज में बड़ी मान्यता होती थी।

स्त्री शिक्षा :–

जिस प्रकार वैदिक संस्कृति में सहशिक्षा एवं स्त्री शिक्षा का महत्वपूर्ण स्थान था । राजस्थान में भी उसी परम्परा का उल्लेख मध्यकालीन शिलालेखों एवं काव्य ग्रंथों में मिलता है जिससे यह प्रमाणित है कि प्राचीन काल से चली आ रही स्त्री शिक्षा मध्यकालीन युग तक समाप्त नहीं हुई थी । प्राप्त साधनों से ज्ञात है कि मध्यम तथा राजपरिवार में स्त्रियां शिक्षित होती थी । 1 5वीं शताब्दी के जावर के शिलालेख में महाराणा कुम्भा की लड़की रमाबाई संगीतज्ञ एवं हिन्दू शास्त्रविद् बताई गई है । मीराबाई (1555 – 1603) हिन्दू दर्शन एवं काव्य रचना में निपूर्ण थी। जोघपुर के महाराजा विजयसिंह की पत्नि के पढ़ने के लिए राजस्थानी में रामायण तैयार करवाई गई थी। राजस्थानी में कई साहित्यिक ग्रन्थ देखने में आये है जिनकी राजकुमारियां समृद्ध परिवार की स्त्रियां तथा रानियां नियमित रुप से पढती थी।

मध्यम श्रेणी की स्त्रियां भी पुस्तकों को पढ़ने में रुचि लेती थी जिनमें मारवाड़ की सोरठ उल्लेखनीय है । 1699 ई. में उदयपुर की गंगाबाई ने गीत–गोविन्द की प्रति अपने पठनार्थ तैयार करवाई थी। साधारण दासियों द्वारा लिखे गये कई पत्र, जो बीकानेर अभिलेखागार में सुरक्षित है, इस बात के साक्षी है कि पढ़ने–लिखने का ज्ञान ऐसे वर्गो में भी प्रचलित था परन्तु साधारण ग्रामीण तथा साधारण परिवारों में स्त्री शिक्षा इतनी लोकप्रिय नहीं थी।

इसी प्रकार अठारहवीं सदी तक राजस्थान में प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति ही जारी रही। आधुनिक शिक्षा प्रणाली प्रारम्भ होने से पूर्व परम्परागत शिक्षा काफी प्रसार हो चुका था । जोधपुर राज्य के सम्बन्ध में निकसन ने लिखा है कि राज्य में लगभग 94 स्कूल है जिनमें 2,42 6 छात्र पढ़ते है । ब्रुक ने लिखा है कि जयपुर नगर में ही 110 शालाएँ है जिनमें 2',5 94 छात्र पढ़ते है । उदयपुर में 35 स्कूल है जिसमें 3,000 के लगभग छात्र अध्ययनरत है । बेनन ने कोटा, बून्दी और झालावाड़ के बारे में लिखा है कि वहां कई निजी शालाएँ है और प्रत्येक गांव में एक शाला है । वाल्टर के कथनानुसार भरतपुर राज्य में सैकडों शालाएँ थी जिनमें हिन्दी और फारसी की प्रारम्भिक शिक्षा दी जाती थी । हेमिल्टन ने लिखा है कि अलवर में 101 शालाएँ है जिनमें 1 ,4 34 छात्र पढ़ते है । ब्लेक के कथनानुसार सिरोही में 38 शालाएँ है जिनमें 610 छात्र पढ़ते थे । अजमेर–मेरवाडा में 113 शालाएँ थी जिनमें 1 ,706

छात्र पढ़ते थे । राजस्थान के ए. जी. जी. ने अपनी रिपोर्ट के अन्त में लिखा है कि सभी राज्यों में असंख्य निजी शालाएँ है, जिनमें साधारण पारश्रमिक के बदले में हिन्दी, फारसी और गणित की शिक्षा प्राप्त की जा सकती है । इन ऑकड़ो से सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि समाज में शिक्षा का अभाव नहीं था ।

5.3 राजस्थान के प्रमुख राज्यों में अंग्रेजी शिक्षा का आरम्भ एवं विकास

राजपूताना के राजपूत राज्यों पर ब्रिटिश संरक्षण (1817–18) स्थापित हो जाने के बाद ईसाई धर्म प्रचारकों ने अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से ईसाई धर्म का प्रचार करना चाहा । अंग्रेज अधिकारी जिन्हें स्थानीय नरेशों के साथ फारसी भाषा में होने वाले पत्र व्यवहार को समझने तथा नरेशों से विचार विमर्श करने में काफी कठनाई अनुभव होती थी, अत: वे अंग्रेजी भाषा को पत्र व्यवहार का माध्यम बनाना चाहते थे । शासकों और सामन्तों को भी अंग्रेजी अधिकारियों से बातचीत एवं गुप्त मन्त्रणा करने में काफी कठिनाई का सामना करना पड़ता था । ऐसे अवसरों पर उन्हें अपने साथ प्राय: दुभाषिये रखने पड़ते थे । व्यापारी वर्ग को भी अंग्रेजी कम्पनी तथा एजेन्टों से सम्पर्क बनाए रखने के लिए अंग्रेजी भाषा के जानकार लोगों का सहारा लेना पड़ता था। इन सब कारणों से राजस्थान में अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार प्रसार आरम्भ हुआ । 1835 ई. में अंग्रेजी भाषा को राजकीय भाषा बनाने के पश्चात् अंग्रेजी शिक्षा का महत्व और बढ़ गया ।

राजस्थान में अंग्रेजी शिक्षा की शुरुआत अजमेर क्षेत्र से हुई जहां 1819 ई. में अंग्रेज पादरी जावेज केरी को शिक्षा अधीक्षक नियुक्त किया गया और अजमेर एवं पुष्कर में उसी वर्ष स्कूल खोले गये । 1822 ई, में भिनाय और केकड़ी में भी स्कूल खोले गये । किन्तु विद्यार्थियों के अभाव के कारण 1831 ई. में ये सभी स्कूलें बन्द कर दी गई । इन स्कूलों में ईसाई धर्म के प्रचार पर अधिक बल दिया गया था अत: ये स्कूलें लोकप्रिय नहीं हो सकी । कुछ समय बाद मैकाले की नई शिक्षा नीति के अनुसार अजमेर में 1836 ई. में पुन: एक स्कूल खोला गया । यह स्कूल भी धन के अभाव में व लड़कों की कमी के कारण 1843 ई. में बन्द कर दिया गया । धीरे–धीरे लड़कों में अंग्रेजी शिक्षा के प्रति रुचि बढ़ने लगी । 1848 ई. में अजमेर में पुन : स्कूल खोलने का प्रस्ताव था जिसे 1851. ई. में स्वीकार कर लिया गया और स्कूल आरम्भ हुई । इस स्कूल में छात्रों की संख्या संतोषजनक रही। 1861 ई. में इस स्कूल के विद्यार्थियों ने एन्ट्रेस की परीक्षा प्रथम बार दी थी। यह हाई स्कूल कलकत्ता विश्वविद्यालय से सम्बद्ध था । 1913 ई. में बी. एस. सी. की कक्षाएँ प्रारम्भ कर दी गई । 1916 ई. में इसे स्नाकोत्तर महाविद्यालय का दर्जा प्राप्त हो गया । सर्वप्रथम जीवशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र और अर्थशास्त्र विषयों में स्नातकोत्तर कक्षाएं प्रारम्भ की गई ।

अजमेर – मेरवाडा क्षेत्र में भारत स्वतंत्र होने के पूर्व दो इन्टरमीडिएट कॉलेज खुल चुके थे । इनमें से एक सनातन धर्म कॉलेज, व्यावर (1929 ई) में और दूसरा डी .ए वी. कॉलेज, अजमेर (1942 ई) में था । ब्यावर कॉलेज का संचालन सनातन धर्म सभा, ब्यावर तथा डी .ए. वी. कॉलेज अजमेर का संचालन आर्य समाज एजुकेशन सोसायटी द्वारा होता था ।

राजस्थान में अंग्रेजी शिक्षा की प्रगति में जयपुर राज्य अग्रणी रहा। जयपुर के महाराजा रामसिंह (1835–80) विविध भाषाओं का विद्वान और अंग्रेजी भाषा के अध्ययन में रुचि रखता था । 1844 ई. में जयपुर में "महाराजा स्कूल" की स्थापना की गई । यही स्कूल बाद में महाराजा कॉलेज के नाम से प्रसिद्ध हुआ । 1847 ई. में इनको हाई स्कूल का दर्जा दिया गया था । 1866–67 के शिक्षा सत्र में इस स्कूल में कुल 26 शिक्षक थे जिनमें 11 अंग्रेजी 'भाषा के, 11 फारसी और उर्दू भाषा के तथा 4 संस्कृत के शिक्षक थे । छात्रों की संख्या लगभग 8०० थी । 1873 ई. में इसे इटरमिडिएट और 1888 ई. में डिग्री कॉलेज बना दिया गया। उन्नीसवी सदी के अन्त में "महाराजा कॉलेज में स्नातकोत्तर कक्षाएं प्रारम्भ कर दी गई । 1900 ई. तक राजस्थान में यह एक मात्र स्नातकोत्तर महाविद्यालय था। आरम्भ में कॉलेज में निर्धन छात्रों के लिए छात्रवृतियों की व्यवस्था की गई थी । अन्य छात्रों से उनकी पारिवारिक हैसियत के अनुसार एक आने से चार आने मासिक शुल्क लिया जाता था । महाराजा रामसिंह के काल में जयपुर में "संस्कृत कॉलेज. की स्थापना (1845 ई) में हुई थी । माधोसिंह के काल में इस कॉलेज ने आशातीत उन्नति की । राष्ट्रीय स्तर के ख्यातिलब्ध संस्कृत भाषा के विद्वान दुर्गा प्रसाद और गिरधर शर्मा इस कॉलेज में अध्यापन का कार्य कर रहे थे, इस कॉलेज के विद्यार्थी बनारस संस्कृत कॉलेज द्वारा आयोजित परीक्षाओं में बैठते थे ।

1846 ई. में जयपुर के तत्कालीन पोलीटिकल एजेन्ट मेजर लुड़ले ने जयपुर में एक मेडिकल कॉलेज खोलने का प्रस्ताव रखा था जो 1861 में फलीभूत हुआ। किन्तु छात्रों की संख्या कम होने तथा यूरोपीय चिकित्सा पद्धति के प्रति जनता की अरुचि के कारण इसे 1867 में बन्द कर दिया गया । 1947 में पुन: जयपुर में मेडिकल कॉलेज की स्थापना की गई ।

जोधपुर में अंग्रेजी शिक्षा की शुरुआत राज्य की ओर से न होकर जनता की ओर से हुई। 1867 ई. में राव राजा मोतीसिंह ने कुछ प्रतिष्ठित नागरिकों के सहयोग से जोधपुर में एक अंग्रेजी स्कूल की स्थापना की । स्कूल में एक लिथों प्रेस भी स्थापित कि गई । 1869 ई. में सरकार ने इस स्कूल को अपने नियन्त्रण में ले लिया और इस स्कूल का नाम "दरबार स्कूल" रखा । 1876 ई. में इस स्कूल को हाई स्कूल: में परिवर्तित कर दिया गया तथा 1893 में इसे इन्टरमीडिएट कालेज बनाकर इसका नाम जसवन्त कालेज' रखा गया, 1896 ई. में डिग्री कॉलेज का रूप दे दिया गया । अन्य राज्यों की तरह जोधपुर में अंग्रेजी शिक्षा के प्रति छात्रों की अधिक रुचि रही । कुछ जातियों ने अपनी जाति में अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार करने की दृष्टि से अपने पृथक जातीय स्कूल स्थापित किए। जैसे 1887 ई. में कायस्थों ने "सर प्रताप हाई स्कूल" 1896 में ओसवाल महाजनों ने "सरदार मिडिल स्कूल" और 1898 ई. में क्षत्रिय मालियों ने "श्री सुमेर सैनी मिडिल स्कूल" स्थापित किये । ये स्कूल आज भी सुव्यवस्थित रूप से शिक्षा प्रसार का कार्य कर रहे है । 20वीं शताब्दी के चतुर्थ दशक के बाद मारवाड़ के बड़े–बड़े कस्बों में योजनानुसार हाई स्कूलें खोली गई । स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात राजस्थान में जयनारायण व्यास के लोकप्रिय मंत्रिमंडल के समय जसवन्त कॉलेज में स्नाकोत्तर कक्षाएं एवं एल. एल. बी. की कक्षाएं आरम्भ की गई ।

उदयपुर राज्य में 19वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अंग्रेजी शिक्षा का पाट्यक्रम आरम्भ हुआ। महाराणा शम्भूसिंह (1861–74) की अल्पवयस्कता के समय एजेन्ट ईडन ने रीजेन्सी कौंसिल की अनुमति से उदयपुर नगर में 1863 ई. में एक स्कूल की स्थापना की, जिनका नाम "शंभूरत्न पाठशाला" रखा गया। इस स्कूल में गणित, भूगोल, हिन्दी और उर्दू विषयों के अतिरिक्त संस्कृत और फारसी भाषा की भी शिक्षा दी जाती थी। 1865 ई. में अंग्रेजी भाषा सिखाने की भी व्यवस्था की गई । इस समय इस स्कूल में कुल 513 छात्र अध्ययन कर रहे थे। 1873 ई में अंग्रेजी प्राइमरी स्कूल और हिन्दी प्राइमरी स्कूल अलग–अलग कर दी गई । 1877 ई. में स्कूल में एक विशेष कक्षा जागीरदारों के पुत्रों के लिये खोली गई थी किन्तु उसे 1882 ई. में बन्द कर दिया गया । 1884–85 ई. में अंग्रेजी प्राइमरी स्कूल को हाई स्कूल के रूप में क्रमोन्नत किया गया और इसका नाम "महाराणा हाई स्कूल" रखा गया। इसे इलाहाबाद विश्वविद्यालय से सम्बद्ध किया गया। इसी हाई स्कूल को 1922 ई में इनरमीडिएट कॉलेज और 1945 ई. में डिग्री कॉलेज में परिवर्तित कर दिया गया। इसका नाम "महाराणा भुपाल कॉलेज रखा गया। 1946 में एल. एल. बी. तथा 1948 में स्नातकोत्तर कक्षाएं आरम्भ की गई । 1949 में इस कॉलेज में 683 छात्र अध्ययनरत थे ।

बीकानेर राज्य में अंग्रेजी शिक्षा की शुरुआत कुछ देरी से हुई । 1872 ई. में प्रथम सरकारी स्कूल खोली गई जिसमें हिन्दी, फारसी व गणित विषय पढ़ाए जाते थे । महाराजा डूंगरसिंह (1872–87) के शासनकाल में 1885 ई. में एक नया विद्यालय खोला गया जिसमें अंग्रेजी भाषा सिखाने की व्यवस्था थी। इस नये स्कूल को बाद में हाई स्कूल में परिवर्तित कर दिया गया जिसे प्रारम्भ में पंजाब विश्वविद्यालय और 1897 ई. में इलाहाबाद विश्वविद्यालय से सम्बद्ध रखा गया। महाराजा गंगासिंह ने राज्य में शिक्षा की प्रगति में विशेष रुचि ली । उन्होंने शिक्षा को जन जन तक पहुंचाने के भागीरथ प्रयत्न किये । महाराणा द्वारा पूर्ण राज्याधिकार प्राप्ति के समय (1897–98 ई) बीकानेर राज्य में कुल 29 शिक्षण संस्थाएँ, 49 अध्यापक, 1606 अध्ययनरत छात्र थे एवं 18, 126 रु. वार्षिक शिक्षा व्यय था । तथा 80 निजी पाठशालाएँ थी। 1943 तक बीकानेर राज्य में शिक्षण संस्थाओं की संख्या में काफी बढ़ोतरी हुई । इस समय तक यहां राजकीय विद्यालय, 137 अनुदान प्राप्त व 91 मान्यता प्राप्त निजी विद्यालय थे जिसमें 29, 803 छात्र अध्ययनरत थे ।

कोटा, बून्दी और झालावाड़ राज्यों में अंग्रेजी शिक्षा का आरम्भ अंग्रेजी पदाधिकारियों के प्रयत्नों से हुआ । 1863 ई. में हाड़ौती ऐजेन्सी के ततकालीन एजेंट ने इन राज्यो के शासकों को पत्र लिखे जिनमें उन्हें अपने राज्यों में अंग्रेजी शिक्षा आरम्भ करने की सलाह दी थी। परिणाम स्वरूप 1863 ई. में बून्दी और झालावाड़ में अंग्रेजी स्कूल खोले गये । 1874 ई. में कोटा में भी एक अंग्रेजी स्कूल स्थापित किया गया । धीरे–धीरे इन राज्यों में शिक्षा प्रसार हुआ। 1946 ई. तक झालावाड़ में केवल 39 प्राथमिक विद्यालय थे । इसी वर्ष राज्य में हाई स्कूल को इन्टर कॉलेज के रूप में क्रमोन्नत किया गया। बून्दी राज्य में 1896 ई. में हाई स्कूल बना जिसे 1945 में इन्टर कॉलेज में परिवर्तित कर दिया गया । कोटा राज्य में 1940 ई. तक एक

इन्टर कॉलेज (हरबर्ट कॉलेज) और 146 अन्य विद्यालय थे । कालेज की स्थापना 1923–24 ई. में हो गयी थी। जुलाई 1947 में इसे स्नातकोत्तर कॉलेज का रूप दिया गया ।

डा. आर पी. व्यास ने लिखा है कि राजस्थान के राज्यों में अंग्रजी शिक्षा का आरम्भ

सर्वप्रथम अलवर के महाराजा बन्नेसिंह ने किया। 1842 ई. में अलवर में एक स्कूल की स्थापना की गई जहां अंग्रेजी भाषा सिखाने का कार्य आरम्भ हुआ। मुंशी उम्मेदसिंह और मुंशी शिवदयालसिंह के सहयोग से इस स्कूल ने बड़ी प्रगति की। 1870 में इसे हाई स्कूल बना दिया गया। 1930 ई. में अलवर में राजऋषि इटर कॉलेज की स्थापना की गई जिसे 11945 में डिग्री कॉलेज के रूप में क्रमोन्नत कर दिया गया । शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए अलवर में एक स्कूल की भी व्यवस्था की गई । 1945–46 ई. में अलवर राज्य में 5 हाई स्कूल 4 एंग्लों वर्नाकुलर स्कूल, 35 वर्नाकुलर स्कूल, 152 प्राइमरी स्कूल, तीन संस्कृत पाठशालाएँ और 23 स्कूल अनुदानित व मान्यता प्राप्त थी ।

भरतपुर राज्य में महाराणा बलवन्तसिंह ने 1842 में एक स्कूल की स्थापना की।1858 से इस स्कूल में अंग्रेजी विषय पढ़ाया जाने लगा। 1940–41 में वहां इन्टर कॉलेज आरम्भ किया गया ।

1901 ई. में धोलपुर राज्य में साक्षरता की दर मात्र 1.4 प्रतिशत थी । वर्तमान शताब्दी के चौथे दशक के आरम्भ में धोलपुर में एक हाई स्कूल खोला गया।1944–45 तक यहां एक हाई स्कूल और 18 विद्यालय ही थे ।

बांसवाड़ा, डूंगरपुर, प्रतापगढ़, जैसलमेर, टौक और किशनगढ़ आदि छोटे–छोटे राज्यों में अंग्रेजी शिक्षा का आरम्भ उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक ही सम्भव हो सका। यहां अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार बहुत ही धीमी गति से हुआ। भारत स्वतंत्र से होने के पूर्व तक इन राज्यों में मात्र एक–एक हाई स्कूल, दो–तीन मिडिल स्कूल और कुछ प्राथमिक विद्यालय ही खुल पाये थे।

सिरोही राज्य में अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार तीन एजेन्सियों के माध्यम से किया गया था। सर्वप्रथम हेनरी लारेन्स (ए. जी. जी.) ने 1854 ई. में माउन्ट आबू में एक स्कूल स्थापना की जिसमें अनाथ व सैनिकों के बच्चों को शिक्षा दी जाती थी। 1879 ई. में सिरोही के शासक की ओर से वहाँ एक स्कूल खोला गया जिसे बाद में "मिडिल स्कूल" का दर्जा दिया गया। इस स्कूल में हिन्दी, उर्दू, और अंग्रेजी विषयों का अध्ययन कराया था। 1915 में इस स्कूल का नाम "कोलविन हाई स्कूल" रखा गया। तीसरी एजेंसी रेलवे थी जिसके माध्यम से शिक्षा का प्रसार हुआ। 1887 ई. में बाम्बे – बड़ौदा और सेंट्रल इण्डिया रेलवे कम्पनी ने माउन्ट आबू में हाई स्कूल की स्थापना की । 1903 ई. में इसके संचालन का कार्य गैर सरकारी प्रबन्ध समिति के सुपुर्द कर दिया गया । इससे सरकार की ओर से अनुदान दिया गया । 1885 ई. में आबू रोड में प्राथमिक और हाई स्कूल स्तर के दो स्कूल रेलवे द्वारा खोले गये । रेलवे कर्मचारियों के बच्चों की शिक्षा के लिए फुलेरा, अजमेर और बांदीकुई में भी अलग से स्कूल खोले गये थे । 1940 ई. में सिरोही राज्य में 25 स्कूल वहां के शासक द्वारा चलाई जा रही थी । सिरोही

राज्य में राजस्थान में विलय के समय तक 58 प्राथमिक स्कूल, 3 मिडिल स्कूल और दो हाई स्कूल थे ।

5.4 शासकों एवं सामन्तों के पुत्रों के लिए शिक्षा की पृथक व्यवस्था

शिक्षा के प्रति राजपूत शासकों का दृष्टिकोण आरम्भ में उत्साहवर्द्धक नहीं था। राजपूत अपने को कुलीन वर्ग का समझते थे । राज परिवार एवं शासक जाति से जुड़े होने के कारण राजपूतों में श्रेष्ठत्व की भावना प्रबल थी । वे अपनी मान –मर्यादा के प्रति अत्यधिक संवेदनशील थे । श्यामलदास ने अपने ग्रंथ "वीर विनोद" में लिखा है कि "राजपूत लोग इल्म मानते थे" । आरम्भ में राजपूत अंग्रेजी शिक्षा के प्रति आकर्षित नहीं हुए उनका मानना था कि अंग्रेजी शिक्षा आजीविका का साधन थी । एक अन्य कारण यह भी था कि उनके लिए अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने की पृथक व्यवस्था नहीं की गई थी और सार्वजनिक स्कूलों में वे अपने पुत्रों को अपने से निम्न स्तर की जातियों के लड़कों के साथ पढ़ाने को तैयार न थे । इसी कारण अंग्रेज अधिकारियों को सामन्त पुत्रों के लिए पृथक विशिष्ठ स्कूलों की व्यवस्था करना आवश्यक हो गया ।

सर्वप्रथम जयपुर राज्य में राजपूत स्कूल 1861 में सरदारों तथा राजपूत बालकों के लिए नोबेल्स स्कूल की स्थापना की गई । प्रारम्भ में इस स्कूल में कुल 13 विद्यार्थी थे । जिनमें राजपूत सरदारों के केवल 5 लड़के थे । जयपुर शासक के प्रयासों के बावजूद भी 1869 में केवल 33 बालकों ने ही प्रवेश प्राप्त किया था । इसी प्रकार अलवर और जोधपुर राज्यों में क्रमश : 1871 और 1875 ई. में सामन्तों के पुत्रों के लिए नोबेल्स स्कूलों की स्थापना की गई । जोधपुर में सामान्य राजपूत बालकों को शिक्षा प्रदान करने के उद्देश्य से 1896 ई. में "एलिंगन राजपूत स्कूल" की स्थापना की गई । 1914 ई. में चोपासनी नामक स्थान पर "राजपूत हाई स्कूल" आरम्भ किया गया । 1893 ई. में बीकानेर में सरदारों एवं उपरावों के बच्चों को शिक्षा प्रदान करने हेतु 'वाल्टर नोबल्स स्कूल" की स्थापना की गई जो बाद में हाई स्कूल के रूप में क्रमोन्नत कर दी गई । आरम्भ में इन स्कूलों का पाट्यक्रम सार्वजनिक स्कूलों के पाठ्यक्रम से कुछ अलग रखा गया था । राजस्थान के अन्य छोटे बड़े सभी राज्यों में राजपूत बालकों को शिक्षित करने पर अधिक ध्यान दिया गया व उन्हें अधिक सुविधाएँ प्रदान की गई ।

1872 ई. में उदयपुर राज्य में सरदारों के पुत्रों के लिए "शंभुरत्न पाठशाला" में ही एक विशेष कक्षा शुरु की गई । इस विशेष कक्षा का उद्देश्य यह था कि मेयो कॉलेज अजमेर भेजे जाने वाले छात्रों को आधारभूत शिक्षा उपलब्ध करवाई जा सके । किन्तु छात्रों की कम उपस्थिति के कारण 1882 ई. में इसे बन्द कर दिया गया। इसके उपरान्त 1923 में महाराणा फतहसिंह के प्रोत्साहन पर एक प्राइमरी स्कूल को राजपूत समाज द्वारा पुन: आरम्भ किया गया इसे भूपाल नोबल्स स्कूल का नाम दिया गया । 1927 में इसे क्रमोन्नत करके मिडिल स्कूल तथा 1929 में इसे हाई स्कूल बना दिया गया था। 1929–30 में इस स्कूल का कुल खर्च 31, 267 रु. था जिसमें से 10 हजार रुपये महाराणा द्वारा प्रदान किये गये। उस समय इस स्कूल में 154 छात्र अध्ययन रत थे । 1947 तक यह हाई स्कूल ही बना रहा।

मेयो कॉलेज

डॉ. कालूराम शर्मा ने लिखा है कि राजस्थान के शासकों और सामन्तों के पुत्रों की शिक्षा के लिए एक पृथक कॉलेज खोलने का सुझाव सर्वप्रथम भरतपुर के तत्कालीन पोलीटिकल एजेंट वाल्टर ने ए.जी जी. कर्नल कीटिंग के सामने रखा था। कीटिंग को यह सुझाव पसन्द आया और उसने यह प्रस्ताव गर्वनर जनरल लार्ड मेयो के सम्मुख रखा । लार्ड मेयो राजस्थान में इग्लैण्ड के समान "ईटन कॉलेज" खोलने पर विचार कर ही रहा था अत: उसे यह प्रस्ताव रुचिकर लगा। 1870 ई. में अजमेर में एक विशेष दरबार का आयोजन किया गया जिसमें लार्ड मेयो ने राजस्थान के राजा, महाराजाओं, प्रमुख सरदारों और उनके वंशजों की शिक्षा के लिए अजमेर में एक विशिष्ट कॉलेज की स्थापना का प्रस्ताव रखा। राजपूत शासकों ने मेयो के प्रस्ताव का स्वागत किया और भावी कॉलेज के निर्माण के लिए यथाशक्ति चंदा भी दिया। अक्टूबर 1875 ई. में मेयो कॉलेज खुला और इस कॉलेज में प्रवेश लेने वाला पहला छात्र अलवर नरेश मंगलसिंह था । जयपुर, जोधपुर, उदयपुर, कोटा, भरतपुर., बोकानेर, झालावाड़ और टौक राज्यों ने विद्यालय प्रांगण में अपने निजी छात्रावास भी ' नवाये ।

मेयो कॉलेज की स्थापना राजपूत राज्यों के भावी शासकों में ब्रिटिश ताज के प्रति स्वामिभक्ति और आज्ञाकारिता की भावना को दृढ करने की दृष्टि से की गई थी । इस ध्येय की पूर्ति के लिए कॉलेज में पढ़ने वाले छात्रों को विद्या, बुद्धि, तर्क शैली, रहन–सहन तथा (–विचार में सर्वथा अंग्रेज बनाने का प्रयत्न किया गया । उनमें अंग्रेजी राज, ताज और मान्यताओं के प्रति अगाध भक्ति और श्रद्धा की भावना निरन्तर सिखायी जाने लगी । उन्हें एक ऐसे वातावरण में पोषित किया जाने लगा जो उनके देश की संस्कृति से सर्वथा भिन्न था । आरम्भ में मेयो कॉलेज की काफी प्रतिष्ठा रही, परन्तु कुछ वर्षो बाद ही वहां की प्रतिष्ठा गिरने लगी । छात्रावासों का वातावरण भी दूषित हो गया । छात्रावासों में खुले आम जुआ और मद्यपान होता था और वेश्याएँ बुलाई जाती थी । कॉलेज के व्यवस्थापकों ने इसे रोकने का कोई 'विशेष यत्न नहीं किया ।

शिक्षा :

1866 ई. के पूर्व तक स्त्री शिक्षा के सम्बन्ध में राजस्थान के किसी भी राज्य में कोई सक्रिय कदम नहीं उठाया गया था । उच्च वर्ग के परिवारों के घरों पर लड़कियों को व्यावहारिक शिक्षा का ज्ञान कराया जाता था । राजस्थान में सार्वजनिक रूप से स्त्रियों को शिक्षा देने का प्रचलन 19वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आरम्भ हुआ । 1866 में सर्वप्रथम उदयपुर, जयपुर और भरतपुर में स्त्री शिक्षा के लिए सरकारी स्कूल खोले गये । उदयपुर स्कूल में आरम्भ में दो ' तक्षित अध्यापिकाएँ एवं 51 छात्राएँ थी । वर्ष 1885 – 86 में इन छात्राओं की संख्या बढ़कर 151 हो गई । इस समय शिक्षा पर कुल खर्चे 10,174 रु. था । 1886– 87 में जोधपुर में 'हूसन गर्ल्स स्कूल' की स्थापना हुई । 1905 में लड़कियों की शिक्षा के लिये जयपुर की स्कूल में 695, भरतपुर की 3 स्कूलों में 105, बीकानेर की एक स्कूल में 157, उदयपुर की एक स्कूल में 125, कोटा की 4 स्कूलों में 111, जोधपुर की एक स्कूल में 49, मेनावाड़ की एक स्कूल में 27, करोली की एक स्कूल में 12, तथा टोंक की 5 स्कूलों में लड़कियां अध्ययनरत

थी । जयपुर में 1867 में लड़कियों के लिए एक हाई स्कूल खोला गया । इसी वर्ष स्कूल ऑफ आर्ट एण्ड क्राफ्ट की भी स्थापना की गई ।

इन स्कूलों में उच्च शिक्षा की व्यवस्था नहीं थी । ये सभी प्राथमिक स्तर के स्कूल थे। भी समाज में स्त्री शिक्षा के प्रति रुचि उत्पन्न नहीं हुई थी । बाल विवाह पर्दा प्रथा और योग्य शिक्षिकाओं के अभाव के कारण भी स्त्री शिक्षा में प्रगति नहीं हो पाई थी ।

छात्राओं को सामान्यत: लिखाई पढ़ाई और आरम्भिक गणित की जानकारी के साथ–साथ सिलाई और कढ़ाई की शिक्षा भी दी जाती थी ।

5.5 शिक्षा के विकास में ईसाई मिशन शिक्षण संस्थाओं का योगदान

ईसाई धर्म व शिक्षा के प्रचार में यूनाइटेड प्रेस्विटेरियन मिशन का महत्वपूर्ण योगदान रहा है । मार्च 1860 ई. में मिशन ने ब्यावर नगर में एक केन्द्र स्थापित किया तथा इसे अपना मुख्यालय बनाया । अपने धर्म प्रचार कार्य में मिशन शिक्षा को एक मुख्य साधन समझता था । मिशन ने राजस्थान के विभिन्न भागों में 12 केन्द्रों की स्थापना की जिनके माध्यम से ईसाई धर्म के प्रचार का कार्यक्रम चलाया तथा शिक्षा के प्रसार हेतु स्कूल खोले गये। सर्वप्रथम अगस्त 1860 ई. में ब्रहामण बाबू चिन्ताराम के सहयोग से मिशन ने ब्यावर में एक प्राथमिक स्कूल की स्थापना की । जहां विद्यार्थियों को हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी' भाषा का ज्ञान कराया जाता था । किन्तु 1862 ई में कुछ हरिजन बच्चों को स्कूल में प्रवेश दिये जाने के विरोध में दो तिहाई विद्यार्थियों ने स्कूल आना बन्द कर दिया अत: स्कूल की प्रगति धीमी रही । 1891 में मेर के नेतृत्व में स्कूल का पुर्नगठन हुआ । अब स्कूल में हाई स्कूल स्तर के विद्यार्थियों को शिक्षा दी जाने लगी । किन्तु 1932 में अर्थाभाव और प्रशिक्षित अध्यापकों की_ कमी के कारण एक स्कूल बन्द कर दिया गया ।

मार्च 1862 में मिशन ने अजमेर में अपना एक स्कूल खोला । 1915 में इस स्कूल का नाम हस्बेण्ड मेमोरियल हाई स्कूल रखा गया । ब्राह्मण वर्ग के विरोध के उपरान्त भी मिशन द्वारा स्थापित स्कूल की प्रगति संतोषजनक रही । इसके बाद मिशन स्कूलों की संख्या में निरन्तर बढ़ोतरी होती गई । 1862, 1864, 1871 और 1872 में क्रमश: नसीराबाद टाडगढ, देवली और जयपुर में स्कूल स्थापित हुए । 1876 में सांभर और फुलेरा और 1877 में अलवर में मिशन स्कूल स्थापित हुए । 1833 में बांदीकूई, 1885 में जोधपुर तथा उदयपुर में और 1889 में कोटा में भी मिशन स्कूल स्थापित हुए ।

मिशन ने स्त्रियों की शिक्षा के लिए भी अपने स्कूल स्थापित किए । 1862 ई लेडी एमिली ने नसीराबाद में एक गर्ल्स स्कूल की स्थापना की । 1863 ई में श्रीमती फिलिप्स ने अजमेर में एक गर्ल्स स्कूल स्थापित किया । 1864 में मिशन ने ब्यावर नगर में अपना लियो प्रेस स्थापित किया जहां पाठ्य पुस्तकों के साथ–साथ धार्मिक साहित्य भी छापा जाता था ।

राजपूताने के राजपूत राज्यों में सर्वप्रथम जयपुर राज्य में ईसाई धर्म का प्रचार कार्य आरम्भ हुआ । 1866 में प्रसिद्ध मिशनरी डा. कोलिन वलेन्टाइन ने जयपुर महारानी का इलाज किया था जिससे प्रसन्न होकर महाराजा रामसिंह ने उसे जयपुर में स्कूल खोलने के लिए भूमि

आवंटित की ओर उसे ईसाई धर्म के प्रचार के लिए अनुमति प्रदान की । 1876 में जयपुर ' दो वर्नाकुलर स्कूल थे जिनमें 649 विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त कर रहे थे, इनमें 32 लड़कियां थी । 1881 में एक स्कूल को हाई स्कूल बना दिया गया। मिशन ने लड़कियों को शिक्षा देने के लिए जयपुर नगर में अनेक स्कूल खोले । 1943 में इन स्कूलों में पढ़ने वाली लड़कियों संख्या 370 थी ।

1876 ई में ईसाई धर्म प्रचारकों का एक शिष्ट मण्डल उदयपुर के महाराणा शम्भूसिंह से मिला और उदयपुर राज्य में मिशन कार्यक्रम चलाने की स्वीकृति' प्राप्त की । 1877 में प्रोस्वेटेरियन शाखा के मिशन अधिकारी डा॰ जेम्स शैफ्फ़र्ड ब्यावर से उदयपुर स्थानान्तरित होकर आये । उन्होंने सर्व प्रथम उदयपुर में गणेशघाटी नामक स्थान पर एक प्राथमिक विद्यालय आरम्भ किया । छात्र छात्राओं की संख्या बढ़ने के कारण एक वर्ष बाद ही लड़कों के लिए अलग स्कूल धानमण्डी में स्थानान्तरित कर दी गई ।

1880 में चर्च मिशनरी सोसाइटी ने भी मेवाड़ में प्रवेश किया और खेरवाड़ा में एक विद्यालय की स्थापना की । इसके माध्यम से भील लोगों के शैक्षणिक विकास का कार्य आरम्भ हुआ । 1901 ई तक मेवाड़ में कुल 18 मिशनरी संस्थायें कार्यरत थी ।

जोधपुर में मिशन का कार्यालय 1883 ई. में खुला। डा. सोमरविले 1885 ई. में जोधपुर पहुंचा । वहाँ मिशन द्वारा स्कूल वर्नाकुलर स्कूल खोले गये किन्तु इन्हें विशेष सफलता नहीं मिली ।

रोमन कैथेलिक मिशन तथा मेथाडिस्ट ईसाई सम्प्रदाय ने भी शिक्षा के प्रसार हेतु स्कूल स्थापित किये । किन्तु इन्हें अधिक सफलता प्राप्त नहीं हुई ।

5.6 निजी शिक्षण संस्थाएँ एवं उनका शिक्षा प्रसार में योगदान

राजस्थान. में शिक्षा का कार्यक्रम गैर सरकारी 'तौर पर अधिक कारगर व प्रभावी प्रमाणित हुआ । कतिपय गैर सरकारी संस्थाओं ने अपने नियमित पंजीकृत न्यासों व सोसाइटियों द्वारा तथा कुछ प्रतिष्ठित सेठ साहूकारों ने अपने निजी तौर पर शिक्षा के विस्तार में महत्वपूर्ण योगदान किया । आर्य समाज एज्यूकेशन सोसाइटी अजमेर, बिरला एज्यूकेशन ट्रस्ट पिलानी, राजस्थान शिक्षा मण्डल बम्बई, मारवाड़ी रिलीफ सोसायटी कलकत्ता, विद्या भवन सोसयटी उदयपुर, वनस्थली विद्यापीठ वनस्थली, राजस्थान विद्यापीठ उदयपुर और राजस्थान शिक्षा सदन हटूंडी के नाम विशेष उल्लेखनीय है जिनके माध्यम से राजस्थान में शिक्षा का प्रसार हुआ । शिक्षा के क्षेत्र में शेखावटी के सेठ साहूकारों की भूमिका भी महत्वपूर्ण रही है । उन्होंने झुन्झुन, बागड़, फतेपुर, रामगढ़, नवलगढ़, बिसाऊ, सीकर, खेतड़ी, चिड़ावा आदि क्षेत्रों में 'प्राथमिक व माध्यमिक स्तर के स्कूल खोले तथा कई स्थानों पर कॉलेज भी स्थापित किये । राजस्थान के विभिन्न भागों में जातिगत स्कूल व शिक्षण संस्थाएं खोली गई । खण्डेलवाल, अग्रवाल, माहेश्वरी, जैन, पारीक, ब्राह्मण और कायस्थ समाज की ओर से जयपुर में प्राथमिक स्कूलों से लेकर डिग्री कालेज तक की शिक्षण संस्थाएं संचालित की । इसी प्रकार जोधपुर में पुष्करणा ब्रहाण, कायस्थ और माली जातियों की ओर से हाई स्कूल खोले गये । बीकानेर में भी ओसवाल जाति के रामपुरिया परिवार द्वारा कॉलेज की स्थापना की गयी ।

वस्तुत: राजस्थान में शिक्षा के प्रसार में अंग्रेजी अधिकारियों, शासकों, ईसाई धर्म प्रचारकों, गैर सरकारी संस्थाओं, उच्च जातियों, प्रतिष्ठित व्यक्तियों और सेठ साहूकारों का सामुहिक योगदान रहा । व्यवसायी तथा नौकरी पेशा वर्ग ने अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से आगे बढ़ने तथा अंग्रेजी की कृपा प्राप्त करने की आशा से उसका स्वागत किया ।

5.7 राजस्थान में साहित्य सृजन का आरम्भिक स्वरुप एवं विकास

शिक्षा के विकास का प्रमुख मापदण्ड साहित्य सृजन है । राजस्थान में यह साहित्य प्रारम्भ में संस्कृत व प्राकृत में रचा गया, क्योंकि प्राचीनकाल में व्यापक रूप से इन्हीं भाषाओं की मान्यता थी । मध्य युग के आरम्भ काल में अपभ्रंश और उससे जनित मरु भाषा और स्थानीय बोलियों जैसे मारवाड़ी, मेवाड़ी, ढुढ़ाडी, मालवी और बागडी में साहित्य की रचना होती रही । इस विभिन्न बोलियों को हम सामूहिक रूप से राजस्थानी की संज्ञा दे सकते है । इस भाषा पर समय–समय पर आसपास के भागों की भाषाओं का प्रभाव भी पड़ा, विशेषकर गुजराती का ।

राजस्थान में बड़े उत्तकृष्ठ प्रशस्तिकार एवं कवि हुए है जिन्होंने गद्या और पद्या में साहित्य का सृजन किया है । यद्यपि संस्कृत बोलचाल की भाषा नहीं थी फिर भी वह मृत भाषा भी नहीं थी । इसी के द्वारा धर्मानुष्ठान और सांस्कृतिक पहलुओं पर प्रकाश डाला जाता था । प्राचीन काल के कई शिलालेख उपलब्ध है जो संस्कृत में लिखे गये थे । मेवाड़ में द्तीय शताब्दी ईसा पूर्व का नगरी और धोसुण्डी शिलालेख, नांदसा स्तम्भ लेख, 646 ई. का सामोली लेख तथा 7वीं सदी का अपराजित का लेख रचना की दृष्टि से उत्कृष्ठ कोटि के है । लेखकों ने तत्कालीन शैली विशेष की अभिव्यक्ति और प्रचलित परम्परा को बखूबी निभाया है।

1150 ई. का चितौड़ का रामकीर्ति का लिखा लेख, बिजौलिया का 1169 का गुणभद्र का लिखा लेख, 1428 ई के श्रंगीऋषि का योगेश्वर द्वारा लिखा लेख, 1488 ई का महेश्वर द्वारा लिखा गया एक लिंग प्रशस्ति तथा रणछोड़ भट्ट द्वारा लिखित राजप्रशस्ति महत्वपूर्ण प्रशरितयां थी जिससे उस समय के सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन की जानकारी प्राप्त होती है । तथा उस समय के साहित्य के विकास को भी प्रदर्शित करती है । राज प्रशस्ति तो विश्व की सबसे बड़ी प्रशस्ति है जिसे 25 शिलाओं में उत्कीर्ण किया गया है ।

शिलालेखों की भाँति काव्य रचना के स्वतन्त्र ग्रन्थ भी अपने समय की धार्मिक स्थिति तथा समाज व राजनैतिक अवस्था पर अच्छा प्रकाश डालते है । साहित्य सेवा में मेवाड़ के महाराणा कुम्भा तथा उनके आश्रित कवियों के कारण मेवाड़. का राज्य साहित्य के क्षेत्र में अग्रणी था। स्वयं महाराणा की स्वतन्त्र रचनाएँ अनुपम थी । वह वेद, स्मृति, उपनिषद् मीमांसा, नाट्यशास्त्र, संगीत, राजनीति, तर्क, शिल्पशास्त्र तथा साहित्य का अच्छा वेता था । गीत गोविन्द की टीका तो महाराणा की संस्कृत गद्य और पद्य रचना की अदभूत कृति है । महाराणा जगतसिंह का काल भी काव्य रचना की दृष्टि से बहुत समृद्ध था। अमरसार, अमरकाव्य वंशावली तथा राज रलाकर ऐतिहासिक काव्य है । जिन्हें क्रमश : जीवाधर रणछोड़ भट्ट तथा सदाशिव ने लिखा था जो साहित्यिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से अनूठे ग्रंथ है ।

पश्चिमी राजस्थान के अचंल में मारवाड़, बीकानेर, अजमेर, तथा जैसलमेर के भाग आते है । यहां की भूमि ने भी अनेक प्रशस्तिकारों, और लेखकों को जन्म दिया । 685 ई. के मण्डोर लेख से 7वी शताब्दी ई. में शिव और विष्णु की पूजा के क्रम पर अच्छा प्रकाश पड़ता है घटियाली लेख 861 ई से समाज के चारों वर्णो की विभाजन प्रक्रिया, समाज संगठन, नागरिक जीवन की रूपरेखा तथा प्रतिहारों की शासन पद्धति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है ।955 ई. के ओसिया के लेख से भारतीय परम्परा के अनुरूप राजस्थान में विद्याध्ययन की प्रवृति का बोध होता है । 14वीं शताब्दी के कई लेख नाडलाई, किराडू, नाडोल, जालोर, चाटसू, धापेराव आदि से प्राप्त है जिनसे जैन धर्म के विकास और चौहानों और प्रतिहारों की संस्कृति के प्रति श्रद्धा का ज्ञान होता है । इसी अंचल के महाराजाओं ने अपने पूर्वजों की भाँति विद्वानों और कवियों को आश्रय दिया और उनको नवीन कृतियों के लेखनार्थ प्रोत्साहित किया । भीनमाल ने अनेक समृद्ध लेखकों को जन्म दिया जिनमें ख्याति प्राप्त कवि माध प्रसिद्ध है । इसकी शिशुपाल नामक कृति में कालीदास की उपमा, भारीव का विचार गांभीर्य और दण्डी ही लेखन शैली की नियम निष्ठा झलकती है । माघ के समकालीन हरिभद्र सूरी ने समराइच्छकहा धूताश्यान, कथाकेष, मुनिपटिचरित आदि लिखकर चारित्रिक मूल्यों और सदाचार की प्रतिष्ठा की । यहां के विद्याविलासी शासकों में अजयराज कक्कू, विग्रहराज चतुर्थ 'और पृथ्वीराज तृतीय प्रमुख है । सोमदेव विमूहराज चतुर्थ का राज कवि था जो प्रेमाख्यान का अच्छा रचयिता था । पृथ्वीराज के समय पण्डित जयानक ने पृथ्वीराज विजय काव्य में वीर रस, अनुप्रास एवं कृतित्व का समुचित संयोजन किया है । मारवाड़ के महाराजा जसवन्तसिंह प्रथम विद्वानों के आश्रयदाता होने के साथ ही स्वयं भी विद्वान थे । इनका संस्कृत में लिखा "आनन्द विलास" वेदान्त से सम्बन्धित अच्छा ग्रन्थ है । इनका पुत्र अजीतसिंह स्वयं कवि और भाषाविद था । उसके समय में पं. बालकृष्ण ने अजितचरित्र और भट्ट जगजीवन ने अषितोदय लिखा । कविराज मुरारीदान का यशवन्त यशोभूषण का संस्कृत संस्करण अपने ढंग का अच्छा ग्रन्थ है । महाराजा को पुस्तकों से इतना प्रेम था उसने काशी, नेपाल आदि अनेक नगरों से अनेक संस्कृत के ग्रन्थ मंगवाकर अपने पुस्तकालय में सुरक्षित किये । आज यह पुस्तकालय "पुस्तक प्रकाश" के नाम से प्रसिद्ध है ।

बीकानेर दुर्ग के द्वार पर लगी रामसिंह प्रशस्ति (1650 ई) दुर्ग निर्माण की तिथि तथा रामसिंह तक के शासकों का वंशक्रम तथा उनकी उपलब्धियों पर अच्छा प्रकाश डालती है । इसका लेखक मुनि जेता था जिसकी भाषा में एक ओज और गतिशीलता थी। स्वयं का कर्ण था। उसने वैदिक के रायसिंह महोत्सव ' एवं ज्योतिष के ज्योतिष रलाकर की रचना की थी ।

हाड़ौती क्षेत्र भी प्राचीनकाल से विद्या का केन्द्र रहा है । शिलालेखों के क्षेत्र में खण्डवा के स्तूप स्तम्भ में (238–39) "त्रिरात्र" एवं आप्तोश्राम यज्ञ का उल्लेख है जो वैष्णव धर्म तथा वैदिक यह परिपाटी पर प्रकाश डालता है । 738 ई. का कोटा के निकट कणसुवा गांव के शिवालय में लगी लेख है जो शैव धर्म के प्रचार और राजस्थान में मौर्यवशी अन्तिम राजा की सूचना देता है । इसी प्रकार 1638 का गैपरनाथ का शिलालेख मन्दिर की प्रतिष्ठा और 1746 की चांदखेडी का शिलालेख जाटों के विरोघ के सम्बन्ध पर प्रकाश डालता है । इस भाग के

नरेश भी विद्या प्रेमी रहे है । जिनके समय के संस्कृत और भाषा के ग्रन्थ सरस्वती भण्डार तथा कोटा और बूँदी नरेशों के निजी संग्रहालयों में सुरक्षित है ।

रणथम्भौर के हम्मीर का दरबार व्युत्पन्न विद्वानों का आश्रयदाता था। जयसिंह सूरि जिसने कुमारपाल चरित रचा और जिसके नाथ का सम्बन्ध छिताई चरित से है, अपने समय के प्रसिद्ध विद्वान थे । विजयादित्य हम्मीर का पौराणिक काव्य था । इसी तरह रामभद्र सूरि और रामचन्द्र सूरि उस काल के प्रौढ़ लेखक थे ।

जयपुर राज्य का 1612 ई. का रामगढ़ शिलालेख, जिसे पदमाकर के पुत्र पीताम्बर ने लिखा था, संस्कृत पद्य का अच्छा नमूना है । मानसिंह, सवाई जयसिंह और रामसिंह का काल विद्योन्नति का स्वर्णयुग है । आमेर में अनेक संस्कृत के पण्डित आश्रय पाते रहे और वैद्यक, काव्य, नाटक और अनेक साहित्यिक रचनाओं को जन्म देते रहे । सवाई जयसिंह तो अपने युग के अच्छे विद्वान थे, विशेष रूप से ज्योतिष और शिल्पशास्त्र के.।जयपुर का पूरा खाका और जन्तर मन्तर का निर्माण उनके मस्तिष्क की अनोखी सूझ है । उन्होंने भारत के कोने–कोने से विद्वानों को बुलाकर अपने यहां आश्रय दिया । शिवानन्द गोस्वामी जो एक तैलंग ब्राह्मण थे, अच्छे टीकाकार और भाष्यकार थे । इसी प्रकार चक्रपाणि अच्छा तान्त्रिक था । निकेतन गोस्वामी कामशास्त्र का विद्वान था । महाराष्ट्र का रलाकर पण्डित जयसिंह के दरबार का समृद्ध विद्वान था जो संस्कारों का अच्छा ज्ञाता था। कृष्ण भी अच्छा विद्वान था जिसने जयदेव के गीत गोविन्द के अनुरुप 'रामगीत" की रचना की थी । महाराजा रामसिंह के समय में भी संस्कृत और वैद्यक के अध्ययन की समुचित व्यवस्था थी । ऐसे विद्या वैभव के कारण जयपुर दूसरी काशी के नाम से आज भी विद्वान जगत में प्रसिद्ध है ।

बागह जिसमें डूँगरपुर बांसवाड़ा सम्मिलित है संस्कृत भाषा की प्रगति की दृष्टि से पिछड़ा हुआ भाग नहीं था। भीलों के उपद्रव पर प्रकाश डालने वाला 1469 ई. का आंतरी लेख संस्कृत पद्य का अच्छा नमूना है । बांववाड़ा से प्राप्त मत्स्यपुराण (1620ई) की प्रति से तथा अग्नि रहस्य काण्ड (1661ई) आदि से प्रमाणित होता है कि इस प्रदेश में संस्कृत भाषा का अच्छा प्रसार था।

कतिपय लब्ध प्रतिष्ठ जैनाचायों ने लौकिक तथा धर्माचार तथा जैन पुराण और न्याय, वैधक, ज्योतिष आदि के सम्बन्ध में अनेक ग्रन्थों की रचना की थी जो अपने मौलिक एवं स्तुतिपरक साहित्य की दृष्टि से बेजोड़ है । प्राचीन एवं पूर्व मध्यकालीन प्राकृत एवं संस्कृत के लेखकों में हरिभद्र सूरि, प्रधुम्न सूरी, सिदश्री, जिनेश्वर सूरी आदि मुख्य विद्वान प्रसिद्ध हुए है।

इसके अतिरिक्त हजारों हस्तलिखित ग्रन्थ जो सरस्वती भण्डार, उदयपुर पुस्तक प्रकाश जोधपुर, अनूप संस्कृत पुस्तकालय बीकानेर, सरस्वती भण्डार कोटा, जैसलमेर भण्डार, पब्लिक पुस्तकालय भरपुर आदि में सुरक्षित है । समृद्ध ज्ञान की निधि है । इनमें विधि, न्याय, तर्क, वैधक, ज्योतिष, पुराण, धर्मशास्त्र, उपनिषद् आदि पर आधारित ग्रन्थ है जो 10वी शताब्दी से 18वी शताब्दी तक लिखे गये थे । उपरोक्त सभी ग्रन्थों से स्पष्ट है कि प्राचीनकाल से राजस्थान में साहित्य का सृजन अलग–अलग भाषाओं में होता रहा है तथा राजाओं द्वारा विद्वानों को आश्रय दिया जाता रहा है । इसी कारण राजस्थान में साहित्य का विकास हुआ ।

5.8 आधुनिक काल में साहित्य का विकास

काल निर्धारण इतिहास में हमेशा से ही वाद–विवाद का विषय रहा है, भले ही प्रत्येक गम्भीर इतिहासकार अपने काल निर्धारण को तर्कसंगत बताने का प्रयत्न करें । इसी प्रकार साहित्य में काल निर्धारण अपेक्षाकृत और भी अधिक कठिनाइयों में फंसा होता है क्योंकि एक निर्णायक तिथि पर सर्वमान्य सहमति होना कठिन है । व्यावहारिक दृष्टि से राजस्थानी साहित्यकारों एवं साहित्य आलोचकों द्वारा प्रतिपादित राजस्थानी साहित्य के आधुनिक काल के आरम्भ की तिथि को ही हम मानकर चले । डॉ. हीरालाल माहेश्वरी 1850 ई. को और मोतीलाल मेनारिया 1900 वि.स. (1843 ई.) को राजस्थानी साहित्य के मध्यकाल और आधुनिक काल की विभाजन रेखा मानते है, राजस्थानी भाषा के विकास काल को मोटे रूप में चार भागों में विभाजित किया जा सकता है (1) प्रस्तावना काल 750 ई. से 1000 ई. तक (2) प्राचीन राजस्थानी भाषा काल 1001 ई. से 1500ई तक (3) मध्यकालीन राजस्थानी भाषा काल 1501 से 1850ई (4) आधुनिक राजस्थानी भाषा काल 1851 से आरम्भ ।

आधुनिक राजस्थान साहित्य के सर्वेक्षण में बड़ी कठिनाई इस कारण उत्पन्न हो जाती है कि काफी बड़ी संख्या में साहित्यिक रचनाओं का प्रकाशन नहीं हुआ है । 1949 ई में राजस्थान के एकीकरण से पूर्व इस क्षेत्र में विभिन्न भागों के लोगों को एक दूसरे की रचनाओं के विषय में कम ज्ञान था । कारण स्पष्ट है कि सम्प्रेषण और सम्पर्क की सुविधाएँ कम ही थी । फिर भी यह संभव है कि कुछ और अधिक साहित्य प्रकाशित हो जाने पर राजस्थानी साहित्य के. विकास के विषय में जो कुछ यहां लिखा जा रहा है, उसके पुनर्निरीक्षण की आवश्यकता पड़े । वर्तमान ज्ञान तथा अवलोकन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अन्य भारतीय भाषाओं – बंगाली, मराठी, गुजराती और हिन्दी के गद्य साहित्य में सामाजिक और आर्थिक समस्याओं के प्रति जिस प्रकार की चेतना प्रतिबिम्बित होती है, अथवा जिस प्रकार की जागरूकता व्यक्ति के राजनैतिक और नागरिक अधिकारों तथा निष्पक्ष और निर्विवाद न्याय के प्रति दिखाई पड़ती है, वह राजस्थानी गद्य में नहीं है । प्रचलित सामान्य धारणा के अनुसार 18वीं सदी को अराजकता, अशान्ति, मराठा अतिक्रमण लूटपाट तथा अव्यवस्था का युग माना जाता रहा है और उसकी तुलना में 19वी सदी और 20वी सदी का पूर्वाद्ध शान्ति और युद्धाभाव का समय माना गया है । शान्ति और व्यवस्था का समय तथा संचार माध्यमों के विकास का युग तथा बाह्य जगत से सम्पर्क बढ़ना सामान्यत: पुनर्जागरण और साहित्यिक रचनाओं के लिए प्रेरणास्पद रहा है । किन्तु 1800 ई से 1949 तक के काल में साहित्य की मौलिक रचनाओं में पहले की अपेक्षा पतन स्पष्ट दिखाई पड़ता है । राजस्थान में ऐसा क्यों हुआ? मुगलों के साथ सम्पर्क और फारसी के प्रभुत्व ने राजस्थानी साहित्य के विकास को अवरुद्ध नहीं किया था । फिर अंग्रेजी प्रभुत्व के पश्चात् ऐसा क्यों हुआ? सम्भवत: ऐसा इसलिए हुआ कि अंग्रेजी प्रश्रय के कारण जीर्ण तथा गतावधि कुलीय सामन्ती व्यवस्था नहीं रही जो अंग्रेजी प्रश्रय से प्राप्त जीवन शक्ति के कारण बड़ी सरलता से उनके सुझाये हुये कार्य पर चलती रही । नये मूल्यों को ठीक समझकर पुरानी परम्पराओं को औपचारिक बनाती गई । और सार्वजनिक जीवन की सजीव धारा को निर्जीव बनाने में सहायक हुई । प्रशासनिक और न्यायिक तथा अन्य सार्वजनिक क्षेत्रों में नई

संस्थाओं की संरचना अंग्रेजों तथा बाह्य व्यक्तियों की नियुक्ति का आधार बनी । आय के वे साधन जो स्थानीय प्रतिभावान व्यक्तियों एवं कलाकारों को प्रश्रय देने में लगाये जा सकते थे, अब बाह्य वस्तुओं के खरीदने अथवा बाह्य लोगों के वेतन देने पर खर्च होने लगे । इसका परिणाम यह हुआ कि स्थानीय कलाकारों, शिक्षा संस्थाओं, विद्वानों को उत्तरोतर कम प्रश्रय अथवा अनुदान मिला । साथ ही राजाओं तथा राज परिवार के सदस्यों की अभिरुचि कला और साहित्य में तेजी से कम होती गई । 1850 के पश्चात् शासकों की शिक्षा तथा साहित्य में रुचि अधिक से अधिक कुछ पुस्तकालयों की स्थापना अथवा हस्तलिखित ग्रन्थों के सुरक्षित रखने तक सीमित हो गई । इन सब प्रवृतियों का परिणाम यह हुआ कि एक मध्यम वर्ग का विकास नहीं हो सका और पुरानी साहित्यिक प्रतिभाओं को मिश्रण नहीं मिल सका इसके अतिरिक्त यह भाषा न तो राज भाषा थी और न शिक्षा का माध्यम थी । हिन्दी के बढ़ते विकास से भी इस भाषा का महत्व कम होने लगा । इसके अतिरिक्त उस समय सूर्यमल मिश्रण को छोड़कर कोई प्रतिभाशाली लेखक भी नहीं हुआ ।

18 शताब्दी के अन्त तक राजस्थानी साहित्य के 'रासो' और इसी कोटि की अन्य नामधारी रचनाओं को लिखने की परम्परा का हास हो गया था । वीर रस की कविताएँ पुरानी धरोहर थी लेकिन मौलिक कविताओं की रचना काफी पहले बन्द हो चुकी थी । कालान्तर में इन वीर कविताओं को भ्रमवश इतिहास समझा जाने लगा । लेकिन 19वी सदी में इन मान्यताओं को भी धक्का लगा । वीर काव्य केवल काव्य रह गया उसमें इतिहास ढूंढना ही व्यर्थ हो गया । पश्चिमी प्रभाव के कारण इतिहास की अधिक छानबीन होने लगी । इसलिए ऐतिहासिक तथ्य के प्रति कवियों के दृष्टिकोण में भी बदलाव स्वाभाविक हुआ ।

राजस्थानी साहित्य पर आधुनिकता का प्रभाव मुख्यत: इन राजनैतिक और ऐतिहासिक घटनाओं द्वारा होता है

1. 1857 का स्वतंत्रता संग्राम ।
2. भारत में ब्रिटिश शासन का सुदृढ़ होना ।
3. यूरोपीय महायुद्ध ।
4. महात्मा गाँधी के निर्देशन के असहयोग आन्दोलन ।
5. 1947 में भारतीय स्वाधीनता का उदय ।
6. राजस्थान का एकीकरण और जन प्रतिनिधियों द्वारा नव निर्माण एवं विकास कार्यो का आरम्भ होना, तथा
7. भारत पर विदेशी आक्रमण ।

आधुनिक काल में राजस्थानी साहित्य मुख्यत: तीन रूपों में प्राप्त होता है (1) गद्य साहित्य, (2) पद्य साहित्य तथा (3) लोक साहित्य । गद्य और पद्य दोनों रूपों में प्राचीन और नवीन शैलियां विद्यमान है ।विषय और रचना शैली की दृष्टि से आधुनिक राजस्थानी साहित्य में प्राचीनता और नवीनता का समन्वय एक विशेषता है । हम यहां आधुनिक साहित्य का इतिहास की दृष्टि से मोटे रूप से दो भागों में ही अध्ययन करेंगे पहला चारण साहित्य तथा दूसरा गद्य, पद्य तथा लोक साहित्य के रूप में ।

(अ) चारण साहित्य :

चारण साहित्य का नाम चारण जाति से नहीं, चारण शैली से है जिसकी रचना मुख्य रूप से चारणों तथा चारणोतर जातियों ब्राह्मण, राजपूत, ढाढ़ी, ढोली, राव, सेवक, मोतीस आदि ने की थी। इसमें वीर तथा श्रिंगार रस की प्रधानता रही और इसके प्रसंग युद्धों तथा शोर्य के आख्यानों पर आधारित है । इसमें नारी जीवन और उसके त्याग और बलिदान को बड़े भावात्मक वेग में वर्णित किया गया है ।

बादर ढाढ़ी कृत 'वीर भायण' चारण शैली की प्रारम्भिक रचना है, जिसको 15वी शताब्दी में लिखा गया था । इसमें रावल मल्लीनाथ और उनके ज्येष्ठ पुत्र जगमाल के वीर कृत्यों, राव वीरमजी का इतिहास और अन्त में उनके पुत्र गोगादेव का अपने पिता की मृत्यु का बदला लेते हुए युद्ध में वीरगति को प्राप्त करना सविस्तार से वर्णित है । इसमें इतिहास की अत्यन्त मूल्यवान सामग्री सुरक्षित है । गाड़ण शिवदास कृत "अचलदास खींची की वचनिका. तुकान्त गद्य और पद्य की रचना है । इसमें माण्डू के सुल्तान होसंग गौरी व गागरोन के राणा अचलदास खींची के युद्ध तथा राजपूत स्त्रियों के जौहर का सजीव वर्णन है ।

15वी शताब्दी के कवियों में अलाउद्दीन का नाम विशेष उल्लेखनीय है । जिसने कान्हडदे प्रबन्ध की रचना की । इसमें चौहानों का अलाउद्दीन से युद्धों का सजीव वर्णन है । साहित्यिक दृष्टि से यह एक वर्णात्मक सुन्दर कलाकृति है । राजस्थानी रासो में चन्दवरदाई के 'पृथ्वीराज रासो' की गणना सर्वोपरि है । इसमें पृथ्वीराज की वीरता एवं शौर्य का अच्छा वर्णन है । 16वी सदी के राजस्थानी साहित्य के चोटी के कवियों में दुरसा आढा का नाम विशेष उल्लेखनीय है । वह बीकानेर के राजा रामसिंह, सिरोही के राव सुरतान, जोधपुर के चन्द्रसेन तथा महाराणा प्रताप के युग का था । अकबर के दरबार में भी इसका विशिष्ट स्थान था । दुरसा हिन्दू संस्कृति और शौर्य का प्रशंसक तथा भारतीय एकता का भक्त था।

1. **बांकीदास (1771 – 1833) :** बांकीदास आसिया कुल का चारण कवि था । जोधपुर में मानसिंह के दरबार में राजकवि बन जाने से ख्याति प्राप्त की । वह न केवल आशु कवि ही था वरन् गद्य, पद्य का लेखक तथा संस्कृत, ब्रज, राजस्थानी एवं फारसी भाषाओं का अच्छा लता था । बांकीदास की ख्यात राजस्थानी इतिहास का स्त्रोत ग्रंथ है । ऐतिहासिक घटनाओं तथा नीतियों की गहन जानकारी होते हुए भी उसने अपने समय का क्रमानुसार वृतान्त नहीं लिखा । उसकी "ख्यात" में उन विभिन्न घटनाओं से सम्बन्धित ऐतिहासिक टिप्पणियां है जिन्हें वह महत्वपूर्ण समझता था । बांकीदास ग्रन्धावली की तीन जिल्दों में विभिन्न सामाजिक कुरीतियों जैसे वेश्यावृति, व्यापारियों की धन लोलुपता और चुगलखोर दरबारियों आदि पर बड़ी प्रभावशाली कविताएँ है जिनमें उसने व्यंग्यात्मक शैली का प्रयोग किया है । उसकी एक कविता "आयो इंगरेज मुलक रै उपर" महत्वपूर्ण कृति है जिसमें उसने, अंग्रेजों के आक्रमण और राजपूत शासकों द्वारा गंदे आदमियों की भाँति समर्पण करने की चर्चा की है । उसने ऐसा दर्शाया है कि राजपूतों की युद्ध शैली प्राय निष्प्राण हो गई थी ।

2. **दयालदास (1798–1891) :** दयालदास बीकानेर के प्रसिद्ध इतिहास लेखक थे । उन्हें बीकानेर वंश का इतिहास लिखने के लिए कहा गया था ताकि वे उस राजघराने के प्रति कर्नल

टाड के अन्याय और दुराग्रहपूर्ण वर्णन से उत्पन्न ऐतिहासिक हानि को कुछ कम कर सके । टाड ने बीकानेर घराने को द्वितीय श्रेणी का कहा था । अपनी "बीकानेर राठौरा री ख्यात" या "दयालदास की ख्यात" में उसने मुगल दरबार में बीकानेर के शासकों के ऊँचे स्थान को दिखाया है । उसने बहुत से ऐसे तथ्यों को वर्णन किया है जिन्हें मुगल इतिहासकारों ने नहीं लिखा था । इस प्रकार मध्यकालीन इतिहासकारों के लिए दयालदास की ख्यात एक आवश्यक ग्रंथ है । दयालदास ने अपनी ख्यात 19वीं सदी में लिखी लेकिन वह मध्यकालीन वातावरण में डुबा रहा वह अपने समय के परिवर्तन का वर्णन करने में असमर्थ रहा ।

3. **सूर्यमल मिश्रण (1872 – 1920 वि. स.) :** 1857 के स्वतंत्रता संघर्ष से प्रभावित होकर जिन कवियों ने अपनी रचनाओं से स्वाधीनता प्रेमियों को प्रभावित किया उनमें सूर्यमल मिश्रण एक है । आधुनिक काल के राजस्थानी साहित्यकारों में सूर्यमल मिश्रण का स्थान सर्वोपरि है । ये चंडीदान के पुत्र थे । इनके चार ग्रंथ वंश भास्कर, वीर सतसई, बलवन्त विलास और छदो–मयूख प्रसिद्ध है । वंश भास्कर बूँदी राज्य का पद्यात्मक इतिहास है और तत्कालीन राजस्थान के इतिहास पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है । वीर सतसई में तो कवि प्रवर ने निष्क्रिय राजपूत नरेशों को स्वाधीनता संग्राम में संगठित हो ब्रिटिश सत्ता का मुकाबला करने के लिए प्रेरित किया । डिंगल भाषा के वीर रस के कवियों में सूर्यमल का स्थान सर्वोपरि माना जाता है । उसके ग्रंथो से कवि का स्वाभिमान तथा स्वतंत्रय प्रेम झलकता है ।

4. **केसरीसिंह बारहठ (1872 ई – 1941 ई.) :** केसरीसिंह राजस्थान में क्रान्तिकारी दल के नेता थे, जिन्होंने मातृभूमि की सेवा में अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया । इनके पुत्र प्रतापसिंह को भी ब्रिटिश शासन की कोपाग्नि का शिकार होना पड़ा । केसरीसिंह ने उदयपुर के महाराणा फतेहसिंह को "चेतावणी रा चूंगट्या" के रूप में राजस्थानी दोहे लिख कर 1912 के प्रसिद्ध दिल्ली के दरबार में जाने से रोक दिया ।

5. **श्यामलदास :** बांकीदास, दयालदास और सूर्यमल मिश्रण के वर्णनों में ऐतिहासिक दोष एक सीमा तक उनके दृष्टिकोणों के परिणाम थे । वे इतिहास को पुरानी परम्परा के अनुसार भावुकतापूर्ण बनाना चाहते थे । इतिहास लेखन को अधिक विस्तृत और वस्तुनिष्ठ बनाने की आवश्यकता थी । श्यामलदास ने अपना वृहत ग्रन्थ "वीर विनोद" इस परिवर्तित शैली में लिखा। यह मेवाड़ के इतिहास के लिए तो विशेषत: एक मूल स्त्रोत बन गया है । इस ग्रन्थ में चारण भाटों द्वारा रचित ग्रन्थों की भाँति राजभक्ति भी पर्याप्त मात्रा में है, अन्तर केवल इतना है कि यह भक्ति अब अंग्रेजों के प्रति की गई है । श्यामलदास ने राजस्थान पर अंग्रेजी प्रभुत्व की स्थापना को अराजकता से मुक्ति के समान माना है ।

श्यामलदास 1847– 86 ई. के मध्य मेवाड़ सरकार में कार्यरत रहे और पहली बार उन्हें एक इतिहास लेखन कक्ष स्थापित करने का आदेश हुआ । इन्होंने तत्कालीन एवं प्राचीन ख्यातों को एकत्रित कर संस्कृत एवं फारसी स्त्रोत, यहां तक कि पाश्चात्य इतिहासकार कनिघम, मिल तथा इलियट हण्टर, एचिसन आदि को भी अपने वीर विनोद नामक विशाल ऐतिहासिक ग्रन्थ में उद्धृत किया । वीर विनोद ग्रन्थ की मुख्य विशेषता यह रही है कि इसमें मेवाड़ राजवंश के इतिहास के साथ–साथ अन्य राज्यों के इतिहास का भी उल्लेख किया है । इसमें प्रथम बार

मूल शिलालेखों का समावेश किया गया है । यह हिन्दी भाषा में है परन्तु यत्र तंत्र फारसी, उर्दू और अंग्रेजी शब्दों का भी प्रयोग हुआ है । यहीं से राजस्थान का इतिहास हिन्दी में लिखने की परम्परा चल पड़ी!

श्यामलदास की बड़ी देन यह है कि उसने टॉड द्वारा वर्णित बहुत सी त्रुटियों को सुधारा है जैसे टॉड ने मीरा को कुम्भा की पत्नी बना दिया अथवा सलीम को हल्दीघाटी के युद्ध में उपस्थित कर दिया । शिलालेखों तथा स्थानीय स्त्रोतों के गहन अध्ययन के आधार पर श्यामलदास ऐसा करने में सफल हो सका । आधुनिक समय में बहुत से लेखकों ने श्यामलदास के वर्णन को सही मानकर उसे मूल स्त्रोत के रूप में प्रस्तुत किया है ।

6. **गौरीशंकर – हीराचन्द ओझा :** गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने अपना जीवन श्यामलदास के अधीन इतिहास कार्यालय के सचिव के रूप में आरम्भ किया था । उनका पहला मौलिक ग्रन्थ "प्राचीन लिपिकाल" 1894 में प्रकाशित हुआ । 1902 में उसने टॉड कृत "एनाल्स" का. अनुवाद किया जो कई भागों में छपा । 1908 में उनको अजमेर के राजपूताना म्यूजियम का क्यूरेटर बना दिया गया, जहां वे 75 वर्ष की आयु तक कार्य करते रहे । उन्होंने पांच जिल्दों में राजपूताने का इतिहास तथा दो जिल्दों में उदयपुर राज्य का इतिहास लिखा था । इसके अतिरिक्त भी उन्होंने बहुत से लेख लिखे । 1914 में उन्हें रायबहादुर की उपाधि प्रदान की गई।

ओझा ने 'वीर विनोद' और अभिलेखों का अपने ग्रन्थ में बहुत अधिक उपयोग किया है। उनकी एक प्रमुख देन तो यह थी कि उन्होंने राजपूतों को क्षत्रिय बताया और उनका शकों और सीथियनों की सन्तान होने के सिद्धान्त का खण्डन किया । उन्होंने स्थानीय स्त्रोतों के महत्व को भलीभाँति स्पष्ट किया और केवल फारसी इतिहासकारों पर निर्भर रहने की प्रवृति को गलत बतलाया । उनका मानना था कि उदयपुर राज्य के पतन का मुख्य कारण उनका मुगलों से अलग रहना था । उनका मानना था कि राजस्थान में मराठों को आमन्त्रित करने में सामन्तों की भूमिका प्रमुख थी और राजपूत शासक अपनी परम्परागत अहम व्यक्तिगत प्रतिस्पर्द्धा के कारण संगठित नहीं हो सके । अपना प्रभुत्व स्थापित करने की सामन्तों की महत्वाकांक्षा और शासकों की अयोग्यता आन्तरिक अव्यवस्था के लिए दोषी थी; फिर भी ओझा ने 18वीं सदी की अव्यवस्था के लिए मराठों को दोषी ठहराया और अंग्रेजी संरक्षण को राजपूत राज्यों के लिए एक वरदान बताया । हिन्दी में इतिहास लिखकर इस भाषा को समृद्ध बनाने में उनका योगदान उल्लेखनीय है ।

19वीं सदी में अंग्रेजी प्रभुत्व के पश्चात् सृजनात्मक राजस्थानी साहित्य के विकास में बड़ी शिथिलता आयी । विभिन्न राज्य सरकारों का राजस्थानी भाषा को प्रोत्साहन न दिया जाना इसके लिए उत्तरदायी था । राजस्थानी में जो रचनाएँ रची गई उन्हें प्रकाशित नहीं किया जा सका और वे हस्तलिखित ग्रन्थों के रूप में ही रही ।

(ब) राजस्थानी भाषा का साहित्य:

आधुनिक राजस्थानी भाषा के लिए मौलिक कार्य करने का श्रेय जोधपुर के रामकरण आसोपा को है जिन्होंने 1896 में मारवाड़ी व्याकरण का प्रकाशन किया । व्याकरण के अतिरिक्त मारवाड़ी भाषा का वृहद् कोष भी इनके द्वारा संकलित किया गया था । उन्होंने गीता

का राजस्थानी में अनुवाद किया । इन्होंने इटालियन विद्वान टैसिटोरी ने राजस्थानी भाषा के स्वतंत्र व्यक्तित्व को पश्चिमी जगत के सम्मुख प्रस्तुत किया । टैसिटोरी ने ऐतिहासिक और चारण हस्तलिखित ग्रन्थों की तीन विवरणात्मक सूचियाँ और चारणों की सर्वेक्षणात्मक रिपोर्ट प्रकाशित की ।

पद्य साहित्य राजस्थानी भाषा का उल्लेखनीय भाग है । इस युग में शंकरन दान सामोर (1824–78) प्रसिद्ध चारण कवि हुए है । इन्होंने साहित्यकार का स्वतंत्र व्यक्तित्व लोगों के सामने रखा । सामोर ही इस युग के एकमात्र कवि थे जिन्होंने सामाजिक एवं आर्थिक दशा पर कविताएँ लिखी । ऐसे ही कृपाराम चारण ने राजिया के सोरठे नाम से नीति सम्बन्धी सोरठे लिखे । नाथूदान महियारिया ने वीर सतसई में वीर वीरांगनाओं के मनोभाव सजीव रूप से प्रदर्शित किये है । उमरदान लालस के अपने "उमर काव्य" में समाज सुधार पर बल दिया ।

महाराज चतुरसिंह (1879 –1929 ई.) मेवाड़ के एक लोकप्रिय भक्त हुए है इन्होंने गीता का मेवाड़ी में अनुवाद किया और योग तथा' भक्ति पर उत्तम दोहे लिखे ।

हिंग्लाजदान (1886–1948) जयपुर में चारण परम्परा के अन्तिम कवि थे । इन्होंने देशभक्तिपूर्ण कविताएँ लिखी ।

आरम्भ में तो राजस्थानी भाषा में गद्य साहित्य का अभाव रहा । राजनीतिक दमन एवं सामाजिक कुरितियों के विरोध में जल्दी ही गद्य साहित्य में नाटक, लघु कहानियां लिखी जाने लगी । गद्य साहित्य में शिवचन्द्र भरतिया (1853–1918) का कार्य विशेष उल्लेखनीय है । उनके "कनक सुन्दर" उपन्यास (1930) में रूढ़िवादिता का विरोध किया गया है । मोतीलाल मेनारिया, विजयदान देथा भी इसी श्रेणी के कवि थे । 19वीं सदी के पांचवे दशक में राजस्थानी में लघु कहानियां भी लिखी जाने लगी । इस समय में लक्ष्मी कुमारी चूण्डावत, मुरलीधर व्यास आदि मुख्य कहानी लेखक हुए है । कन्हैयालाल सहल ने राजस्थानी कहावतों और वार्ताओं का संग्रह किया । राजस्थानी शब्दकोष तैयार करने में सीताराम लालस का योगदान अद्वितीय है । अधिकांश जन नेताओं ने भी अपने भाषण राजस्थानी भाषा में ही दिये है । स्वयं गीतों के रचनाकार स्वतन्त्रता संग्राम के लिए लोगों को प्रेरित करते थे । जयनारायण व्यास, हरिभाई किंकर, गोकुल भाई भट्ट, हीरालाल शास्त्री, एवं माणिक्यलाल वर्मा के नाम इस संदर्भ में उल्लेखनीय है । इस तरह से जनजागरण, समाज सुधार, स्वतन्त्रता संग्राम को गति देने में राजस्थानी साहित्य का महत्वपूर्ण योगदान रहा है, क्योंकि राजस्थानी यहां की जन भाषा है ।

5.9 सारांश

अठारवीं सदी तक राजस्थान में प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति जारी रही, जिसका ध्येय ज्ञान, व्यक्तिगत कल्याण और जीविका निर्वाह के साधन उपलब्ध कराना था । शिक्षकों को अपने ढंग से शिक्षा देने की स्वतंत्रता थी । राज्य सरकारें शिक्षकों और शिक्षण संस्थाओं को समय–समय पर आर्थिक एवं भूमि अनुदान देती रहती थी । उन्नीसवीं सदी के अन्त में अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार में शासकों, उच्च जातियों, प्रतिष्ठित नागरिकों, अंग्रेज अधिकारियों तथा ईसाई धर्म प्रचारकों का सामूहिक योगदान दिखाई पड़ता है । व्यवसायी तथा नौकरी पेशा वर्ग ने अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से आगे बढ़ने तथा अंग्रेजो की कृपा प्राप्त करने की आशा से उसका

स्वागत किया । इसलिए बीसवीं सदी में अंग्रेजी शिक्षा का अधिक प्रसार हो पाया । शिक्षा के साथ–साथ साहित्य का विकास भी समय की आवश्यकता के अनुरुप होता रहा । राजस्थान में यह साहित्य प्रारम्भ में संस्कृत व प्राकृत में रचा गया, क्योंकि प्राचीन काल में व्यापक रूप से इन्हीं भाषाओं की मान्यता थी । मध्ययुग के आरम्भकाल में अपभ्रंश और उससे जनित मरुभाषा और स्थानीय बोलियों में साहित्य की रचना होती रही । बीसवीं सदी में हिन्दी साहित्य के विकास के कारण अन्य भाषाओं का विकास अवरुद्ध हो गया । अब अधिकांश साहित्यिक रचनायें हिन्दी भाषा. में लिखी जाने लगी ।

5.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. प्राचीन काल में शिक्षा का क्या उद्देश्य था?
2. राजस्थान में प्राचीन काल से 18वीं सदी तक शिक्षा की क्या व्यवस्था थी?
3. राजस्थान के राज्यों में अंग्रेजी शिक्षा कब और क्यों आरम्भ की गई ।
4. अंग्रेजी शिक्षा का सबसे अधिक प्रसार किस जिले में हुआ ।
5. राजपूतों की शिक्षा के लिए अलग व्यवस्था क्यों की गई ।
6. ईसाई मिशन संस्थाओं का शिक्षा प्रसार में किस प्रकार का योगदान रहा ।
7. राजस्थान के साहित्य के विकास में चारण साहित्य का क्या योगदान रहा।
8. राजस्थानी साहित्य के विकास में क्या–क्या बाधाएँ थी।

5.11 सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची

(1) श्यामलदास : वीर विनोद

(2) गौरीशंकर हीराचन्द ओझा : उदयपुर राज्य का इतिहास भाग दो

(3) जगदीशसिह गहलोत : राजस्थान का सामाजिक जीवन

(4) एम एल. शर्मा : हिस्ट्री ऑफ द जयपुर स्टेट

(5) गोपीनाथ शर्मा : सोशियल लाइफ इन मिडिवल राजस्थान, राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास

(6) राजस्थान डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, बूँदी, झालावाड़, सिरोही और कोटा ।

(7) राजस्थान के राज्यों की एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्टस

(8) आर पी. व्यास : आधुनिक राजस्थान का वृहत् इतिहास भाग एक एवं दो

(9) एम एस. जैन : आधुनिक राजस्थान का इतिहास

(10) डी डी. गौड : कांस्टीट्यूशनल डेवलपमेन्ट ऑफ दी इस्टर्न स्टेटसू

(11) कालूराम शर्मा : 19वी सदी के राजस्थान का सामाजिक और आर्थिक जीवन

(12) हीरालाल महेश्वरी : हिस्ट्री ऑफ राजस्थानी लिटरेचर

(13) मोतीलाल मेनारिया : राजस्थानी भाषा और साहित्य

(14) पुरुषोतम मनोरिया : राजस्थानी साहित्य का इतिहास

इकाई – 6

आधुनिक राजस्थान में सामाजिक व आर्थिक प्रवृत्तियों

इकाई की संरचना

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 सामाजिक प्रवृत्तियां

6.2.1 राजस्थान में समाज का ढाँचा

6.2.2 सामाजिक कुरीतियों का दमन

6.2.3 शिक्षा व्यवस्था

6.2.4 आर्य समाज द्वारा सुधार के प्रयत्न

6.2.5 सारांश

6.3 आर्थिक प्रवृत्तियां

6.3.1 कृषि की दशा

6.3.2 उद्योग–धंधे

6.3.3 व्यापार

6.3.4 सारांश

6.4 शब्दावली

6.5 अभ्यासार्थ प्रश्न

6.6 सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची

6.0 उद्देश्य

1818 से 1823 तक राजस्थान के सभी राज्यों ने ईस्ट इंडिया कम्पनी के साथ संधियाँ कर ली थी। इस समय से वे राज्य फिर से शान्ति व सुव्यवस्था की ओर बढ़ने लगे। उन्नीसवी शताब्दी में भारत में अनेक सामाजिक व धार्मिक सुधार आन्दोलन हुए। उन्होंने अनेक सामाजिक कुरीतियों का विरोध किया। उनके आन्दोलनों ने भारतीय समाज में एक नवीन चेतना का उदय किया। इसका प्रभाव राजस्थान पर भी पड़ा और इस प्रदेश में भी सामाजिक कुरीतियों के उन्मूलन की ओर कार्य किया गया। इस प्रकार की प्रवृत्तियों की जानकारी देने का प्रयास इस इकाई में किया गया है।

शान्ति व सुव्यवस्था की क्रमश: स्थापना ने तथा ब्रिटेन की आर्थिक नीतियों ने समस्त भारत में अनेक आर्थिक प्रवृत्तियों को जन्म दिया। आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए प्रदेश राजस्थान पर भी इसका प्रभाव पड़ा। सामाजिक क्षेत्र की प्रवृत्तियों के साथ–साथ इस इकाई में 1818 से 1947 तक की प्रवृत्तियों की जानकारी भी दी गई है।

6.1 प्रस्तावना

इस इकाई के दो भागों की प्रस्तावना व विषय वस्तु आदि का अध्ययन अलग–अलग किया गया है। सामाजिक क्षेत्र में सामाजिक ढ़ाचाँ, कुरीतियों का दमन, वेशभूषा, शिक्षा व्यवस्था

तथा आर्य समाज के सुधार प्रयत्नों का विवरण दिया गया है। आर्थिक क्षेत्र में 1818 में राज्यों की स्थिति,कृषि, उद्योग, व्यापार, यातायात के साधनों में वृद्धि आदि के प्रभावों का विवेचन किया गया है।

6.2 सामाजिक प्रवृत्तियां :

अठारहवीं शताब्दी को हम राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्र में अवनति का युग कह सकते है। इस समय में हिन्दू अनगिनत जातियों एवं उपजातियों में विभाजित थे। इन विभिन्न जातियों व उपजातियों के बीच सदभावना का अभाव था। भारत की जनता देश के प्रतिनिष्ठावान न रहकर छोटे–छोटे समूहों में बँट गई थी। सतीप्रथा, बाल–विवाह, बहु–विवाह, पर्दा–प्रथा आदि कुरीतियां प्रचलित थी। ऊँच–नीच के भेदभावों के कारण समाज के निम्न भागों की दशा शोचनीय थी। मुस्लिम समाज की दशा भी अच्छी नहीं थी।

उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वाद्ध में भारत में सामाजिक व धार्मिक सुधार आन्दोलन का आरम्भ हुआ। शान्ति व सुव्यवस्था की स्थापना, यातायात के साधनों का विकास तथा पाश्चात्य सभ्यता के साथ सम्पर्क के प्रभाव आदि कारणों ने भारतीयों में नव चेतना जागृत की। इसमें नव–उदित मध्यम वर्ग ने अपना योगदान दिया। समाचार पत्रों और समकालीन साहित्य में भी सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध आवाज उठाई गई। शिक्षा के प्रसार ने भी इसमें अपना योगदान दिया। भारत के प्राचीन काल के गौरव के. गुणगान ने भारतीयों में पुन: आत्मविश्वास की भावना जागृत की। ईसाई धर्म के प्रचार कों द्वारा भारतीयों के धर्म परिवर्तन करने की दिशा में किये गये प्रयत्नों ने भी सुधारकों को सामाजिक वधार्मिक कुरीतियों को दूर करने के लिये प्रेरित किया।

उन्नीसवीं व बीसवीं शताब्दी के धार्मिक व सामाजिक सुधार आन्दोलनों में ब्रह्मसमाज प्रार्थना समाज, रामकृष्ण मिशन,थियो सोफिकलसोसाइटी, आर्य समाज व राधास्वामी मत आदि प्रमुख थे। अलीगढ़ आन्दोलन ने मुस्लिमों,रहनुमाये मज्दयासना सभा ने पारसियों तथा खालसा दीवान व अकालियों ने सिक्खों में सामाजिक व धार्मिक कुरीतियों को दूर करने का प्रयत्न किया।

यद्यपि ब्रिटिश सरकार ने सामाजिक व धार्मिक मामलों में निष्पक्षता की नीति अपनाने का निश्चय किया था किन्तु उसने भी अनेक सामाजिक कुरीतियों का दूर करने के लिये कानून बनाये। उसने अपने पोलिटिकल विभाग के अधिकारियों (Agents) द्वारा देशी राज्यों को ऐसे कानून पारित करने के लिये प्रेरित किया। फलस्वरुप राजस्थान के राज्यों में भी कुरीतियों को समाप्त करने के लिये कानून बनाये गये। लेकिन इनको लागू करने में यहां के शासकों ने विशेष उत्साह का प्रदर्शन नहीं किया।

सारांश :

1. उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में भारतीय समाज की दशागतिहीन थी तथा उनमें अनेक कुरीतियाँ प्रचलित थी।
2. उन्नीसवीं शताब्दी में अनेक कारणों से भारत में सामाजिक व धार्मिक सुधार आन्दोंलन आरम्भ हुए।

3. ब्रिटिश सरकार ने धार्मिक व सामाजिक मामलों में निष्पक्षता की नीति अपनाते हुए भी सामाजिक कुरीतियों को दूर, करने के लिये अनेक कानून पारित किये।
4. देशी राज्यों में स्थित ब्रिटिश अधिकारियों ने भी वहां के शासकों से भी ऐसे कानून पारित कराये लेकिन राजस्थान में इन कानूनों को लागूकरने के प्रतिशासकों ने विशेष उत्साह का प्रदर्शन नहीं किया।

6.2.1 राजस्थान मे समाज का ढाँचा :

इस काल में हिदूसमाज का ढाँचा परम्परागत आधार पर ही विकसित था। ब्राह्मणों,क्षत्रियों, वैश्यों व शुद्रों की मूलजातियों के अन्तर्गत अनेक उपजातियाँ अस्तित्व में आ चुकी थी। प्रत्येक जाति व उपजाति का स्थान वंश पर आधारित होता था। प्रत्येक जाति का अपना सोपानात्मक ढाँचा होता था, जिसमें उनकी विविध शाखाओं की अग्रता निर्धारित होती थी।

राजस्थान के परम्परागत सामाजिक ढांचे में ब्राह्मणों का सर्वोपरिस्थान था। अध्ययन–अध्यापन, धार्मिक कर्मकाण्डों के सम्पादन, पूजा–पाठ के अतिरिक्त अब ब्राह्मणों ने कृषि पशुपालन, व्यापार, कूटनीतिक कार्य व सैनिक सेवाओं को भी अपनाना प्रारम्भ कर दिया था।19वीं सदी की परिस्थितियों से बाध्य होकर राजपूतों ने भी कृषि, पशुपालन व अन्यव्यवसायों को अपनाया। यद्यपि वैश्य वर्ग व्यापार–वाणिज्य में रुचि रखता था तथापि वे अब विभिन्न राज्यों के उच्च प्रशासनिक पद की प्राप्ति में रुचि रखने लगे। 1818 ई. के बाद अपने हितार्थ अंग्रेजों ने अपने आर्थिक हितों की दृष्टि से वैश्यों को पूरा–पूरा संरक्षण दिया इनके पश्चात् समाज का निम्न वर्ग आता था, जिसमें परम्परागत चले आ रहे धन्धों एवं पेशों के आधार पर विद्यमान जातियां आती थी जैसे – लुहार, दर्जी, मोंची, खाती, नाई, तेली, धोबी, ढोली, तम्बोली आदि। निम्नवर्ग में भी जातीय भेद भाव था। उदाहरणार्थ ढोलियों में "गामेचा,"ढोली निम्नतम माने जाते थे। चमार,बोला, रेगर, खटीक आदि निम्नवर्गीय जाति के लोग अछूत माने जाते थे। इनके रहने के मकान भी गांव से बाहर एक तरफ बने रहते थे।

इनके अतिरिक्त वंशानुगत सेवकों–चाकर या गोलों – का भी एक वर्ग था जो राजपूतों की अवैध संताने हुआ करती थी1 चारण वर्ग का महत्व इस समय तक काफी कम हो गया था क्योंकि ब्रिटिश संरक्षण की स्थापना के बाद शासकों व सामन्तों के आपसी युद्ध लगभग समाप्त हो गये थे। ब्रिटिश सरकार के दबाव के कारण सभी राज्यों में "त्याग" के नियम बद्ध होने से व "शरण" देने के अधिकार समाप्त होने से उनकी प्रतिष्ठा को काफी आघात लगा था।[1] अब साहित्य रचना, खात लेखन, व्यापार व कृषि ही उनके प्रमुख व्यवसाय रह गये थे। बांकी दास, मुरारीदान, दयालदास, श्यामलदास, मनाथरत्न, सूर्यमलमिश्रण, ये सभी 19वी सदी के प्रसिद्ध चारण कवि व लेखक थे।

राजस्थान में ब्रिटिश संरक्षण के स्थापित होने के फलस्वरूप का यस्थ जाति का प्रशासन में पहले की भांति महत्व नहीं रह गया था।

---

5. जीएन. शर्मा, सोशल लाइफ इन मिडाइवल राजस्थान, पृ. 78
6. वही

फिर भी राज्य के छोटे–बड़े पदों पर उनकी नियुक्तियां काफी संख्या में होती थी।

राजस्थान में मीणा, भील, मेर आदि आदिवासियों की संख्या काफी थी।मीणा मुख्यत : कोटा,बूंदी, सिरोही, जहाजपुर, जयपुर में, भीलमेवाड़, डूंगरपुर, प्रतापगढ़, सिरोही, बांसवाड़ा में तथा मेर लोग मेरवाड़ा में निवास करते थे। अंग्रेजों ने "मेरवाड़ा बटालियन" व मेवाड़ में "भील–कौरप्स" की स्थापना कर के इनकी निष्ठा को राजकुलों से हटाने का प्रयत्न किया।[2]

राजस्थान की जातीय व्यवस्था के अन्तर्गत मुसलमानों का भी अपना स्थान था। यह एक अल्पख्यंक जातिथी, जिसके अपने रीति–रिवाज एवं प्रथाएं थी।धर्म परिवर्तित मुसलमानों में फतेहपुर, झुंझुनु व शेखावाटी के कायम खानी तथा मेवात के मेव उल्लेखनीय थे। इनके रीति–रिवाज एवं परम्परएं हिंदुओं कि तरह ही थे।मुसलमानों में भी आंतरिक जातिवाद कई रुपों में उभरा था जैसे-पिंजारा, भडभूंजा, नालबन्द, कूंजडा, जुलाहा, लखारा आदि। ये लोग अपने पैतृक व्यवसाय के अतिरिक्त सैनिक सेवाएं भी अपनाते थे।

परिवार का परम्परागत संयुक्त रूप ही अधिक प्रचलित था किन्तु अंग्रेजों द्वारा नये भूमि बन्दो बस्त में, प्रत्येक व्यक्ति की भूमिका राजस्व पृथक निर्धारित करने से भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार की भावना का विकास हुआ व संयुक्त परिवार प्रथा में दरारें पड़ने लग गई। घरेलू कुटीर उद्योगों के विकासत था ग्रामीणों द्वारा आजीविका के लिए शहरों की ओर पलायन ने भी व्यक्तिवाद को प्रोत्साहित किया वजिस से संयुक्त परिवार के विघटन को बढ़ावा मिला।[3]

संस्कारों में सोलह संस्कारों का महत्व काफी कम हो गया था। सामान्य जनता के पास अधिक धन न होने से वे संस्कारों के निर्वाह में स्वयं को असमर्थ पाते थे। अत: इस काल में इन संस्कारों का स्वरूप भी बदल रहा था।[4]

सारांश :

1. चार मूल जातियों के अन्तर्गत अनगिनत उपजातियों का अस्तित्व था।
2. जातियों व उपजातियों का अपना–अपना सोपानात्मक ढाँचा था।
3. ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्रों की स्थिति व कर्त्तव्य।
4. राजस्थान में विशिष्ट उपजातियाँ – चाकर या गोलों, चारण आदि की स्थिति।
5. राजस्थान की जनजातियों का उल्लेख।
6. मुस्लिम समाज की दशा।
7. संयुक्त परिवार प्रणाली के विघटन का आरम्भ।
8. सोलह संस्कारों के महत्व का कम होना।

---

1. आर पी. व्यास – राजस्थान हिस्ट्री कांग्रेस प्रोसिडिंग्ज भाग–8, पृ. 103
2. शर्मा व व्यास, राजस्थान का इतिहास, पृ. 554
3. वही पृ.555
4. आर.ए को.हिस्टोरिकल रिकार्ड, 222 फाइल नं. 14 एए, दृष्टव्य – शर्मा व व्यास – राजस्थान का इतिहास, पृ.557

6.2.2 सामाजिक कुरीतियों का दमन :

सती प्रथा -काफी समय से राजस्थान में व्यापक रूप से सती प्रथा प्रचलित थी। अपने पति की मृत्यु पर एक स्त्री उसकी चिता में जल कर सती हो जाती थी। ऐसी स्त्री को सम्मान पूर्वक याद किया जाता था। ब्रिटिश भारत में इस प्रथा को समाप्त करने के लिए राजा राम मोहन राय ने आन्दोलन किया। 1829 ई. में भारत के गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बैटिक ने सबसे पहले 1829 में बंगाल सूबे में इसे अवैध घोषित किया। शीघ्र ही इसे ब्रिटिश द्वारा शासित अन्य प्रदेशों में भी लागूकर दिया गया। अंग्रेजों ने इस प्रथा को देशी राज्यों में भी समाप्त करने के लिये प्रयत्न किया। इस दिशा में अनेक पोलिटिकल विभाग के अधिकारियों ने उत्साह का प्रदर्शन किया।.1844 ई में राजपूताना के एजेन्ट टूदी गवर्नर जनरल (Agent to the governer general in Rajputana) को भारत सरकार की ओर से आदेश प्राप्त हुआ कि राजस्थान की रियासतों में भी नरेशों को सतीप्रथा की कूरता व दारुणाई समझाई जाये और उन्हें सलाह दी जाए कि यह दूषित प्रथा समाप्त करने के लिए कानून बनायें। इसके अनुसार सती होना अपराध माना जाए और जो किसी स्त्री को सती होने का अनुरोध करे या इस कार्य में किसी प्रकार की सहायता करे, वे भी अपराधी माने जायें। अपराधियों को कठोर दण्ड दिया जाय। फलस्वरुप 1845 ई. में जयपुर में[1],1861 में उदयपुर में[2], 1860ई. में जोधपुर में, 1862 ई. में कोटा में इस प्रथा[3] को बंद करने के आदेश जारी किये गए। लेकिन राजपूताना के विभिन्न राज्यों में कार्य कर रहे भारत सरकार के पोलिटिकल विभाग के अधिकारियों ने यह अनुभव किया कि वहां के शासक सती प्रथा को गैर कानूनी घोषितकर ने अथवा घोषित कर ने के पश्चात् उसे लागूकर ने के प्रति उदासीन है। वास्तव में कई राज्यों में सती प्रथा को अवैध घोषित करने के बाद भी सती होने के कई उदाहरण हुए।1860 ई. में राज पूताना में गर्वनर जनरल के एजेन्ट ने भारत सरकार को, सूचित किया कि जोधपुर में दो विधवाएं सती हुई हैं। इसी पत्र में उसने मेवाड़ के शासक स्वरूप सिंह की मृत्यु पर उसकी एक दासी के सती होने की घटना का विवरण भी भेजा। इस मामले की जाँच करने पर पाया गया कि महाराणा के एक अधिकारी गोपालदास ने इस दासी को सती होने के लिए प्रोत्साहित किया था। इसके सती होने के समय गोपालदास व मेवाड़ का प्रधान केसरी सिंह वहां उपस्थित थे। फलत. दोनों पर मुकद माच लाया गया। पोलिटिकल एजेन्ट ने महाराणा का ध्यान भी इस ओर आकर्षित किया। वस्तुत: भारत सरकार की नीति के अनुसार सामाजिक व धार्मिक मामलों में प्रत्यक्ष रूप से हस्तक्षेप न करने के कारण राजपूताना में भारत सरकार के पोलिटिकल एजेन्ट ऐसे मामलों में स्वयं कोई ठोस कदम नहीं उठा सकते थे। वे केवल देशी राज्यों के शासक व प्रजा को इस मामले में ब्रिटिश सरकार की इच्छाओं से परिचित करा सकते थे और जहां तक संभव हो सके इस प्रथा में भाग लेने वाले व्यक्तियों को उनके शासकों द्वारा सजा दिलाने के लिए

1.हाथ बही नं. 4, पृ. 381–382 सं. 1904 दृष्टव्य–राजस्थान 1790–1862 – निर्मला गुप्ता,पृ.157

2. जमनेश ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग–2, पृ. 779–80

3.बीकानेर स्टेट आरकाइव्ज,नकल हुक्म अहकाम सं. 1918 दृष्टव्य– राजस्थान 1790–1862, निर्मला गुप्ता, पृ. 158.

प्रयत्न कर सकते थे।

1861 ई. में राजपूताना के गवर्नर जनरल के एजेण्ट ने अलवर की एक विधवा को इच्छा के विरुद्ध सती होने की घटना के समाचार भेजे।[2]

1862 ई. में सिरोही राज्य में रीवा के एक जागीरदार की मृत्यु पर उसकी विधवा सती हुई। यद्यपि सिरो ही में सती प्रथा को गैर कानूनी घोषित किया गया था लेकिन इस मामले में इस कानून का पालन नहीं किया गया। बाद में पोलिटिकल एजेन्ट की सलाह पर मृत ठाकुर के बड़े पुत्र को रीवा की जागीर से वंचित किया और सभी दोषी व्यक्तियों पर मुकदमे चलाये गये।[3]

1864 ई. में मेवाड़ में बेगूंठिका ने में एक स्त्री सती हुई। इस मामले में जाँच करने पर पोलिटिकल एजेन्ट को यह ज्ञात हुआ कि बेगूंका जागीरदार और वहां के कुछ व्यक्तियों ने इस घटना में सक्रिय भाग लिया था। अत: बेगूं के जागीरदार को एक मास की सजा दी गयी और उस पर पाँच हजार रु. जुर्माना किया गया। अन्य दोषी व्यक्तियों को भी मुकदमें के बाद सजाएं दी गई।'[4]

1868 ई. में मेवाड़ के कुंभलगढ प्रदेश में एक ब्राह्मण विधवा सती हुई। इस समय मेवाड़ के अन्य भागों में भी सती होने की घटनाओं के समाचार मिले। तत्कालीन महाराणा शम्भूसिंह ने इस सब घटनाओं के लिए दोषी व्यक्तियों को सजाएं दी। कुम्भगढ के एक गांव से अड़सठ व्यक्तियों को, जिनमें स्थानीय पटेल, पटवारी और अन्य राजकीय अधिकारी सम्मिलित थे, गिरफ्तार किया गया और उन्हें तीन से सात साल तक की सजा दी गई। बाद में मेवाड़ के पोलिटिकल एजेन्ट की सिफारिश पर महाराणा ने कुछ व्यक्तियों की सजाओं में कमी कर दी।[5']

1872 ई. में बीकानेर के एक ग्राम गुर बीदायर में सती की एक घटना हुई। बीकानेर के शासक ने सती हुई महिला के पुत्रों के विरुद्ध तुरन्त कार्यवाही की तथा उस ग्राम के पहरे दार से इस बारे में जानकारी देने को कहा। उसने पोलिटिकल एजेन्ट को इस बात की सूचना देते हुए लिखा कि वह दोषी व्यक्तियों को उचित सजा देगा।[6']

1874 ई. में मेवाड़ के महाराणा शम्भूसिंह के देहावसान के समय मेवाड़ के पोलिटिकल एजेन्ट को सूचना मिली कि महाराणा की मृत्यु पर उसकी चार पत्नियों का सती होने का इरादा है। पोलिटिकल एजेन्ट ने तुरन्त ही महल पर पहरा बिठा दिया ताकि कोई स्त्री सती होने के लिए बाहर न आस के। यद्यपि महाराणा की माता ने इस कार्यवाही का विरोध किया और इसमे

---

1. (अ) फोरेन पोलिटिकल, जून 1860. नं. 80–85,
   (ब) वही मई, 8, 1862, नं. 55–59.
2. फोरेन पोलिटिकल, डिस्पेच ऑफ द सेक्रेटरी ऑफ स्टेट टू द गवर्नर जनरल, फरवरी 16, 1861 नं. 4–6.
3. वही, ए. मार्च, 1862, नं. 59–61
4. वही, ए. अप्रैल, 1865, नं. 71 –73
5. फोरेन पोलिटिकल, ए, दिसम्बर 3, 1868, नं. 20–50
6. वही, जुलाई, 1871, नं. 84–88.

वाड़राज घराने की प्रतिष्ठा पर आघात बताया, फिर भी इस अवसर पर किसी स्त्री को सती नहीं होने दिया गया।

1880 ई. में मेवाड़ के एक ठिकाने बदनोर के एक ग्राम झालरखेड़ा में एक युवा स्त्री के सती होने की घटना के समाचार बदनौर के जागीरदार ने भेजे। उसने इस घटना में सम्मिलित होने वाले ग्यारह व्यक्तियों पर मुकदमा चला कर दोसे बारह वर्ष तक की सजा दी तथा कुछ ग्राम वासियों पर पाँच सौ रुपये जुर्माना किया।'

1883 ई. में जयपुर के एक ग्रामऊटरना में एक युवा स्त्री के सती होने की सूचना मिली। यद्यपि इस स्त्री ने अपनी खुशी सेंसती होना स्वीकार किया था लेकिन फिर भी मृत पुरुष के भाईयों और पुत्रों को भिन्न–भिन्न सजाएं दी गई, क्योंकि जयपुर राज्य के कानून के अनुसार एक स्त्री के सती होने के समय उपस्थित रहने वाले व्यक्ति भी अपराधी माने जाते थे।'

उपर्युक्त उदाहरणों के अतिरिक्त सती होने की ओर भी घटनाएं हुई होंगी लेकिन इतने ही उदाहरण यह स्पष्ट करते है कि यद्यपि विभिन्न शासकों ने इस प्रथा को अपने राज्यों में गैर कानूनी घोषित कर दिया था लेकिन इसे पूर्णत: समाप्त करने हेतु विशेष उत्साह नहीं दिखाया। जबकि अंग्रेज एजेन्टों ने सूचना मिलने पर उसे रोकने वदोषियों को सजा दिलाने के पूर्ण प्रयास किये। शनै:शनै: न केवल शासकों ने वर जनता ने भी इस प्रथा की कूरता को समझा व इस प्रथा की समाप्ति हेतु भर सक प्रयत्न किए व अपराधियों को दण्डित किया ।फलत: 19 वीं सदी के उत्तरार्द्ध के बाद से सती होने के बहुत ही कम उदाहरण देखने में आते है। आज भी यदा–कदा सती की एक दो घटना का होना सुना जाता है।

समाधि प्रथा:

प्राचीन काल से ही भारत के साधुओं में भूमि में समाधि लेने की प्रथा चली आ रही थी। जब कभी भी एक हिन्दू साधु अपनी देह त्यागने का निश्चय करता तो वह समाधि लगा लेता था। ब्रिटिश सरकार ने इस प्रथा को आत्महत्या मानकर रोकने का प्रयत्न किया। राजस्थान के राज्यों में इसे रोकने के लिए 1861 ई. में भारत सचिव के आदेश पर वहां के शासकों को लिखा गया। उन्हें इस प्रथा को गैर–कानूनो घोषित करने तथा उसमें सम्मिलित होने वाले व्यक्तियों को सजा देने की सलाह दी। मेवाड़ को छोड़कर सभी राज्यों ने इस आदेश के मिलते ही समाधि प्रथा को गैर कानूनी घोषित किया। गवर्नर जनरल ने मेवाड़ को भी इस संबंध में कानून लागू करने के आदेश दिये।

1875 ई. में राजपूताना में गवर्नर जनरल के एजेन्ट को बीकानेर के वकील ने सूचित किया कि वहां के तीन महन्तों ने समाधि लगाकर प्राण त्याग ने का निश्चय किया है इन महन्तों का आरोप था कि बीकानेर के अधिकारियों ने उनसे अधिक नज़रा ना व राजस्व वसूल कर के

---

1. वही, जून, 1847 नं. 95– 110.
2. वही, जून, 1880. नं. 166–69
3. फोरेन जनरल 1, जनवरी 1883 नं. 64–69
4. फोरेन जनरल, दिसम्बर, 1861, नं. 81–82

उनके साथ अन्याय किया है और इसका विरोध प्रकट करने हेतु वे ऐसा कदम उठा रहे हैं।बीकानेर के ब्रिटिश अधिकारी ने तुरन्त ही महाराजा को सूचित किया कि वह ऐसा नहीं होने दें। तीनों महन्तों को समझा ने पर उन्होंने समाधि लेने का निश्चय स्थगित कर दिया। गवर्नर जरनल ने इस मामले में विचार प्रकट करते हुए कहा कि एक ओर हमारा कर्तव्य देशी राज्यों की प्रजा को अत्याचारों से बचाना है तो दूसरी ओर राजा को ऐसे विद्रोहों से भी सुरक्षित करना है, जिनका कोई ठोस कारण नहो।'1

शिशु हत्या:

आम तौर पर राजस्थान के हिन्दुओं में पुत्री के जन्म का स्वागत नहीं किया जाता था। विशेषकर राजपूतों में पुत्री का जन्म बहुत ही दुखदायी माना जाता था। पुत्री के विवाह में भारी मात्रा में दहेज देने[2]' व चारणों व भाटों को इस अवसर पर दी जाने वाली भेंट–उपहार (त्याग–प्रथा) में असमर्थता इस प्रथा का प्रमुख कारण था। जाट व मेवातियों में भी यह प्रथा प्रचलित थी।[3]' मेरो व मीणाओं ने भी कन्या जन्म को परिवार व सम्प्रदाय के लिए घातक मान कर इस प्रथा को अपना रखा था। यद्यपि बाद में अंग्रेजों के प्रभाव से उन्होंने कन्या वधव अत्याधिक दहेज देने की कुप्रथा को समाप्त करने की लिखित प्रतिज्ञा भी की थी।

राजस्थान में सबसे पहले केप्टन हॉल ने मेरवाड़ा के मेर लोगों की पंचायत में कन्या वध बन्द करवाया था, परन्तु सबसे अधिक प्रशंसनीय कार्य लॉरेन्स व विलिकिन्सन ने किया जो 1833 ई. से 1834 ई. तक हाड़ौती का पोलिटिकल एजेन्ट था। उसके प्रयासों से बूँदी[6] कोटा[7] उदयपुर[8] के राज्यों में कन्या वध को रोकने के आदेश जारी किये गये। 1844 ई. तक राजस्थान के सभी राज्यों में इसका निषेध किया गया।

वस्तुत ब्रिटिश सरकार ने इस मामले में उतनी रुचि प्रदर्शित नहीं की जितनी कि सती प्रथा को रोकने में की थी। 1876 ई. से 1882 ई. तक मेवाड़ में चार कन्याओं का जन्म होते ही वध कर दिया गया। इन मामलों की जाँच न्यायालय द्वारा कराई गई तथा दोषी व्यक्तियों को सदा एंदी गई।'[9] सिर्फ मारवाड़ में ही प्रति वर्ष 300–400 कन्याओं के वध की सूचनाएं मिली थी[10]

1. फोरेन, जनरल, दिसम्बर, 1861, नं. 81–82
2. गवर्नर जनरल का बीकानेर पोलीटिकल एजेन्ट को पत्र टू द एजेन्ट इन राजपूताना, जुलाई 26,1875, न 1441–जी.
3. आर.के. सक्सेना, सोशल रिफोर्मसू इन्फेंटीसाइट एण्ड सती, पृ. 7
4. आर सी. मजूमदार (सम्पादक) ब्रिटिश पेरामाण्टसी एण्ड इण्डियन रेनेसा भाग 2, पृ–276.
5. आर.के सक्सेना,इन्फेंटीसाइट एण्ड सती, पृ. 38–39
6. परवाना बूंदी दीवान का 23, फरवरी 1834, नं. 17
7. खरीता राजा राणा कोटा का, कोरेस्पोन्डेन्स 23 जनवरी, 1834 नं. 17 फोरिन एण्ड पोलिटिकल
8. फोरिन एण्ड पोलिटिकल कोरेस्पोन्डेन्स 15 मार्च 1841 नं. 35–37
9. राजपूताना एजेन्सी रिकार्ड्स, कान्फीडेन्सियल, 1876,नं 2 व 1877, नं. 1
10. फोरेन एण्ड पोलिटिकल, दिसम्बर 28, 1848, कन्फीडेन्सियलनं. 295

इनमें से अनेक मामलों में समुचित कार्यवाही नहीं की जा सकी। शिक्षा के विकास के साथ–साथ बीस वीं सदी में कन्या वध लगभग बंद हो गया हैं।

त्याग प्रथा :

कन्या वध समाप्त करने के आदेशों के साथ–साथ अंग्रेज उच्चाधिकारियों ने चारणों व भाटों को दिये जाने वाले त्याग को भी सीमित किया। इस विषय में जयपुर के पोलिटिकल एजेन्ट लुड़ले ने ठाकुरों को व चारणों को समझाया और इस प्रथा के विरुद्धमत उत्पन्न किया। साथ ही कोटा, जोधपुर व मेवाड़ के पोलिटिकल एजेन्टों को भीइ सदिशा में प्रयास करने को कहा। इससे त्याग प्रथा बहुत सीमित हो गई, परन्तु निर्मूल नहीं हुई। फिर भी चारणों व भाटों का एक रियासत से दूसरी रियासत में, विशेषकर विवाहोत्सव पर जाना बंद कर दिया गया।

इसी संबंध में राजपूता ने के ए.जी.जी. वाल्टर ने 1888 ई. में राजपूत हितकारिणी सभा का गठन किया और कन्या वध को निर्मूल करने व त्याग को नियमित करने के नियम बनाये। प्रत्येक ठाकुर की आय का उचित अनुपात त्याग के रूप में दिये जाने का नियम बना दिया गया और विवाह खर्च भी सीमित कर दिया गया इसका प्रधान कार्यालय अजमेर में था और उसकी शाखाएं राजस्थान की सब रियासतों में खोली गई थीं।

डाकन प्रथा :

प्राचीन काल से भीलों में किसी भी महिला को डाकन होने के संदेह में शारीरिक यातनाएं दी जाने की प्रथा प्रचलित थी। यदि वह तीन दिन तक शारीरिक यातनाओं के बाद भी जीवित रहती तो उसे निरपराधमान लिया जाता था। 1841 ई. में मेवाड़ में खेरवाड़ा में मील कोर्पस की स्थापना के बाद से वहां के ब्रिटिश कमाण्डेन्ट ने उच्च अधिकारियों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया तथा मेवाड़ के महाराणा को ऐसे मामलों में दोषी व्यक्तियों को सजा देने के लिए कहा। 1852 व 1853 ई. में मेवाड़ में दो व्यक्तियों को इस अपराध में सजा दी गई। इन मामलों की सूचना ब्रिटिश अधिकारियों ने महाराणा को दी थी।'[1]

1854 में मेवाड़ के महाराणा ने एक घोषणा द्वारा महिलाओं को डाक न होने के संदेह में यातना देने को अपराध माना।यदि महिला की मृत्यु नहीं हुई तो अपराधियों को छः महिने तक की सजा दी जा सकती थी। महिला की मृत्यु होने पर दोषी व्यक्तियों पर खून का मुकदमा भी चलाया जा सकता था। ऐसी घटनाओं में भाग लेने वाले "भोपाओं" को भी सजा दी जाती थी।

---

1. फोरेन, ज्यूडिशियल, फरवरी 16,1853, नं. 121–23.
2. फोरेन, ज्यूडिशियल,जनवरी 27,1854, नं 157–60.
3. वही, बी. अक्टूबर 23,1861, नं. 49–53.
4. वही, नवम्बर 1862, नं. 186–88.
5. (अ) वही, बी. जुलाई 1863, नं. 24.
   (व) वही, दिसम्बर 1863, नं. 16–18.
   (स) फोरेन, जनरल, दिस. 1869, नं. 33–34.
   (द) फोरेन, पोलिटिकल, मई 7,1871, नं 281–86.

घटना के समय उपस्थित रहने वालों पर दो सौ रुपये तक जुर्माना किया जा सकता था। इस प्रकार का कानून डूंगरपुर, बांसवाड़ा, कुशलगढ़ और प्रतापगढ़ के राज्यों में भी बनाया गया।'[2]

किन्तु इन राज्यों के शासकों ने इस कानून को लागू करने में उत्साह का प्रदर्शन नहीं किया और समय–समय पर इन राज्यों के ब्रिटिश अधिकारियों ने महिलाओं को डाकन होने के संदेह में यातना दिये जाने की अनेक घटनाओं की सूचना उच्चाधिकारियों को भेजी। 1861 ई में खेरवाड़ा में भी लकोर्ट्स के एक सिपाही पर अपनी चाची की हत्या का आरोप लगाया गया। जाँच करने पर पाया गया कि वह केवल इस घटना के समय उपस्थित था। अत एव उसे उचित सजा दी गई।[3]' बिछी हेरा ग्राम में 1862 ई. में एक महिला को डाकन होने के संदेह में जंजीरो से जकड़ दिया गया। इसमें एक स्थानीय अधिकारी ने भी सक्रिय भाग लिया था। इस अधिकारी तथा "भोपा" पर मुकदमा चलाया गया।[4]" 1863–72 ई. के बीच मेवाड़ में चार और ऐसे मामलों की ओर ब्रिटिश अधिकारियों ने महाराणा का ध्यान आकर्षित किया और महाराणा ने सभी दोषी व्यक्तियों पर मुकदमा चलाकर उन्हें सजा दी।[5]' बांसवाड़ा में 1870 ई. में एक महिला को यातना देने की सूचना मिली।शीघ्र ही उस ग्राम में कुछ सैनिक भेज कर महिला की जान बचाई गई व दोषियों पर मुकद में चलाकर उन्हें सजा दी गई 1871 ई. में कुशलगढ़ में एक महिला की मृत्यु यातना के कारण हुई। ब्रिटिश अधिकारियों ने कुशलगढ़ के शासक पर दबाव डालकर अपराधियों को सजा दिलवाई। 1894 ई. में बांसवाड़ा में ऐसी ही एक घटना में महिला की मृत्यु हो गई। ब्रिटिश अधिकारी द्वारा इस ओर ध्यान दिलाने पर शासक ने अपराधियों को गिरफ्तार किया। बीसवीं शताब्दी में इस प्रथा का प्रचलन कम हो गया है लेकिन पूर्णतया समाप्त नहीं हुआ है।

दास प्रथा :

राजपूताना में दासप्रथा 19वी सदी के अंत तक जारी थी।राजपूताना में इन दास–दासियों की गोला, दारोगा, चाकर, दास, खानजादा, चोला इत्यादि नामों से पुकारा जाता था।'[1]ये दास–दासी प्राय: राजपूतों की अवैध संतानें हुआ करते थे व अपने स्वामी की वशतगत सेवकों के रूप में सेवा करते थे।

1862 ई. में राजपूताना के गवर्नर जनरल के एजेन्ट ने भारत सरकार को सूचित किया किस मस्त राजपूताना में धनी परिवार घरेलू कार्यों के लिए दास रखते हैं, लेकिन वे दासों के साथ अच्छा व्यवहार करते हैं और उन्हें परिवार के सदस्य की तरह मानते हैं। दास भी अपने स्वामियों के प्रतिनिष्ठा की भावना रखते है। इस लिए इस मामले में कोई कदम उठाने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। इसी पत्र में उसने अलवर में छोटे बालकों को बेचे जाने और उनको दास बनाने पर चिन्ता प्रकट की। भारत सरकार ने इस पर कोई कार्यवाही करना उचित नहीं समझा।'[2]

---

1. नारायण सिंह पंवार, रावणा राजपूत दर्शन, पृ.2.1.
2. फोरेन पोलिटिकल, ए. जून 1862,नं. 51–53.
3. राजपूताना एजेन्सी रिकार्ड्स, कॉकीडेन्सियल, नं. 1876.
4. पोलिटिकल, कॉनफीडेन्सियल, एक मार्च 1847, नं. 49.
5. शर्मा व व्यास, राजस्थान का इतिहास, पृ. 560.

1863 ई. में मेवाड़ की सरकार ने बच्चों को बेचने की प्रथाको कानून द्वारा अवैध घोषित किया।[3] किन्तु इसके बावजूद भी घरेलू दासों की खरीद फरोख्त चलती रही।

इस समय समाज में लड़कियों की खरीद फरोख्त व वैश्यावृत्ति का भी प्रचलनथा। 1877 ई. में लड़कियों के क्रय–विक्रय की प्रथा को सभी राज्यों में गैर कानूनी घोषित कर दिया गया। किन्तु वैश्यावृत्ति को रोकने हेतु किसी भी राज्य में, कोई कदम नहीं उठाया गया।

वेशभूषा, आभूषणव मेले :

आम जनता वेशभूषा में परम्परागत स्वरूप को ही मान्यता देती थी व सामान्यत: पुरुष धोती–कुर्ता व पगड़ी धारण करते थे। स्त्रियां चोली, साड़ी ओढ़नी, घाघरा आदि पहनती थी। कुछ उच्च वर्गीय व पढ़े लिखे लोगों ने अंग्रेजी पोशाक पहनना भी प्रारम्भ कर दिया था। सोने–चांदी के विभिन परम्परागत आभूषणों का प्रचलन था। खान पान में शाकाहारी व मांसाहारी दोनों प्रकार का भोजन किया जाता था। तीज–त्यौहारों में गण गौर, रामनवमी, अक्षयतृतीया, तीज, रक्षाबन्धन, गणेश–चतुर्थीनवरात्रि, दशहरा, दीपावली, बसन्तपंचमी, होली, शीतला सप्तमी आदि प्रमुख थे। 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में त्यौहारों व मेलों में बाह्रय तड़क भड़क, साज–सज्जा बढ़ने लगी थी ।[5]

6.2.3 शिक्षाव्यवस्था :

1818 ई. की संधियों से पहले राजस्थान की रियासतों के शासकों ने जनता में शिक्षा प्रसार के संबंध में कोई विशेष रुचि नहीं ली। वास्तव में शिक्षा व्यवस्था का शासकों से कोई विशेष संबंध नहीं था। शिक्षा की व्यवस्था केवल निजी पाठशालाओं व मदरसाओं द्वारा होती थी। राज्यों का इन शालाओं पर कोई नियन्त्रण नहीं था परन्तु इनके अध्यापकों को राज्य आर्थिक सहायता दिया करते थे।

1835 ई. में ब्रिटिश सरकार ने यह निश्चय किया कि पश्चिमी शिक्षा का प्रसार किया जाय। लॉर्ड बैटिंग राजपूता ने में अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार चाहता था। परन्तु वह यह भी जानता था कि यहां के नरेशों को और जनता को ये अच्छा नहीं लगेगा। इसलिए अंग्रेजी शिक्षा का प्रारम्भ अजमेर मेरवाड़ा से किया गया।

1842 ई. में भरतपुर में अंग्रेजी शिक्षा का एक स्कूल खोला गया। 1862 ई. के बाद भरतपुर में अंग्रेजी शिक्षा का ओर अधिक प्रसार किया गया। 1842 ई. में ही अलवर में भी नवीन शिक्षा पद्धति का स्कूल खोला गया। बाद में महाराजा शिवदान सिंह (1857–1874) ने अलवर में कई नए स्कूल खोले।[2]

---

1. निर्मला गुप्ता – राजस्थान 1790–1862, पृष्ठ 166– 169.
2. वही।
3. वही।
4. वही।
5. वही।
6. सोहनलाल – तवारीख राजश्री, बीकानेर, पृ. 215

जयपुर के पोलिटिकल एजेन्ट लुडसो के नेतृत्व में जयपुर में अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार का कार्य प्रारम्भ हुआ। उसके कहने पर 1844 ई.में महाराजा रामसिंह ने एक स्कूल खोला।1845 ई. संस्कृत कॉलेज की स्थापना हुई जिसमें करीब 250 विद्यार्थी थे।[3]

1862 ई. में उदयपुर में एक वर्ना क्यूलर स्कूल खोला गया, जिसमें प्रारम्भ में हिन्दी, उर्दू, फारसी और संस्कृत पढ़ाई जाती थीं किन्तु बाद में अंग्रेजी की पढ़ाई भी शुरु कर दी गई थी।[4]

जोधपुर के पोलिटिकल एजेन्ट कर्नल फ्रेंच के परामर्श से 1844 ई. में "विद्याशाला. नामक स्कूल का निर्माण किया गया। किन्तु 1863 ई. के बाद ही इस स्कूल में विद्यार्थियों की संख्या में वृद्धि होस की। [5]

राजस्थान के कई राज्य और उनकी जनता तो इतनी रूढिवादी थी कि 1869 ई. तक नवीन शिक्षा के क्षेत्र में कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं हुई। 1857 के विद्रोह के बाद अंग्रेजों ने ब्रिटिश सरकार ने प्रशासनिक उन्नति व अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार में स्वयं रुचि लेना प्रारम्भ कर दिया।

बीकानेर राज्य में अंग्रेजी शिक्षा की शुरुआत काफी देर से हुई। 1872 ई. में बीकानेर में पहला सरकारी स्कूल खोला गया। 1885 ई. में एक नया स्कूल स्थापित किया गया, जिसमें अंग्रेजी भाषा सिखाने की व्यवस्था थी।[6] इस नए स्कूल को बाद में हाईस्कूल बना दिया गया।

सामन्तों व राजपूतों के पुत्रों के लिए अंग्रेज अधिकारियों ने पृथक स्कूलों की व्यवस्था की। सर्वप्रथम जयपुर राज्य में 1866 ई में सरदारों तथा राजपूतों के लड़कों के लिए "नोबिल्स स्कूल" स्थापित किया गया।[1] 1871 ई. अलवर में भी ठाकुरों के पुत्रों के लिए पृथक स्कूल स्थापित किया गया। इसी प्रकार के स्कूल जोधपुर, उदयपुर, बीकानेर आदि राज्यों में भी खोले गये थे।

अंग्रेजी के विकास की श्रंखला में 1875 ई में अजमेर में "मेयो कॉलेज" की स्थापना का विशेष महत्व है। इसकी स्थापना राजपूत रज्यों के भावी शासकों में ब्रिटिश ताज के प्रतिस्वामी भक्ति को दृढ़ता प्रदान करने की दृष्टि से की गई थी। इसी हेतु कॉलेज में पढने वाले छात्रों को विद्या, बुद्धि, तर्क शैली, रहन–सहन तथा आचार–विचार में सर्वथा अंग्रेज बनाने का प्रयत्न किया गया।

स्त्री शिक्षा की दिशा में 1866 ई. से पूर्वतक किसी भी राज्य में कोई सक्रिय कदम नहीं उठाया गया। 1866 ई. में सर्वप्रथम उदयपुर, जयपुर और भरतपुर में स्त्री शिक्षा के लिए सरकारी स्कूल खोला गया। इन स्कूलों में हिन्दी, गणित, भूगोल आदि विषयों की प्रारम्भिक जानकारी के साथ–साथ सिलाई की जानकारी भी दी जाती थी।

स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति न होने के कारणों में समाज में प्रचलित बाल–विवाह, योग्य शिक्षकों का अभाव और स्त्री शिक्षा के प्रति सार्वजनिक रुचि का अभाव मुख्य थे। एक अन्य कारण पर्दे की प्रथा थी। छात्राओं के अभिभावक उन्हें स्कूल भेजने अथवा बाहर भेजने को उत्सुक न थे। उदाहरणार्थ कॉलेज में अध्ययन करने के लड़कियों के लिए दो विशेष छात्रवृत्तियों की व्यवस्था की थी, जिसके लिए कोई आवेदन पत्र नहीं आया[2]

19वीं सदी के अंतसे राजस्थान में अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार में शासकों, प्रतिष्ठित नागरिकों एवं जातियों, अंग्रेज अधिकारियों तथा ईसाई धर्मप्रचार कों तीव्र व समूहिक योगदान रहा। व्यापार–वाणिज्य तथा नौकरी पेशा वर्ग ने अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से आगे बढ़ने तथा अंग्रेजों की कृपा प्राप्त करने की आशा में उसका स्वागत किया । इसलिए बीसवीं सदी में अंग्रेजी शिक्षा का अधिक प्रसार हो पाया। लेकिन फिर भी राजस्थान भारत के कुछ अन्य भागों के मुकाबले में शिक्षा के क्षेत्र में 1947 में पिछड़ा हुआ था।

6.2.4 आर्य समाज द्वारा सुधार के प्रयत्न :

यद्यपि उन्नीस वीं सदी के पूर्वार्द्ध में ही ब्रह्म समाज व प्रार्थना समाज आदि सामाजिक व धार्मिक सुधारक संस्थाओं का जन्म हो चुका था। किन्तु इन संस्थाओं के प्रचार का विशेष प्रभाव राजस्थान पर नहीं पड़ा। इस प्रदेश में वे अपने प्रचार कार्य में तेजी नहीं ला सके। वस्तुत: ये संस्थाएं उस समय तक अखिल भारतीय स्तर को प्राप्त नहीं कर सकी थी।[3] केशव चन्द्र के नेतृत्व में ब्रह्म समाज का एक भाग पृथक हो गया था। इसके अतिरिक्त इन संस्थाओं के नेता नये मध्यम वर्ग के थे और उनके हित ब्रिटिश सरकार के अस्तित्व बने रहने में थे, अत एव वे तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था पकड़े प्रहार नहीं कर सकते थे लेकिन आर्य समाज के उदय के समय तक स्थिति में परिवर्तन आ चुका था। इस समय तक राष्ट्रीय चेतना जागृत हो चुकी थी। दयानन्द ने स्वशासन को निकम्मे विदेशी शासन से अच्छा माना था। आर्य समाज के कार्य कर्ता निर्भीक हो कर कार्य करते थे। दयानन्द ने अपने जीवन का काफी समय राजस्थान में बिताया था। अनेक राजाओं ने उनका सम्मान किया था। अत एव राजस्थान में आर्य समाज का प्रभाव अधिक था। राजस्थान में शाहपुरा, उदयपुर, अजमेर व जोधपुर में आर्य समाज की शाखाएं खोली गई। इस प्रदेश में भी वैदिक संस्कृति के प्रति आस्था जगाने का प्रयत्न किया गया। आर्यसमाज में एक ओर बाल–विवाह व बेमेल विवाह की प्रथाओं की कटु आलोचना की गई और दूसरी ओर विधवा विवाह को पूर्ण समर्थन भी दिया।

आर्यसमाज के सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध जनमत तैयार करने में भरपूर योगदान दिया। भास्करा नंद व प्रकाश नंद नामक आर्य समाजियों ने समय–समय पर जोधपुर की यात्रा की और भाषणों द्वारा सामाजिक बुराईयों के विरुद्ध जन मानस को जगाया।[1'] जनता को सामाजिक बुराईयों को दूर करने के लिए प्रोत्साहित करने हेतु दो पण्डितों की नियुक्ति के लिए प्रेरित किया।[2] झालावाड़ के राजराणा ने भी आर्य समाज से प्रभावित होकर बाल व बेमेल विवाह की आलोचना की।

आर्यसमाज ने दलित व निचली जातियों के उत्थान हेतु अपने प्रधान कार्यालयों के स्थानों पर स्कूल खोले। 1925 ई में वांदी कई व झालावाड़ में भी ऐसे स्कूल खोले गए।[3]

---

1. जयपुर रिकार्ड्स–फाइल नं. जी. 4/07, 1867 ई.
2. एडमिनिस्ट्रेशन रिपोर्ट, जोधपुर स्टेट (1886–87) पृ. 48–49.
3. जी.एस.एल. देवरा (सम्पादक) -सोशियो–इकोनोमिक स्टडीऑफ राजस्थान-आर.के. सक्सेना द्वारा लिखित, "आर्य समाज एण्ड सोशल रिफार्म मूवमेंट इन राजस्थान", पृष्ठ 189.

विधवाओं की स्थिति में सुधार के लिए आर्य समाज ने 1895 ई में अजमेर में अनाथालय खोला, जिसमें न सिर्फ अनाथों को रहने, खाने व शिक्षा की व्यवस्था की वरन्ड्ड सके द्वारा विधवाओं का पुनर्विवाह भी कराया जाता था। इसी संस्था द्वारा 1926 ई में दो विधवाओं का पुन: विवाह कराया गया।[4] इससे प्रेरित हो अजमेर में ही 1926 ई में वनिता आश्रम व 1930 में गंगाराम' विद्या भवन नामक संस्थाओं की स्थापना हुई, जिसमें नवम्बर 1930 ई.में 40 विधवाओं का पुनर्विवाह कराया।'[5] 1930 ई में जोधपुर में भी श्रीमहारानी जीवनिता आश्रम की स्थापना की गई।'[6] 1928 ई में बीकानेर में भी एक आश्रम खोला गया व 1929 ई. में वहां दो विधवाओं का पुनर्विवाह कराया गया।'[7]कोटा में भी इस प्रकार के कई विवाह संम्पन्न कराये 1926 ई में भरतपुर में भी विधवा विवाह को कानूनी घोषित कर दिया गया। यद्यपि तत्कालीन समाज में विधवा विवाह अधिक प्रचलित न हो सका तथापि आर्य समाज का इस दिशा में प्रशंसनीय योग रहा।

आर्य समाज ने बाल व बेमेल विवाहों की प्रथाओं का भी विरोध किया और लड़की व लड़के के विवाह की आयु के लिए क्रमश: 16 व 25 वर्ष को आदर्श माना। आर्य समाज के अनुयायियों के लिए तो इस उम्र से कम में अपने बच्चों के विवाह करने पर समाज से बहिष्कृत करने की सजा का प्रावधान था। आर्यसमाज के प्रयासों के परिणाम स्वरूप सर्वप्रथम कोटा ने 1927 ई. में विवाह के लिए लड़की लड़के की आयु क्रमश. 12 व 16 को कानून द्वारा निश्चित कर दिया। मारवाड़ विवाह एक्ट (1930), डूंगरपुर का बाल और अनमेल विवाह एक्ट (1935), धौलपुर बाल विवाह एक्ट (1937), शाहपुरा बाल विवाह निषेध एक्ट (1939), कांकरोली का समाज सुधार एक्ट (1940) मेवाड़ का अनैच्छिक विवाह निषेध अधिनियम (1941), जयपुर का बाल विवाह अधिनियम (1945) इसी दिशा की ओर प्रयास थे।

6.2.5 सारांश :

सती प्रथा :

1. राजस्थान में सती प्रथा का व्यापक प्रचलन
2. ब्रिटिश भारत में कानून द्वारा सती प्रथा के निषेध का प्रयत्न
3. 1844 में एजेन्ट टू दी गर्वनर जनरल इन राजपूताना को भारत सरकार के आदेश मिले जिस

---

1. जोधपुर रिकार्ड्स, हकीकत बही, नं. 35 फाइल 18 अ दिनांक कार्तिक बदी 4,1946 वि.सं.
2. जगत नारायण श्रीवास्तव, लाइफ एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ महाराव उम्मेद सिंह जी बहादुर, कोटा पृष्ठ–9
3. आर्य मार्तण्ड, 13 अक्टूबर, 1925
4. अनाथ रक्षक, अप्रैल – 1926.
5. आर्य मार्तण्ड, नव, 23, 1930
6. बीकानेर आर्काइव्ज,महकमा खास, फाइल 2/15 (सामाजिक)
7. तरुण राजस्थान, अप्रैल 22, 1929.

में इस प्रथा को रोकने के लिए राजस्थान के राज्यों में भी कानून बनाने के लिये राजाओं को सलाह देने के लिये कहा गया

4. राजस्थान में विभिन राज्यों में सती प्रथाको अवैध घोषित करने के लिये बनाये गये कानून
5. इसके बाद भी उन्नीसवी सदी में राजस्थान के राज्यों में सती होने के उदाहरण
6. बीसवीं शताब्दी में इसका प्रचलन बंद, यदा–कदा घटनाऐं अब भी होती है।

समाधि प्रथा :

1. ब्रिटिश सरकार द्वारा इस प्रथा को आत्म–हत्या मान कर 1861 में राजस्थान के शासकों को इसे अवैध घोषित करने की सलाह
2. विविध राज्यों में इसके लिये कानून पारित होना
3. 1875 में बीकानेर में समाधि की घटना तथा ब्रिटिश द्वारा इसको रोकने के प्रयास।

शिशु हत्या :

1. राजपूताना में पुत्री के जन्म होते ही हत्या कर देने की प्रथा के व्यापक प्रचलन के कारण
2. मेरों व मीणाओं में इस प्रथा को बंद करने के ब्रिटिश प्रयास
3. विभिन्न राज्यों में इसे अवैध घोषित करने के लिये कानून पारित
4. इसके बाद भी मेवाड़, मारवाड़ आदि में अधिक संख्या में कन्या वध के उदाहरण
5. शिक्षा के प्रचार के साथ बीसवीं सदी में इसका प्रचलन लगभग समाप्त

त्याग प्रथा :

1. चारणों व भाटों की त्याग की रकम देने की प्रथा
2. लुडलो (Ludlow) के इसे समाप्त करने के प्रयत्न
3. राजपूत हित कारिणी सभा के प्रयास।

डाकन प्रथा :

1. भीलों में डाकन प्रथा का व्यापक प्रचलन, किसी भी स्त्री के डाकन होने के संदेह पर उसे शारीरिक यातनाऐं देना
2. 1854 में मेवाड़ में इसे कानून द्वारा अवैध घोषित करना
3. कानून पारित होने के बाद भी इस प्रथा की अनेक घटनाओं को रोकने के ब्रिटिश प्रयत्न।

दास प्रथा :

1. राजस्थान में राजाओं, सामन्तों तथा धनीव्यक्तियों के यहां दास–दासी रखने की प्रथा का व्यापक प्रचलन, वंशानुगत दास–दासियों का होना
2. 1862 में एजेन्ट टू दी गवर्नर जनरल इन राजपूताना तथा भारत सरकार के बीच इस सम्बन्ध में पत्र–व्यवहार तथा उनका किसी भी प्रकार का कदम न उठाना।

शिक्षा व्यवस्था

1. 1818 में राजस्थान में शिक्षा व्यवस्था, राजाओं द्वारा मंदिरों व मस्जिदों को दान
2. 1835 में ब्रिटिश सरकार द्वारा अंग्रेजी के माध्यम से शिक्षा देने का निश्चय

3. 1844 से राजस्थान के विभिन्न राज्यों में अंग्रेजी के माध्यम सें शिक्षा देने वाले स्कूलों का खुलना
4. राजकुमारों और सामन्तों के लिये पृथक स्कूलों तथा अजमेर में मेयो कॉलेज की स्थापना
5. स्त्री शिक्षा के प्रसार में कमी तथा उसका प्रभाव
6. बीसवीं सदी में अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार में वृद्धि किन्तु 1947 में भारत के अनेक प्रान्तों के मुकाबले में पिछड़ा हुआ।

आर्य समाज द्वारा सुधार के प्रयत्न :

1. राजस्थान में आर्य समाज के उदय के पहले अन्य सामाजिक सुधार संस्थाओं का धीमा प्रचार कार्य
2. राजस्थान में. आर्य समाज के प्रभाव के कारण उसका सामाजिक सुधार में योगदान
3. राजस्थान को विभिन राज्यो में बाल–विवाह निषेध कानून।

6.3 आर्थिक प्रवृत्तियां :

अठारहवीं शताब्दी में मुगलों के पतोन्मुख होने के कारण भारत में अराजकता फैल गई। इसका प्रभाव राजपूताना के राज्यों पर भी पड़ा। वे अपनी आन्तरिक स्थिति को सुधारने व अपनी शक्ति को दृढ़ करने के स्थान पर गृह कलेहों में उलझ गये। इसी समय में राजपूताना के अधिकाश भागों में मराठों के अतिक्रमण आरम्भ हुए। अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में मराठों के अतिरिक्त पठानों व पिंडारियों ने भी यहां लूट मार की। इससे राजपूताना के अधिकांश राज्यों की स्थिति शोचनीय हो गई।

मराठों के अतिक्रमण से राजस्थान की आर्थिक हानि हुई या नहीं, यह आज कल विवाद का विषय बन गया है। क्योंकि ऐसे तथ्य उपलब्ध हैं, कि मराठा आक्रमणों के समय भी राजस्थान का व्यापार एवं वाणिज्य बढ़ रहा था एवं राज्य की आमदनी में वृद्धि हो रही थी। वस्तुत: मराठा आक्रमणों से केवल स्थानीय व्यापार एवं व्यापारियों को क्षति होती थी, लेकिन बड़े व्यापारियों को नुकसान नहीं पहुंचाया जाता था।' लेकिन इससे यह सिद्ध नहीं हो ताकि मराठा आक्रमणों से राजपूताना के राजा आतंकित नहीं थे। बीकानेर वजैसल मेर को छोड़कर शेष राज्यों से वे प्रत्येक वर्ष विपुल धनराशि वसूल करते रहे। इससे राज्य कोष खाली हो गये थे। टॉडने मेवाड़ राज्य की शोचनीय आर्थिक दशा का वर्णन किया है। राजपूताना के अनेक प्रदेशों में कृषि उजड़ गई थी। स्थानीय व्यापार को हानि पहुंची थी। अनेक गांव भी नष्ट हो गये थे। सामन्तों की आर्थिक दशा अच्छी नहीं थी किन्तु नरेशों की शक्ति कम होने के कारण वे अनियंत्रित हो गये थे। प्रशासनिक व्यवस्था बिगड़ गई थी। अतएव 1818 ई. में राजपूताना के राज्यों की सबसे गंभीर समस्या शांति व सुव्यवस्था की स्थापना करना तथा आर्थिक दशा को सुधारना था।

ईस्ट इंडिया कंपनी के संरक्षण में सभी राज्यों में शांति व सुव्यवस्था स्थापित करने के गंभीर प्रयत्न किये गये। सामन्तों क़ो नियंत्रित किया गया तथा उजड़े हुए गांवों में किसानों को फिर से बसाया गया। टॉडने मेवाड़ में ऐसे गांवों के पुनर्वास का उल्लेख क्रिया है। स्थानीय व्यापार कोफिर से प्रोत्साहन दिया गया। कृषक फिर से खेती करने लगे। राजस्व की वसूली का काम सुव्यवस्थित ढंग से किये जाने की दिशा में ठोस कदम उठाये गये। लेकिन फिर भी इन राज्यों

की आर्थिक दशा इतनी सोचनीय हो गई थी कि उन्हें इस क्षेत्र में ऊंचा उठने में काफी समय लग गया।

यद्यपि 1818 ई. के बाद राजपूताना के अधिकांश राज्यों को मराठा, पिंडारियों और पठानों को धन नहीं देना पड़ता था लेकिन ईस्ट इंडिया कंपनी के साथ की गई संधियों के अनुसार अंग्रेजों को उन्हें खिराज की एक बड़ी रकम प्रतिवर्ष देनी पड़ती थी। मेवाड़ बांसवाड़ा, जोधपुर तथा अन्य राज्यों ने कंपनी से खिराज कम करने के लिये बार–बार निवेदन किया। काफी समय बाद इस रकम में कमी की गई अथवा कुछ छूट दी गई। अधिक खिराज के कारण इन राज्यों की स्थिति को जल्दी से सुधारा नहीं जा सका। लेकिन समय के साथ–साथ शांति व सुव्यवस्था की स्थापना सामंतों के उत्पातों का दमन, यातायात के साधनों में वृद्धिमार्गो की सुरक्षा तथा अन्य कारणों से राजस्थान के राज्यों की आर्थिक दशा सुधरने लगी। फिर भी 1947 तक यह अनेक ब्रिटिश प्रांतों के मुकाबले में पिछड़ा हुआ था।

6.3.1 कृषि की दशा :

राजस्थान की अर्थव्यवस्था का प्रमुख आधार कृषि था जिसके द्वारा यहां की अधिकांश जनता जीवन–निर्वाह करती थी।भू–स्वामित्व की दृष्टि से राजस्थान में भूमि के चार विभाग किये जा सकते है – खालसा, जागीर, भोग व सांसण। राज्य की जिस भूमि पर शासन का सीधा नियन्त्रण होता था, उसे खालसा भूमि कहते थे। प्राय: परगनों के केन्द्र नगर व उच्च उपज के गांव खालसा में ही होते थे। सर्वाधिक आय के क्षेत्र भी राज्य के सीधे नियंत्रण में हुआ करते थे। खालसा भूमि में राजस्व की वसूली सीधे केन्द्रीय शासन दारा हुआ करती थी। राजकीय सेवाओं के लिए वेतन के स्थान पर जो भूमि जागीरदारों को दी जाती थी, वह जागीर भूमि कहलाती थी। जागीर भूमिका वितरण, उसके आकार–प्रकार एवं कर का निर्धारण, जागीरदारों की सैनिक असैनिक सेवाओं का निर्धारण उनके घराने तथा राजा के संबंधों पर होता था।यह कर "रेख" कहलाता था। जागीरदार अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र होता था और प्राय: शासक उसके क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करता था। परन्तु जागीरदार के लिए राज्य द्रारा निर्धारित नियमों का पालन करना आवश्यक था। भोम ऐसी जागीरथी, जिस पर कोई लगान नही था परन्तु भोमियों से सरकारी सहायता के लिए सेवाएं अवश्य ली जाती थी। राजा या भू–स्वामी द्वारा जो भूमि दान में दी जाती थी वह सांसण भूमि कहलाती थी। यह भूमि करों से मुक्त होती थी। सांसण भूमि प्राप्त कर्ता को अपने क्षेत्र से राजस्वसंग्रह करने का अधिकार प्राप्त था। वह अपनी भूमि को बंधक रखने, दहेज देने या उत्तराधिकारियों में आवंटन करने का अधिकार रखता था। सांसण भूमि मुख्यत. चारणों, भाटों, ब्राह्मणों, पुजारियों, जोगियों, पुरोहितों आदि को जीवन निर्वाह के लिए दी जाती थी।

भूमि की प्रकृति के आधार पर पानी से भरी जमीन को "गलत हॉस" जोती जाने वाली "हकत–वकत", काली उपजाऊ जमीन "माल", पहाड़ी जमीन – "मगरो", कंकर वाली "कांकण" व सिंचाई वाली जमीन "पीवल"कहलाती थी।

---

1. निर्मला गुप्ता – राजस्थान, 1780–1862, भूमिका, पृष्ठ 11.

कृषि उपकरणों में हल, कुदाली, फावड़ा, गेंती आदि प्रमुख थे। सिंचाई के लिए नहरें बनाई जाती थी। रहट या चरस अथवा चमड़े की थैलियों से सिंचाई की जाती थी।

निरन्तर अकालों से मुक्ति हेतु वभू–राजस्व. से आय में बढ़ोतरी हेतु सिंचाई सुविधाओं को बढ़ाने के ब्रिटिश एजेण्टों द्वारा कई प्रयास किए गए। 1820ई. में अजमेर मेंविल्डर द्वारा आठ वर्षीय नई योजना प्रारंभ की गई थी यद्यपि यह एक वर्ष पश्चात स्थगित हो गई। 1827 ई. मेंमिडल्टसने पंचवर्षीय योजना चलाई। 1835 में एडमोरोन ने दस वर्षीय योजना प्रारम्भ की।

पैदावार की दृष्टि से दो प्रकार की फसलें हुआ करती थी। सर्दी में पैदा होने वाली उपज कोसियालु (खरीफ) वगर्मी में पैदा होने वाली उपज को उनालु (रबी) कहा जाता था।सियालु फसलों में मक्का, रूई, ज्वार, तिल, बाजरा, मिर्च, मूंग, ग्वार, मोठ, उड़द, तम्बाकू, चँवला, गन्ना, जूट, नील व उनालू फसलों में गेंहू, चना, जौं, पोस्त, जीरा, सरसों आदि प्रमुख थे।

भू–राजस्व निर्धारण के लिए लाटा, बँटाई, मुकाताव जब्ती पद्धतियां प्रमुख थी। लाटा के अन्तर्गत फसल तैयार हो जाने पर उसे काट कर एकत्रित करके भूसाए वंअनाज अलग–अलग कर लिया जाता था। तदन्तर उसे माप कर राज्य का भाग प्राप्त किया जाता था। बंटाई पद्धति में उक्त प्रक्रिया के पश्चात् अनाज को मापकर ने के स्थान पर अनुमानत: ढेर लगा कर राज्य का भाग अलग किया जाता था। मुकाता पद्धति मेंभू मिकर उपज के आधार पर नले कर कृषक को भूमि प्रदान करते समय उपज पर संभावित राजस्व निर्धारित कर दिया जाता था। जब्ती पद्धति में कपास, अफीम, सब्जी आदि वाणिज्य (नकदी) फसलों पर प्रति बीधा की दर से नकद रूप में भूमि कर लिया जाता था।

विभिन्न राजकीय करों में भू–राजस्व प्रमुख था।यह साधारणत: उपज का 1/3 या 1/4 भाग होता था तथापि राजस्व संग्रह व निर्धारण में संपूर्ण राजस्थान में एक रूपता नहीं थी। इस कर की वसूली वर्ष में दो बार रबीव खरीफ की फसलों से अलग–अलग होती थी। राजस्व संग्रह में जातीय आधार पर भेदमाव होता था। आम जनता को ब्राह्मणों व राजपूतों से अधिक कर देना पड़ता था।

राज्य के बाहर से बिक्री के लिए आने वाले पशुओं व वस्तुओं पर जो कर लगाया जाता था उसे "दाण" कहा जाता था। वस्तु विशेष पर प्रतिमन के ऊपर से रोंके हिसाब से लिया जाने वाला कर "सेरिणों" भी प्रचलित था। पशुपालकों को खालसा की पड़त भूमि पर पशु चराने के लिए घास मारी चराई कर भी देना पड़ता था। इसी भांति पशुओं द्वारा पत्ते चरने पर पशुपालकों को पान–चराई कर भी देना पड़ता था। जागीरदारों के गांवों से गांव की आर्थिक स्थिति के आधार पर एक से प्राँच रुपये तक प्रतिगांव की दर से लगने वाला कर "खीचडी" भी प्रचलित था। व्यापारियों व किसानों से भेंट स्वरुप "मालया–मिलणों" कर भी लिया जाता था। इनके अतिरिक्त भू–राजस्व संग्रह पर होने वाले व्यय के निमित्त "खच–भोग" नामक कर भी लिया जाता था। यह सामान्यत: प्रति बड़े गावों से 10 रुपया व छोटे गांवों से 5 रुपया तक लिया जाता था।

---

1. जी एस देवड़ा (सम्पादक) सोशो–इकोनोमिक स्टडी ऑफ राजस्थान, वी एस भार्ग व का डेवेलपमेंट ऑफ एग्री कल्वर इन अजमेर शीर्षक लेख, पृ. 76.

ग्रामीण समुदायों में कृषक अथवा "हलजोत" का प्रमुख स्थान था। गांव के ही मूल निवासी कृषक को गेवती व बाहर के कृषक को अपा ही कहा जाता था। गेवती भी पुन: दो वर्गो में बंटे हुए थे-"रियायती" व "रेयती"। परगनों की परम्परागत प्रथानुसार रियायती कृषकों को अधिक विशेषाधिकार प्राप्त थे, जबकि रेयती कृषकों को कोई विशेषाधिकार प्राप्त नहीं था। रियायती कृषकों में मुख्यत: ब्राह्मण, राजपूत, महाजन, पटेल, कानूनगो, जमींदार व चौधरी को भी रियायती वर्ग में ही सम्मिलित किया जाता था। इस वर्ग के लिए "घरुलहाला" शब्द भी प्रयुक्त होता था। रेयती वर्ग में समाज की निम्न जातियों जाट, माली, अहीर, गूजर, मीणा आदि के कृषक सम्मिलित रहते थे। इस वर्ग के लिए "पालती" शब्द ही प्रयुक्त होता था।

परगनों में लगान वसूली के लिए हकिम नामक पदाधिकारी होता था जो साथ ही, परगने के प्रशासन की भी व्यवस्था करना था। गांवों में इजारेदारों या ठेकेदारों के माध्यम से भी लगान वसूली होती है। कुछ परगनों में हवलदार भी लगान–वसूली का कार्य करते थे। इसके लिए उन्हें खुता, मापा, मुलिया आदि करों में से कुछ हिस्सा मिलता था। परगनों के लगान व आय–व्यय का हिसाब–किताव रखने के लिए कानूनगो नामक अधिकारी होता था जिसे पारिश्रमिक के रूप में कुछ अबवावों में से निश्चित हिस्सा व अन्य कुछ निश्चित राशि मिलती थी, जिसे "द्स्तूरी" कहा जाता था। इसके अतिरिक्त परगनों में कुल फसल का अनुमान लगाने व उसका रिकार्ड रखने के, लिए तफेदार भी होते थे। लगान नकद व अन्न दोनों रूपों में लिया जाता था। अन्न के रूप में दिया गया लगान भी नकद में परिवर्तित किया जाता था और तब सारा धन शाही. खजाने में भेजा जाता था।

अकाल :

उनीसवीं सदी ' के उत्तरार्द्ध में भारत में इतने अकाल व सूखे पड़े, जितने कि पहले कभी भी इस देश के इतिहास में नहीं पड़े थे। इस समय में राजस्थान को भी इस विपत्ति का बार–बार सामना करना पड़ा।

टॉड ने मे वाड़ व उसके आस पास के क्षेत्रों में 1812–13. के दुष्काल का वर्णन किया है। इससे यहां के निवासियों को काफी तकलीफें हुई। इसके बाद भी राजस्थान के प्रदेशों में समय–समय पर अकाल पड़ते रहे। 1868–69 ई. में मारवाड़, मलानी (बाड़मेर), बीकानेर और अजमेर मे रवाड़ा में भयंकर अकाल पड़ा। अनाज व चारे की कमी बहुत अधिक हो गई। साथ में हैजा भी फैल गया। सांभर झील से लेकर उदयपुर तक 82,500 व्यक्ति मर गये। मारवाड़, बाड़मेर, बीकानेर व अजमेर मे रवाड़ा में काफी बड़ी संख्या में पशु मारे गये। उसके बाद का भयंकर अकाल 1899–1901 ई. का है। यह राजपूताना के अनेक भागों में फैला तथा इसमें पहले की अपेक्षा काफी अधिक संख्या में मनुष्य व पशु मारे गये तथा लाखों की संख्या में मनुष्य दूसरे प्रांतों में चले गये। राजपूताना के नरेशों ने 1885 के "अकालनियम" के अनुसार जनता को राहत पहुंचाने का प्रयत्न किया लेकिन धन की कमी तथा अन्य कारणों से वे अकाल पीड़ितों को पर्याप्त सहायता नही पहुंचा सके। बीसवीं सदी में भी राजस्थान में सूखे पड़े। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी इस प्राकृतिक विपत्ति से इस प्रदेश को छुटकारा नहीं मिला है। तथा इससे राज्य की आर्थिक दशा को सुधार ने के कार्य में बाधाएं उत्पन्न हो रही ही हैं।

6.3.2 उद्योग–धंधें :

कृषि कार्य के अतिरिक्त राजस्थान में अन्य उद्योग धंधों का भी इसकाल में तेजी से विकास हुआ। जिन स्थानों के आस–पास के पास का उत्पादन अधिक होता था वहां कपड़ा बुनने, छापने, रंगने आदि के उद्योगों ने प्रगति की। पाली, ब्यावर, अजमेर, देलवाडा, सीरीज आदि स्थान कपड़ा उत्पादन के प्रमुख केन्द्र बन गए।सांगानेर, अकेला, भरपुर, उदयपुर, चित्तौड़, कोटा में रंगाई, बंधाई व छपाई का अच्छा काम होता था। बगरूकी छपाई विशिष्टत: प्रसिद्ध थी। कपड़ों पर रेशम व सोना–चाँदी के तारो के कशीदें का काम अब कुछ कम हो गया था।

धातु कार्य भी प्रगति पर था। धातु की मूर्तियां, औजार, बर्तन आदि बनाये जाते थे।सोने–चाँदी के जेवर व मीनाक़ारी का काम जयपुर, कोटा, नाथ द्वारा में विशिष्टत:विख्यात था। वस्तुत: लोहे, सीसे,तांबे की खानों के होने से धातु कार्य की राजस्थान में बड़ी उन्नति हुई थी।

लकड़ी के काम के लिए उदयपुर, डूंगरपुर, बांसवाड़ा, जहाजपुर व सवाई माधोपुर प्रसिद्ध थे।

सांभर डीड वाना, पंच भद्रावनावां नमक उत्पाद के प्रमुख केन्द्र थे। इस व्यवसाय में लगे व्यापरियों को लुण या महाजन कहते थे।

घोसूडा व सवाईमाधोपुर कागज उत्पादन के प्रमुख केन्द्र थे। यहां का कागज मोटाई व मजुबूती की दृष्टि से बड़ा उपयोगी था।

इनके अतिरिक्त राज्य के विभिन स्थानों में इत्र, शराब,बर्तन, मूर्तियां आतिशबाजी आदि बनाने का कार्य भी व्यापक स्तर पर होता था।

6.3.3 व्यापार :

राजस्थान में परम्परागत स्थानीय व्यापार छोटी–छोटी गलियों में सभी चीजों को लेकर होता थी। विशिष्ट चीजों के लिए विशिष्ट बाजार भी होते थे, जहां एक ही प्रकार की वस्तुएं कई व्यापारी बेचते वं खरीदते थे। विक्रय के लिए स्थानीय मण्डियों, साप्ताहिक या अर्द्धसाप्ताहिक हाटों की भी व्यबस्था थी। पुष्कर,पर बतसर, राज नगर व नागौर में विशेष रूप से पशुओं के मेले लगते थे। ऊंट के लिए जैस लमेर, बीकानेर, रुई, के लिए कोटा, अफीम के लिए प्रतापगढ़ व जंगली लकडी के लिंए दक्षिण पश्चिम राजस्थान के क्षेत्र प्रसिद्ध थे। कपड़ा, नमक, तम्बाकू आदि के लिए अन्तर–राज्थानीय मण्डिया थीं, जहां से कुछकर अदा कर माल को एक राज्य से दूसरे राज्य में ले जाया जा सकता था। वस्तुओं पर आयात कर, बिक्रीकर (दाण) से राज्य को पर्याप्त आय होती थी। व्यापारियों को किसी क्षेत्र से सुरक्षित निकालने के लिए उस क्षेत्र के जागीरदार द्वारा "राहदारी" नामक कर भी वसूला जाता था।

आधुनिक विनिमय पत्रों की पद्धति के समान ही उस समय व्यापारिक लेन–देन में हुण्डी पद्धति प्रचलित थी। 1 मुख्यत : दो प्रकार की हुण्डियं प्रचलित थी – मुद्धति व दर्शनी।मुद्धीत हुण्डी में एक निश्चित उल्लेखित अवधि के बाद ही भुगतान होता था व दर्शनी हुण्डी में उसे

प्रस्तुत करते ही भुगतान कर दिया जाता था। इन हुण्डियों पर कमीशन के रूप में 30 प्रतिशत लिया जाता था जो कि निश्चित रूप से बहुत अधिक था सभी राज्यों में अपने–अपने सिक्के प्रबलित थे। उदाहरणार्थ उदयपुर में कई प्रकार के सिक्कों का प्रचलन था। चाँदी के उदयपुरी सिक्के एक रुपये में 165 ग्रेन, आठ आना में 77 ग्रेन, चारआना में 38 ग्रेन वजन का होता था। चंदोड़ी रुपये में 167 ग्रेन व आठ आना में 86 ग्रेन व जनका होता था। स्वरुप शाही सिक्कों में एक आठ आना, चार आना व एक आना में क्रमश: 168,84,41, 21 व 10 ग्रेन वजन का होता था। चाँदी के सिक्कों के अतिरिक्त उदयपुर, चित्तौड़ व भीलवाड़ा कीटक सालों में तांबे के त्रिशूलियां धीगला व भिलाड़ी सिक्के भी ढाले जाते थे।[2]

1818 की संधियों से राजस्थान के राज्यों में एक नये युग का निर्माण हुआ। मार्ग सुरक्षित हो गये। अनेक सड़कें बनाई गई। शांति व सुव्यवस्था स्थापित हुई। अतएव व्यापार में उनति हुई। काबुल और खुरासान जैसे सगनों से पुन: व्यापारिक संबंध स्थापित किये गये। अंग्रेजी माल की खपत होने लगी। बम्बई से काफिलों के द्वारा विदेशी सामान आने लगा। 1830 ई. तक राजस्थान, पंजाब व सिंध का कोई ऐसा शहर नहीं था जहां विदेशी सामान न पहुंचता हो।'[3] इस समय में पाली, राजगढ़ (बीकानेर), जैसलमेर, जयपुर, मालपुरा, भीलवाड़ा व कोटा आदि नगर मुख्य व्यापारिक केन्द्र थे। पाली में देश के विभिन्न प्रान्तों के अतिरिक्त कश्मीर और चीन की बनी हुई वस्तुएं बिकने को आती थी। उसके बदले में अनेक वस्तुएं भेजी जाती थीं। कच्छ और गुजरात से हाथीदांत, खजूर, गौद, सुहागा, नारियल, रेशमी और बनात के कपड़े, पश्मीना के वस्त्र, चंदन की लकड़ी, कपूर, रंग, औषधियां, मसाले, गंधक, अदि वस्तुएं आती थी तथा छींट के वस्त्र, जीरा, हींग, सोडा, अफीम, लेवरग, शालें. कम्बल और अनेक प्रकार के वस्त्र भेजे जाते थे।[4]' "मारवाड" में फोलादी और नागौर अन्य महत्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्र थे। राजगढ़ में पंजाब व कश्मीर से माल हाँसी, हिसार के मार्ग सें आता था। पूर्वी देशों का माल दिल्ली, रेवाड़ी से होकर आता था। इनमें पश्मीना वस्त्र, नील, चीनी, लोहा, तम्बाकू आदि प्रमुख थे।

हाड़ौती और मालवा से अफीम तथा मुलान वशिकारपुर से खजूर, गेंहूँ, चाँवल, रेशमी लूंगी व फल आदि आते थे। विदेशों से मसाले, टीन, औषधियों, नारियल, हाथी दांत आदि मंगाकर अन्य प्रदेशों को भेजे जाते थे। इससे अच्छी आय होती थी।[5]' हैदराबाद सिंध, रोड़ी, मक्सर, शिकारपुर और अन्य स्थानों से माल जैसलमेर से होकर जाता था। इसी प्रकार नील, अफीम, गुड़, लोहे की वस्तुएं शिकारपुर होकर सिंध में जाती थी।[1]जयपुर और मालपुरा पूर्वी राजस्थान के महत्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्र थे। जयपुर से बढ़िया कपड़ा धातुएं, मनिहारी का सामान, रुई, तिलहन,

1. कानोड़ संग्रह, बस्तानं. 1, वही नं 30 एं, पृ.3–10 दृष्टव्य लेख–जे.के. ओझा, – शोध साधना वर्ष 9. अंक 8
2. शोध साधना लेख – जे.के. ओझा, वर्ष 9 अंक 8. पृ. 17– 18.
3. निर्मला गुप्ता – राजस्थान 1790–1862 पृष्ठ 141–147.
4. वही
5. वही

लोहे के औजार, कीमती पत्थर, सांगानेर की छींट, संगमरमर की मूर्तियां और कागज का इन केन्द्रों से निर्यात होता था। शक्कर, गुड़, पश्मीना, रेशम, जीरा,तम्बाकू, अफीम, नील, चाँदीवसो ने की वस्तुएं आती थी।[2'] टाड ने लिखा है कि 1818 से ही भीलवाड़ा में व्यापारी आकर बसने लग गये थे। शीघ्र ही यह एक व्यापारिक केन्द्र बन गया। कोटा में इन्दौर, सूरत, अहमदाबाद, बड़ौदा, बुरहानपुर, पूना, दिल्ली आदि से व्यापारी आते थे।[3'] अलवर, भरतपुर, धौलपुर, साचौर, भीनमाल, जालौर आदि भी प्रमुख व्यापारिक केन्द्र थे।

व्यापार के इस आदान–प्रदान से राजपूताना के राज्यों को खूब आमदनी होती थी। 1818 के बाद नियमित रूप सभी राज्यों में व्यापारिक मेलों का आयोज न होने लगा। इनमें दूर–दूर से वस्तुएं बिकने को आती थी तथा दूसरे प्रान्तों के व्यापारी वस्तुएं खरीद ने को आते थे।[4]

उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक राजस्थान के प्रदेशों में अनेक सड़कें बन गई थी। इनमें से कुछ का निर्माण अंग्रेजों की सैनिक आवश्यकताओं के लिये किया गया था। इन सडकों पर सरायों का निर्माण भी किया गया। नदियों पर पुल बनाये गये। व्यापारियों के काफिलों की सुरक्षा के प्रबन्ध किये गये। आधुनिक डाक व्यवस्था का प्रचलन किया गया। 1875 में सांभर झील से कुचामन रोड के 25 मील के टुकड़े पर राजस्थान में प्रथम रेल लाइन का निर्माण हुआ। भारत सरकार ने कुछ शर्तो पर राजस्थान के राज्यों को अपने प्रदेशों में रेलवे लाइन के निर्माण की अनुमति दे दी। बीसवीं सदी के पहले दशक तक राजस्थान के अनेक प्रदेशों में रेलवे लाइन बन चुकी थी। यातायात के साधनों की वृद्धि से व्यापार में उन्नति हुई। रेलवे स्टेशनों के पास अनेक छोटी व बड़ी मंडियां स्थापित हुई। इससे बीसवी शताब्दी के पूर्वाद्ध में व्यापार में उन्नति हुई।

यद्यपि शांति व सुव्यवस्था की स्थापना, यातायात के साधनों में वृद्धि आदि से राजस्थान की आर्थिक स्थिति में कुछ सुधार हुआ। लेकिन समय–समय पर पड़ने वाले दुष्काल अथवा सूखों के प्रभाव से कृषकों की दशा में विशेष सुधार नहीं हुआ। इससे उद्योग–धंधों व व्यापार को भी आघात पहुंचता था। अतएव आर्थिक क्षेत्र में राजस्थान अपेक्षित उन्नतिन कर सका।

6.3.4 सारांश :

प्रस्तावना :

1. अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध व 1801 से 1818 तक राजपूताना के अधिकांश राज्यों पर मराठों, पठान व पिंडारियों के आक्रमणों से इस प्रदेश की अर्थव्यवस्था पर प्रभाव के बारे में विचार
2. 1818 में राजपूताना के राज्यों की शोचनीय स्थिति किन्तु धीरे–धीरे शान्ति व सुव्यवस्था की स्थपना से कृषि, उद्योग व व्यापार में पुन: वृद्धि
3. कंपनी को दिये जाने वाले कर का राज्यों पर भार तथा उन्हें कम कराने के प्रयत्न।

---

1. निर्मला गुप्ता – राजस्थान 1790–1862 पृष्ठ 141–47.
2. वही
3. वही
4. वही

कृषि की दशा :

1. राजपूताना में भू–स्वामित्व की दृष्टि से भूमि के चार भाग–खलसा, जागीर, भोम व संरक्षण
2. उपजाऊपन के आधार पर भूमिका वर्गीकरण
3. कृषि के उपकरण
4. दो प्रकार की फसलें– सियालु व उनालु
5. राजेस्व निर्धारण की विभिन्न पद्धतियां
6. राजस्व निर्धारण में जातीय आधार पर भेदभाव
7. राज्य में बाहर से आकर बिकने वाले पशुओं और अनाज पर कर
8. कृषकों के विभिन्न वर्ग
9. राजस्व अधिकारी व उसके अधीनस्थ कर्मचारी तथा उनके कर्त्तव्य
10. राजस्थान में अकालों में वृद्धि व उसके हानि कारक प्रभाव।

उद्योग– धन्धे :

1. वरत्र उद्योग की प्रगति तथा उसके विभिन्न केन्द्र
2. धातु कार्य में भी प्रगति
3. नमक उत्पादन के केन्द्र
4. कागज, इत्र, शराब, बर्तन, मूतियां आदि का भी उत्पादन।

व्यापार :

1. व्यापार के लिये स्थानीय मंडियों, साप्ताहिक अथवा अर्द्ध साप्ताहिक हाटों की व्यवस्था की परंपरा
2. परंपरागत मेलों में पशुओं तथा वस्तुओं के क्रय–विक्रय की प्रथा
3. हुण्डी पद्धति का प्रचलन
4. राजस्थान के राज्यों के विभिन्न सिक्के
5. 1818 के बाद व्यापार में वृद्धि, भारत के अन्य भागों तथा विदेशों से विभिन्न वस्तुओं के आदान–प्रदान का विवरण तथा इसके प्रमुख केन्द्र
6. उन्नीसवीं सदी के अंत में सड़कें व रेल के निर्माण से बीसवी सदी में व्यापार में वृद्धि किन्तु भारत के अन्य भागों के मुकाबले में कम प्रगति।

6.4 शब्दावली :

1. खालसा – राज्य की जिस भूमिं पर शासक का सीधा नियन्त्रण होता था, उसे खालसा कहते थे।
2. जागीर – राजकीय सेवाओं के लिए वेतन के स्थान पर दी जाने वाली भूमि को सामान्यत: जागीर कहते थे। जागीरदारों से निश्चित मात्रा में लगान वसूल किया जाता था।
3. भोम – ऐसी भूमि जिन पर कोई लगान नहीं था, किन्तु भोमियों से राजकीय सेवाएं ली जाती थी।
4. सांसण – दान में दी गई भूमि को कहते थे।

5. गलत हॉस – पानी से भरी भूमि।
6. हकत वकत – जोती जाने वाली भूमि।
7. माल – काली उपजाऊ भूमि।
8. मगरा – पहाड़ी जमीन।
9. कांकड़ – कंकड वाली जमीन।
10. पीवल – सिंचाई वाली भूमि।
11. लाटा – फसल के कटने के समय अनाज व भूसे को अलग–अलग करके राजस्व अधिकारी माप कर के राज्य का भाग निर्धारित करता था।
12. बटाई – फसल के कई बराबर अनुपात करने के बाद उसके आधार पर राज्य का भाग निर्धारण करने की पद्धति।
13. मुकाला – कृषक को भूमि देते समय उसकी संभावित उपज पर राजस्व निर्धारण करने की पद्धति।
14. जब्ती – नकद फसलों पर प्रति बीघा की दर से राजस्व का निर्धारण तथा वसूली।
15. दाण – राज्य में बाहर से, आकर बिकने वाले पशुओं व वस्तुओं पर चुंगी।
16. घातमारी – खालसा की पड़त भूमि पर पशुओं को चराने के लिए राज्य को दिये जाने वाला कर।
17. पान–चराई – खालसा भूमि में पशुओं को पत्ते चरने देने के लिये लिया जाने वाला कर।
18. खीचडी – जागीरदार के द्वारा अपने प्रत्येक गांव से उनकी आर्थिक स्थिति के अनुसार राज्य द्वारा लिया जाने वाला कर।
19. मालवा – मिलणों – व्यापारियों व किसानों से ली जाने वाली भेंट।
20. खरच भोग – भू–राजस्व की वसूली में व्यय होने वाले खर्च की पूर्ति इकट्ठा किया जाने वाला कर।
21. गेवती – वह कृषक जो गांव का मूल निवासी हो।
22. पाही – गांव के बाहर से आकर एक गांव में कृषि करने वाला व्यक्ति।
23. रियायती – ऐसे गेवती जिन्हें कुछ विशेष अधिकार दिये जाते थे।
24. रेवती अथवा पालती –ऐसे गेवती जिन्हें कोई विशेषाधिकार नहीं दिये जाते थे।
25. घरूलंहोला – उच्च जातियों के व्यक्तियों तथा राज्य के कुछ अधिकारियों के जिन्हें कृषि में रियायतें दी जाती थी।

6.5 अभ्यासार्थ प्रश्न :

1. आधुनिक युग (1818–1947) में राजस्थान की सामाजिक दशा का विवरण दीजिये।
2. 1818 से 1947 तक राजस्थान के सामाजिक ढाँचे का वर्णन कीजिये।
3. उन्नीसवीं सदी व बीसवीं सदी के पूर्वाद्ध (1947 तक) में राजस्थान में सामाजिक कुरीतियों के दमन कें लिये किये गये प्रयासों का वर्णन कीजिये।
4. आधुनिक काल (1818–1947) में राजस्थान की आर्थिक दशा का विवरण दीजिये।

5. 1818 से 1947 तक राजस्थान में कृषि, उद्योग–धन्धे व व्यापार की प्रवृत्तियों का विवेचन कीजिए।

6.6 सन्दर्भ ग्रन्थो की सूची :

1. जी एन. शर्मा : सोशल लाइफ इन मिडिवल राजस्थान
2. शर्मा व व्यास : राजस्थान का इतिहास
3. निर्मला गुप्ता : राजस्थान 1790–1662
4. आर.के. सक्सेना : सोशल रिफार्मसू–इकेंटीसाईट एण्ड सती
5. आर सी. मजूमदार (सम्पादक) : ब्रिटिश पेरामाऊँटसी एण्ड इंडियन रेनासाँ, भाग–2
6. जी.एस.एल. देवरा (सम्पादक) : सोशियो–इकॉनोमिक स्टडी ऑफ राजस्थान
7. जमनेश ओझा : उदयपुर राज्य का इतिहास
8. नारायण सिंह पवार : रावणा राजपूत दर्शन
9. सोहन लाल : तवारीख राजश्री बीकानेर
10. राजस्थान हिस्ट्री कांग्रेस प्रोसिडिंग्ज में प्रकाशित लेख
11. शोध साधना में प्रकाशित लेख
12. अमिता वर्मा : देशी राज्यों पर ब्रिटिश प्रभुत्व (1858–1885) अप्रकाशित पी एच डी. शोध ग्रन्थ

इकाई – 7
भूस्वामित्व एवं अधिकार

7.0 उद्देश्य
7.1 प्रस्तावना
7.2 भूमि की श्रेणियाँ
(अ) खालसा
(ब) जागीरदार
(स) अन्य श्रेणियां
7.3 कृषकों ले स्थिति
(अ) बापीदार
(ब) गैर–बापीदार
7.4 भूमि–बन्दोबस्त
7.5 राजस्व–व्यवस्था
7.6 उपसंहार
7.7 अभ्यासार्थ प्रश्न
7.8 संदर्भ ग्रन्थों की सूची

7.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप अध्ययन करेंगे –

- भूमि की विभिन्न किस्में एवं उन पर स्वामित्व ।
- कृषकों की स्थिति एवं ग्रामीण अर्थव्यवस्था ।
- समय–समय पर किये गए भूमि–बन्दोस्त ।
- राज्य की आय का प्रमुख स्त्रोत राजस्व–व्यवस्था ।
- उन कारणों का अध्ययन जिन्होंने समय–समय पर कृषक के अधिकार, भूमि–बन्दोबस्त एवं लगान–व्यवस्था में परिवर्तन की भूमिका निर्मित की ।

7.1 प्रस्तावना

राजस्थान के राज्यों का आर्थिक जीवन प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से कृषि पर आधारित था । 8०% भूमि पर स्वामित्व सिद्धांतत राज में निहित होता था । जिससे कृषक की दशा दयनीय होती थी, लेकिन 1818 की संधियों के पश्चात् कुछ समय तक राजस्थान उस आर्थिक शोषण से बचा रहा जो अंग्रेजी भारत में व्यापक बन चुका था । धन निष्कासन की प्रक्रिया भारतीय राज्यों में कुछ ही अंशों में लागू थी । जिसमें राजस्थान का जनमानस प्रसन्न एवं शोषण से बचा हुआ था । अंग्रेज अधिकारी ए. जी. जी. की मान्यता थी कि राजस्थान में वास्तविक निर्धनता और गरीबी अंग्रेजी भारत की तुलना में कम थी।

आर्थिक सम्पन्नता एवं व्यापार वाणिज्य की गति अंग्रेजी भारत में निस्संदेह अधिक थी । धन का आदान–प्रदान तथा क्रय–विक्रय तेजी से चलता था । परिणामस्वरुप आर्थिक सम्पनता त्वरित गतिसे बढ़ती जा रही थी लेकिन 1848 तक राजस्थान का पारगमन व्यापार कम हो चुका था । जिसके पुर्नजीवित होने की कोई संभावना नजर नहीं आ रही थी । 18वी शताब्दी में अंग्रेज अधिकारियों का इस दिशा में प्रयत्न रहा कि राजस्थान 'के विभिन्न राज्यों पर दबाव डालकार यहां की आर्थिक नीतियों में परिवर्तन करवा दें । इस उद्देश्य से यह परामर्श दिया गया कि – 1. व्यापार और आवागमन के साधनों की वृद्धि सें बढ़ोतरी होगी । 2. यातायात के मार्गों का विस्तार और संचार माध्यमों के विकास से राजस्थान के राज्यों को साम्राज्य की आर्थिक नीतियों के प्रभाव में रखा जा सकेगा! इस प्रकार यहां के शासकों को कई प्रलोभन देकर सड़क निर्माण और रेलों के विस्तार, के लिए स्वीकृति देने और सीमा शुल्क समाप्त करने पर बाध्य किया । 187० तक राजस्थान को साप्राज्यवाद की आर्थिक नीति में जकड़ने की प्रक्रिया में कुछ कठिनाईयां थी । लेकिन पुराने आधार पर स्थापित कार्य कुशलता समाप्त हो जाने के कारण यह प्रक्रिया अत्यंत सरल हो गई जिसके कारण राजस्थान का आर्थिक उप–निवेशीकरण हुआ । जिसका प्रभाव कृषि पर पड़ना स्वाभाविक था ।

7.2 भूमि की श्रेणियां

जैसा कि हमें, शत है राजस्थान की अधिकांश जनता के जीविकोपार्जन का साधन कृषि था जिस पर प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से शासक वर्ग का अधिकार होता था वे ही भूमि प्रदान करते थे और जब्त करने का अधिकार रखते थे । यहां पर भूमि कई किस्मों की पाई जाती थी। जिनका विवरण निम्न प्रकार है –

7.2.1 खालसा भूमि :

इस भूमि पर राज्य का सीधा नियन्त्रण होता था। सामान्यत : विभिन्न परगनों के अधिक पैदावार वाले गांव खालसा–भूमि में रखे जाते थे । ऐसी मान्यता है कि इसमें राज्य की कुल भूमि का अनुमानत : 17 से 20 प्रतिशत भाग सम्मिलित था । लगान निर्धारण व वसूल करने का कार्य राज्य के अधिकारियों द्वारा किया जाता था।

खालसा भूमि का क्षेत्रफल विभिन्न राजाओं के काल में समय–समय पर घटता–बढ़ता रहता था जिसके कारण भू–राजस्व में परिवर्तन स्वाभाविक था। उदाहरणार्थ, मारवाड़ से सम्बन्धित खालसा भूमि की सारणी प्रस्तुत करे इस तथ्य को समझा जा सकता है -

क्र.सं.	वर्ष.	खालसा गांवों की संख्या	खालसा भूमि से प्राप्त राजस्व की राशि
1	1984–85	486	5,30,462
2	1994–95	625	6,89,365
3	1901–02	678	8,44,507
4	1907–08	687	10,25,082

7.2.2 चरनोता भूमि:

खालसा–भूमि की दो श्रेणियां थी – कृषि योग्य भूमि और चरनोता भ्रम । कृषि योग्य भूमि 'खेती योग्य भूमि थी । यद्यपि यह आवश्यक नहीं था कि उस समस्त भूमि पर फसल उगाई जाए।

चरनोता उस भूमि को कहते थे जो. पशुओं के लिए चारा उगाने के लिए छोड़ी जाती. है। ऐसी, भूमि ग्राम–पंचायत के नियंत्रण में होती थी ।

7.2.3 जागीर भूमि :

यह भूमि सामन्त व अन्य व्यक्तियों को राज्य के प्रति की जाने वाली सेवाओं के बदले में–. दी जाती थी! जागीर क्षेत्र में भूमि पर जागीरदारों का वर्चस्व रहता था । खालसा क्षेत्र के किसानों की तुलना में जागीर क्षेत्र के अधिकार सीमित होते थे । जागीरदार द्वारा उनका शोषण किया जाता था। सामंती व्यवस्था ने भी जागीरदारी प्रथा को प्रोत्साहन दिया था । सामन्तों के सहयोग सें राजा अपने राज्य की सुरक्षा एवं राज कार्यो का संचालन करते थे । इस भूमि, पर जागीरदार का अधिकार जीवनपर्यन्त बना रहता था । उसकी मृत्यु होते ही जागीर–भूमि को खालसा भूमि में सम्मिलित. कर लिया जाता था । लेकिन जैसे ही राजा द्वारा जागीरदार के उत्तराधिकार को मान्यता दे दी जाती थी, शासक द्वारा जागीर भूमि का पट्टा स्वीकार कर लिया जाता था । जिनमें जागीर का नाम एवं. अनुमानत : वार्षिक आय का विवरण खेता था ।

जागीरदार द्वारा किसी कानूनी–आदेश की अवहेलना अथवा किसी गम्भीर राजनैतिक अपराध में लिप्त होने के मामलों में जागीर भूमि को जब्त कर लिया जाता था । इसके अतिरिक्त मौलिक पट्टाधारी जागीरदार की निसंतान मृत्यु होने पर उस जागीर–भूमि को जब्त कर खालसा भूमि में सम्मिलित कर लिया जाता था ।

7.2.4 भूमि की अन्य श्रेणियां :

(i) भीम – भोमियों को कुछ भूमि उनकी चौकीदारी की सेवाओं तथा मार्गों. की सुरक्षा के कर्त्तव्यों को पूरा केरने के लिए दी जाती थी । इसे 'भोम" कहा जाता था । इस भूमि पर बहुत मामूली लगान वसूल किया जाता था ।

(ii) सांसण – दरबार या दरबार की अनुमति से जागीरदार द्वारा पूण्यार्थ दी गई भूमि सांसण की श्रेणी में आती थी । सामान्यतया यह भूमि ब्राह्मणों, भाटों और चारणों आदि को दी जाती थी ।

इसके अतिरिक्त भूमि की ओर भी श्रेणियां थी जिन्हें निम्न नामों से पुकारा जाता था । जैसे –

(i) पीवल – सिंचाई सुविधा से मुक्त भूमि को पीवल कहा जाता था ।

(ii) तलाई – तालाब की भूमि तलाई कहलाती थी ।

(iii) कांकड़ – चरागाह श्रम को सामान्यतया कांकड़ कह कर पुकारा जाता था।

(iv) बीड़ – नदी–नाले के समीप वाली भूमि"बीड" कहलाती थी ।

(v) नाड़ी – काली चिकनी मिट्टी वाली भूमि को नाड़ी कहा जाता था ।

उपर्युक्त भूमि की श्रेणियों के अतिरिक्त मारवाड़ में भूमि की अन्य श्रेणियां भी उपलब्ध थी जिनका विवरण निम्न प्रकार है

(1) **ईनाम.** – यह भूमि लगान मुक्त थी एवं राज्य सेवा के बदले दी जाती थी ।इस भूमिका धारक ईनामदार कहलाता था । इनामदार इस भूमि को बेच नहीं सकता था, लेकिन आवश्यकता पड़ने पर वह इसे गिरवी रख सकता था । यदि ईनामदार अपने कानूनी उत्तराधिकारी के अभाव में मृत्यु को प्राप्त हो जाता, तो उस श्रम पर पुन राज्य का अधिकार माना जाता था ।

(2) **पसातिया** – यह भी सभी प्रकार के लगानों एवं मूल्याकनों से' मुक्त भूमि थी । यह भूमि दरबार या जागीरदार द्वारा उन व्यक्तियों को उनकी राज्य सेवा के बदले प्रदान की जाती थी जो राज्य सेवा में थे । लेकिन धारक की राज्य सेवा की समाप्ति 'पर इस भूमि को पुन राज्य अधिकार में मान लिया जाता था । मौलिक धारक के वैधानिक उत्तराधिकारी के अभाव में धारक की मृत्यु होने पर इस भूमि पर पुन राज्य का अधिकार स्थापित हो जाता था ।

(3) **डोली –** यह पुण्यार्थ दी जाने वाली भूमि थी । जो केवल जागीरदार द्वारा ही दी जाती थी। इसे भी सांसण अनुदान की श्रेणी में रखा जा सकता है । यह भूमि भी सभी प्रकार के कर एवं मूल्यांकनों से मुक्त थी । इस प्रथा के अन्तर्गत गांव का एक निश्चित भू–भाग अथवा कुएं या मैदान, जो प्रदान किया जाता था उसे डोली के नाम से जाना जाता था। इस भूमि को बेचा भी नहीं जा सकता था। लेकिन महाराजा सरदार सिंह जी ने इस श्रेणी की भूमि के विक्रय पर रोक' लगा दी थी। मौलिक धारक के वंशज के अभाव में इस भूमि पर पुन: दानदाता । का अधिकार हो जाता था।

(4) **नानकर** – राजपूत मुखिया के अधिकार में कुछ ग्राम थे जो नावां जिले में स्थित थे । नानकर का तात्पर्य "रोटी के लिए कार्य" करना था । इनकी स्थिति जागीर क्षेत्रों जैसी थी । इनसे न कोई लाग ली जाती थी न ही किसी प्रकार की सेवा । इनसे मात्र उत्तराधिकार शुल्क लिया जाता था ।

(5) **डूमबा** – डूमबा दरबार द्वारा स्वीकृत एक ऐसी प्रथा जो मुख्य रूप से बाली व देसूरी जिलों में पाई जाती थी । इस प्रथा के अन्तर्गत एक ग्राम दरबार या जागीरदार द्वारा प्रदान किया जाता था । वहां लोगों को बसाया जाता था एवं भूमि को कृषि योग्य बनाकर कृषि कार्य में लिया जाता था । 'इस भूमि के स्वामी को स्थाई रूप से निश्चित कर देना होता था । भूमि के बदले कोई राज्य सेवा नहीं ली जाती थी ।

इन सबके अतिरिक्त मारवाड़ में कुछ गांव ऐसे थे जिनकी आय जागीरदार और राज्य में बटी हुई थी । ऐसी भूमि को यहां "मुश्तरका" कहा जाता था ।

7.3 कृषकों की स्थिति :

मुख्यतया मारवाड़ में काश्तकारों की दो श्रेणियाँ थी –

1 बापीदार कृषक 2. गैर बापीदार कृषक

7.3.1 बापीदार कृषक :

बापीदार. काश्तकार को मौरूसी काश्तकार के अधिकार प्राप्त थे । भूमि पर उसका स्वामित्व होता था । बीकानेर राज्य में जिन काश्तकारों को मोहरछाप लिखित पट्टा प्रदान किया जाता था, वे इस प्रकार के काश्तकारों की श्रेणी में आते थे । ऐसे काश्तकार पट्टे में उल्लेखित भूमि को जोतने के वंशानुगत निजी अधिकारों का उपयोग करते थे । परन्तु वे राज्य की नीतियों व नियमों से पाबन्द थे ।

बापीदार किसान को राज्य की ओर से अनेक रियायतें दी जाती थी । उनके खेत में लकड़ी व घास होती थी, उस पर उनका स्वामित्व माना जाता था । कुवें खोदकर या अन्य उपायों द्वारा अपनी पैदावार बढ़ाने के लिए बापीदार जो उपाय अपनाते थे, कर निर्धारण के समय उनका ध्यान रखा जाता था ।

अकाल अथवा अन्य कारणों से यदि वे गांव छोडकर कुछ समय के लिए बाहर जाते थे, तब भी उस भूमि पर उन्हीं का अधिकार माना जाता था । वापसी पर वे अपनी भूमि जोत सकते थे । बापीदार काश्तकार अपनी भूमि किसी अन्य को जोतने के लिए भी दे सकता था । वह अपनी भूमि गिरवी रखने के अधिकार से भी सुसज्जित था ।

7.3.2 गैर बापीदार कृषक :

बापीदार की तुलना में गैर बापीदार कृषक की स्थिति भिन्न थी । उसे' भूमि पर किसी प्रकार के अधिकार प्राप्त नहीं थे । वह मात्र शिकमी काश्तकार होता था । उसे अपनी भूमि को गिरवी रखने का अधिकार नहीं था ।

कृषि पर निर्भर जनसंख्या की तुलनात्मक तालिका

जनगणना वर्ष	राजस्थान की कुल जनसंख्या	कृषि पर निर्भर	कुल जनसंख्या का प्रतिशत जो कृषि पर निर्भर था
1891	1,21,53,631	63,30,876	52.09
1901	98,42,442	54,79,298	56.35
1911	1,05,18,345	68,32,939	64.09
1921	98,31,755	65,67,623	66.65
1931	1,12,25,712	79,94,704	71.02

7.4 भूमि बन्दोबस्त :

19वी सदी के उत्तरार्द्ध में अंग्रेजी नियंत्रण में विभिन्न राज्यों में भूमि–बन्दोबस्त किये गए, जो वर्तमान कृषि व्यवस्था का आधार बने। जैसा कि हमें ज्ञात है भूमि की मुख्यतया दो श्रेणियां थी – खालसा और जागीर। खालसा को भी दो भागों में विभाजित करते हुए उसे कृषि भूमि व चरनोता कहा जाता था कृषि भूमि खेती योग्य भूमि होती थी और चरनोता मवेशियों के लिए घास–चारा उगाने के लिए छोंड़ी जाती थी। इस भूमि पर ग्राम–पंचायत का अधिकार होता था। जागीर भूमि की कई श्रेणियां थी उनमें भोम, सांसण आदि प्रमुख मानी जाती थी। जागीर क्षेत्रों में जागीरदारों का पैतृक अधिकार होता था।

भूमि कर या लगान जिसे भोग, हासिल अथवा भोज आदि नामों से भी पुकारा जाता था। सामान्यतया लाटा बाटा पद्धति से नियंत्रित होता था। इस पद्धति के अन्तर्गत फसल के उत्पादन को एकत्र करके उसे नाप अथवा तोलकर अथवा अनुमान से दो भागों में बांट दिया जाता था। उसके एक भाग पर राजा का अधिकार होता था। इस पद्धति का कृषक को सर्वाधिक लाभ यह होता शा कि कम उपज की स्थिति में कम और अधिक उपज की स्थिति मैं कृषक को अधिक लगान देना पड़ता था।

कुछ स्थानों पर बिगौड़ी प्रथा प्रचालित थी। यह उन फसलों के लिए थी जो व्यापारिक उद्देश्य से उगाई जाती थी। लगान की वसूली खालसा क्षेत्र में राजा कर्मचारी, इजारेदार अथवा मुकासी के कर्मचारी द्वारा की जाती थी। लगान का निर्धारण किसान की स्थिति अर्थात बापीदार व गैर बापीदार, उसकी जाति, भूमि के गुण अर्थात अतिउत्तम सामान्य आदि पर निर्भर होता था। ब्राह्मण, राजपूत, महाजन जातियों को लगान में कुछ निश्चित छूट मिलती थी। खरीफ व रबी की फसलों में भी लगान की मात्रा भिन्न होती थी। लगान नकद एवं जिन्स दोनों रूप में लिया जाता था।

भूमि सम्बन्धी अधिकारों का लेखा–जोखा नहीं रखा जाता था। क्योंकि भू–राजस्व व्यवस्था परम्परागत तथा वंशानुगत थी। भूमि सजन्धी विवाद भी कम होतै थे। संभवतया. इसका कारण भूमि की पर्याप्ता थी। गांव का मुखिया 'या पटेल गांव के अधिकारों की रक्षा करते थे वे सरकारी कर्मचारी नहीं होते थे। कृषकों एवं पटेलों में मतैवय रहता था।

7.4.1 नए भूमि–बन्दोबस्त के कारण :

राजस्थान के विभिन्न राज्यों में लगान परम्परागत रीति से लिया जाता था परन्तु 19वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राज्यों में अंग्रेजी विचार स्थापित होते चले गये और राज्यों को सभ्य बनाने के अभियान में. भूमि व्यवस्था को बदलने के भी प्रयास किये गये और बहुत कुछ सीमा तक इसे बदल दिया गया ।

नए भूमि–बन्दोबस्त को अपनाए जाने का एक कारण यह रहा कि 187० में राज्यों की पुरानी वित्त व्यवस्था चरमरा गई, क्योंकि उन्हें ब्रिटिश सरकार को खिराज की रकम देनी पड़ती थी, सैनिक बटालियनों का खर्च सहन करना पड़ता था, सड़को तथा रेल मार्गों के निर्माण एवं सिंचाई योजना में धन व्यय करना पड़ता था । इसके अतिरिक्त राज्य में पाश्चात्य शासन पद्धति लागू करने से व्यय में वृद्धि हुई अत राजकोष रिक्त हो गया था । पारगमन शुरू से सीमा शुल्क जगात आदि से होने वाली आय में भी कमी आई थी । नमक उत्पादन अब ब्रिटिश सरकार का अधिकार था । इनके परिणाम स्वरुप भी राज्य की आय में कमी आई । इस प्रकार राज्य की आय के साधन सीमित थे और वह मुख्य रूप से भूमि कर पर ही निर्भर थी । इसलिए अब भूमि कर में वृद्धि करना आवश्यक हो गया था । प्राचीन व्यवस्था के अन्तर्गत भूमिकर में वृद्धि नहीं की जा सकती थी इसलिए अंग्रेजों के परामर्श पर अब नई व्यवस्था लागू की गई और राजस्थान के राज्यों में बन्दोबस्त की प्रक्रिया आरम्भ कर दी गई ।

नई व्यवस्था को लागू कराने के पीछे अंग्रेजों का यह दृष्टिकोण था कि जब तक राजस्थान के राज्यों का मुद्रीकरण नहीं किया जायेगा तब तक ब्रिटिश उत्पादित वस्तुओं की

खपत नहीं होगी क्योंकि लोगों के पास उन्हें खरीदने के लिए मुद्रा का होना आवश्यक है । इसलिए भू–व्यवस्था को परिवर्तन करना और लगान को नकद वसूल करना अनिवार्य था । अंग्रेजों का मानना था कि यदि किसानों से मिलने वाले लगान की राशि निश्चित कर दी जाये तो वे स्वत : ही अधिक मूल्यवान और व्यापारिक उत्पादन में लग जायेंगे और उनकी आय बढ़ जायेगी । उन्होंने राज्यों को यह समझाया कि यदि प्रति बीघा लगान निर्धारित कर दिया जाए तो लाखों बीघे भूमि जो पड़त रह जाती थी कृषि उत्पादन के काम आ जायेगी और राज्य की आय बढ़ेगी । इस प्रकार के आकर्षक प्रस्तावों के द्वारा अंग्रेज अधिकारियों ने अधिकांश राजस्थान के राज्यो को नई भूमि–व्यवस्था पर सहमत कर लिया ।

नई भूमि–व्यवस्था के लागू होने का एक अन्य कारण यह रहा था कि अंग्रेजों ने प्रचलित प्राचीन पद्धति में अनेकों दोष ढूंढ कर उसे गलत सिद्ध करने का प्रयास किया और पटेल की भूमिका को संदिग्ध बताकर समस्त पुरानी व्यवस्था के औचित्य को संदेह में डाल दिया । इस प्रकार प्रचलित व्यवस्था को दोषपूर्ण बताकर नई व्ययवस्था लागू करने की आवश्यकता बताई ।

7.4.2 भूमि–बन्दोबस्त की प्रगति :

1855 में सर्व प्रथम भरतपुर राज्य में सर्वेक्षण के पश्चात् भूमि–बन्दोबस्त लागू किया गया जिसमें समय–समय पर परिवर्तन होते रहे,। इसके उपरांत 1859–6० ई में अलवर में अस्थाई बन्दोबस्त. लागू किया गया इसमें भी कई बार संशोधन किये गये।1863 ई में जयपुर राज्य में महाराजा रामसिंह–द्वितीय के शासन काल में भू–बन्दोबस्त को लागू किया गया परन्तु सार्वजनिक विरोध के कारण इसे स्थगित करना पड़ा । 1868 ई. में नवीन व्यवस्था लागू की गई जिसका उद्देश्य राज्य में प्रत्येक खालसा ग्राम की पीवल और बारानी भूमि की पैमाइश कर तत्पश्चात् भूमि की किस्म नये तौर पर किसानों को भूमि आवंटित की गई । भूमि की किस्म और काश्तकार की जाति के कसार प्रति बीघा की दर से नकद भूमि–कर निश्चित किया गया । जोधपुर में कर्नल लोच की देख–रेख में खालसा भूमि की पैमाईश करवाई गई और 10 वर्ष पश्चात् 1893 –94 में नकद भूमि कर लेने की नीति स्थापित की गई । यह व्यवस्था आरम्भ में 10 वर्ष के लिए लागू की गई । उदयपुर में 1871 –72 में छोटे–छोटे पैमाने पर भूमि व्यवस्था तीन वर्षो के लिए स्थापित की गई । जब 1874–75 में इसे बढ़ाने की योजना बनाई गई तो किसानों ने इसका विरोध किया । सदी के अन्त तक जैसलमेर? और बाड़मेर राज्यों को छोड़कर अन्य सभी राज्यों में भूमि–बन्दोबस्त लागू कर दिया गया ।

7.4.3 नया भूमि–बन्दोबस्त :

नये भूमि–बन्दोबस्त के अन्तर्गत पुरानी व्यवस्थाओं में अनेक परिवर्तन किए गये । इसमें सर्वप्रथम लगान व्यवस्था की परिकल्पना को बदल दिया गया। नयी व्यवस्था के अनुसार अब लगान भूमि की आय पर न लेकर भूमि के किराये के रूप ' में लिया जाने लगा । इजारेदारी– प्रथा का अन्त कर दिया गया और लगान जिन्स– में न 'होकर नकद रूप में लिया

जाने लगा । इजारेदारी से व्यापारी वर्ग अत्यधिक प्रभावित हुआ क्योंकि उनका व्यवसाय अब रुपयों के लेन–देन तक ही सीमित रह गया ।. नकद लगान व्यवस्था किसानों के लिए अहितकर प्रमाणित हुई, विशेषकर कम पैदावार वाले क्षेत्र में कृषकों के लिए लगान की निर्धारित रकम जुटाना भारी हो गया । 1921 में मेवाड़ में बकाया लगान 14.59 लाख था । इसका एक दुष्परिणाम यह हुआ कि प्राकृतिक विपदा के सामने कृषकों को साहूकारों से ऋण लेने को बाध्य होना पड़ा । अत साहूकारों का शिकंजा और अधिक मजबूत हो गया । प्राचीन पद्धति में लगान विभिन्न जातियों से भिन्न–भिन्न दरों से लिया जाता था परन्तु नई व्यवस्था में सभी से एक समान कर वसूल किया गया । नये बन्दोबस्त के लागू. होने से बापीदारों के अधिकारों का हनन हुआ ।

भूमि कर के अलावा ली जाने वाली विभिन्न लागों की संख्या में कमी आई जिसमें हिसाब–किताब रखने में सुविधा हो गई । जोधपुर में भूमि–बन्दोबस्त से पूर्व 64 लागे थीं । नये भूमि बन्दोबस्त के बाद केवल मलबा और चोधरबाव लागे पूर्ववत् रही । 15 लागों को खरा और घासमरी दो लागों में सम्मिलित कर दिया गया और 47 लागे समाप्त कर दी गई ।

भू–राजस्व की नई प्रणाली के कारण राजस्थान में मुद्रा का प्रसार हो गया जिसमें अंग्रेजी व्यापारियों को लाभ हुआ क्योंकि अब पाश्चात्य वस्तुओं की खपत राजस्थान में बढ़ गई।

मेवाड़ राज्य में नये बन्दोबस्त के साथ "साद–प्रथा" को जोड़ा गया। इस प्रथा के अनुसार प्रत्येक क्षेत्र में महाजन को लगान की अदायगी का आश्वासन देना होता था । समय पर लगान राज्य में जमा करवाने के लिए वह ही उत्तरदायी था । इस प्रकार महाजन स्थायी जामिन के रूप में कार्य करता था ।

नये बन्दोबस्त में कुछ महत्वपूर्ण नियम थे जिन्हें सेटिलमेन्ट रूल्स कहा जाता था । इसके अन्तर्गत कुछ परिस्थितियों में भूमि स्वामित्व के हस्तान्तरण की व्यवस्था की गई । गांव के पटेलों का बिना जोते हुए खेतों को दूसरे कृषकों को देने का अधिकार छीन लिया गया और परगने के हाकिम को यह अधिकार दे दिया गया और गांव में' हाकिम राज्य स्थापित कर दिया गया ।

बारानी क्षेत्र में रूई की खेती पर लगान कम व मक्का पर' अधिक कर दिया गया । इसके परिणाम स्वरूप रूई का उत्पादन बढ़ा । दूसरा बड़ा परिवर्तन यह हुआ कि भूमि–बन्दोबस्त करते समय प्रत्येक गांव में अतिरिक्त भूमि बहुत निकल आई क्योंकि पहले कृषक पैदावार के अनुपात में लगान देता था अब स्वामित्व के आधार पर । इसलिए कृषकों ने स्तुत सी भूमि पर अपना अधिकार समाप्त कर दिया । इसके अतिरिक्त भूमि का प्रयोग पहले चारागाह और जंगल भूमि के रूप में होता था वह अब समाप्त हो गया क्योंकि अतिरिक्त भूमि परगना हाकिम अर्थात राज्य के अन्य वर्गो को कृषि के लिये दे दी गई । इसका परिणाम यह हुआ कि चारे की समस्या उत्पन्न हो गई और मवेशियों की संख्या कालान्तर में काफी कम हो गई ।

नये भूमि–बन्दोबस्त से सरकारी अधिकारियों का गांव में नियन्त्रण बढ़ता चला गया । पहले चाहे ऐसा न रहा हो परन्तु अब यह व्यापक हो गया। लगान का बोझ कृषकों पर बढ़ता चला गया, इनका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि 1921 में कृषकों – का एक

सम्मेलन मातृकुडिया में हुआ और उसमें यह निश्चय हुआ कि उस समय तक लगान न दिया जाए जब तक उनकी शिकायतें दूर न हों । अंग्रेजी सरकर को भय हो गया कि कहीं खालसा क्षेत्र के कृषक भी यदि बिजोलिया आन्दोलन के साथ मिल गये तो समस्या जटिल हो जायेगौ। अत : उन्होंने दरबार पर दबाव डालकर खालसा क्षेत्र के किसानों पर लगान कीं बकाया और व्याज को माफ– करवा दिया । परन्तु कृषकों का भू–स्वामित्व छीन लिया गया। पहला बन्दोबस्त 20 वर्षो के लिए किया गया था जो 40 वर्षो बाद भी नहीं बदला गया ।

7.5 राजस्व व्यवस्था :

राजस्थान के विभिन्न प्रान्तों में राजस्व व्यवस्था भिन्न–भिन्न थी । उदाहरणार्थ, जयपुर राज्य को राजस्व की दृष्टि से दो भागों में विभाजित कर रखा था – (i) असली और (ii) दाखली ।

इसी प्रकार कोटा के गांवों को राजस्व की दृष्टि से असली और "मजारा में बांटा गया। मेवाड़ में कृषक भूमि का स्वामी माना जाता था । वह अपनी भूमि को बपौती कहता था । वैसे सम्पूर्ण राजस्थान में भूमि सम्बन्ध में यह मान्यता प्रचलित थी कि – भोग रा धणी राज हो भोम रा धणी मां छो " अर्थात् भूमि जोतने वाले किसान की थी राजा तो भाग का अधिकारी ' था ।

राजस्थान में राजस्व निर्धारण व वसूलने के तरीकें भिन्न–भिन थे । राजस्व के निर्धारण में मुख्यत : तीन तथ्यों को ध्यान में रखा जाता था।

1. भूमि के स्वरूप
2. फसल
3. काश्तकार की श्रेणी

राजस्व की वसूली उत्पादन' की क्षमता पर निर्भर थी । जैसे बीकानेर राज्य में रेगिस्तानी भूमि बारानी (बरसात के पानी पर निर्भर भूमि) की राजस्व दर उन्नाव. (कुओं, तालाबों और बावड़ियों से सिंचित). भूमि की दर से ड्योढ़ी होती थी, इतना ही नहीं एक ही राज्य में अलग–अलग परगनों में राजस्व की दरों में भिन्नता पाई जाती थी । जयपुर राज्य में विभिन्न फसलों पर प्रति बीघा राजस्व की दरें दस्तुर–उल–अमल में बाजार भाव और भूमि की उत्पादन–क्षमता के आधार पर दर्ज की जाती थी ।

सामाम्यतया राजस्व निर्धारण की विभिन्न पद्द्यतीयां प्रचलित थी –

7.5.1 लाटा :

राजस्थान के राज्यों में राजस्व वसूली के लिए अपनाई गई पद्धतियों में 'काटा. जिसे बटाई भी कहते है, सर्वाधिक प्रचलित पद्धति थी,। इस प्रणाली के अन्तर्गत जब फसल पक कर तैयार हो जाती और खलिहान में साफ कर ली जाती थी तब राज्य का हिस्सा सुनिश्चित किया जाता था । एकत्रित उत्पादन को तोलना अथवा डोरी द्वारा नाप लेना और कहीं–कहीं अनुमान से ही भू–स्वामी का हिस्सा निश्चित कर दिया जाता था । इस पद्धति को "कूंता' कहा जाता था

। बटाई के समय राजकीय पदाधिकारी, हवलदार, चौधरी, पटवारी, कामदार और कृषक उपस्थित रहते थे ।

बटाई के समय काश्तकार को अनेक प्रकार की "लाग" व नेक भी देने पड़ेते थे । जैसे मारवाड़ में सुथार, नाई, लुहार, धोबी दर्जी, हरिजन, नट, चमार व रेगर आदि को उत्पादित अनाज में से कुछ मुट्ठियां देने की परम्परा थी । मन्दिरों में भेंट स्वरूप अनाज दिया जाता था। इसी प्रकार बीकानेर में निम्न स्वरूपों में बटाई निकली जाती थी ।

1. नाली – यह तिल पर लगने वाला कर था ।
2. सिराणा – अधिकारियों के खान–पान पर लगने वाला कर सिराणा कहलाता था ।
3. खूंटा – अधिकारियों के पशुओं की चराई के लिए देय कर ।
4. हुजदार – अधिकारियों के सेवकों के खान–पान हेतु देय ।
5. ठाकुर जी - मन्दिर में भेंट ।
6. डेस खर्च ।

इस प्रकार उपल के बटाई करने के पश्चात् किसान के पास बहुत कम अनाज शेष रहता था ।

7.5.2 मलबा और चौधर बाब :

मारवाड़ में राजस्व के अतिरिक्त किसान से "मलबा" और "चौधर बाब" जैसे कर भी वसूल किये जाते थे । मलबा आय से फसल की रक्षा सम्बन्धी किये गये व्यय की पूर्ति की जाती थी । इसके अतिरिक्त इस आय से उन व्यक्तियों व्यक्तियों को मजदूरी दी जाती थी जिन्होंने बटाई की प्रक्रिया में सहयोग दिया था ।

जयपुर राज्य में बहुधा कानूनगो, पटवारी एवं चौधरी आदि को उनका हिस्सा देने पश्चात् काश्तकार के पास उपज का 2/5 भाग ही शेष रहता था। इसी प्रकार मेवाड़ में बटाई के समय सहणा, पटवारी, पटेल, कामदार, फौजदार, किलेदार आदि कर्मचारियों के नाम से अनेक लागें वसूल की जाती थी ।

जागीरदार अपनी–अपनी जागीर में विभिन्न प्रकार की लागें वसूल करते थे । जैसे मारवाड़ में जागीर क्षेत्र में खारखार, कांसा, शुकराना, हासा, भावा, हल, मवाली आदि प्रमुख लागें थीं ।

7.5.3 कुंता–प्रणाली :

राजस्व की दृष्टि से राजस्थान में इस प्रणाली के अन्तर्गत खेतों में खड़ी फसल का पैदावार, की दृष्टि से अनुमान लगाकर राज्य का भाग नकद या वस्तु के रूप में निश्चित कर लिया जाता था । ऐसा करते समय खेत का स्वामी, गांव का कर्मचारी पटेल, पटवारी और गांव के प्रमुख व्यक्ति उपस्थित रहते थे । इस पद्धति को कांकड़ कुंता की संज्ञा भी दी गई थी ।

7.5.4 हल–प्रणाली :

राजस्थान में कहीं–कही राजस्व–वसूलने के लिए हलगत–प्रणाली का प्रचलन भी था । इस पद्धति के अन्तर्गत प्रत्येक हल पर अर्थात् एक हल से जोती गई भूमि पर कर का निर्धारण किया जाता था । सामान्यतया यह निश्चित कर दिया जाता था कि एक हल से 50 से 60 बीघा तक भूमि जोती जा सकती थी । हल पर लगी कर की दर सभी स्थानों पर भिन्न–भिन्न थी । बीकानेर में बैल से जोते गए हल पर तीन रुपये और ऊँट से जोते गये हल पर पांच रुपये राजस्व वसूल किया जाता था । मारवाड़ में कहीं तीन तो कही दो रुपये के हिसाब से कर–वसूल किया जाता था ।

7.5.5 मुकाता, डोरी और धुधरी :

राजस्थान में उपर्युक्त सभी तरीकों के अतिरिक्त उपज के निर्धारण के तीन अन्य तरीके जिन्हें मुकाता, डोरी और घुघरी कहा जाता था, प्रचलित थे ।

मुकाता के अन्तर्गत राज्य द्वारा एकमुश्त राजस्व निश्चित करू दिया जाता था कि प्रत्येक खेत पर नकदी या जिन्स के रूप में कितना कर देना है?

डोरी में नापे गये बीघे का हिस्सा निर्धारित करके माल गुजारी वसूल की जाती थी । जयपुर में भूमि की नाप के लिए बांसा का उपयोग किया जाता था । इस प्रणाली को "जब्ती" भी कहा जाता था । रबी व खरीफ की फसलों के राजस्व की दरों में भिन्नता होती थी । राजस्व का निर्धारण भूमि की उर्वरा एवं पैदावार के बाजार भाव के आधार पर लिये जाने वाले राजस्व को "बीघोड़ी" कह कर पुकारा जाता था ।

इसी प्रकार जब प्रति कुंआ अथवा खेत के पैदावार की मात्रा निश्चित कर राजस्व वसूल किया जाता था, उसे "घुघरी" कहते थे ।

राजस्थान के कोटा राज्य में सर्व–प्रथम झाला जालिमसिंह ने भूमि–बन्दोबस्त के अन्तर्गत समस्त राज्य की भूमि का नाप करवाया । तत्पश्चात् इसे बीघों में बांट कर चकबन्दी की गई । तदनन्तर जाति और उपज के अनुकूल भूमि को तीन भागों में विभाजित किया गया- 1. पीवत अथवा चाही 2. गौरमा 3. मोरमी अर्थात् पड़त

इनके लगान को निश्चित कर घोषित कर दिया गया । इस लगान की वसूली नकदी में की जाने लगी । इस प्रथा का महत्वपूर्ण लाभ यह था कि जहां एक ओर काश्तकार को यह पता लग जाता था कि उसे कितनी रकम लगान के रूप में जमा करवानी है वही राज्य की आय निश्चित हो जाती थी ।

7.6 उपसंहार

इस प्रकार उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि राजस्थान में लगभग 80% जनता भूमि पर निर्भर थी । सारी भूमि पर स्वामित्व सिद्धांतय : राजा का माना जाता था परन्तु व्यवहार में भूमि की गई श्रेणियां विद्यमान थी । जिसका उल्लेख उपरोक्त विवेचन में विस्तार से किया गया है । इस प्रकार भूमि पर व्यवहार में कई स्वामित्व विद्यमान थे जैसे – राज्य, जागीरदार, व्यक्तिगत, सार्वजनिक आदि । सार्वजनिक स्वामित्व में तालाब, चरागाह आदि की भूमि आती

थी । भूमि के साथ–साथ कृषकों की भी श्रेणियां थी जो उनकी स्थिति को स्पष्ट करती है । राजस्थान एक परम्परागत क्षेत्र रहा है । अत : यहां परम्परागत व्यवस्थाएं ही प्रचलित रही है । भूमि बन्दोबस्त की भी परम्परागत पद्धति प्रचलित थी परन्तु 1818 ई. में अंग्रेजों से संधि के उपरांत नई भूमि बन्दोबस्त–व्यवस्था लागू की गई । जिसमें प्राचीन प्रचलित प्रणाली को परिवर्तित कर नई प्रणाली लागू की गई । यद्यपि नवीन बन्दोबस्त का किसानों पर बुरा प्रभाव पड़ा । क्योंकि उन्हें अब अधिक भूमि कर देना पड़ता था। भूमि कर के अतिरिक्त उन्हें मवेशियों पर व चारे पर भी कर देना पड़ता था एवं कर नकद रूप में चुकाना पड़ता था । जिसका परिणाम यह हुआ कि किसानों को सूदखोर साहूकारों की शरण में जाना पड़ा । इसके परिणामस्वरूप गांवों का सुरम्य जीवन समाप्त हो गया और राजस्व विभाग में भ्रष्टाचार का बोलबाला हो गया । तथापि भू–राजस्व प्रशासन का नवीन ढांचा 20वीं शताब्दी के प्रथम दशक में खड़ा किया गया । वह आधुनिकीकरण की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम था ।

7.7 अभ्यासार्थ प्रश्न :

1. .खालसा भूमि पर टिप्पणी लिखिये ।
2. कृषकों की स्थिति को स्पष्ट करते हुए उनकी विभिन्न श्रेणियों का वर्णन कीजिये ।
3. नवीन भूमि बन्दोबस्त के क्या कारण थे? अंग्रेजी–काल में हुए भूमि बन्दोबस्त पर विस्तार से प्रकाश डालिये ।
4. राजस्व–व्यवस्था पर लेख लिखिये ।

उत्तर :

प्रश्न 1. कृपया 7.2 बिन्दु को देखें ।

प्रश्न 2. कृपया 7.3 एवं 7.3 : 1 व 7.3:2 देखें।

प्रश्न 3. कृपया 7.4 देखें ।

प्रश्न 4. कृपया 7.5 देखें ।

7.8 संदर्भ ग्रन्थों की सूची:

कालूराम शर्मा	:	उन्नीसवीं सदी के राजस्थान का सामाजिक एवं आर्थिक जीवन
नथूराम खड़गावत	:	राजस्थान रोल इन द स्ट्रगल ऑफ 1857
एम.एस. जैन	:	आधुनिक राजस्थान का वृहद् इतिहास
आर.पी. व्यास	:	आधुनिक राजस्थान का वृहद् इतिहास खण्ड – 1 व 2
रेऊ	:	मारवाड़ राज्य का इतिहास
बी.के. शर्मा	:	आधुनिक राजस्थान का आर्थिक इतिहास
जगदीश चन्द्र गहलोत	:	राजस्थान का सामाजिक जीवन
चौधरी रामनारायण	:	हमारा वर्तमान राजस्थान
एचीसन	:	ट्रीटाज एंगवमेन्ट्स एण्ड सनट्स भाग– 3
कमला मालू	:	फेमिन्स इन राजस्थान
पेमा राम	:	पिजेन्ट्स मुवमेन्टस इन राजस्थान

पी.एम. जैन : जोधपुर राज्य में किसानों की स्थिति – शोध–ग्रंथ (अप्रकाशित)

इकाई–8
भू–राजस्व निर्धारण पद्धतियां एवं वसूली

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 भू–राजस्व निर्धारण–पद्धतियां

(अ) लाटा

(ब) कांकड़ कूंत

(स) भेज अथवा नकदी

(द) अन्य – लाग–बाग

8.3 भू–राजस्व की दरें – भूमि बन्दोबस्त से पूर्व

8.4 भूमि–बन्दोबस्त एवं भू–राजस्व

8.5 भू–राजस्व की वसूली – इजारेदारी प्रथा

8.6 जागीरदार व कृषक के सम्बन्ध

8.7 जागीर क्षेत्र में भू–राजस्व

8.8 सारांश

8.9 अभ्यासार्थ–प्रश्न

8.10 संदर्भ ग्रन्थों की सूची

8.0 उद्देश्य

इस अध्याय में आप अध्ययन करेंगे –

- कृषक व भू–स्वामियों के मध्य सम्बन्ध जो कृषि उत्पादन को प्रभावित करते है भू–स्वामी व किसान पृथक–पृथक होने की स्थिति में कृषि–उत्पादन पर पड़ने वाले प्रभाव ।
- भूमि पर किसान के अधिकार जो उसे उत्पादन बढ़ाने के लिए प्रेरित करते है ।
- भू–राजस्व निर्धारण की विभिन्न पद्धतियां उससे आपको कृषि–आय की जानकारी मिलेगी।
- भू–राजस्व की दरें जो समय–समय पर परिवर्तित होती रहती थी ।
- कृषकों से लिये जाने वाले विभिन्न कर व बेगार जो कृषक को ऋण ग्रस्त बनाने में सहायक हुआ करती थी ।
- जागीरदारों व किसानों के संबंध एवं जागीर–क्षेत्रों में भू–राजस्व का निर्धारण ।
- उक्त स्थितियों का कृषकों के जन–जीवन पर प्रभाव।

8.1 प्रस्तावना

राजस्थान में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना के पूर्व भू–राजस्व व्यवस्था परम्परागत तथा वंशानुगत और पैतृक होने के कारण भूमि सम्बन्धी अधिकारों का लिखित होना आवश्यक नहीं था । भूमि सम्बन्धी झगड़े बहुत कम होते थे । यद्यपि गांवों की सीमाएं निश्चित नहीं थी

तथापि विशेष झगड़ो का कारण नहीं थी क्योंकि भूमि का अभाव नहीं था । गांव का मुखिया या पटेल सरकारी कर्मचारी नहीं होता था । वह गांवों के अधिकारों की रक्षा करता था और ग्रामवासियों की ओर से उसके भरण–पोषण की व्यवस्था हो जाती थी । इस व्यवस्था में राज्य सरकार कर वसूली और कृषक अपने हितों की रक्षा के लिए पटेल पर निर्भर रहते थे । पटेल और कृषकों के मध्य परस्पर मतैक्य था । उन्हें भूमि स्वामित्व के छिन जाने का भय नहीं था और अकाल के समय उपज न होने पर उन्हें लगान से मुक्ति स्वत : ही हो जाती थी । इन कारणों से गांवों की अर्थव्यवस्था स्वाबलम्बी व आत्मनिर्भर थी । कृषक स्वाभिमानी और स्वतन्त्र होते थे । इसका अभिप्राय यह हुआ कि राजस्थान में अंग्रेजी हुकूमत की स्थापना के पूर्व किसान वर्ग सन्तुष्ट था, चाहे वह समृद्ध नहीं था ।

मध्यकालीन राजस्थान में भूमि का स्वामित्व सिद्धांतत : राजा में निहित था । लेकिन व्यवहारिक रूप से भूमि पर काश्त करने वाले जब तक लगान देते रहते थे तब तक उनके मालिक बने रहते थे । उन्नीसवीं सदी के उपलब्ध साक्ष्यों से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है । सैद्धांतिक और व्यवहारिक पक्षों का यह अन्तर भू–स्वामित्व के प्रश्न की जटिलता को स्पष्ट करता है । इस प्रकार राज्य की भूमि जो खालसा, जागीर, भोग व शासन इत्यादि भागों में विभाजित थी, इन पर राजा का स्वामित्व माना जाता था । वह किसी भी व्यक्ति को अपनी मनचाही शर्तों पर भूमि अनुदान कर सकता था एवं प्रदत्त भूमि को वापस लेने का अधिकारी था।

इससे यह स्पष्ट होता है कि भूमि का विकास एवं किसानों की सम्पन्नता अच्छे भूमि सम्बन्धों पर निर्भर करते है । कृषि उत्पादनों का स्वरूप निर्धारण किसान के भूमि अधिकार के उन्होंने इसे दोष पूर्ण और असुविधाजनक बताया । 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राज्यों में भूमि बन्दोबस्तों के लागू होने के साथ ही खालसा क्षेत्रों में लाटा पद्धति समाप्त हो गई ।

(ब) कांकड़–कूंत :

कांकड़ कूंत पद्धति को कंकूत भी कहा जाता है । इस पद्धति एवं लाटा पद्धति के समान कुल उपज को तौला या मापा नहीं जाता अपितु इनके स्थान पर कुल उपज के ढेर या खेत पर खड़ी फसल का स्थूल अनुमान भाग लगाकर लिया जाता था । खालसा क्षेत्र में अनुमान लगाने का कार्य गांव के चौधरी एवं राज्य कर्मचारी मिलकर करते थे । कंकूत पद्धति के अन्तर्गत किसानों को भारी नुकसान था । क्योंकि इसमें भू–राजस्व का निर्धारण अधिक होता था । राजस्व निर्धारणकर्त्ताओं में किसान अकेला पड़ जाता था इसलिए सरकारी अधिकारियों का निर्णय ही भू–राजस्व के निर्धारण में अन्तिम होता था ।

(स) भेज अथवा नकदी :

राजस्थान में भू–राजस्व के निर्धारण की पद्धतियों में एक पद्धति नकदी में राजस्व वसूली की भी थी इस पद्धति को पूर्वी राजस्थान में 'भेज' नाम से जाना जाता है । कहीं–कहीं पर इसे 'बीघोड़ी' के नाम से भी जाना जाता है । भेज वाणिज्यिक फसलों पर मुख्य रूप से वसूल किया जाता था । इन फसलों में मुख्य रूप से गन्ना, अफीम, तिलहन, जुट, तम्बाकू,

कपास, नील, फल एवं बागवानी की फसलें प्रमुख थी । इनकी दर 2/– रुपये से 10/– रुपये प्रति बीघा थी । इस पद्धति में भू–राजस्व निर्धारण निम्न आधारों पर निश्चित किया जाता था–

- मिट्टी की किस्म पर भू–राजस्व निर्धारित किया जाता था मिट्टी को तीन वर्गों में विभाजित किया गया था – 1. काली 2. धामनी 3 पीली । उदाहरण के लिए यदि अफीम की खेती धामनी मिट्टी में की जाती थी तो उसका उत्पादन अधिक होता था इसलिए भेज की दर सात रुपये प्रति बीघा थी, यदि अफीम की खेती पीली मिट्टी पर की जाए तो उनका उत्पादन कम था । अत: भेज की दर चार रुपये प्रति बीघा थी ।
- फसल की किस्म पर भी भेज की दर का निर्धारण किया जाता था । यदि धामनी मिट्टी पर अफीम की खेती की जाए तो भेज की दर सात रुपये प्रति बीघा थी और यदि इसी मिट्टी पर तम्बाकू की खेती की जाए तो भेज की दर पांच रुपये प्रति बीघा थी ।
- भेज की दर के निर्धारण का एक अन्य आधार कृषक की जाति भी था । यदि कृषक उच्च वर्ग अर्थात् ब्राह्मण एवं क्षत्रिय था तो भेज की दर न्यूनतम होती थी । अन्य वर्ग के लिए अधिकतम थी ।
- भेज की दर का निर्धारण सिंचाई की सुविधा भी था । किस भूमि पर सिंचाई की कितनी सुविधा है, इस पर भेज की दर निर्धारित की जाती थी । जैसे कुंओं द्वारा सिंचित भूमि पर अधिक राजस्व लिया जाता था अपेक्षाकृत तालाब द्वारा सिंचित भूमि के । चाहे दोनों प्रकार की भूमि पर फसलें समान बोई जाती हो ।

इस प्रकार इन आधारों के अनुसार भेज की दर निर्धारित की जाती थी । इस पद्धति के अन्तर्गत राजस्व एक फसल के लिए निर्धारित होता था सम्पूर्ण वर्ष के लिए नहीं । यदि एक खेत में दो फसलें ली जाता थी तो दोनों फसलों पर राजस्व अलग–अलग वसूल किया जाता था । जैसे – यदि किसी खेत में सर्दी में गन्ना व गर्मी में तम्बाकू पैदा किया जाता था तो गन्ने पर सात रुपये प्रति बीघा व तम्बाकू पर पांच रुपये प्रति बीघा की दर से भेज वसूल किया जाता था ।

(द) अन्य – लाग बाग :

भू–राजस्व के अतिरिक्त कृषकों से कई अन्य प्रकार के कर वसूल किये जाते थे जो लाग–बाग कहलाते थे । लाग दो प्रकार की थी ।

(अ) नियमित एवं (ब) अनियमित। नियमित लाग की रकम निश्चित होनी थी तथा उनकी वसूल प्रति वर्ष या दो तीन वर्ष में एक बार की जाती थी । अनियमित लाग की रकम निश्चित नहीं थी। उपज के साथ–साथ ये कम या ज्यादा होती रहती थी । इन लागों का निर्धारण का कोई निश्चित आधार नहीं था । इसी कारण लागों में समरूपता नहीं पाई जाती थी । एक ही राज्य के विभिन्न गांवों में यह भिन–भिन थी । कुछ लागे नकद व कुछ जिन्स के रूप में वसूल की जाती थी । उस समय की कुछ प्रमुख लागे निम्न प्रकार थी – .भावली लाग, .भलवा लाग,. सेरीण लाग,. उनालू लाग,. सांवणू लाग,. घोड़ा कम्बल लाग, . औडरवान,. रबर–गढो,. लवाजमा,. बरषर लाग,. कसब लाग,. खेड़ा लाग,. धुंवा लाग,. अंग लाग आदि ।

भाबली लाग उन कृषकों से ली जाती थी जो जागीरी अथवा माफी शुदा भूमि पर खेती करते थे । पीवल भूमि पर खेती करने वाले कृषक से पांच रुपये प्रति बीघा, बारानी भूमि पर खेती करने वाले कृषक से आठ आने प्रति बीघा की दर से भाबली लाग वसूल की जाती थी । इस लाग का मुख्य उद्देश्य खालसा भूमि के किसानों को गैर खालसा भूमि पर खेती करने से रोकना था।

मलबा लाग के कई नाम थे । जैसे – बाछ, गंवई खरडा, गंवई अगाई, गांव खर्च आदि । यह लाग गांव के सार्वजनिक उपयोग के लिए वसूल की जाती थी और यह लाग गांव का संयुक्त कोष था । इस लाग का व्यय गांव की सफाई, रख–रखाव, मार्ग, निर्माण आदि में किया जाता था । इसके अन्तर्गत कणसाटी लाग, हाली लाग, बाछ लाग, हल लाग, गाड़ी लाग आदि अन्य लाग भी थी । इन लागों को जिन्स एवं नकद दोनों रूप में वसूल किया जाता था ।

सेटणी लाग भी प्रमुख लाग थी यह लाग भू–राजस्व के प्रति मन के आधार पर एक या दो सेर वसूल की जाती थी ।

उनालू फसलों पर ली जाने वाली लाग उनालू लाग कहलाती थी। इसी प्रकार सांवणू फसलों पर ली जाने वाली लाग सांवणू लाग कहलाती थी । ये लाग किसानों से व्यक्तिगत रूप में वसूल नहीं की जाती थी, अपितु सम्पूर्ण गांव से एकमुश्त रकम के रूप में वसूल की जाती थी।

सरकारी अश्वशाला के लिए खालसा गांवों और जागीरदारों से चमड़ा मंगवाया जाता था । बाद में चमड़े के बदले प्रति गांव पर नकद लाग वसूल की जाने लगी और यही लाग "औउबान लाग" कहलाती थी ।

सार्वजनिक निर्माण या दुर्गो के भीतर निर्माण कार्यो के लिए गांवों से बेणार में गधों को मंगवाया जाता था । परन्तु बाद में गांवों से गधों के बदले 'खर–गढ़ो" नामक लाग वसूल की जाने लगी ।

राज्य के घास के मैदानों रो घास कटवाने के लिए आसपास के गांवों को बेगार में बुलाया जाता था परन्तु बाद में इसके स्थान पर लाग ली जाने लगी जो "बरषर लाग" कहलाई । इसी प्रकार धार्मिक कार्यों के लिए वसूल की जाने वाली लाग "खेड़ा लाग" व धुंआया कुपी लाग कहलाई । पांच वर्ष की आयु से अधिक प्रत्येक व्यक्ति से अंग लाग या "धोती पोतिया लाग" ली जाती थी ।

इन लागों–बागों का स्वरूप कोई निश्चित नहीं था इसलिए अलग–अलग गांवों से अलग–अलग लागें वसूल की जाती थी । इसी कारण इन लागों से राज्य कर्मचारी निजी लाभ भी उठा लेते थे।क्योंकि लोगों के निर्धारण की कोई निश्चित विधि एवं रकम नहीं थी ।

8.3 भू–राजस्व की दरें – भूमि बन्दबस्त से पूर्व :

भू–राजस्व के निर्धारण के समय विभिन्न बातों का ध्यान रखा जाता था । इसमें कृषक का स्तर अर्थात् बापीदार या गैर बापीदार, भूमि की किस्म, सिंचाई की सुविधा, गांव की खेत से दूरी, उपज की किस्म, कृषक की जाति आदि सभी को ध्यान में रखते हुए भू–राजस्व की दर निर्धारित की जाती थी । राजस्थान में यह आम प्रचलन था कि ब्राह्मण, राजपूत, वैश्व आदि

उच्च जातियों से सामान्यतया : कम भूमि कर लिया जाता था । इसके विपरीत वंशानुगत कृषि–कर्म करने वाली जातियों से इन उच्च जातियों की तुलना में अधिक कर लिया जाता था । जैसे उदयपुर राज्य में यजपूत आदि जातियों से कुल उपज का एक चौथाई भाग भू–राजस्व या भूमि कर के रूप में लिया जाता था, तो कृषि–कर्म करने वाली जातियों में कुल उपज का एक तिहाई भाग कर के रूप में लिया जाता था ।

जयपुर राज्य में ब्राह्मणों, राजपूतों, कानूनगो, पटवारियों आदि से सामान्यत : कुल उपज का 1/5 भाग राजस्व के रूप में वसूल किया जाता था, एवं कृषि कर्म करने वाली जातियों से कुल उपज का 1/5 से 1/2 भाग तक राजस्व के रूप में वसूल किया जाता था । व्यापारिक फसलों पर ब्राह्मणों एवं राजपूतों आदि से 3 रुपये प्रति बीघा से 5 रुपये प्रति बीघा तक वसूल किया जाता था जबकि अन्य जातियों से 3 रुपये से 7 रुपये प्रति बीघा वसूल किया जात था । इसी प्रकार जोधपुर राज्य में भी पीवल भूमि पर ब्राह्मणों, राजपूतों एवं वैश्यों से कुल उपज का 1/6 भाग से 1/4 भाग तक भू–राजस्व लिया जाता था जबकि अन्य जातियों से 1/4 भाग से लेकर 1/3 भाग तक राजस्व वसूल किया जाता था । तालाबों तथा बांधों के निकट की भूमि में उत्पन्न होने वाली उनालू फसलों पर ब्राह्मण, राजपूतों एवं वैश्यों ने कुल उपज का 1/5 भाग एवं अन्य जातियों। से भू–राजस्व कुल उपज का 1/4 भाग लिया जाता था । भू–राजस्व की दर मैदान एवं पहाड़ी क्षेत्र में भी भिन्न थी एवं मैदान क्षेत्र में सियालू अर्थात् खरीफ की फसलों पर कुल उपज का 1/2 भाग कर के रूप में लिया जाता था । एवं उनालू, अर्थात् रबी की फसल पर कुल उपज का 1/3 भाग कर के रूप में लिया जाता था, वही पहाड़ी क्षेत्रों अर्थात् भगड़ा में खेतों की कुल उपज का 1/3 भाग भू–राजस्व के रूप में वसूल किया जाता था । इसी प्रकार व्यापारिक फसलों पर भी भूमि की श्रेणी के अनुसार भी भू–राजस्व की दर अलग–अलग थी । जैसे –

- श्रेष्ठ श्रेणी की भूमि पर कर 5 रुपये प्रति बीघा की दर से ।
- मैदानी भूमि पर कर 2 रुपये प्रति बीघा की दर से ।
- भगड़ा भूमि पर कर एक रुपये प्रति बीघा की दर से ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भूमि बन्दोबस्त से पूर्व भू–राजस्व की दरों में अंतर था । सियालु, उनालू फसलों, भूमि की श्रेणियों, खाद्यान तथा व्यापारिक फसलों एवं कृषकों की जातियों आदि सभी पर भू–राजस्व की दरें भिन्न थी। भू–राजस्व नकद एवं जिन्स दोनों रूपों में लिया जाता था ।

8.4 भूमि बन्दोबस्त एवं भू–राजस्व :

राजस्थान के विभिन्न राज्यों में भू–राजस्व निर्धारण की पुरानी पद्धति के स्थान पर भूमि बन्दोबस्त के उपरान्त नई निर्धारण प्रणाली को अपनाया गया जिसमें किसानों एवं राज्य के बीच सीधा संबंध स्थापित करने का प्रयास किया गया, जातिगत भेदभावों को दूर किया गया । भू–राजस्व निर्धारण की विभिन्न पद्धतियों के स्थान पर प्रति वीघा के अनुसार नकद भूमि कर की तर्क समान व्यवस्था की गई । इस पद्धति में भूमि को तीन श्रेणियों में बांटा गया –

1. बरानी
2. चाही
3. बंजर

1. **बरानी** – वह भूमि जिस पर सिंचाई की सुविधा उपलब्ध नहीं थी, बरानी कहलाती थी और यह पूर्णत : वर्षा पर ही निर्भर होती थी । यह भूमि चार प्रकार की थी –

(क) **बरानी उत्तम** : इसमें समतल दोमट भूमि को रखा गया था और इस बरानी उत्तम भूमि में नियमित फसल हो सकती थी इसकी राजस्व दर 2 रुपये 13 आने से 2 रुपये 3 आने प्रति बीघा थी ।

(ख) **बरानी प्रथम** : बरानी प्रथम वह भूमि थी जो की समतल होती थी तथा जिसमें "हल्की सी भूड़ होती थी । यह भी नियमित कृषि के योग्य मानी जाती थी इसकी राजस्व दर 2 रुपये 3 आना से 1 रुपये 9 आना प्रति बीघा थी ।

(ग) **बरानी द्वितीय** : इसके अन्तर्गत भूमि उबड़–खाबड़ होती थी और इसमें भूड़ थोड़ी अधिक होती थी । यह भूमि नियमित कृषि योग्य नहीं थी । इसकी राजस्व दर 1 रुपये 9 आना से 1 रुपये 6 पैसा प्रति बीघा होती थी ।

(घ) **बरानी तृतीय** : बरानी तृतीय भूमि के अन्तर्गत ढलावदार भूमि आती थी और इसमें बालू होती थी । और कभी–कभी ही कृषि की जा सकती थी । इसकी राजस्व दर पन्द्रह आना से बारह आना छ : पैसा प्रति बीघा थी ।

2. **चाही** – चाही भूमि उसे कहा जाता था जिसमें कुओं, नहरों, तालाबों, नदियों आदि साधनों से सिंचाई संभव थी । चाही भूमि के भी छ : प्रकार थे –

(क) **चाही उत्तम** : चाही उत्तम वह भूमि थी जिसमें दोमट मिट्टी होती थी और पक्के कुंऐ द्वारा सींची जाती थी । और इस भूमि पर गन्ना, कपास, जीरा, तम्बाकू आदि फसलों की उपज हो सकती थी इसके राजस्व की दर 10 रुपये से सात रुपये तीन आना प्रति बीघा थी ।

(ख) **चाही "अ"** : चाही "अ" माल एवं धामिनी मिट्टी की मिश्रित भूमि थी । इस भूमि पर नियमित रूप से दो फसलें ली जा सकती थी। इस पर राजस्व की दर, नौ रुपये छ : आना से छ. रुपये नौ आना प्रति बीघा थी ।

(ग) **चाही "अ"** यह भूमि भी पक्के कुंए द्वारा सिंचित थी । परन्तु इस पर वर्ष में दो फसलें लेना सम्भव नहीं था इसकी दर आठ रुपये बारह आना से सात रुपये प्रति बीघा थी ।

(घ) **चाही**–प्रथम यह भूमि चाही–प्रथम से कुछ निम्न कोटि की थी । इनकी राजस्व दर आठ रुपये दो आना से पाँच रुपये पन्द्रह आना थी ।

(ङ) **चाही**–द्वितीय: यह कच्चे कुंए द्वारा सिंचित थी एवम् हल्की मिट्टी से युक्त भूमि थी। इसमें राजस्व की दर छ : रुपये नौ आना से पाँच रुपये पाँच आना थी। इसमें वर्ष में एक बार ही फसल होनी सम्भव थी ।

(छ) **चाही–तृतीय** : यह वह भूमि थी जहां चार वर्ष में एक बार सिंचाई सम्भव हो पाती थी अत : यहां सिंचाई एवं कृषि नियमित नहीं थी । इनकी राजस्व की दर चार रुपये ग्यारह आना से चार रुपये एक आना प्रति बीघा थी।

सिंचित भूमि में चाही के अतिरिक्त नहरी व तालाबी भूमि भी आती थी । नहर से सिंचाई की जाने वाली भूमि नहरी कहलाती थी इसकी राजस्व की दर पाँच रुपये से चार रुपये दस आना प्रति बीघा थी । इस प्रकार तालाब से सिंचित भूमि तालाबी भूमि कहलाती थी इसकी राजस्व की दर चार रुपये ग्यारह आना से चार रुपये दस आना प्रति बीघा थी ।

3. **बंजर भूमि :–** यह वह भूमि थी जिस पर कभी खेती नहीं की जाती थी । सामान्यत : इसका उपयोग पशुओं को चराने के लिए किया जाता था । इस भूमि पर गाँव का सामूहिक स्वामित्व रहता था । बन्दोबस्त से पूर्व इसका उपयोग निशुल्क रूप से गाँव वालों द्वारा किया जाता था । परन्तु भूमि बन्दोबस्त के उपरान्त इनका उपयोग निशुल्क नहीं रह गया इस भूमि को कृषि योग्य माना गया और इसे कृषकों के निजी स्वामित्व में ले लिया। यह भी दो प्रकार की थी – प्रथम–बंजर भूमि जिसके राजस्व की दर दस आना से पाँच आना व द्वितीय बंजर जिसके राजस्व की दर पाँच आना से दो आना छ पैसा प्रति बीघा थी ।

भूमि बन्दोबस्त के पश्चात् राज्यों की आय में बढ़ोतरी हुई । उदाहरणार्थ – बीकानेर राज्य में भू–राजस्व पहले 4,05,916 रुपये था । बन्दोबस्त के बाद 7,27,437 रुपये हो गया । इसी प्रकार जोधपुर राज्य में भू–राजस्व लगभग तीन लाख रुपये वार्षिक था जो भूमि बन्दोबस्त के बाद 12 लाख रुपये वार्षिक हो गया ।

भूमि बन्दोबस्त के उपरांत विभिन्न प्रकार की लाग–बागो में भी कमी कर दी गई ताकि हिसाब–किताब में सुविधा हो सके । नई भूमि राजस्व निर्धारण का उद्देश्य राज्यों के भू–राजस्व में वृद्धि करना था जिससे अंग्रेजी सरकार को दिया जाने वाला खिराज, सैनिक बटालियनों का व्यय, सड़क –रेल मार्गों पर होने वाले व्ययों को सरलता पूर्वक पूरा किया जा सके । परन्तु यह नवीन नकद राजस्व व्यवस्था कृषकों के लिए लाभदायक सिद्ध नहीं हुई विशेषकर उन कृषकों के लिए जिनकी पैदावार बहुत कम थी । अत : ऐसे कृषकों को नकद राजस्व देना अत्यधिक कठिन हो गया । और यह कृषक वर्ग भू–राजस्व चुकाने के लिए साहूकारों के ऋण जाल में फंसता चला गया ।

8.5 भू–राजस्व की वसूली – इजारेदारी प्रथा :

राजस्थान में भूमि बन्दोबस्त से पूर्व राज्य एवम् कृषको के मध्य सीधा सम्बन्ध नहीं था । राज्य द्वारा भू–राजस्व वसूली के लिए "इजारेदारी प्रथा" को अपनाया जाता था । इजारेदारी प्रथा के अन्तर्गत– राज्य द्वारा एक निश्चित रकम के बदले लगान वसूली का अधिकार किसी व्यक्ति को दिया जाता था। इस प्रथा को ठेकेदारी या मुकातेदारी प्रथा भी कहते थे।राज्य द्वारा लगान वसूल करने का अधिकार उसी व्यक्ति को दिया जाता था । जो अधिक से अधिक धन राज्य को देने की बोली बोलता था । इस प्रकार इस व्यवस्था में कृषक एवं राज्य के मध्य सीधा संपर्क नहीं था। इजारेदार इजारे के सम्पूर्ण रकम का कुछ भाग अग्रिम रूप से राज्य को दे देते थे । और वर्ष के अन्त में शेष रकम देते थे। और अन्त में राज्य ,राज्य

निर्धारित रक़म में थोड़ी छूट भी दे देता था । खालसा गांवों का भूमिकर जिसको इजारे पर नहीं दिया जाता था, राज्य कर्मचारियों द्वारा वसूल किया जाता, था । 1832–33 ई. में सम्पूर्ण उदयपुर राज्य का इजारा शाह जालिमचन्द्र झॅवर को 12,75,०000 रुपये में दिया गया । जैसलमेर राज्य' का इजारा सेठ गणेशदास बहादुरमल को 1,16,500 रुपये में दिया गया । सामान्यत : इजारे प्रतिष्ठित नागरिकों, राज्याधिकारियों को ही दिये जाते थे । इस प्रकार इजारेदारी, प्रथा में यह सम्भव था कि कृषकों से अधिक धन लेकर राज्य के पास का धन दिया जाए । इसलिए अंग्रेजी अधिकारियों ने भूमि बन्दोबस्त की व्यवस्था में "इजारेदारी प्रथा" का अन्त कर दिया

8.6 जागीरदार, व कृषक के सम्बन्ध:

राजस्थान में जागीरदार एक शक्ति–शाली समुदाय के रूप में स्थापित थे तथा राजस्थान के राजघरानों की भांति इनका भी सदियों का इतिहास था । छुरे शब्दों में जागीरें भी उतनी ही पुरानी थी जितना राजघराना। प्रत्येक में अधिकांश जागीरदार सम्बन्धित राजघराने के वंशज होते थे । राजस्थान मैं जागीरों के अन्तर्गत खालसा की तुलना में अधिक क्षेत्र था।

सामान्यत. जागीरे वंशानुगत होती– थी – किन्तु जागीरदार की मृत्यु पर उसके उत्तराधिकारी को राजा द्वारा निर्धारित नई शर्ते स्वीकार– करनी होती थी । तथा वह अपने , उत्तराधिकार के एवज में एक निश्चित राशि राजा को भेंट स्वरूप उपहार देता था। जिसे "रेज" कहा कता था । जागीरदारों द्वारा राज्य को दी जाने वाली सेवाओं को चाकरी की संज्ञा दी जाती थी । अत : जागीरदारों को जागीरें निश्चित सेवा शर्तो के आधार पर मिली हुई थी।

इस प्रकार जागीरदार प्रशासन एच किसान के मध्य कड़ी का कार्य करते थे। वे जागीर क्षेत्र में स्वतंत्र थे । यही कारण है कि कृषकों के साथ मनमानी करते थे । परिशामस्वरूप इनके आपसी सम्बन्धों में मधुरता कम व कटुता अधिक दृष्टिगत होती है । राजस्थान के जागीरदारों व किसानों के आपसी सम्बन्धों के बारे में दो विचारधाराएँ प्रचलित है –

(1) प्रथम विचारधारा के समर्थक सारंगधरदास बीकानेर में उल्लेख करते हुए लिखते है कि जीवन और मृत्यु के अतिरिक्त अन्य सभी बातों में जागीरदार अपनी प्रजा के वास्तविक स्वामी और शासक थे । वे लोग अपनी प्रजा पर मनमाना अत्याचार करते थे । भूमिकर बढ़ाते रहते थे । उन्होंने अपनी जनता के लिए किसी प्रकार के सार्वजनिक कार्य जैसे स्कूलें और अस्पताल खुलवाना आदि नहीं किये । हमें इस प्रकार के कार्य करवाने के उदाहरण प्राप्त नहीं होते है ।

(2) दूसरी विचारधारा के अनुसार जागीर गांवों में भू–राजस्व लागू नहीं किया गया और भू–राजस्व परम्परागत पद्धति के आधार पर ही लिया जाता रहा। इससे स्पष्ट होता है कि जहां खालसा क्षेत्र में कृषकों को भूमि–बन्दोबस्त के पश्चात अधिक भू–राजस्व देना पड़ा, वहां जागीर क्षेत्र के किसानों के भू–राजस्व में किसी प्रकार की वृद्धि नहीं हुई । परिणामस्वरुप अधिक भू–राजस्व के कारण खालसा क्षेत्र के अनेक किसानों ने कृषि करना छोड़ दिया और गांवों को छोड़कर चले गये । जिसके कारण गांवों में वीरानगी छा गई । ऐसी स्थिति जागीर

क्षेत्रों में नहीं पाई गई । इस धारणा का समर्थन जयपुर के तत्कालीन राजस्व सचिव कान्तिचन्द मुखर्जी ने भी अपनी रिर्पोट में किया है ।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर हम इस निर्णय पर नहीं पहुंच सकते है कि सदैव ही जागीरदार व कृषक के मध्य सम्बन्ध कटु रहे हो । जागीरदारों ने किसानों का किसी स्तर पर सहयोग नहीं किया हो । इसके विपरीत हमें ऐसे अनेक उदाहरण मिलते है जब कई ठिकानों के जागीरदारों ने किसानों की सामाजिक समस्याओं के समाधान एवं उनकी आर्थिक स्थिति को मजबूत करने की दृष्टि से भरपूर सहयोग दिया । वे अपनी प्रजा के साथ सीधा सम्पर्क रखते थे। और विवाह, मृत्यु आदि अवसरों पर वे लोग अपनी प्रजा की पूरी–पूरी सहायता भी करते थे । उदाहरणार्थ पोकरण ठाकुर भभूतसिंह, नीमाज ठाकुर छतरसिंह और राजयपुर ठाकुर लक्ष्मणसिंह बहुत उदार थे । और अपनी प्रजा की भलाई के लिए सदैव तत्पर रहते थे । इसके अतिरिक्त 1869 ई. के मारवाड़ में पड़े अकाल का एक अच्छा उदाहरण प्रेषित किया जा सकता है । जब खालसा क्षेत्र के अधिकांश किसान मारवाड़ छोडकर मालवा की ओर प्रस्थान कर गये । परन्तु उपर्युक्त ठाकुरो ने अपनी अकाल पीड़ित जनता का पोषण करने एवं अकाल के कष्टों के निवारण की भरपूर कोशिश की । वे जानते थे उनकी समृद्धि का मुख्य आधार किसान ही है ।

यहां इस तथ्य का स्पष्टीकरण भी प्रासंगिक होगा कि राजस्थान में जागीरदार प्रथा की उत्पत्ति कैसे हुई? इस प्रश्न के जवाब में कहा जा सकता है कि सामंती शासकों ने अपने राज्य के सफल संचालन के लिए उसका उप विभाजन विभिन्न जागीरों के रूप में किया । इन राज्यों की स्थापना सैनिक शक्ति पर हुई थी । स्वाभाविक रूप से इनकी रक्षा व विकास के लिए सैनिक बल की अत्यन्त आवश्यकता थी । अत शासकों द्वारा नियुक्त जागीरदार सैनिक सेवा द्वारा राज्य की रक्षा करते थे । इस प्रकार राज्य सुरक्षा की दृष्टि से इन जागीरदारों का महत्व बढ़ता जा रहा था । ये राज्य के अभिन्न अंग समझे जाने लगे । जागीरदारों की भी विभिन्न श्रेणियां थी । जो उनके द्वारा दी जाने वाली सेवाओं एवं नजरानों के द्वारा निर्धारित थी । अधिकांश जागीदारी की नियुक्ति के दो मुख्य आधार थे – (1) अपने वंश के लोगों को अधिक विश्वसनीय मानना (2) राजा की भांति जागीरदार को उच्च कुल के आधार पर आसानी से स्थापित किया जा सकता था ।

अधिकांश जागीरदार राजपूत जाति के थे । सैनिक जागीरदार राजपूत जाति के जागीरदारों को ही प्रदान की जाती थी । इसका तात्पर्य यह नहीं था कि अन्य जाति के लोग जागीरदार नहीं होते थे । बल्कि अनेक ऐसे उदाहरण प्राप्त होते है जिनके आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है कि चारण, ब्राह्मण व वैश्य जाति के लोगों को भी राज्य द्वारा जागीरदार नियुक्त किया जाता था । किन्तु इनकी जागीरे जमीनों के अधिकार तक ही सीमित होती थी । इन्हें अपनी जागीरों में किसी प्रकार के प्रशासनिक या न्यायिक अधिकार प्राप्त नहीं थे । अनेक ऐसी जागीरे भी थी जो मंदिरों के नाम पर थी । उनका उपभोग पण्डित, पुजारी एवं राजपुरोहित किया करते थे । इनके अतिरिक्त राज्य की विभिन्न सेवाओं के लिए विभिन्न अधिकारियों व राज पुरोहितों आदि को जागीरें दी जाती थी ।

8.7 जागीर क्षेत्र में भू–राजस्व :

जागीर क्षेत्र के किसानों को खालसा क्षेत्र के किसानों की भांति न तो वंशानुगत और न ही स्थायी अधिकार प्राप्त थे । उन्हें किसी भी समय भूमि से बेदखल किया जा सकता था । सामान्यत : जागीरदार उन्हें भूमि से उस समय तक बेदखल नहीं करते थे । जब तक वे नियमित रूप से उनकी मांगे करते रहते थे । यद्यपि अंग्रेजी प्रभाव से खालसा क्षेत्रों में भू–राजस्व एवं भू–स्वामित्व सम्बन्धि कुछ नियम बने थे । किन्तु जागीर क्षेत्रों में जागीरदार की इच्छा ही सर्वोपरि मानी जाती थी । खालसा क्षेत्र में समय–समय पर भूमि–बन्दोबस्त भी किये गये लेकिन यह तथ्य जागीर क्षेत्रों पर लागू नहीं होता था । निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि जागीर क्षेत्रों में भूमि रिकार्ड रखने अथवा भूमि खाता खतौनी बनाने की प्रथा नहीं थी । किसानों के भूमि अधिकार सम्बन्धी पट्टे अथवा अन्य कोई दस्तावेज नहीं रखे जाते थे । जागीर क्षेत्रों में भू–राजस्व निर्धारण एवं वसूली परम्परागत बटाई अथवा कूंत आदि प्रथाओं द्वारा कुल पैदावार में से भूमि कर लेने की व्यवस्था थी । किसानों से वसूल किये जाने वाले हिस्से का स्पष्ट उल्लेख नहीं था । इस प्रकार भू–राजस्व की दरें स्थायी नहीं थी एवं जागीरदार अपनी इच्छानुसार भू–राजस्व वसूल करता था । यद्यपि भू–राजस्व निर्धारण की कुछ विधियां जैसे – बटाई एवं लटाई अथवा कूंत प्रचलित थी लेकिन इनका उपयोग नगण्य ही होता था । फिर भी जागीरदार लोग भूमि की मांग करते समय निम्न स्थितियों का ध्यान रखते थे । जैसे–

(1) भूमि की किस्म (2) काश्तकार की जाति

(3) गांव से खेती की दूरी (4) सिंचाई की सुविधा, आदि

उदाहरणार्थ जोधपुर राज्य में कृषि कार्य करने बाली जातियों से कुल पैदावार का 1/3 हिस्सा और ब्राह्मणों, राजपूतों, महाजनों आदि से 1/4 हिस्सा भूमिकर लिया जाता था ।

जागीर क्षेत्रों में राजस्व निर्धारण की प्रमुख प्रणाली को "लटारा" पद्धति के नाम से जाना जाता है । इस पद्धति के अन्तर्गत जब जागीरदार किसान को खड़ी पैदावार की कूंत करने के लिए जिन व्यक्तियों को भेजता था उन्हें "लटारा" कहा जाता था । जिसका सीधा सा अर्थ था लटाई करने वाला अधिकारी । इन में अधिकांशतया चौधरी होते थे । जिन्हें वसूल की गई राजस्व की राशि का एक हिस्सा मिलता था । यह खड़ी फसल की उपज का आकलन करके जागीरदार का हिस्सा निर्धारित करते थे । यह व्यवस्था राजस्थान की सभी जागीरों में प्रचलित थी।

इस व्यवस्था का सबसे बड़ा दोष यह था कि अनुमान द्वारा राजस्व का कूंत किसान को भारी पड़ता था । वैसे भी उत्पादन का आधा हिस्सा राजस्व के रूप में देने की प्रथा कृषक की आर्थिक स्थिति को शोचनीय बनाने वाली थी । इस पर अनुमान से राजस्व का निर्धारण राजस्व के बोझ को असहनीय बना देती थी । इस प्रथा के कारण अनेक बार भू–राजस्व की राशि कुल वास्तविक उत्पादन से भी अधिक हो जाती थी ।

सामान्यत : जागीरों में राजस्व की वसूली वस्तु के रूप में होती थी । लेकिन बीसवीं सदी तक पहुंचते–पहुंचते ये वस्तु के स्थान पर नकदी में वसूल की जाने लगी । नगदी में

राजस्व की वसूली दोषपूर्ण थी । क्योंकि निर्धारण तो उत्पादन के एक हिस्से के रूप में होता था । एवं निर्धारित हिस्से से अनाज का नकदी में आकलन होता था, जो साधारणत : बाजार के प्रचलित मूल्य से अधिक पर होता था। राज्यों को भात जागीर क्षेत्रों से भी विभिन्न लाग–बाग वसूल की जाती थी । इनमें कामूदार लाग, कनवारिया लाग, भरौसी लाग, धोबी लाग, कमंठा लाग, सेरीणी लाग आदि प्रमुख थी । इनके अतिरिक्त कुम्हार, भांबी, धोबी, सुथार, दर्जी, ढोली, भंगी आदि जातियों से लाग न लेकर उसके स्थान पर उनसे नि:शुल्क सेवा ली जाती थी ।

जागीर क्षेत्रों में भू–राजस्व एवं लाग–बाग कठोरता से वसूल की जाती थी । किसानों द्वारा भू–राजस्व एवं लाग–बाग अदा करने में असमर्थता दिखाने पर कठोर व्यवहार किया जाता था । कृषको को प्रताड़ित करने की दृष्टि से उन्हें पीटना, पेड़ पर लटका देना व काठ में डाला जाता था । इस प्रकार जागीर क्षेत्रों में कृषकों से राजस्व एवं लाग–बाग की वसूली बहुत ही कष्टदायक थी ।

8.8 सारांश :

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि राजस्थान के राज्यों को खालसा क्षेत्रों की भू–राजस्व प्रणाली के अन्तर्गत किसानों के भूमि अधिकार बहुत सीमित थे । इसने यहां की राजस्व व्यवस्था पर विपरीत प्रभाव डाला । यही कारण था कि राजस्थान राज्य में प्रचलित भू–राजस्व प्रणाली ने यहां की ग्रामीण अर्थ–व्यवस्था को बुरी तरह प्रभावित किया । किसानों को बेदखली का भय सदैव बना रहता था । इसका दुष्परिणाम हुआ कृषक ने अपनी कृषि की उचित देखभाल की ओर कोई ध्यान नही दिया इसके कारण भूमि का स्वरूप व उसकी गुणवत्ता में गिरावट आना स्वभाविक था ।

भू–स्वामी, राजस्व अधिकारी, इजारेदार एवं ठेकेदार कृषक का विभिन्न प्रकार से शोषण करते थे । क्योंकि किसान इन लोगों की दया का पात्र था। वह भूमि का स्वामी न होकर किरायेदार माना जाता था । अधिकारी कृषक से राजस्व ही वसूल नहीं करते बल्कि मनमाने तरीके से उससे बेगार लेते थे । इसके अतिरिक्त किसान से अनेक प्रकार की लाग–बाग ली जाती थी, जिसकी राशि भू–राजस्व से अधिक आंकी जाती थी ।

राजस्थान में प्रचलित भू–राजस्व व लाग–बाग, बेगार आदि की स्थिति को देखकर कहा जा सकता है कि किसान जागीरदार व औपनिवेशिक भार से कराह रहा था । अत्यधिक करो के भार ने उसका जीवन दुभर बना दिया । वह रात दिन की मेहनत के पश्चात् भी अपना भरण–पोषण करने में असमर्थ था । इतना ही नहीं उसे अपने भू–राजस्व के भुगतान के लिए साहूकार से उनकी ऊँची ब्याज दर पर ऋण लेना पड़ता था । इससे उसकी ऋण ग्रस्तता बढ़ जाती थी । स्वाभाविक रूप से एक दयनीय किसान प्रथम अपने परिवार का भरण–पोषण करने में रत रहता था । कृषि कार्य पर धन सम्पत्ति खर्च करना उसकी दूसरी प्राथमिकता होती थी । इससे कृषि का पिछड़ापन बढ़ता गया । इसके अतिरिक्त जागीर क्षेत्रों में लाग–बाग का भार खालसा क्षेत्र की तुलना में अधिक था । यही कारण है कि किसान आन्दोलनों की शुरुआत जागीर क्षेत्रों से ही हुई।

8.9 अभ्यासार्थ प्रश्न :

1. भू–राजस्व निर्धारण की "लाटा" पद्धति को 100 शब्दों में स्पष्ट कीजिये ।
2. भू–राजस्व के अतिरिक्त ली जाने वाली लाग–बाग पर टिप्पणी लिखिए ।
3. भू–राजस्व वसूली में "इजारेदारी प्रथा" से आप क्या समझते है? 100 शब्दों में उत्तर दें ।
4. जागीर क्षेत्र में भू–राजस्व की मांग करते समय किन–किन स्थितियों का ध्यान रखते थे?
5. भूमि बन्दोबस्त के कारण भू–राजस्व में किये गये परिवर्तनों का उल्लेख कीजिये।

8.9 अभ्यासार्थ प्रश्नों के उत्तर :

1. देखें 8.2 (अ)
2. देखें 8.2 (द)
3. देखें 8.5
4. देखें 8.7
5. देखें 8.4

8.10 संदर्भ ग्रन्थों की सूची:

1. पं: राम करण आसोया — मारवाड़ का इतिहास
2. गौरी शंकर हीराचन्द ओझा — जोधपुर राज्य का इतिहास, भाग – 1 व 2
3. डॉ. गोपीलाल शर्मा — सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान
4. कर्नल जेम्स टॉड — एनल्स एण्ड एण्टीक्यूटीज ऑफ राजस्थान
5. आर.पी व्यास — रोल ऑफ नोबिलिटी इन मारवाड़
6. डॉ. बृज किशोर शर्मा — आधुनिक राजस्थान का आर्थिक इतिहास
7. डॉ. कालूराम शर्मा — 19वी सदी के राजस्थान का सामाजिक एवं आर्थिक जीवन
8. डी.पी.एम. जैन — जोधपुर राज्य में किसानों की स्थिति (1818–1947)
9. डॉ. रघुवीर सिंह — पूर्व आधुनिक राजस्थान
10. डॉ. बृज किशोर शर्मा — इकॉनामिक कंडीशन्स ऑफ पीजेंटस इन दि जयपुर स्टेट (1880–1949)

इकाई – 9
ग्रामीण कर प्रणाली

इकाई की– रूपरेखा

9.0 उद्देश्य
9.1 प्रस्तावना
9.2 सामाजिक – आर्थिक संरचना
9.3 भू–राजस्व संबंधी लाग–बाग
9.4 कृषि उत्पादन संबंधी लाग–बाग
9.5 पशुधन संबंधी लाग–बाग
9.6 प्राकृतिक उत्पादों पर लाग–बाग
9.7 कुटीर उद्योगों पर कर
9.8 माल की निकासी संबंधी लाग–बाग
9.9 बेगार प्रथा
9.10 सामाजिक अवसरों के कर
9.11 सारांश
9.12 अभ्यासार्थ प्रश्न
9.13 संदर्भ ग्रन्थों की सूची

9.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययनोपरात आप आधुनिक राजस्थान में अर्द्ध–सामंती एवं अर्द्ध–औपनिवेशिक संरचना के अन्तर्गत ग्रामीण कर प्रणाली को समझने में समर्थ होंगे । भू–राजस्व के अतिरिक्त जो कर किसान, शिल्पकार, दुकानदार व अन्य वर्गो से विभिन्न नामों से लाग–बागों के रूप में वसूल किये जाते थे, का विश्लेषण इस इकाई में किया गया है । अर्थात् ये लाग–बागों ग्रामीण कर प्रणाली का अनिवार्य अंग थी । इनको समझने के पश्चात् की सम्पूर्ण ग्रामीण अर्थव्यवस्था की संरचना को समझना संभव है ।

9.1 प्रस्तावना

जैसा कि इसके पूर्व की इकाईयों में भू–राजस्व व्यवस्था एवं भूमि प्रबन्ध के संदर्भ में अनेक स्थानों पर यह उल्लेख किया है कि किसानों से भू–राजस्व के अतिरिक्त असंख्य लाग–बागों वसूल की जाती थी । मुख्यत : भू–राजस्व ही ग्रामीण कर प्रणाली का प्रमुख अंग था किन्तु लाग–बागों की पर्याप्त समझ के बगैर सम्पूर्ण ग्रामीण कर प्रणाली की समझ संभव नहीं है । ये लाग–बाग सामान्यतया भू–राजस्व के साथ ही वसूल की जाती थी । अनेक बार लाग–बागों की राशि भू–राजस्व की राशि से भी अधिक थी । किसान एवं ग्रामीण समुदायों का गाढ़ा शोषण हो रहा था, जिसे विस्तार पूर्वक समझने के लिए लाग–बाग प्रथा के बारे में विस्तार से बहस अनिवार्य प्रतीत होती है । इन लाग–बागों ने केवल किसान व ग्रामीण अर्थव्यवस्था को ही

प्रभावित नहीं किया, बल्कि सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को प्रभावित किया है । सामंती व औपनिवेशिक शोषण को समझने में भी यह इकाई उपयोगी सिद्ध होगी ।

राजरथान में ही नहीं, प्रत्युत् सम्पूर्ण भारत में लाग–बाग प्रथा का इतिहास काफी प्राचीन है । राजस्व एवं अन्य करों से जब राजा एवं सामन्तों की भोग विलासिता की लिप्साओं की पूर्ति नहीं हो सकी तब लाग–बाग प्रथा को प्रारम्भ किया गया । भू–राजस्व के अतिरिक्त किसानों एवं ग्रामीण जनता से जो धनापहरण किया जाता था, वह लाग–बाग के नाम से जाना जाता है । ब्रिटिश भारत में लाग–बाग समाप्त किये जाने पर भी यह प्रथा राजस्थान में सन् 1949 तक प्रचलित रही । इस विवरण का प्रयोजन लाग–बाग के इतिहास एवं संख्या के विवरणात्मक पहलू की ओर न होकर राजस्थान की अर्थ व्यवस्था पर पड़े हुए प्रभाव को बतलाना है, क्योंकि आज के समाज की सामाजिक एवं आर्थिक समस्या अतीत से जुड़ी हुई है ।

9.2 सामाजिक – आर्थिक संरचना

बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में जहाँ विश्व के अधिकतर देशों में प्रजातांत्रिक प्रणाली की स्थापना हो चुकी थी, वहीं राजपूताना के राज्यों मैं राजतन्त्रीय व्यवस्था अपनी चरम–सीमा पर थी । उस समय राजस्थान उन्नीस रियासतों में विभाजित था । सभी रियासतों की राज्य व्यवस्था करीब–करीब समान थी । सिद्धान्त ब्रीटिश सरकार ही सर्वोपरि थी, किन्तु व्यवहार में राजा के बाद जागीरदार होते थे, जो राजा को नजराना एवं अन्य सेवाऐं जागीर के बदले भेंट करते थे । भारत के सभी भागों में अंग्रेजों ने नयी भूमि व्यवसथा, राज्य एवं कानून व्यवस्था लागू की, किन्तु राजस्थान में राजा एवं जागीरदारों की इच्छा व सुविधा ही कानून एवं व्यवस्था थी ।

उस समय के राजस्थान में समाज विपिन जातियों में विभक्त था । सामन्ती व्यवस्था की मजबूती जाति व्यवस्था के साथ जुड़ी हुई थी । समाज में ब्राह्मण व राजपूतों का ऊँचा दर्जा था । सभी राजनैतिक अधिकार उनके हाथ में थे । वैश्यों के पास पर्याप्त मात्रा मैं धन होने के कारण उनका समाज में आदर किया जाता था । इसके विपरीत किसान, खेतीहर मजदूर एवं कारीगर जातियों की सामाजिक दशा बड़ी शोचनीय थी । इस समय के समाज को मुख्य रूप से दो भागों में बांटा जा सकता है (1) सुविधा सम्पन्न एवं (2) सुविधा विपन्न । सुविधा विपन्न में भी दो विभेद हुए (1) स्वर्ण (2) अछूत । इसके फलस्वरूप भू–राजस्व लाग–बाग, भू–अधिकार आदि में जातीय आधारों पर निर्णय होता था । एतर्थ भेदभाव बढ़ता गया ।

राजस्थान में जनसंख्या का अस्सी प्रतिशत भाग गांवों में रहता था एवं कुल जनसंख्या का 70 प्रतिशत भाग कृषि पर निर्भर था । ग्रामीण समाज का अधिकांश वर्ग किसान था, जिसकी हालत जमीन के किरायेदार से अधिक नहीं थी । उनको जमीन में कभी भी बदला एवं बेदखल किया जा सकता था अर्थात् भू–स्वामित्व राज्य एवं जागीरदार तक ही सीमित था । किसानों के बाद ग्रामीण समाज में, दूसरा स्थान कृषि मजदूरों का था जो कृषि कार्य के साथ–साथ प्राकृतिक उत्पादित वस्तुओं जैसे – गोंद, सवा, घास, लकड़ी आदि इकट्ठा कर अपनी

जीविकोपार्जन करता था । तीसरा स्थान ग्रामीण शिल्पकारों एवं कारीगरी जैसे – खाती, लुहार, कुम्हार, सुनार, बुनकर आदि लोगों का था।

इस समाज में चौथा स्थान टहल चाकरी करने वाले भंगी आदि लोगों का था, जो अन्य वर्गो के ऊपर आधारित था, अर्थात सीधे उत्पादन से संबंधित नहीं था । पाँचवा स्थान जागीरदारों, पटेल, चौधुरी, पटवारी, कानूनगो आदि का था । उत्पादन के साधनों पर कब्जा इसी वर्ग का था । पाँचवा वर्ग ऊपरी चार वर्गो पर बोझ के समान था । समाज के सभी वर्ग के श्रम का शोषण कर यह साधन सम्पन्न वर्ग प्रतिदिन फल–फूल रहा था ।

राजस्थान की सभी रियासतों में भूमि दो भागों में विभाजित थी – खालसा एवं गैर–खालसा । खालसा भूमि राज्य के अधीन थी, एवं गैर–खालसा भूमि जागीरदारों के अधीन थी । सन् 1949 तक जागीरदारों के नियंत्रण में बहुत बड़ा भूमि का भाग था । जोधपुर रियासत का 83 प्रतिशत एवं जयपुर रियासत का 65 प्रतिशत हिस्सा जागीरदारों के नियन्त्रण में एवं समूचे राजस्थान का 60 प्रतिशत हिस्सा उनके नियंत्रण में था । उस समय जागीरदार राज्य को । रकम नजराने या राजस्व के रूप में दिया करता, था जो सदियों पहले तय की गई थी, जबकि जागीरदार अपनी जागीर की जनता से मनमाने कर वसूल किया करता था। सर 1949 तक जागीर क्षेत्रों में भूमि बन्दोबस्त नहीं किया एवं न ही राजस्व, भूमि अधिकार, जोत, आदि संबंधी कोई कानून ही बनाये गये थे । इसके विपरीत 1945 तक खालसा क्षेत्र में इजारेदारी या ठेकेदारी व्यवस्था प्रचलित, थी फिर भी इस क्षेत्र से संबंधित कुछ भू–भागों पर किसानों को अधिकार दिये हुए थे । जोत एवं राजस्व संबंधित कुछ निश्चित कानून नियम भी थे ।

खालसा क्षेत्र के लाग–बागों की संख्या कम व निश्चित थी । समय–समय पर इनमें कमी एवं छूट भी मिलती रही, मगर गैर खालसा क्षेत्रों में ये असंख्य थी । राज्य द्वारा समाप्त की गई लाग–बागों को, जागीरदार लोग 1949 तक वसूल करते रहे । वैसे लाग–बागों की वसूली का दोनों ही क्षेत्रों में कोई औचित्य नहीं था,। सभी लाग–बागें अवैध थी एवं इन्होंने किसान और, ग्रामीण अर्थव्यवस्ता को कुचलकर रख दिया। अंत : इन लाग–बागों को अनके धनापहरण की संज्ञा दी जा सकती हैं।राजस्थान में प्रचलित लाग–बागों को अनेक भागों में विभाजित किया जा सकता है।

जैसे – भू–राजस्व संबंधी, कृषि उत्पादन संबंधी, पशुधन संबंधी, प्राकृतिक उत्पादन संबंधी, कुटीर उद्योग संबंधी, माल के आवागमन संबंधी, बेगार संबंधी, सामाजिक, धार्मिक एवं त्योहार संबंधी आदि ।

9.3 भू–राजस्व संबंथी लाग–बाग

सम्पूर्ण पैदावार का एक हिस्सा राज्य या जागीरदार किसान से वसूल करता था जो 1/4 से 1/2 तक होता था। किसान के हिस्से में से कुछ लागें एकत्रित की जाती थी जैसे – सिराना नामक लाग राज्य व जागीरदार की क्षतिपूर्ति के रूप में वसूल की जाती थी यह हिस्सा 1/2 सेर से 2–1/2 सेर प्रति मन तक होता था। मलवा दो अलग–अलग मदों के लिए लिया

जाता था। कुंसारी किसानों से राजा या जागीरदार द्वारा संरक्षण प्राप्त मंदिरों के नाम पर अदा किया जाता था।

गांव खरच नामक लाग गांव के मार्गों को सुधारने, तालाब आदि की मरम्मत करवाने एवं गांव के अन्य विकास कार्यों के नाम पर प्रतिवर्ष वसूल की जाती थी । यह पैसा खालसा क्षेत्र में पटेल एवं पटवारी के पास और गैर–खालसा क्षेत्र में जागीरदार या उनके कामदारों के पास जमा होता था । लेकिन यह पैसा व्यक्तिगत जेबों में जाता था और कभी भी गांव के विकास में व्यय नहीं होता था। नजराना नामक लाग प्रतिवर्ष किसानों से जागीरदार एवं पटेल वसूल करते थे । जागीरदार राजा को एवं पटेल तहसीलदार को नजराना देता था जिसकी रकम किसानों से वसूल की जाती थी । नजराने से मिलती–जुलती दस्तुर नामक लाग थी जो जयपुर रियासत के खालसा क्षेत्र में पटेल पटवारी, कानूनों तहसीलदार एवं चौधरी द्वारा वसूल की जाती थी । भू–राजस्व कर्मचारी जो भी अवैध रकम किसानों से लेते थे उसे दस्तूर कह दिया जाता था एवं वह किसी भी खाते में जमा नहीं होती थी । सन 1926 में इस लाग के बारे में जयपुर रियासत के दीवान को पता चला । दस्तूर नामक लाग के बोझ से परेशान होकर किसान अपनी भूमि छोड़कर दूसरे क्षेत्रों में भागने लगे थे । दीवान की मान्यता थी – "किसानों की स्थिति को ठीक करने में दस्तूर हमेशा एक कोढ़ रहेगा । प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि भू–राजस्व अधिकारी, यहाँ तक कि एक मुंशी भी जमीन एवं जन्नत से अच्छी आमदनी वाली तहसील या परगना किसी भी छल द्वारा प्राप्त कर लेना चाहता है"। कसर, तुलाई, करदा के नाम पर ली जाती थी। जब भू–राजस्व अनाज के रूप में वसूल किया जाता था, तो बटवारे के लिए की गई तुलाई का खर्चा किसान से वसूल किया जाता था, अगर राजस्व अनाज के रूप में वसूल किया जाता था, तो करदा नामक लाग ली जाती थी और यदि नकद मुद्रा में कर वसूल किया जाता था, तो बट्टा एवं परखाई नामक लाग ली जाती थी ।

भूमियां (वंशानुगत चौकीदार या पहरेदार) गांव का चौकीदार होता था वह अपने गांव में भूमि या पौना नामक लाग वसूल करता था । पौना से अर्थ था सेर का चौथा हिस्सा अर्थात पाव । यह लाग प्रतिमन पैदावार पर एक पांव को दर से ली जाती थी । जहाँ भूमियां नहीं होता था वहाँ यह लाग राज्य वसूल करता था ।, जहां भूमियां होता था वहाँ इस लाग को वे बहुत पुराने समय सें एकत्रित करते आ रहे थे । भूमियां इस लाग के बदले गांव की सुरक्षा का कार्य किया करते थे । उल्लिर्खित 'समय, में यह वर्ग इस लाग को नियमित रूप से वसूल करते रहें लेकिन इसके बदले अपनी सेवाएं नहीं, दे रहें थे: उस समय यह लाग किसानों पर अनावश्यक आर्थिक बोझा ही, थी।

पटेल, पटवारी, चौधारी,, कानूनगों एवं कामदार हक नामक लाग संयुक्त रूप से आधा सेर प्रतिमन की दर से वसूल करते थे । एवं एकत्रित अनाज को बराबर हिस्सों में बाँट लिया करते थे । लाटा, कूंत एवं सहगानि नामक लाग–बाग, भू–राजस्व निर्धारण या कूंत करने वाले कर्मचारी किसान से वसूल करते थे । कूंता करने वाले व्यक्तियों एवं उनकी सवारियों को भोजन; बिछौना, ओढ़ना, पलंग, अमल–तम्बाकू, दाना, घास, वगैरहा दिया जाता था । तालीम

पटवारियान एवं बन्दोबस्त–. खर्च नमक लाग–बाग आवश्यकतानुसार राज्य एवं जागीरदार वसूल करते थे।

भू–राजस्व संबंधी लाग–बागों की संख्या काफी थी जो किसान के लिए असहनीय बोझ थी एवं इन्होंने किसान व कृषि को अव्यवस्थित कर दिया। किसान भू–राजस्व एवं लता–बागों को चुकाने के बाद अपने जीवन यापन के लिए कुछ बचा नहीं पाता था एवं अपने गुजारे के लिए सूदखोर के चंगुल में फस कर कभी नहीं उभर पाते थे। अर्थात ग्रामीण कर्जदारी असंख्य लाग–बागों की ही परिणाम थी "भारतीय किसान कर्ज में पैदा होती था, कर्ज में ही रहता एवं कर्ज छोडकर मर जाता है", यह उक्ति आज तक प्रसिद्ध है । एतदर्थ अधिक लाभप्रद व्यवसाय न होने के कारण किसान कृषि कार्यो में कोई अधिक रुचि नहीं दिखाते थे जिसका कृषि पर विपरीत प्रभाव पड़ा । अनेक किसान लगा–बागों से तंग आकर गांव छोड़कर भाग जाते थे, जिसके कारण कृषि योग्य भूमि बंजर व परत पड़ी रहती थी।

9.4 कृषि उत्पादन संबंधी लाग–बाग

भू–राजस्व से संबंधित लाग–बागों की संख्या भी काफी थी । कृषि उत्पादन पर अलग से लाग–बाग वसूल करना सम्भव नहीं था, फिर भी कुछ लाग–बाग कृषि उत्पादन पर भी लगाई गई ये लाग–बाग मुख्य–रूप से नकदी फसलों, जैसे गन्ना, कपास, अफीम, तिलहन, जूट, इत्यादि के उत्पादन पर लगती थी । एक तरफ इन फसलों पर लगने वाले भू–राजस्व की दर अन्य उत्पादनों से अधिक थी लेकिन दूसरी ओर इन पर लगाई लाग–बाग को इनके उत्पादन से हतोत्साहित किया ।

नलवट एवं नहर बास नामक लाग सिंचित भूमि पर लगती थी । फेर, कडबी, तूरा, घोड़े की घास, रजका इत्यादि लाग–बाग खालसा एवं गैर खालसा दोनों, क्षेत्रों में एकत्र की जाती थी। ये लाग–बाग जागीरदारों के घोड़े एवं राजकीय अस्तबल के खर्च के लिए ली जाती थी। छूगरी लाग गेहूँ एवं ज्वार पर लगती थी ।

नकदी फसलों पर लगने वाली लागों से कृषि के विकास पर विपरीत प्रभाव पड़ा । खाद फसलों में नकदी, फसलों के उत्पादन में वृद्धि, कृषि के विकास एवं कृषकों को सुमृद्धता की ओर ले जाती है, मगर इन लगा–बागों के दुणरिणामस्वरूप नकदी फसलों का उत्पादन नहीं बढ़ पाया । इस प्रकार उत्पादन पर थोपी गई लाग–बागों ने किसान के जीवन को अधिक कष्टदायक बना दिया ।

9.5 पशुधन सम्बन्धी लाग–बाग

बंजर एवं परत जमीन सरकार व जागीरदार की मानी जाति थी। अत: भेड़–बकरी पालने वालों से छैली गिनती लाग ली जाती, थी। खूंटा–बंदी, पान चतई नामक लाग सभी प्रकार के पशुओं पर लगती थी। ऊँट गिनती, हांसिल मवेशी जौहड़, हांसिल चराई, वापी चराई मवेशी, अबाव दूध, गुआडा आदि लाग–बाग पशु पालकों से वसूल की जाती थी । राजस्थान में ज्यादातर एक फसली जमीन थी, जो पूरी तरह वर्षा पर निर्भर थी। कभी भी साधारण वर्षा के अभाव में अकाल की स्थिति पैदा हो जाती थी । पशु–पालन कृषि का सहायक व्यवसाय होते

हुए भी पशु–धन पर लगने वाली लाग–बागों ने किसनों को पशु पालन के धन्धे से भी निरुत्साहित किया जिससे किसानों के घरों में दूध–दही की कमी हुई । इसके परिणाम स्वरूप किसानों के स्वास्थ्य में दिन प्रतिदिन गिरावट आ गयी व खेती को उर्वरक बनाने के लिए खाद की कमी भी महसूस हुई ।

9.6 प्राकृतिक उत्पादों पर लाग–बाग

खेतों में उगे हुए खेजडे एवं बबूल पर राज्य एवं जागीरदार को अधिकार माना जाता था किसान इनका उपयोग निश्चित लाग–बाग देने पर ही कर सकता था । लूम पातरा लाग बबूल, खेजडा एवं पाला आदि पर लगती थी ।

पूला जो कि झोंपड़ी बनाने एवं रस्से आदि बनाने के काम आते थे उन पर भी पूला लाग एवं खाट–बान नामक लाग वसूल की जाती थी । जलाने वाली लकड़ी पर चूल्हा लाग, चरने वाली जंगली घास व सवा नामक घास जिसमें जंगली अन्न निकलता था जिसे खेतीहर मजदूर जंगल से बीनकर लाता था। इस पर भी सवा भौरी नामक लाग वसूल की जाती थी ।

प्राकृतिक उत्पादन पर लगने वाली लाग–बागों का भी ग्रामीण अर्थ–व्यवस्था पर कुप्रभाव। पड़ा । पूला एवं उससे बनने वाली मूंज जो कि किसानों का खेती के साथ–साथ सहायक व्यवसाय हो सकता था । मगर लाग–बागों के दबाव के कारण कुटीर उद्योग नहीं पनप सके । अत: प्रकृति जनित वनस्पति को सुरक्षित रखने में किसान सहयोग देनें में निरुत्साहित रहे । उनकी अपर्याप्तता ने कृषि एवं दूध वाले पशुओं की उत्पादकता को कम किया। बबूल घर बनाने की लकड़ी एवं कृषि के औजार बनाने के लिए काफी उपयोगी थी तथा प्राकृतिक पौधों एवं झाड़ियों से ईंधन की लकड़ी प्राप्त होती थी, किन्तु इसके, अभाव में पशुओं का गोबर ईंधन के रूप में प्रयुक्त होता था, जो कि खेती के लिए उर्वरक के रूप में काम आ सकता था।

बबूल का गोंद एवं सवा खेतीहर मजदूरों का एक सहायक व्यवसाय था । किन्तु इन पर लगने वाली लाग–बागों एवं वसूली के दौरान उनके उत्पीड़न ने उनको निरुत्साहित किया । बबूल की छाल जो कि चमड़ा, रंगने के काम आती थी वह चमड़े का काम करने वालों को पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं होती थी । इस प्रकार लाग–बागें चमड़ा उद्योग के पतन का कारण बनी। खेतीहर मजदूर लकड़ी आदि बेचकर, भी जीवन यापन का साधन बना सकते थे, लेकिन इन लाग–बागों के बोझ ने कुछ भी संभव होने नहीं दिया ।

9.7 कुटीर उद्योगों पर कर

झोपड़ी लाग गैर किसानों अर्थात खेतीहर मजदूरों एवं ग्रामीण, शिल्पकारों से ली जाती थी ।यह लाग कुछ स्थानों पर धुंआ भाछ या नलबन्दी के नाम सें भी जानी जाती थी । तेली धाणी लाग तेलियों से ली जाती थी एवं दीपावली के अवसर पर उनसे तेल लिया जाता था। लाग–बाग के कारण तेलियों के लिए यह व्यावसाय अधिक लाभप्रद नहीं था । इसका प्रभाव तेल उद्योग पर ही नहीं वरन खेती पर भी पड़ा। अधिक तेल उत्पादन न होने के कारण तिलहन जैसी लाभप्रद नकदी फसल का उत्पादन भी नहीं बढ़ सका । खातियों से खाट की लाग एवं लकड़ी विचौती, सुनारों से हांसिल सोना–चाँदी एवं जरी सितारा, चमारों से लाग चरस, लाग

पाअन, विचौती गुड्डा एवं नारी ढौरी, पिनारो से हांसिल कार कण्डेरान, बुनकारो से रेजी लाग, खटीकों से लाग खटीकान, लुहारों से लोहा–भंडारी आदि लाग–बाग वसूल की जाती थी ।

शिल्पकारों एवं कुटीर उद्यमियों पर लगने वाली लाग–बागों ने विकास में काफी बाधायें उत्पन्न की । राज्य व जागीरदारों ने शिल्पकारों को कोई संरक्षण व प्रोत्साहन नहीं दिया, जिससे उत्पादन में कुशलता नहीं आ सकी । इनके द्वारा उत्पादित माल मात्रात्मक एवं गुणात्मक दोनों रूप से अच्छा नहीं था । लाग–बागों के दबाव के कारण देशी माल महंगा पड़ता था एवं ब्रिटिश साम्राज्य का मशीनों से बना हुआ सामान सस्ता होता था। अत : एक ओर लाग–बाग कुटीर धन्धों की समाप्ति का मूल कारण बनी एवं दूसरी ओर विदेशी व्यापार में सहायक। खेती करने के औजार पुराने एवं साधारण ही रहे क्योंकि शिल्पकारों को बिना प्रोत्साहन प्राप्त हुए नये औजारों का आविष्कार संभव नहीं था। प्रोत्साहन तो अलग रहा बल्कि राज्य एवं जागीरदारों के द्वारा उनका शोषण एवं उत्पीडन किया जा रहा था । अच्छे औजारो का न होना नैसर्गिक रूप से खेती के पिछड़ेपन के लिए जिम्मेदार था। खेती का पिछड़ापन किसानों की गरीबी एवं कर्जदारी का कारण भी था ।

9.8 माल की निकासी सम्बन्धी लाग–बाग

लाग मापा, विरसा, आगली बिसूद, आढ़त, भौम, जकात एवं छापा, लगान चुंगी के रूप में राज्य एवं जागीरदार दोनों के द्वारा वसूल किया जाता था । ये लाग अनाज या अन्य कृषि उत्पादन जैसे 'मसाले, घी, शहद, कपड़ा, गुड़, चीनी व बैल, भैस आदि पशुधन, बीज, खाद, सन, मुंज आदि के आयात–निर्यात पर वसूल की जाती थी ।

ये लागें दो प्रकार की थी (1) आन्तरिक एवं (2) बाह्य । आन्तरिक लाग एवं गांव से दूसरे गाँव व कस्बे में सामान लाने व ले जाने पर लगती थी, जबकि बाह्य लाग वस्तुओं के एक जागीर से दूसरी जागीर एवं एक राज्य से दूसरे राज्य में लाने व ले जाने पर वसूल की जाती थी ।

अकाल एवं सूखा के समय में लाग–बागे किसानों के लिए बड़ी परेशानिया पैदा करती थी। अकाल के समय में किसान को चारा एवं अनाज आयात करना पड़ता था तथा अनेक बार मवेशियों को अपने गांवों से बाहर चारे व पानी वाले इलाकों में जाना पड़ता था । वैसे हर राज्य की ओर से अकाल के समय से किसानों को छूट प्रमाण पत्र मिलता था । छूट प्रमाण पत्र प्राप्त करने में काफी कठिनाई होती थी । किसान विकसित बीज, खाद एवं औजार आयात करने में असमर्थ था। किसान, कृषि उत्पादन पशु, घी, ऊन, सन, मूंज इत्यादि की गाँव से बाहर बाजार में अच्छी कीमत प्राप्त करने से भी वंचित रह जाता था ।

शिल्पकार एवं कुटीर उद्यमी अपने द्वारा उत्पादित माल को किसी बाजार या मण्डी में ले जाने में असमर्थ थे । अगर इन लोगों को अपने माल का पूरा एवं अच्छा दाम मिलता तो कुटीर उद्योगों का विकास संभव था । जब उत्पादन हेतु अच्छी पूंजी नहीं बचती थी, तो वह उत्पादन में उन्नति नहीं कर सकता था, एवं न ही अच्छा माल तैयार कर सकता था ।

9.9 बेगार प्रथा

राजस्थान के सभी 'राज्यों में बेगार की प्रथा बहुत प्रचलित थी। किसी से बिना सहमति एवं मजदूरी के काम लेने को बेगार कहा जाता है ।

राजा, जागीरदार एवं उनके कर्मचारी प्रजा से बेगार लेना अपना हक समझते थे ।1931 में चांद पत्रिका में उल्लिखित थी "आजकल राजाओं और राज कर्मचारियों के दौरे के समय मोटरों व घोड़े–गाड़ियों के लिए रास्तों को ठीक कराना, डेरा, छोलदारी लगवाना, हाथी–घोड़े आदि जानवरों के लिए घास कटवाना, डेरों पर पानी मँगवाना, चौंका लगवाना, धोतिया धुलवाना, जंगल से लकड़ी कटवाना, दूध के लिऐ लोगों की गाय व भैस को केम्पों पर बन्धवा देना आदि सारे काम आज राजपूताना में बिना कुछ उजरत या मजदूरी दिये प्रजा से बल पूर्वक कराये जाते है । जब तक दौरा करने वाले राजा या उनके कर्मचारी उस गाँव में अपना केम्प लगाये रहते है, तब तक उस गाँव में खासा आतंक छाया हुआ रहता है । पचासों आदमियों का घरु धन्धा रोक दिया जाता है । बेगार पर जाने के लिए इन्कार करने वालों को छोटे कर्मचारी लोग जूतों और डण्डों से पीटते है, बैतों से चमड़ा फाड़ देते है और स्त्रियों के गुप्त स्थानों में डण्डे. घुसेड़ देते सुने गये है । जिस वक्त अपने दरबार के लिए शिकार का हाका लगता है, उस वक्त. कई गाँवों के लोग 'इकट्ठा' कर लिए जाते है । जब कभी राज का कोई सामान एक जगह से दूसरी जगह पहुँचाया जाता है, तो वह बेगार ही में पहुँचाया जाता है ।, दौरे में केम्प पर महाजनों की दुकानें लगती है जिनसे बाजार भाव की अपेक्षा बहुत सस्ते भाव पर सजा के मुलाजिम, आटा, दाल, घी और मसाला वगैरह खरीदते है । बेचारे दुकानदार लोग, जो कीमत उन्हें दी जाती है, बिना किसी चूं–चपड़ के चुपचाप ले लेते है । सरकारी मकानों की लिपाई पुताई और सफाई कराना, तहसील के पटवारियों व कानूनगो के कागज और बिस्तरे एक जगह से दूसरी जगह पहुँचाना, अफसरों की सरबराही के लिए घास, लकड़ी पत्तल, दोना, मिट्टी के बर्तन, चूल्हा सिगड़ी, खाट, पाटा, मांचडा, टिखटी, – वगैरहा सामान देना आदि सारा काम प्रजा से बेगार में लिया जाता है । राजकर्मचारी अपने घर, का पानी कुम्हारों से भरवाते है, चमारों से गारा–गोबर, लिपाई, पुताई, सफाई, घास–खुदाई आदि काम करवाते है, नाइयों से चौका बर्तन करवाते, हजामत बनवाते और रात के वक्त पग चम्पी करवाते है काश्तकारों से अपने जानवरों के लिए पानी मंगवाते है । लोगों से पीसना पीसवाते है और हरे घास के भारे, छाने, कण्डे, लकड़ी आदि मंगवाते है ।

बाह्मण एवं राजपूतों को छोड़कर सभी जातियों को बेगार देने के लिए विवश किया जाता था । गैर, खालसा क्षेत्र (जागीर क्षेत्र) में लाग–बागों का स्वरूप बड़ा ही भयंकर था । जागीरों में बेगार राज द्वारा समाप्त करने पर भी लगातार वसूल की जाती रही । इसके फलस्वरूप राजस्थान में किसान आन्दोलन हुए किन्तु वे सभी जागीरों तक ही सीमित थे ।

मुख्य बेगारों में रोटी खिलाई की बेगार, हल बेगार (प्रत्येक किसान जागीरदार, पटेल, पटवारी, कानूनगों आदि के खेतों को बिना मजदूरी के जोतता था), लासियाबेगार (जागीरदार पटेल आदि की फसल काटने के लिया), कोरद बेगार (राव जागीरदार एवं अन्य कर्मचारियों की फसल को गोदाम तक किसान या मजदूर को पहुँचना पडता था, गाड़ी एवं ढुलाई की बेगार)

राजा या जागीरदार के माल को एक स्थान से दूसरे तक बैलगाड़ी से ढोना पड़ता था । चाकर बेगार (राजा या जागीरदार एवं उनके कर्मचारियों को नौकर की आवश्यकता होती थी) नीची जाति के किसानों को जैसे – चमार, रेगर, वैश्वा, धानका आदि को उच्च जाति के किसानों की अपेक्षा अधिक बेगार ढोनी पड़ती थी । निम्न जाति के किसानों से भू–राजस्व लाग–बागें भी अधिक मात्रा में वसूल की जाती थी। अत : यह वर्ग सामाजिक आर्थिक दोनों ही रूपों में पिछड़ा एवं शोषित था। जातीय भेद के कारण स्वर्ण या उच्च जातियों के खिलाफ निम्न जातियों में कटुता बढ़ती गई ।

एक ओर इन बेगारों से किसान को सीधी आर्थिक नुकसान होता था एवं दूसरी ओर उसको खेती एवं पैदावार का भी काफी नुकसान होता था। बेगारों के दवाब से किसान अपनी खेती में समय पर व पूर्ण क्षमता से कार्य नहीं कर पता था। खेतीहर मजदूर जिसकी पूर्ण अर्थव्यवस्था मजदूरी थी उसे बिना मजदूरी बेगार पर जाना पड़ता था। इससे मजदूरों कि आर्थिक दशा खराब हुई ।

9.10 सामाजिक अवसरों के कर

बागदाम, नाता धरीचा, चंवरी, एवं ढ़ोल डंका नामक लाग–बाग किसानों एवं अन्य ग्रामीण जनता से उनकी लड़की एवं लड़के की शादी के अवसर पर वसूल की जाती थी। कांसापरोसा नामक लाग किसानों से उनके घर पर शादी एवं नुकता के समय जागीरदार एवं पटेलों के द्वारा वसूल की जाती थी। न्योता लाग जागीरदार पटेल एवं चौधरी अपने लड़के–लड़की की शादी के अवसर पर किसानों से वसूल करते थे। बाईजी का हाथ खरच नामक लाग ठाकुर की लड़की की शादी के लिए वसूल की जाती थी। यह लाग ठाकुर के घर में लड़की जन्म के समय से लेकर विवाह तक निर्धारित लगान पर एक आना प्रति रुपया के हिसाब से वसूल की जाती थी । कुंवरजी का कलेवा एवम माताजी की भेंट नामक लाग–बाग भी किसानों से एकत्रित की जाती थी ।

पटेल, जागीरदार, पटवारी, कानूनगों, चौधरी आदि किसानों से भेंट होली, भेंट दशहरा एवं भेंट दीवाली नामक लाग लेते थे । परसाद ठाकुरजी नामक लाग किसानों से राज्य एवं जागीरदार द्वारा मंदिर के नाम पर एवं प्याऊ पानी लाग पानी पीने की प्याऊ के नाम पर लेते थे । तनखा मुदारिस एवं पंडित की पता नामक लाग शिक्षा के नाम पर ली जाती थी ।

9.11 सारांश

निष्कर्षत यह कहा जा सकता है कि राजस्थान की ग्रामीण अर्थ एवम् समाज व्यवस्था पर लाग बाग प्रथा का विपरीत प्रभाव पड़ा जो समाज के नैसर्गिक विकास में बाधा जनक साबित हुआ । भू–राजस्व, कृषि उत्पादन, पशुपालन, प्राकृतिक उत्पादन, कुटीर उद्योगों, माल के आवागमन, बेगार एवम सामाजिक, धार्मिक एवम त्योहार सम्बन्धी लाग–बागों ने समाज एवम अर्थव्यवस्था को पिछड़ेपन की स्थिति में बनाये रखा। उस समय की ग्रामीण जनता, किसान, शिल्पी एवं खेतीहर मजदूरों को हमेशा गरीबी एवम आर्थिक तंगी की दशा में रखने का श्रेय लाग–बाग एवं बेगार प्रथा को दिया जाता है' । पुराने एवम् अपर्याप्त उत्पादन के तरीके को बनाया रखा एवम् उत्पादन की शक्तियों को विकसित होने से रोका। उत्पादन से जुड़े हुए

किसान, खेतीहर मजदूर एवं शिल्पकार लाग–बागों एवम बेगार के कारण उत्पादन में कोई उत्साह प्रदर्शित नहीं कर सकें । उत्पादन के परम्परागत तरीके एवम सामंती सम्बन्धों को बनाये रखने में भी लाग–बाग का सहयोग समझा जा सकता हैं । जातीय आधार पर लाग–बाग की दर निर्धारण करने की परम्परा ने समाज में जातीय द्वेषभाव को इतना अधिक गहरा कर दिया कि वह आज तक भी समाप्त नहीं हो पाया है । संक्षेप में यह कहना उचित होगा कि लाग–बाग प्रथा उस समय के शासक वर्ग के हित में अवश्य थी किन्तु समाज के हित में नहीं ।

आधुनिक राजस्थान में भू–राजस्व एवं अन्य करों के विवरण से स्पष्ट होता है कि किसान सामंती एवं औपनिवेशिक भार के नीचे कराह रहा था । भारी करों के कारण किसान अपने रात–दिन के निरन्तर श्रम के उपरांत भी अपना भरण–पोषण करने में असमर्थ था। नं केवल अपने भरण–पोषण के लिए बल्कि राजस्व एवं लाग–बागों के भुगतान हेतु सूद खोर से ऋण लेने के लिए मजबूर था । स्वाभाविक तौर पर एक भूखा–नंगा किसान कृषि विकास में धन लगाने में असमर्थ था । कृषि का पिछड़ापन बढ़ता गया। राजस्व एवं लाग–बागों का भार खालसा क्षेत्रों की तुलना में जागीर क्षेत्रों में अधिक था। अत : हम आगे देखेंगे कि आधुनिक काल में राजस्थान के किसान आंदोलन जागीर क्षेत्रों से ही आरम्भ हुए थे । निष्कर्षत : यह कहा जा सकता है कि 1818 ई. से 1949 ई. के मध्य राजस्थान की जनता सामंती एवं औपनिवेशिक शोषण का शिकार बनी रही जिससे राजस्थान आर्थिक रूप से भारत के अन्य भागों की तुलना में पिछड़ गया ।

9.12 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. ग्रामीण सामाजिक संरचना का विश्लेषण कीजिए
2. भू–राजस्व एवं कृषि उत्पाद सम्बन्धी लाग–बागों का विवरण दीजिए ।
3. बेगार प्रथा का संक्षिप्त विवरण दीजिए ।
4. ग्रामीण कर प्रणाली के अन्तर्गत लाग–बाग प्रथा का विश्लेषण कीजिए ।

9.13 संदर्भ ग्रन्थों की सूची

1. डॉ. ब्रजकिशोर शर्मा : आधुनिक राजस्थान का आर्थिक इतिहास
2. Dr. B.K. Sharma : Peasant Movements of Rajasthan
3. डॉ. रामप्रसाद व्यास : आधुनिक राजस्थान का वृहद इतिहास, जिला–2
4. डॉ. एम. एस. जैन : आधुनिक राजस्थान का इतिहास

इकाई - 10
राजस्थान..में कृषि उत्पादन का प्रारूप
(1818 ई. – 1947 ई)

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य
10.1 प्रस्तावना
10.2 राजस्थान में कृषि उत्पादन के विशेष संदर्भ में अर्थव्यवस्था का स्वरूप (1818 ई.–1947 ई.)
10.3 कृषि उत्पादन के प्रारूप से तात्पर्य
10.4 कृषि उत्पादन के प्रारूप में परिवर्तन का स्वरूप
10.5 कृषि उत्पादन के प्रारूप का विश्लेषण
10.6 राजस्थान की प्रमुख फसलें एवं कृषि उत्पादन
10.7 कृषि उत्पादन को प्रभावित करने वाले तत्व
10.8 सारांश
10.9 अभ्यासार्थ प्रश्न
10.10 संदर्भ ग्रन्थो की सूची

10.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप निम्नलिखित बिन्दुओं का विश्लेषणात्मक अध्ययन करेंगे -

- राजस्थान के कृषि उत्पादन का प्रारूप, अर्थव्यवस्था का प्रमुख आधार एवं स्वरूप रहा है।
- 1818ई. से 1947ई. के मध्य अंग्रेजी शासन का स्वरूप एवं अर्थव्यवस्था की क्या स्थिति विद्यमम थी
- कृषि उत्पादन के प्रारूप का क्या अर्थ है एवं विचारधारा की प्रकृति एवं स्वरूप
- अंग्रेजी शासन काल में राजस्थान के ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि उत्पादन के प्रारूप की स्थिति
- कृषि उत्पादन के प्रारूप के विकास हेतु विभिन्न परिस्थितियों का सक्रिय योगदान
- राजस्थान में समय–समय पर कृषि उत्पादन के प्रारूप में परिवर्तन होने के कारण
- 1818 ई. से 1947 ई. के काल में कृषि उत्पादन के प्रारूप का विस्तृत विश्लेषणात्मक विवेचन
- कृषि उत्पादन के अन्तर्गत आने वाली प्रमुख फसलें
- राजस्थान में कृषि उत्पादन को प्रभावित करने वाली परिस्थितियाँ
- कृषि उत्पादन के प्रारूप को सुचारू एवं सुव्यवस्थित बनाने हेतु कदम, सरकार के प्रयास व नीति।

10.1 प्रस्तावना

राजस्थान की अर्थव्यवस्था में कृषि का प्राचीनतम आधार एवं अस्तित्व रहा है । मानव सभ्यता के विकास के साथ ही कृषि कार्य का उद्भव एवं कालान्तर में उसका विकास हुआ ।कृषि

उत्पादन का प्रारूप एंव विकास न केवल अर्थव्यवस्था की दृष्टि से बल्कि ऐतिहासिक संदर्भ में अध्ययन की महत्वपूर्ण विवेचना मानी जाती है क्योंकि कृषि से संबंधित समस्त अंगों के विकास, समय–समय पर जो परिवर्तन, उत्थान व पतन तथा विकास का क्रम बना रहा उससे सभी वर्ग के लोगों को आवश्यक जानकारी मिलती है । प्रसिद्ध इतिहासकार जेम्स टॉड ने राजस्थान में कृषि के स्वरूप, उत्पादन के प्रारूप एवं शासकों की नीति का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया है ।

राजस्थान का 3.42 लाख वर्ग कि. मी. क्षेत्र विस्तृत रूप में फैला हुआ विशाल क्षेत्र है जो कि मध्यप्रदेश के बाद देश का दूसरा सबसे बड़ा राज्य है । इसकी 1040 कि.मी. लम्बी सीमा पाकिस्तान से लगी हुई है । इसकी सीमायें पंजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश मध्यप्रदेश तथा गुजरात से जुड़ी हुई है । कृषि अधिकांश रूप से वर्षा पर आधारित है । राजस्थान एक कृषि प्रधान राज्य है, जिसकी 70 प्रति. जनसंख्या कृषि पर निर्भर है । राज्य की अर्थव्यवस्था में कृषि का महत्वपूर्ण स्थान है, जहाँ कुल राज्य की आय का लगभग आधा भाग कृषि एवं उससे संबद्ध कार्य कलापों से उपलब्ध होता है । कृषि उत्पादन में सिंचाई का सबसे अधिक महत्व है 1 राजस्थान राज्य में सतही जल स्त्रोतों की काफी कमी है । वर्षा की विषमता एवं अभाव के कारण भूमिगत जल स्तर नीचे जा रहा है, इसलिए कृषि में वर्षा का महत्व और भी अधिक हो जाता है । राज्य में वर्षा के विलम्ब से आगमन असमान वितरण तथा प्रतिकूल मौसमी परिस्थितियों के कारण उत्पादन में उच्चावचन आते रहते है ।

10.2 राजस्थान में कृषि उत्पादन के विशेष संदर्भ में अर्थव्यवस्था का स्वरूप (1818ई–1947 ई.)

1818 ई का वर्ष आधुनिक ब्रिटिश कालीन भारत के इतिहास के संदर्भ में महत्वपूर्ण काल माना जाता है । इस समय तक अंग्रेजी कम्पनी की सरकार व राजपूताना की विभिन्न रियासतों के बीच संधियाँ हो चुकी थी जिसके परिणामस्वरूप राजपूताना में ब्रिटिश सार्वभौम सत्ता की स्थापना हो चुकी थी । अंग्रेजी गवर्नर जनरल लार्ड हेस्टिंग्ज ने राजपूत राज्यों के साथ विभिन्न संधियाँ करके राजपूताना अर्थात् राजस्थान में अंग्रेजी शासन का प्रभुत्व, बना हुआ था। कम्पनी के द्वारा यह आश्वासन दिया गया, कि, राजपूत शासकों का प्रभुत्व बना रहेगा। कम्पनी उनके किसी भी आन्तरिक मामले में हस्तक्षेप नहीं करेगी । लेकिन व्यवहार में ऐसी स्थिति विद्यमान नहीं रही । राजपूताना के शासक अपने राज्य में ही प्रभुत्व सम्पन्न शासक न रहकर अंग्रेजी कम्पनी के सामन्त व जमींदार बन गए ।

राजस्थान में अंग्रेजी शासन की स्थापना के पश्चात 1818ई. से 1947ई. तक अर्थव्यवस्था की स्थिति अव्यवस्थित एवं शोचनीय स्थिति में विद्यमान थी। जनसंख्या का अधिकांश भाग ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करता था तथा ग्रामीण खेतिहर थे। इनमें कई ग्रामीण अपनी भूमि के स्वामी थे, तो कई हिस्सेदार या वेतन भोगी के रूप में कृषि करते थे । अधिकंशत: ग्रामीण ऋणग्रस्त स्तिथि में थे । अंग्रेजी शासन काल में कृषि एवं ग्रामीण ऋणग्रस्तता की स्थिति में निरन्तर अव्यवस्थित स्थिति बनी रही । इसका प्रमुख कारण यह रहा कि अंग्रेजी सरकार ने इस काल में कृषि संबंधी विकास की ओर उपेक्षा का दृष्टिकोण अपनाया ।

उनका लक्ष्य केवल राजपूताना के शासकों से अपनी खिराज की धनराशि में वसूल करना था । उन्होंने इस ओर किसी प्रकार का ध्यान नहीं दिया कि कृषि उत्पादन व साधनों को वृद्धिशील बनाया जाए एवं काश्तकार के स्त्रोतों को कैसे व्यवस्थित किया जाय एवं उनके जीवन स्तर को कैसे ऊपर उठाया जावे ।

प्रारम्भ से ही कृषि ग्रामीण जनसंख्या के व्यवसाय तथा आय का आधार है । इसके अतिरिक्त यह औद्योगिक कच्चे माल का प्रमुख साधन एवं राज्य की अर्थव्यवस्था की आधारशिला भी है । राजस्थान में कृषि, सिंचाई सुविधाओं की अपर्याप्तता, तापक्रम, भू उपयोग, अनिश्चित, असमान तथा असामयिक वर्षा और मिट्टी की दशाओं से प्रभावित होती है । राजपूताना के विभिन्न क्षेत्रों कोटा, अलवर, भरतपुर, दोसा, जयपुर आदि में ये दशाऐं अनुकूल है, इसलिए इन क्षेत्रों में कृषि का विकास स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व एवं उसके पश्चात् भी हुआ है । इनकी तुलना में पश्चिमी रेतीले मैदान में वर्ष. का अभाव कृषि कार्यो को प्रभावित करता है । दक्षिणी–पूर्वी एवं पूर्वी भाग मिट्टी का प्रभाव कृषि उपज पर स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है । राजपूताना में वर्षा की कमी और शुष्कता के कारण राज्य में भूमि का कृषि कार्यो में उपयोग में उतार–चढ़ाव आते रहने से कृषि उत्पादन भी अस्थिर रहता है ।

इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से यह तथ्यपूर्ण है कि राजस्थान में कृषि अर्थव्यवस्था का प्रमुख आधार रहा है, जिसका स्वरूप एवं महत्व इन तथ्यों पर स्पष्ट है कि 1818 ई. से 1947 ई तक एवं स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भी वर्तमान समय में राज्य के शुद्ध घरेलू उत्पाद का स्त्रोत, जनसंख्या का जीविकोपार्जन का आधार, औद्योगिक कच्चे माल की पूर्ति का प्रमुख स्त्रोत, सरकार की आय का साधन, खाद्यानों की पूर्ति एवं आत्मनिर्भरता, परिवहन, व्यापार एवं संचार के साधन के रूप में अत्यधिक महत्व रहा है ।

10.3 कृषि उत्पादन के प्रारूप से तात्पर्य

कृषि उत्पादन का प्रारूप अथवा ढाँचा अथवा प्रतिरूप कृषि अर्थव्यवस्था का प्रमुख अंग है । राजस्थान जो कि कृषि प्रधान क्षेत्र रहा है वहाँ 1818 से 1947 ई. तक कृर्षि उत्पादन के प्रारूप में निरन्तर परिवर्तन की स्थिति बनी रही है । इसको अध्ययन आर्थिक व ऐतिहासिक दृष्टि से प्रमुख विषय रहा है ।

कृषि उत्पादन या फसलों का ढाँचा अर्थव्यवस्था की आवश्यकता एवं नीति का आधार है। किसी भी सरकार के लिए अपनी आर्थिक नीति के अन्तर्गत यह आवश्यक हो जाता है कि यदि कृषि उत्पादन में वृद्धि करनी है या कृषि संबंधी निर्णय सिद्धान्त बनाने है उस हेतु उत्पादन के प्रारूप को निर्धारित करना आवश्यक होता है । राजस्थान की कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था में खरीफ एवं रबी मौसम के अनुरूप भी कई प्रकार की फसलों को बोने के लिए कृषि उत्पादन के प्रारूप संबंधी निर्णय लेने की समस्या सरकार के समक्ष आती है । क्योंकि जहाँ एक ओर खाद्यान्न फसलों में अनाज एवं दालें तथा व्यापारिक फसलों में तिलहन, गन्ना, कपास, फल सब्बियाँ एवं मसालों का समावेश होता है वहाँ दूसरी ओर कृषकों को विभिन्न फसलों के बोने में वैकल्पिक निर्णय लेने होते है, जिसके कारण फसल चक्र प्रारूप की समस्या का सामना करना

पड़ता है इससे स्पष्ट है कि राजस्थान की अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत कृषि क्षेत्र में कृषि उत्पादन प्रारूप प्रारम्भ से समस्या का स्वरूप रहा है ।

कृषि उत्पादन के प्रारूप अथवा फसलों के ढांचे/चक्र प्रतिस्प का अभिप्राय एक निश्चित समयावधि के लिए बोई जाने वाली विभिन्न फसलो के बारे में वैकल्पिक निर्णय लेकर प्रत्येक फसल के बोये जाने वाले भू–क्षेत्र का निर्धारण करने से है । दूसरे शब्दों में किसानों द्वारा अलग–अलग फसलों के बोये जाने वाले भू–क्षेत्र का निर्धारण करना ही फसल ढाँचा या प्रारूप कहा जाता है । इस प्रकार कृषि उत्पादन में किया जाने वाला प्रत्येक परिवर्तन विभिन्न फसलों के अन्तर्गत बोये जाने वाले भू–क्षेत्र में भी परिवर्तन लाता है । उदाहरण स्वरूप खरीफ के मौसम में कितने क्षेत्र में चावल व मक्का बोना है, तथा कितने क्षेत्र में ज्वार, बाजरा, तिलहन, कपास, अथवा गन्ना बोना है, कितने क्षेत्र में मूंगफली बोना है । यह सब कार्यक्रम मिलकर फसलो का ढाँचा अथवा प्रारूप कहलाता है । इसी प्रकार रबी के मौसम में भी गेहूँ, जौ, चना, सरसों, राई, अलसी आदि फसलों के अन्तर्गत भू–क्षेत्र निर्धारण करना पड़ता है ।

10.4 कृषि उत्पादन के प्रारूप में परिवर्तन का स्वरूप

कृषि उत्पादन के प्रारूप संबंधी आँकड़ों को देखने से यह ऐतिहासिक जानकारी एवं तथ्यात्मक विवेचन उपलब्ध होता है कि 1818ई. से 1947ई. तक राजपूताना के विभिन्न क्षेत्रों में कृषि उत्पादन व फसलों के ढाँचे में निरन्तर रूप में काफी परिवर्तन आया है । स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भी योजनाबद्ध विकास के युग में राजस्थान की फसलों के ढाँचे में काफी बदलाव आए है । 1818ई. के समय से लेकर कुछ समय तक कुल कृषि क्षेत्र 77 प्रति. होता था, वह अब घटकर 63.9 प्रति रह गया है ।

राजस्थान में प्रमुख फसलों/कृषि उत्पादन का बदलता ढाँचा नामांकित तालिका से स्पष्ट होता है:–

राजस्थान में कृषि उत्पादन ढाँचे में परिवर्तन

फसलें	1818 ई. से 1820 ई. ओसत प्रति क्षेत्र	1890 ई. से 1985 ई . ओसत प्रति क्षेत्र	1900 ई.– 1901 ई.औसत प्रति क्षेत्र	1947 ई. औसत प्रति क्षेत्र
1. अनाज फसलें	83.3	73.0	65.6	56.0
2. दालों की फसलें	33.3	28.2	24.6	21.0
3. कुल खाद्यान फललें	116.3	103.0	90.2	77.0
4. तिलहन फसलें	04.1	04.9	5.7	6.2
5. कपास	1.8	3.1	4.9	5.7
6. अन्य फसलें	9.2	13.0	14.7	15.1

उपरोक्त तालिका से यह स्पष्ट होता है कि 1818 ई. से 1947 ई. में राजस्थान की फसलों/कृषि उत्पादन के ढाँचे में निरन्तर रूप में काफी परिवर्तन आया है जो कि निम्नांकित विवरण से स्पष्ट है कि

1. राजस्थान की विभिन्न फसलों के ढाँचे में अनाज फसलों की प्रधानता बनी रही क्योंकि अनाज कृषि उत्पादन के अन्तर्गत कुल कृषि क्षेत्र का लगभग 83 प्रति. भाग था और स्वतंत्रता प्राप्ति तक यह 56 प्रति. रहा। इससे स्पष्ट है कि मोटे अनाजों के अन्तर्गत काफी कृषि क्षेत्र रहे।

   सारिणी के आधार पर यह भी स्पष्ट होता है कि अनाजों की प्रधानता होते हुए भी उनके अन्तर्गत क्षेत्र में कमी दृष्टिगोचर हुई है। क्योंकि जहाँ अनाज फसलों में पहले 83 प्रति. क्षेत्र था वह घटकर अब केवल 56 प्रति. रह गया था।
2. इसी प्रकार कृषि उत्पादन प्रारूप से संबंधित तालिका को देखने से इसके परिवर्तन का स्वरूप इस बात को भी दर्शाता है कि, इस क्षेत्र में दालों की फसलों की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इसके साथ–साथ दालों के उत्पादन में सापेक्षिक कमी भी आई है। जहाँ 1818 ई. में दालों की फसलों का कुल बोये गये क्षेत्र में 33.3 प्रति. भाग था अब वह घटकर 1947 ई. तक 21 प्रति. रह गया। अत: दालों की फसलों की भूमिका राज्य कृषि उत्पादन में महत्वपूर्ण बनी रही।
3. कृषि उत्पादन के प्रारूप का स्वरूप इस बात को भी दृष्टिगोचर करता है कि खाद्यान्न फसलों का कृषि में प्रभुत्व बना हुआ है। यह कृषि उत्पादन के ढाँचे की प्रमुख विशेषता मानी जाती है। तालिका को देखने से यह स्पष्ट होता है कि 1818 ई. में खाद्यान्न फसलों का औसत 116.3 था अब वह घटकर कालान्तर में अर्थात स्वतंत्रता प्राप्ति तक 77 प्रति. रह गया। इससे लाट है कि उत्पादन में कमी होने के बावजूद खाद्यान्न फसलों की प्रधानता बनी हुयी थी । यदि हम प्रथम योजना काल 1952 ई. में कुल खाद्यान्न फसलों के औसत प्रतिशत क्षेत्र का अवलोकन करें तो ' आँकड़ो के माध्यम से यह जानकारी मिलती है कि यह प्रतिशत 75.0 प्रति. रहा जो कि 1994–95 ई. में 63.9 औसत प्रतिशत क्षेत्र रह गया है।
4. कृषि उत्पादन ढाँचे की यह भी विशेषता परिलक्षित होती है कि राजस्थान में 1818 ई. से 1947 ई. के मध्य तिलहन फसलों का क्षेत्र निरन्तर रूप से बढ़ता रहा । तिलहन फसलों – तिल, सरसों, राई, मूंगफली,, सोयाबीन आदि का क्षेत्र बढ़ा है । जहाँ 1818 ई. में तिलहन फसलों के अन्तर्गत बोया गया क्षेत्र का लगभग 041 भाग ही था वही 1890–95 ई. में यह औसत प्रतिशत क्षेत्र 5.7 हो गया एवं स्वतंत्रता प्राप्ति तक यह 6.2 औसत प्रतिशत क्षेत्र हो गया था । इस अप्रत्याशित वृद्धि के कारण कृषकों में तिलहनों की फसलों के प्रति रूचि बढ़ी है ।
5. कपास के अन्तर्गत भी कृषि उत्पादन के ढाँचे में वृद्धि हुई है क्योंकि कपास और रूई के बढ़ते मूल्यों ने किसानों को इस बात के लिए प्रोत्साहित किया कि वे कपास का अत्याधिक मात्रा में उत्पादन करें । 1818 ई. में कपास के अन्तर्गत 1.8 औसत प्रतिशत क्षेत्र था वह स्वतंत्रता प्राप्ति तक बढ़कर 5.7 प्रतिशत क्षेत्र हो गया था ।

6. इसी भाँति कृषि उत्पादन के अन्तर्गत अन्य फसलों गन्ना, सागसज्जी, मसाले, ज्वार, फल, अदरक, चारा फसलें आदि का भी वृद्धिशील स्वरूप देखने को मिलता है । तालिका को देखने से स्पष्ट है कि 1818 ई. में 9.2 औसत प्रतिशत क्षेत्र से अन्य फसलों का उत्पादन किया गया जो कि स्वतंत्रता प्राप्ति तक 15.1 औसत प्रतिशत क्षेत्र हो गया था ।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट है कि 1818 ई. से 1947 ई. तक कृषि उत्पादन का ढाँचा/प्रारूप अपने वृद्धिशील स्वरूप में विद्यमान था।

10.5 कृषि उत्पादन के प्रारूप का विश्लेषण

कृषि उत्पादन का विश्लेषण किसी भी क्षेत्र की अर्थव्यवस्था का प्रमुख आधार होता है। यह विश्लेषण क्रोपिग पैटर्न अर्थात उत्पाद/फसल के प्रारूप को दर्शाता है। विश्लेषण के अभाव में कृषि उत्पादन के ढाँचे को विस्तृत रूप में नहीं समझा जा सकता है। इसमें बोये जाने वाले क्षेत्रफल का विस्मृत विवेचन किया जाता है। राजस्थान में 1818 ई. सें स्वतंत्रता प्राप्ति तक एवं उसके पश्चात् वर्तमान 1996–97 ई. तक विभिन्न फसलों के अन्तर्गत बोया गया क्षेत्र और उनके उत्पादन को निम्नांकित तालिका में दर्शाया गया है।

राजस्थान में विभिन्न फसलों के अन्तर्गत क्षेत्रफल एवं उत्पादन

	क्षेत्रफल (लाख हैक्टर)			उत्पादन (लाख टन)		
फसलें	1818 ई	1900ई.	1947ई.	1818ई.	1900ई.	1947ई.
(अ) अनाज फसलें						
खरीफ	56.3	63.1	67.0	33.2	44.7	44.9
रबी	15.5	18.2	20.3	37.0	39.3	42.2
(ब) दाल फसलें						
खरीफ	16.9	11.6	16.10	3.5	5.2	6.0
रबी	11.2	13.1	15.3	8.2	9.3	10.0
कुल योग	102.9	109.0	118.16	81.9	98.5	103.1
(स) तिलहन फसलें	20.8	25.4	30.7	21.5	23.3	32.0
खरीफ	7.3	8.1	9.4	3.7	4.3	5.9
रबी	28.1	23.3	28.2	15.5	16.8	17.5
(द) गन्ना	0.11	0.18	0.22	10.1	11.3	12.0
(ग) कपास	2.33	3.41	4.55	6.3	8.4	9.2
(लाख गांठे)						

1990–91 ई. से 1996–97 ई. तक क्षेत्रफल एवं उत्पादन

	क्षेत्रफल (लाख हैक्टर)			उत्पादन (लाख टन)		
फसलें	199–91	1993–93	1996–97	1990–91	1992–93	1996-97
(अ) अनाज फसलें						

खरीफ	69.2	68.9	62.6	44.7	44.1	35.9
रबी	20.5	25.0	25.8	`47.5	55.3	70.0
(ब) दाल फसलें						
खरीफ	19.9	19.5	20.6	6.5	6.2	6.0
रबी	16.9	14.9	16.5	10.6	8.4	15.1
कुल योग	126.5	128.3	125.5	109.35	113.95	127.0
(स)तिलहनफसलें	30.9	33.54	40.4	23.55	25.38	40.94
खरीफ	9.45	9.7	12.4	5.97	7.2	8.95
रबी	20.9	23.8	28.0	17.5	18.18	32.0
(द) गन्ना	0.23	0.24	0.22	12.0	11.3	10.21
(ग) कपास	4.55	4.76	5.89	9.21	0.21	2.95

उक्त तालिकाओं – से कृषि उत्पादन के क्षेत्र व कुल उत्पादन के ढाँचे/प्रारूप का सुविधापूर्ण एवं विश्लेषणात्मक वर्णन उत्पादन पैटर्न को बताना है ।

10.6 राजस्थान की प्रमुख फसलें एवं कृषि उत्पादन

राजस्थान प्रारम्भ से ही कृषि प्रधान क्षेत्र रहा है । यही की 75 प्रतिशत जनसंख्या कृषि एवं पशुपालन व्यवसाय से जीवन निर्वाह करती चली आयी है । इसी प्रकार घरेलू उत्पादन में संबंधित लगभग 48 प्रति. भाग उत्पादन सामग्री व कच्चा माल कृषि एवं उससे संबद्ध क्षेत्रों से उपलब्ध होता है । ऐतिहासिक जानकारी एवं तथ्यों के आधार पर यह स्पष्ट है कि राजस्थान में समय–समय पर भीषण अकाल–सूखा वर्षा की कमी एवं अनिश्चितता की स्थिति बनी रही । राजस्थान में जलवायु की उष्णता, सिंचाई की अपर्याप्ता, वर्षा की कमी, मिट्टी की बनावट में भिन्नता आदि के कारण कई प्रकार के आधार पर फसलों का उत्पादन किया जाता है । प्रारूप के अनुसार जहाँ एक ओर मोटे अनाज, ज्वार, बाजरा, मक्का, चना, दालें व तिलहन पैदा होता है वहाँ सिंचित क्षेत्रों में गेहूँ, चावल, कपास आदि फसलें बोई जाती है । इस दृष्टि से राजस्थान में प्रमुख कृषि फसलों का उत्पादन इस प्रकार होता है ।

(क) खाद्यान्न फसलें – गेहूँ, जौ, ज्वार, बाजरा, मक्का, चावल, चना, विभिन्न प्रकार की दालें।

(ख) व्यापारिक फसलें – कपास, गन्ना, तम्बाकू, तिलहन आदि ।

(क) **खाद्यान्न फसलें :** –

1. **गेहूँ :–** प्रारम्भ से ही गेहूँ राजस्थान की रबी की फसल है । गेहूँ के लिए 50 से 75 सेंटीमीटर वर्षा होना आवश्यक है । इस स्थिति में तब वर्षा आवश्यकता के अनुसार नहीं होती है उस समय सिंचाई की आवश्यकता होती है । गेहूँ के बोने के समय तापक्रम 10 डिग्री सेंटीग्रेड तथा दाना पकते समय तापक्रम 15 से 20 डिग्री सेंटीग्रेड तक उपयुक्त होता है । गेहूँ के लिए उपजाऊ दोमट मिट्टी सबसे उपयुक्त होती है । इसके अलावा बारीक रेतीली तथा कांप मिट्टी भी उपयुक्त मानी जाती है ।

राजस्थान में गेहूँ उत्पादन के प्रमुख क्षेत्र पूर्वी तथा दक्षिणी–पूर्वी राजस्थान के क्षेत्र है जहाँ राज्य के गेहूँ उत्पादन क्षेत्र का लगभग 70 प्रति. भाग है । पूर्वी क्षेत्रों में जयपुर, अलवर, भरतपुर, एवं धौलपुर गेहूँ उत्पादन का लगभग 30 प्रति. भाग पैदा करते है जबकि दक्षिणी पूर्वी क्षेत्र में कोटा, बूंदी, सवाईमाधोपुर, चित्तौड़, उदयपुर, भीलवाड़ा, टोंक, पाली, और अजमेर जिले आते है । जहाँ कुल गेहूँ उत्पादन का लगभग 50 प्रति. भाग प्राप्त होता है ।

राजस्थान में गेहूँ का उत्पादन निरन्तर रूप से वृद्धिशील रहा है । यह उत्पादन 1818 ई में 3 लाख टन रहा तथा बढ़कर 1947 ई में स्वतंत्रता प्राप्ति तक 5 लाख टन हो गया था । 1950–51 ई में वार्षिक उत्पादन 6.8 लाख टन था। वर्तमान में यह 1996–97 में 64.8 लाख टन रहा ।

2. **जौ :–** जौ भी राजस्थान का अन्य महत्वपूर्ण खाद्यान्न है । इसके लिए 15 से 18 डिग्री सेंटीग्रेड तापमान की आवश्यकता होती है । परिणाम स्वरूप राजस्थान के उन क्षेत्रों में जहाँ तापमान व कम वर्षा होती है जौ का उत्पादन किया जाता है । इसके लिए शुष्क एवं बालू मिश्रित कांप मिट्टी भी उपयुक्त होती है।

   जौ की फसल का लगभग 90 प्रति. क्षेत्र जयपुर, अलवर, भरतपुर, सवाई माधोपुर, टोंक, अजमेर, पाली, उदयपुर, भीलवाड़ा, गंगानगर, झांझुनू, नागौर तथा सीकर है। राजस्थान के लगभग 45 लाख हैक्टेयर क्षेत्र में जौ की फसल पैदा की जाती है। जौ का वार्षिक उत्पादन 1818 ई में 2 लाख टन रहा तथा 1947 ई में 4.7 लाख टन रहा। वर्तमान में यह उत्पादन 5 लाख टन प्रति वर्ष है।

3. **ज्वार :–** राजस्थान में मोटे अनाजों में ज्वार की फसल उष्णकटिबन्धीय खरीफ की फसल है। यह गरीबों का प्रमुख आहार रहा है। इसके डण्ठलों का प्रयोग पशुओं के चारे के रूप में होता है जौ के लिए 30 से 100 सेंटीमीटर वर्षा तथा 22 से 23 डिग्री सेंटीग्रेड तापमान की आवश्यकता होती है। ज्वार का उत्पादन काली मिट्टी दोमट मिट्टी, चिकनी कांप मिट्टी में किया जाता है।

   राजस्थान के लगभग 79 लाख हैक्टेयर भूमि में ज्वार की खेती होती है। कोटा, झालावाड़, चितौड़, सवाईमाधोपुर, भरतपुर, अलवर, आदि क्षेत्रों में इसका उत्पादन किया जाता रहा है। 1818 ई में इसका उत्पादन 97 हजार टन था जो कि 1947 ई. में बढ़कर 1.3 लाख टन और 1989–90 में 5.4 लाख टन हो गया।

4. **बाजरा :–** राजस्थान के भाग यह खरीफ की मुख्य फसल है। इसके लिए शुष्क जलवायु तथा 40 से 50 सेंटीमीटर वर्षा पर्याप्त है। इसका उत्पादन कम उपजाऊ एवं कम वर्षा वाले क्षेत्रों में भी किया जा सकता है। तापमान की दृष्टि से इसके उत्पादन हेतु 15 से 20 डिग्री सेंटीग्रेड तापमान उपयुक्त रहता है।

   बाजरे का उत्पादन क्षेत्र रेगिस्तानी इलाके है, इनमें बाड़मेर, जोधपुर तथा नागौर कुल उत्पादन का 14 प्रति. हिस्सा उत्पादित करते है। जबकि जयपुर, भरतपुर, अलवर, सवाई

माधोपुर क्षेत्र कुल बाजरा क्षेत्र 17 प्रति. होने पर भी कुल उत्पादन का 55 प्रति. भाग उपलब्ध कराते है।

5. **मक्का :–** मोटे अनाजों में मक्का राजस्थान में खरीफ की मुख्य फसल है। इसके उत्पादन के लिए 21 से 27 डिग्री सेंटीग्रेड तापमान तथा 50 सेंटीमीटर से 100 सेंटीमीटर वर्षा की आवश्यकता होती है। इसकी फसल के लिए दोमट मिट्टी उपयुक्त मानी जाती है। राजस्थान में उदयपुर, चितौड़, भीलवाड़ा, में इसका उत्पादन अत्यधिक किया जाता है। जो कि कुल फसल क्षेत्र का 55 प्रति. उत्पादन होता है। अजमेर व झालावाड़ क्षेत्रों में कुछ उत्पादन का 25 प्रति. भाग उत्पादित किया जाता रहा है। 1818 ई. में इसका उत्पादन 93 हजार टन था, वह बढ़कर 1947 ई. तक 16 लाख टन व 1990–91 में 13 लाख टन हो गया।
6. **चावल :–** चावल अधिक वर्षा क्षेत्रों की उपज है। इसके लिए 125 से 200 सेंटीमीटर तक वार्षिक वर्षा की आवश्यकता होती है। इस हेतु चिकनी मिट्टी, दोमट मिट्टी व कांप मिट्टी की आवश्यकता होती है। चावल के उत्पादन हेतु 20 से 26 डिग्री सेंटीग्रेड तापमान की आवश्यकता होती है। इस फसल के प्रमुख उत्पादन क्षेत्र बांसवाड़ा, डूंगरपुर, कोटा, बूंदी, उदयपुर तथा श्रीगंगानगर जिले रहे है। 1818 ई. में चावल उत्पादन 13 हजार टन था वह 1947 ई. में स्वतंत्रता प्राप्ति तक 55 हजार टन था, 1950–51 में चावल का उत्पादन 57 हजार टन था।
7. **चना :–** रबी मौसम की नह ऐसी दलहन की फसल है जो राजस्थान के प्राय सभी क्षेत्रों में बोई जाती रही है। इसके लिए औसत तापमान 20 से 25 डिग्री सेंटीग्रेड की आवश्यकता होती है। इसके लिए हल्की बूलई मिट्टी उपयुक्त होती है। राजस्थान में चना उत्पादन का प्रमुख क्षेत्र गंगानगर क्षेत्र रहा है। इसके अलावा भरतपुर, अलवर, जयपुर, कोटा, चुरू, चित्तौड़गढ़, सवाई माधोपुर, टोंक, बूंदी, प्रमुख क्षेत्र है।
8. **दालें :–** राजस्थान में दालों का उत्पादन रबी व खरीफ दोनों ही फसलों में किया जाता रहा है। इसकी मुख्य फसलें – मूंग, मोठ, उड़द, एवं अरहर है। इसके उत्पादन के लिए शुष्क एवं अर्द्ध शुष्क जलवायु पर्याप्त होती है। कम वर्षा वाले क्षेत्रों में दालों का उत्पादन किया जाता है। इसके उत्पादन क्षेत्र जोधपुर, नागौर, बीकानेर, चुरू, सीकर, झुंझुनू तथा जयपुर जिलों में मूंग, मोठ का उत्पादन होता रहा है। इसी प्रकार पूर्वी राजस्थान के कोटा, बूंदी, भरतपुर, झालावाड़, अरहर के उत्पादन व उड़द के उत्पादन के लिए चित्तौड़, बांसवाड़ा, सिरोही, प्रमुख क्षेत्र रहे है। '

(ख) व्यापारिक फसलें :–

राजस्थान में कृषि उत्पादन के ढाँचे में व्यापारिक फसलों का विशेष महत्व रहा है। व्यापारिक फसलों में – कपास, गना, तम्बाकू और तिलहन का उत्पादन प्रमुख माना जाता है। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है:–

1. **कपास** :– 18वीं शताब्दी के काल में कपास का उत्पादन राजस्थान में व्यापारिक उद्देश्य से अत्यधिक मात्रा में किया जाता रहा है। कपास उष्णकटिबन्धीय पौधा है, इसे औसतन 20

से 30 डिग्री सेंटीग्रेड तापमान तथा 50 से 100 सेंटीमीटर वर्षा की आवश्यकता होती है। उन क्षेत्रों में जहाँ 50 सेंटीमीटर से कम वर्षा होती है वहाँ सिंचाई की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार कपास की पैदावार के लिए काली मिट्टी व आद्रतापूर्ण चिकनी मिट्टी उपयुक्त रहती है।

राजस्थान में 1818 से 1947 ई. के मध्य लगभग 5 लाख हैक्टेयर क्षेत्र में कपास की खेती की जाती थी जबकि वर्तमान में 6 लाख हेक्टर क्षेत्र में कपास उत्पादन किया जाता है। राजस्थान में कपास–उदयपुर चित्तौड़गढ़, भीलवाड़ा, झालावाड़, बांसवाडा, गंगानगर, कोटा, बूंदी, टोक, में उत्पादित की जाती रही है।

2. **गन्ना :–** राजस्थान में गन्ना उष्णकटिबन्धीय पौधा है। इसकी फसल के लिए औसत तापक्रम 15 से 25 डिग्री सेंटीग्रेड तथा औसतन 125 से 165 सेंटीमीटर वर्षा की आवश्यकता होती है। जहाँ वर्षा कम होती है, उन क्षेत्रों में सिंचाई की पर्याप्त सुविधा उपलब्ध करवायी जाती है। गन्ना उत्पादन हेतु कांपवाली चिकनी एवं काली मिट्टी, दोमट मिट्टी उपयुक्त होती है। राजस्थान में गन्ना उत्पादन क्षेत्रों में गंगानगर, उदयपुर, चित्तौड़गढ़, भीलवाड़ा, बूंदी, कोटा, झालावाड़, बांसवाड़ा, प्रमुख क्षेत्र रहे है।
3. **तम्बाकू :–** तम्बाकू राजस्थान में उष्णकटिबन्धीय पौधा है, जिसके उत्पादन के लिए 16 से 40 डिग्री सेंटीग्रेड तापमान तथा 50 से 100 सेंटीमीटर वर्षा उपयुक्त मानी जाती है। इसकी पैदावार ढालू एवं पठारी भूमि पर की जाती है। इसके लिए बलूई दोमट मिट्टी अथवा कच्छारी मिट्टी उपयोगी रहती है। राजस्थान में अलवर, झुंझुनू, सवाई माधोपुर, चित्तौड़गढ़, जयपुर, नागौर, उदयपुर प्रमुख क्षेत्र है जहाँ इसका उत्पादन होता रहा है।
4. **तिलहन** :– राजस्थान में प्रमुख तिलहन फसलें – मूंगफली, अलसी, राई, सरसों, तिल तथा बिनौला है । तिलहन के उत्पादन के लिए मिट्टी, वर्षा, तापक्रम में भिन्नता रहना उपयोगी रहता है । इस दृष्टि से मूंगफली के प्रमुख उत्पादन क्षेत्र चित्तौड़, सवाई माधोपुर, भीलवाड़ा, जयपुर, भरतपुर तथा झालावाड़, है तथा अरण्डी हेतु जालौर, भरतपुर, अलवर, जालौर तथा गंगानगर, प्रमुख क्षेत्र रहे है ।

10.7 कृषि उत्पादन को प्रभावित करने वाले तत्व

1818 ई. में राजस्थान (राजपूताना) की रियासतों के साथ अंग्रेजी सरकार की संधियों के कारण अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी शासन का प्रभाव राजनैतिक क्षेत्र के साथ–साथ राजस्थान की अर्थव्यवस्था में भी दृष्टिगोचर होने लगा था । इस समय से राजस्थान के विभिन्न क्षेत्रों में कृषि उत्पादन के प्रारूप का जो स्वरूप रहा उसके ढाँचे में निरन्तर रूप में परिवर्तन की स्थिति उत्पन्न होती रहती है । इसके प्रारूप को प्रभावित करने में निम्नांकित परिस्थितियों का योगदान रहा :–

1. **प्राकृतिक कारण** :– राजस्थान में कृषि उत्पादन के प्रारूप को प्रभावित करने में प्राकृतिक कारणों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है । प्राकृतिक तत्वों में भूमि की किस्म, तापमान, जलवायु, वर्षा, अकाल, बाढ़, फसलों में उत्पन्न होने वाली बिमारियाँ आदि आते है । कृषि

उत्पादन को जितने तापमान, जलवायु व वर्षा की आवश्यकता होती है यदि वह उपलब्ध होती है तो वह फसल वहाँ उत्पादित की जाती है, जिससे उसके उत्पादन में वृद्धि संभव होती है । लेकिन इसके विपरीत यदि उचित तापक्रम अच्छी किस्म की भूमि, वर्षा उपलब्ध नहीं होती है तो उत्पादन कम अथवा शून्य के बराबर होता है । यदि अकाल व महामारी की स्थिति उत्पन्न होती है तो उस स्थिति में भी कृषि उत्पादन के प्रारूप में परिवर्तन संभव होता है । राजस्थान में पश्चिमी भाग रेतीला एवं शुष्क है तथा वर्षा का औसत भी कम है, वहाँ बाजरा, ज्वार, मूंग, उड़द आदि फसलें उत्पादित की जाती है । इसी प्रकार कोटा आदि क्षेत्रों में वर्षा अधिक होने से वहीं चावल की खेती की जाती है ।

2. **आर्थिक कारण :–** कृषि उत्पादन प्रारूप को आर्थिक तत्व भी प्रभावित करते है । आर्थिक तत्वों में कृषि वस्तुओं की कीमतें, किसान की आय, भू–धारण प्रणाली, जोत का आकार, कृषि साधनों की उपलब्धि आदि ऐसे तत्व है जो कि प्रारूप को प्रभावित करते चले आए है । इस दृष्टि से यदि किसी फसल की कीमत अन्य फसलों की तुलना में निरन्तर बढ़ती है तो कृषक उस फसल को अत्यधिक मात्रा में उत्पादित करने का प्रयास करते है । ऐतिहासिक दृष्टि से आँकड़ो के माध्यम से यह तथ्यपूर्ण हैं कि 1818 ई. से स्वतंत्रता प्राप्ति तक एवं उसके पश्चात् भी सरसों की कीमतें लगातार बढ़ी, परिणाम स्वरूप राजस्थान में अन्य फसलों की तुलना में सरसों के क्षेत्रफल एवं उत्पादन में रिकार्ड वृद्धि संभव हुई है । इसके परिणाम स्वरूप छोटे किसान खाद्य फसलों का उत्पादन करने का प्रयास करते है क्योंकि उनका प्रमुख उद्देश्य अत्यधिक आमदनी प्राप्त करना व भरण–पोषण की व्यवस्था करना होता है । इसके विपरीत बड़े किसान अपनी भूमि का अधिक भाग वाणिज्यिक फसलों के उत्पादन के लिए उपयोग करते है ।

   इसके अतिरिक्त आर्थिक क्षेत्र में सिंचाई, उर्वरकों, बीजों एवं संग्रहण, विपणन, यातायात आदि साधनों की उपलब्धि भी फसल प्रारूप को प्रभावित करने में सक्रिय होती है ।

3. **ऐतिहासिक तत्व :–** फसल उत्पादन प्रारूप को ऐतिहासिक परिस्थितियाँ भी प्रभावित करती है । इस दृष्टि से परम्परागत तरीके, दीर्घकालीन फसल उत्पादन, भूमि का उपविभाजन, अपखण्डन ऐसे तत्व है जो कि ऐतिहासिक तत्व माने जाते है । राजस्थान में इन तत्वों की विद्यमानता प्राचीन समय से रही है । प्रारम्भ से ही कृषकों में यह परम्परा एवं धारणा रही है कि फसलों का उत्पादन निरन्तर रूप में लम्बे समय तक अनिवार्य तरीके से किया जाए उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया जाए । इस स्थिति से उत्पादन प्रारूप प्रभावित होता है एवं कृषि उत्पादन में वृद्धि संभव होती रही है । इसी भाँति भूमि का उपविभाजन व अपखण्डन अधिक होने से खाद्यान्न फसलों को ही बोने में प्राथमिकता दी जाती रही है ।

4. **सरकारी नीति –** ऐतिहासिक दृष्टि से यह तथ्य पूर्ण है कि किसी भी स्थिति को सरकारी नीति अत्यधिक रूप से प्रभावित करती है । कृषि उत्पादन के प्रारूप को सरकारी नीति भी इसी रूप में प्रभावित करती है । इसके अन्तर्गत सरकार की कर नीति, निर्यात नीति, साख नीति, साधनों की पूर्ति भी कृषि उत्पादन प्रारूप को प्रभावित करती है । स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व राजस्थान के विभिन्न क्षेत्रों के देशी राजाओं, ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नीति के

फलस्वरूप कृषि उत्पादन प्रारूप अत्यधिक रूप में प्रभावित हुआ है । इस दृष्टि से देशी शासकों के द्वारा कृषि कार्यों व उत्पादन पर जो अनुदान दिया गया या समर्थन मूल्यों एवं वसूली मूल्यों को घोषित किया गया उससे फसलों का ढाँचा/प्रारूप प्रभावित हुआ । सरकार अर्थात राजस्थान में देशी शासकों के द्वारा समय–समय पर सुविधाएँ बढ़ायी गयी तथा उन्नत बीजों की व्यवस्था की गयी उससे खाद्यान्न के उत्पादन एवं क्षेत्रफल में वृद्धि हुई । अंग्रेजी कम्पनी के द्वारा यदि उपेक्षा का दृष्टिकोण अपनाया अथवा करों व आर्थिक भार में वृद्धि की तो उस स्थिति में उत्पादन का प्रारूप प्रभावित हुआ ।

उक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट है कि राजस्थान में कृषि उत्पादन के प्रारूप में निरन्तर परिवर्तन होता रहा, जिसे उक्त कारणों ने प्रमुख रूप में प्रभावित किया ।

10.8 सांराश

इस प्रकार उपर्युक्त तथ्यात्मक एवं विवेचनात्मक वर्णन से यह स्पष्ट है कि राजस्थान की अर्थव्यवस्था में कृषि उत्पादन के प्रारूप अथवा फसलों के प्रारूप (ढाँचे) का विशेष महत्व रहा है । कृषि उत्पादन का प्रारूप अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में कृषि का महत्वपूर्ण अंग है । कृषि उत्पादन के प्रारूप के अर्थ एवं उसके स्वरूप को देखने से यह ऐतिहासिक एवं आर्थिक जानकारी मिलती है कि कृषि उत्पादन की प्रक्रिया, उसमें वृद्धि एवं विकास अवरूद्ध हो सकते है । अत: इस प्रक्रिया एवं प्रारूप को किसी भी राज्य की सरकर के द्वारा अपनी जनकल्याण कारी व कृषिगत नीति में अपना उपयोगी एवं आवश्यक है । यह नीति उस राज्य की कृषि व्यवस्था के विकसित स्वरूप को दर्शाता है । इस ढाँचे को सन्तुलित एवं व्यवस्थित रखने से कृषि उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि संभव है ।

कृषि उत्पादन के प्रारूप को प्रभावित करने वाले तत्वों का भी इस अध्याय एवं विश्लेषण में विवेचन किया गया । इससे स्पष्ट है कि प्रारूप के निर्धारण तथा इसमें परिवर्तन में प्राकृतिक, आर्थिक, ऐतिहासिक, सरकार की नीति आदि तत्वों की सक्रिय योगदान रहता है।

कृषि उत्पादन के प्रारूप के विश्लेषणात्मक अध्ययन से यह भी जानकारी स्पष्ट होती है कि 1818 ई. से स्वतंत्रता प्राप्ति तक कृषि उपज व उत्पादन में सम्भवत : वृद्धि का स्वरूप रहा । इसी प्रकार इस काल में विपिन फसलों का उत्पादन खरीफ, रबी की फसलों में उचित जलवायु, तापमान, मिट्टी व क्षेत्रों में किया गया। यह पद्धति स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् से वर्तमान समय में भी विकसित एवं क्रियाशील रूप में विद्यमान है जो कि अर्थव्यवस्था का प्रमुख अंग है ।

10.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

बोध प्रश्न– 1

निम्नांकित प्रश्नों के पाँच पंक्तियों में उत्तर दें :–

1. कृषि उत्पादन के प्रारूप से आप क्या समझते है?
2. 1818 ई. से 1947 ई. के मध्य राजस्थान की अर्थव्यवस्था में कृषि के महत्व को समझाईये ।
3. कृषि उत्पादन प्रारूप को प्राकृतिक कारण किस प्रकार प्रभावित करते है?

4. कृषि उत्पादन प्रारूप को प्रभावित करने में सरकारी नीति कहां तक क्रियाशील है?

बोध प्रश्न– 2

निम्नांकित वाक्यों को पढ़कर उसके सम्मुख सही (✓)या गलत (×) का निशान लगाए :–

1. राजस्थान प्रारम्भ से ही कृषि प्रधान देश है। ( )
2. राजस्थान में कृषि ग्रामीण जनसंख्या के व्यवसाय व आय का आधार होने के साथ–साथ औद्योगिक कच्चे माल का स्त्रोत एवं राज्य की अर्थव्यवस्था की आधारशिला है। ( )
3. राज्य में भूमि के उपयोग संबंधी आँकड़े सरकार द्वारा तैयार किए जाते है। ( )
4. कृषि उत्पादन के प्रारूप से तात्पर्य किसी समय विशेष पर विभिन्न फसलों के अधीन क्षेत्रफल के अनुपात से है। ( )
5. फसल प्रारूप में परिवर्तन का अर्थ विभिन्न फसलों के अधीन क्षेत्रफल में फेरबदल करने से है। ( )
6. गेहूँ, चना, जौ, सरसों, खरीफ फसलों में आती है। ( )
7. सिंचाई सुविधाओं के बढ़ने, नयी तकनीक तथा उन्नत साधनों के प्रयोग से फसलों का उत्पादन घटता है। ( )

बोध प्रश्न– 3

निम्नांकित प्रश्नों के उत्तर 100 शब्दों में लिखिए :–

1. 1818 ई. से 1947 ई. के मध्य कृषि उत्पादन के प्रारूप की विशेषताओं वर्णन कीजिए।
2. कृषि उत्पादन प्रारूप को प्रभावित करने वाले तत्वों का विवेचन कीजिए।
3. कृषि उत्पादन प्रारूप के अन्तर्गत बोयी जाने वाली फसलों का विश्लेषणात्मक वर्णन कीजिए।

10.10 संदर्भ ग्रन्थों की सूची

1.	डॉ. बी.के. शर्मा	:	"आधुनिक राजस्थान का आर्थिक इतिहास" (1818 ई.1949 ई.)
2.	डॉ. एम.एल. छीपा	:	राजस्थान की अर्थव्यवस्था
3.	बी.एल. ओझा	:	राजस्थान की अर्थव्यवस्था
4.	बढ़ाना	:	राजस्थान की अर्थव्यवस्था
5.	एच सी. सक्सेना	:	राजस्थान की अर्थव्यवस्था
6.	जेम्स टॉड	:	एनल्स एण्ड एन्टीक्यूटीज ऑफ राजस्थान
7.	,,	:	राजस्थान स्टेट गजेटियर
8.	,,	:	राजपूताना गजेटियर
9.	,,	:	इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इण्डिया
10.	लक्ष्मीनारायण नाथूरामका	:	राजस्थान की अर्थव्यवस्था
11.	डॉ. एम.सी. गुप्ता	:	राजस्थान की अर्थव्यवस्था
12.	डॉ. के.बी सक्सेना	:	हमारा राजस्थान
13	डॉ. गोपीनाथ शर्मा	:	आधुनिक राजस्थान का इतिहास

14.	डॉ. एम.एस. जैन	:	आधुनिक राजस्थान का इतिहास
15.	कालूराम शर्मा	:	उन्नीसवीं सदी के राजस्थान का सामाजिक एवं आर्थिक जीवन
16.	अशोक बाफना	:	राजस्थान का आर्थिक विकास
17	,,	:	स्टेस्टिकल एब्ट्रेक्ट

इकाई – 11
मुद्रा, बाजार, हाट एवं मंडी

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य
11.1 प्रस्तावना
11.2 मुद्रा
11.3 व्यापारिक पिछड़ेपन के कारण
11.4 विभिन्न वस्तुओं के बाजारों की स्थिति
11.5 हाट एवं मंडी
11.6 उपसंहार
11.7 अभ्यासार्थ प्रश्न
11.8 संदर्भ ग्रन्थों की सूची

11.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप अध्ययन करेंगे :–

- ज्ञात है कि राजस्थान के राज्यों का आर्थिक जीवन प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से कृषि पर आधारित था । परन्तु विभिन्न व्यापारिक गतिविधियाँ आर्थिक जीवन का मुख्य आधार थी, स्पष्ट किया जायेगा ।
- विभिन्न मुद्राओं की जानकारी दी जायेगी जो रियासतों में प्रचलित थी ।
- व्यापार के पिछड़ेपन के कारणों के साथ–साथ उसके मार्ग में आने वाली कठिनाईयों का अध्ययन करना ।
- व्यापारिक बाजारों की स्थिति एवं व्यापारिक पिछड़ेपन के कारण ।
- समय–समय पर लगने वाले हाट बाजार एवं मंडियों की जानकारी दी जायेगी ।
- नमक, अफीम, कपास, उद्योग–धन्धों की स्थिति को स्पष्ट करना जो मानवीय जीविकोपार्जन के मुख्य आधार स्तम्भ थे ।

11.1 प्रस्तावना

मुद्रा, बाजार, हाट, एवं मंडियाँ ये व्यापार के प्रमुख आधार तथा केन्द्र समझे जाते है । व्यापार को सर्वाधिक प्रभावित औद्योगिक स्थितियाँ करती है । राजस्थान में औद्योगिक पिछड़ापन रहा जिसका प्रभाव यहाँ के व्यापार पर स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है । जिसके परिणामस्वरूप राजस्थान का व्यापारी, जो समृद्ध वर्ग की श्रेणी में आता था, राजस्थान से ब्रिटिश भारत के भू–भागों में निष्क्रमण कर गया । जिसका मुद्रा, बाजार, हाट एवं मंडीयों पर कुप्रभाव पड़ा । परन्तु यह परिस्थितियाँ सदैव नहीं बनी रही । मध्यकाल तक पहुँचते–पहुँचते मुद्रा व बाजार की स्थितियाँ बहुत अधिक विकसित हो चुकी थी ।

मुद्रा का प्रचलन शासक की स्वतंत्रता एवं सार्वभौमिक्ता का प्रतीक माना जाता है । मुद्रा ही व्यापार व वाणिज्य का मुख्य आधार थी । मुद्रा का आगमन उद्योग–धंधों व बाजारों की समृद्धता का प्रतीक था ।

आधुनिक काल में राजस्थान कई क्षेत्रों में व्यापार का केन्द्र नहीं रहा है । कई ऐसे बाजार है जो स्थाई रूप से बन्द होते जा रहे है । हाट व मंडीयों की प्राचीन पद्धतियाँ प्राय समाप्त हो गई है । उदाहरणार्थ राजस्थान में उत्पादित नमक एवं अफीम के आधुनिक काल में भी राजस्थान से बाहर बाजार उपलब्ध थे । लेकिन अंग्रेजों ने अपने औपनिवेशक हितों के कारण नमक व अफीम के उत्पादन को नियंत्रित कर दिया । जिसके कारण बाजारों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा । अब केवल कपास, चमड़ा और कुछ ऐसी अन्य वस्तुएं थी जिसका राजस्थान के बाहर निर्यात किया जाता था । जिसने यहाँ के आर्थिक जन–जीवन को प्रभावित किया । राजस्थान के व्यापारी तेजी से निष्क्रमण करने लगे । इसका महत्वपूर्ण कारण था राजस्थान के व्यापारिक केन्द्रों का महत्व शनै: शनै: कम होता जा रहा था । 19वीं सदी में ये प्रभाव और अधिक दिखाई देते है ।

11.2 मुद्रा

सिक्के : राजपूत शासक सिक्का ढालना अपनी स्वतन्त्रता एवं संप्रभुता का द्योतक समझते थे । इसलिए मुगल साम्राज्य के पतन के बाद लगभग सभी शासकों ने अपने राज्यों में सिक्के ढालने की टकसालें खोल ली । जोधपुर राज्य के कुचामन ठिकाना और उदयपुर के सलूम्बर ठिकाना के जागीरदारों को भी अपने सिक्के ढालने की स्वीकृति दी गई थी ।

राजस्थान पर ब्रिटिश संरक्षण के बाद अंग्रेज सरकार ने राज्यों के सिक्कों के स्थान पर अपने कलदार रुपये को विनिमय का एकमात्र साधन बनाने का निश्चय किया । उसकी इस नीति के पक्ष में डब्ल्यू. वेब ने निम्न तर्क प्रस्तुत किये है –

- विविध राजपूती राज्यों के विभिन्न सिक्कों की विनिमय दर के प्राय: घटते–बढ़ते रहने से दुकानदारों और साहूकारों को उनका हिसाब–किताब रखने में काफी कठिनाई होना ।
- सिक्कों की विनिमय दर के घटने–बढ़ने से सट्टेबाजी को प्रोत्साहन मिलना ।
- साहूकारों द्वारा निर्धन किसानों का शोषण । वे लोग रुपया देते समय विनिमय की दर कम और लेते समय अधिक लगाते थे ।

इसमें कोई संदेह नहीं कि एक ही राज्य में अनेक राज्यों के विभिन्न मूल्यों के सिक्कों के प्रचलन से असुविधा रही होगी, परन्तु ब्रिटिश सरकार की नीति के लिए कुछ अन्य कारण भी उत्तरदायी थे । अजमेर–मारवाड़ा प्रशासन के सैनिकों, सिपाहियों एवं राज–कर्मचारियों को वेतन चुकाने के लिए जितना कलदार (अंग्रेजी) रुपया राजपूताने में भेजा जाता था वह बाजार अथवा खजाने में वापस नहीं आता था । इस रुपये को स्थानीय सेठ–साहूकार लोग खरीद लेते और राज्यों की विविध टकसालों में घटिया रुपया ढलवाने को भेज देते थे । क्योंकि इन रूपयों की विनिमय दर बढ़ गई थी ।

कम्पनी सरकार भारतीय राज्यों के सिक्कों को विनिमय की वैध मुद्रा के रूप में मान्यता देने के विरुद्ध थी क्योंकि उसकी दृष्टि में ऐसा करना राज्यों को अनुचित महत्व देना था ।

राजस्थान में कम्पनी का लक्ष्य राज्यों की मुद्रा प्रणाली के स्थान पर कलदार सिक्कों का प्रचलन करना था । उसके सामने दो मार्ग थे । एक तो था, राजपूत राज्यों के सिक्कों का चलन बन्द करना परन्तु यह अजमेर में बिना टकसाल खोले संभव न था, क्योंकि उस समय कम्पनी सरकार के पास पर्याप्त मात्रा में कलदार रुपये उपलब्ध नहीं थे । दूसरा मार्ग था ऑक्टरलोनी का अपनी सरकार को वह सुझाव, जिसके अनुसार राज्यों को कलदार के बराबर अथवा उससे अधिक मूल्य के सिक्के ढालने की छूट दी जाय । अत : इससे सम्बन्धित यह सुझाव भी रखा गया कि राज्यों को मूल्यवान सिक्के ढालने से जो घाटा होगा उसकी पूर्ति खिराज में कमी करके कर दी जाय । परन्तु यह सुझाव स्वीकार नहीं किया गया ।

अन्ततोगत्वा ब्रिटिश सरकार ने इस विषय में राजस्थान के कुछ प्रमुख शासकों की प्रतिक्रिया जानना अधिक उचित समझा । 1825 ई. में कोटा के मुख्यमंत्री राजराणा जालिम सिंह ने इस विषय पर अंग्रेज सरकार को यह उत्तर भिजवाया कि कोटा में "हाली" और "गुमानशाही" दो सिक्कों का प्रचलन है । गुमानशाही सिक्का कलदार के बराबर मूल्य का है और हाली की विनिमय दर में घटत–बढ़त रहती है जो औसतन साढ़े चार रुपये से साढ़े पाँच रुपये प्रतिशत गुमानशाही से अधिक नहीं होती । कोटा राजकोष में सभी प्रकार के राजस्व की तथा अनुबन्धों की रकम "हाली" सिक्के में जमा कराई जाती है और सभी प्रकार का भुगतान शाही सिक्के में किया जाता है । हाली मुद्रा जमा करवाते समय राज्य प्रचलित विनिमय की दर से अपना कमीशन काट लेता है । इस प्रकार के लेन–देन से राज्य को काफी मुनाफा रहता है । ब्रिटिश सरकार के साथ सम्पन्न सभी समझौतों में कोटा राज्य ने हाली सिक्के के रूप में भुगतान करने की बात की है । अत : अब यदि हाली सिक्के का मूल्य बढ़ाया जाता है तो इससे न केवल राज्य को लेन–देन से होने वाली आय से ही वंचित होना पड़ेगा अपितु जागीरदार तथा सर्वसाधारण भी इसे कर वृद्धि मानकर विरोध करेंगे । जालिमसिंह के इस उत्तर ने अंग्रेज सरकार को अपनी योजना को स्थगित करने के लिए विवश कर दिया ।

1847 ई. में अंग्रेज सरकार ने पुन : इस विषय पर राजपूत शासकों से बातचीत करने का सुझाव रखा । परन्तु ए.जी.जी. कर्नल सदरलैण्ड ने सुझाव को क्रियान्वित करने से मना किया क्योंकि राजपूत शासक सिक्के ढालने के अधिकार को अपनी प्रभुसत्ता का प्रतीक मानते हुए उसे छोड़ने को तैयार नहीं थे ।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में भी अंग्रेज सरकार ने अपने कलदार को ही विनिमय का एक मात्र सिक्का बनाने का प्रयत्न जारी रखा । 1876 ई. में उसने "देशी मुद्रा नियम–पारित किया जिसके अन्तर्गत कुछ खास शर्तों के पालन करने पर ही राज्यों के सिक्कों का चलन वैद्य माना गया । कलदार सिक्के को अपने राज्यों में विनिमय का एक मात्र सिक्का स्वीकार करने वाले राज्यों को उनके पुराने सिक्कों के बदले में कलदार सिक्के देने की सुविधा प्रदान की गई । जिन राज्यों ने अपने सिक्कों का चलन जारी रखने का निश्चय किया उन्हें अंग्रेज सरकार की

टकसालों में सिक्का ढलवाने की सुविधा प्रदान की गई । राजस्थान के अलवर और बीकानेर राज्यों ने इस सुविधा का लाभ उठाकर अपने सिक्के ब्रिटिश टकसालों में ढलवाने शुरू कर दिए । परन्तु कुछ वर्ष बाद ही भारत सरकार ने देशी राज्यों के सिक्के ढलवाने का काम बन्द कर दिया । और देशी सिक्कों को चाँदी के भाव खरीदना मंजूर किया । परिणामस्वरूप कई राज्यों को सिक्के ढलवाने का काम बन्द करना पड़ा और कलदार को ही अपना सिक्का मानने के लिए विवश हो जाना पड़ा । बूँदी, जैसलमेर, जयपुर, किशनगढ़, टोंक और उदयपुर अपने–अपने सिक्के ढालते रहे ।

1883 ई. के पूर्व राजपूत राज्यों के सिक्कों और कलदार रुपयों की विनिमय दर में अधिक अन्तर नहीं था परन्तु 1893 ई. में भारत सरकार द्वारा कलदार रुपयों को ढालने का काम बन्द कर देने से बाजार में कलदार की माँग और कीमत बढ़ गई । 1899–1900 के भयंकर अकाल के समय राजपूत राज्यों को अन्य प्रांतों से भारी मात्रा में अनाज तथा घास मंगाना पड़ा जिसका भुगतान कलदार रुपयों में करना पड़ा । इससे राजपूती सिक्कों की विनिमय दर काफी गिर गई । परिणामस्वरूप अधिकांश राज्यों को अपने सिक्कों का चलन बन्द कर कलदार को ही अपना सिक्का स्वीकार करना पड़ा ।

11.3 व्यापारिक पिछड़ेपन के कारण

राजस्थान में व्यापारिक पिछड़ेपन के निम्न कारण थे –

1. **ब्रिटिश उपनिवेशवाद :–** भारत वर्ष के ही नहीं अपितु राजस्थान के परम्परागत उद्योगों एवं शिल्पों के पतन का एक प्रमुख कारण ब्रिटिश उपनिवेशवाद था क्योंकि भारत में अंग्रेजों का मूल उद्देश्य आर्थिक लाभ कमाना था । अंग्रेज राजस्थान को भी अपने उत्पादित माल का बाजार एवं कच्चे माल का स्रोत बनाना चाहते थे और इसके लिए यह आवश्यक था कि राजस्थान के स्थानीय एवं परम्परागत उद्योग विकास न कर सकें इसलिए अंग्रेजों ने राजस्थान में औद्योगिक विकास एवं आधुनिक क्रियाओं पर अनेक प्रतिबन्ध लगा दिये थे । 1891 के एक आदेश द्वारा ब्रिटिश सरकार ने देशी राज्यों एवं ब्रिटिश सरकार के पूंजीपतियों के मध्य सीधे सम्पर्क पर प्रतिबंध लगा दिया । इन व्यवस्थाओं ने एक सीमा तक राजस्थान के औद्योगिक विकास की सम्भावनाओं को समाप्त कर दिया । इनके अतिरिक्त मध्यकाल में महत्वपूर्ण व्यापारिक मार्ग राजस्थान से होकर गुजरते थे और इन्हीं मार्गों से राजस्थान के हस्त शिल्पियों का माल बाहर निर्यात होता था परन्तु अंग्रेजों ने इन परम्परागत व्यापारिक मार्गों में परिवर्तन कर दिया । जिसका विपरीत प्रभाव राजस्थान के व्यापार पर पड़ा । राजस्थान के राज्य जो वर्षों से कला के संरक्षक थे, औपनिवेशक आर्थिक दबाव के कारण अब कला को प्रोत्साहन देने में समर्थ नहीं रहे । अंग्रेजी प्रभाव के कारण यहाँ के उच्च वर्ग के लोगों की आदतों में परिवर्तन होने लगा और पश्चिमी सभ्यता का ये अनुसरण करने लगे जिससे इन्हें विदेशी वस्तुऐं ही अधिक प्रिय हो गई । और इसका सीधा प्रभाव राजस्थान के व्यापार एवम् उद्योगों पर पड़ा ।
2. **सामन्ती नीति** :– राजस्थान के राजा, सामन्त प्रारम्भ से ही शिल्पकारों को संरक्षण एवम् प्रोत्साहन देते थे परन्तु आधुनिक काल में यह नीति बिल्कुल परिवर्तित हो गई और संरक्षण व प्रोत्साहन के विपरीत अब इन शिल्पियों पर अनेक कर लाद दिये गये जिससे उनका

व्यवसाय अलाभकारी हो गया इन करों में प्रमुख कर झोंपड़ी लाग, तेली घाणी लाग, खतियों से खाट, कबाड़ी लाग, लकड़ी बिचौति, सुनारों से हांसिल, सोना–चांदी एवं जरी सितारा चमारों से चरस लाग, बिचौती मुद्डा, पिनारों से कार कंडेशन, बुनकरों से रेती लाग, खटीको से ऊन, खटीकान, लौहारों से लोहा भंडारी आदि कर वसूल किये जाते थे । शिल्पकारों पर लगे करो के कारण राजस्थानी माल विदेशी माल की तुलना में महंगा हो गया और गुणात्मक एवम् भागात्मक दृष्टि से भी यह विदेशी माल से प्रतियोगिता नहीं कर सका और इसी कारण राजस्थान के उद्योगों का पतन होने लगा ।

3. **अर्द्ध सामन्ती एवं अर्द्ध औपनिवेशिक संरचना :–** सामन्तवाद औद्योगिक विकास का विरोधी होता है । क्योंकि उद्योगों का विकास सामाजिक, आर्थिक शक्तियों को जन्म देता है जोकि सामन्तवाद के लिए हानिकारक हो सकती है । इसलिए राजा और सामन्त बड़े उद्योगों की स्थापना के पक्षधर नहीं थे परन्तु कला और कुटीर उद्योगों को उन्होंने संरक्षण अवश्य दिया परन्तु वह भी उपनिवेशवाद के प्रादूर्भाव के कारण समाप्त हो गया । उपनिवेशवाद भी औद्योगिक पिछड़ेपन के कारण ही लाभ कमाता है । अत: राजस्थान में सामन्तवाद और उपनिवेशवाद दोनों ने ही मिलकर यहाँ उद्योगों को पनपने नहीं दिया । अंग्रेजों के लिए आवश्यक था कि वे सामन्तवाद को बनाए रखे और सामन्तवाद औद्योगिक विकास में बाधक था इन कारणों से राजस्थान में व्यापारिक पिछड़ापन बना रहा ।
4. **पिछड़ी तकनीक एवम् पूंजी का अभाव :–** राजस्थान के उद्योग परम्परागत शैली पर आधारित थे । राजस्थान में बड़े उद्योग स्थापना करने की काफी संभावनाऐं थी परन्तु यहाँ पर तकनीक आधुनिक एवं विकसित नहीं थी इन कारणों से सभावनाऐं क्षीण हो गई । दूसरी और अंग्रेजों के पास आधुनिक तकनीक उपलब्ध थी । जिससे प्रतियोगिता करना राजस्थानी तकनीक के लिए सरल नहीं था । इस स्थिति में राजस्थान पिछड़ता चला गया । इस पिछड़ेपन का एक कारण पूंजी का अभाव था । क्योंकि राजस्थान का साहसी व्यापारी तो ब्रिटिश भारत के भू–भाग में बस गया और राजा एवम् सामन्त अपने धन का अपव्यय करते थे दूसरी ओर महाजन जिसके पास सूदखोरी के कारण काफी पूंजी थी परन्तु वह इतना साहसी नहीं था कि उद्योगों में पूंजी को लगा सके । इसलिए राजस्थान में उद्योग हेतु पूंजी का अभाव बना रहा जो औद्योगिक पिछड़ेपन का कारण बन गया ।

इस प्रकार राजस्थान में कुटीर उद्योगों के पतन के परिणामस्वरूप लाखों परम्परागत शिल्पी एवं कारीगरों की बेरोजगारी इनका एक स्वाभाविक परिणाम था और ये लोग परम्परागत व्यवसायों के अभाव होने पर कृषि की ओर उन्मुख हुए जिससे कृषि पर जनसंख्या का भार बढ़ गया । कृषि पर पहले से ही काफी जनसंख्या निर्भर थी और नये वर्ग के और आगे आने से अनेक सामाजिक और आर्थिक विसंगतियाँ उत्पन्न हो गई ।

11.4 विभिन्न वस्तुओं के बाजारों की स्थिति

उन्नीसवीं सदी के पूर्वाद्ध में राजस्थान से बाहर जाने वाली वस्तुओं में अफीम, नमक, अन्न का सर्वाधिक महत्व था । इनके अतिरिक्त भी अनेक वस्तुओं के बाजार राजस्थान में स्थित थे –

1. **अफीम :–** उदयपुर, प्रतापगढ़, डूंगरपुर, झालावाड़, कोटा, बूंदी, टोंक राज्यों से अफीम निर्यात किया जाता था । व्यापारिक क्षेत्र में जैसे बंगाल की अफीम को बंगाली अफीम कहा जाता था उसी प्रकार राजस्थान एवम् मध्यप्रदेश के क्षेत्र की अफीम को "मालवा अफीम" कहा जाता था । ईस्ट इंडिया कम्पनी को चीन से अफीम के व्यापार में अत्यधिक लाभ होता था । 1818 ई. से पूर्व राजस्थानी अफीम के व्यापार पर अंग्रेजों का नियंत्रण नहीं था । जिससे अंग्रेजों को हानि उठानी पड़ रही थी । 1818 ई के पश्चात् राजस्थान पर ब्रिटिश संरक्षण हो जाने के पश्चात् वहाँ अफीम की पैदावार और बिक्री पर नियंत्रण रखने की नीति अपनाई । इसके लिए 1824 में मेवाड़ राज्य से समझौता किया जिसके अनुसार अंग्रेजी सरकार ने राणा को 40,000/– रुपये वार्षिक देना स्वीकार किया और मेवाड़ की आन्तरिक खपत के लिए आवश्यक अफीम उपलब्ध करने की बात स्वीकार की । इसी प्रकार 1825 में बूँदी, 1825 अगस्त में कोटा राज्य के साथ साथ की । इस संधि से कोटा राज्य को भारी आर्थिक हानि हुई । किसानों को उनकी फसल का उचित मूल्य नहीं मिलता था इस कारण सामान्य व्यापार तस्कर व्यापार में परिणत हो गया । 1830 ई. में कम्पनी सरकार ने अफीम के व्यापार पर से समस्त प्रतिबन्ध हटा दिए । राजस्थान के राज्यों से सीधे बम्बई अफीम ले जाने वाले व्यापारियों को अब 140 पौंड की अफीम की पेटी पर 175/– रुपये कम्पनी सरकार को चुंगी देनी होती थी । परन्तु धीरे–धीरे चुंगी की दरों में वृद्धि कर दी गई । 1879 में यह दर 700/– रुपये प्रति पेटी कर दी गई जिससे व्यापारियों में असन्तोष व्याप्त हो गया । 19वीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में अंग्रेजी सरकार की अफीम नीति की कड़ी आलोचना आरम्भ हो गई थी । ब्रिटिश सरकार को 1889–90 ई. के मध्य अफीम के पारगमन कर के रूप में 1,86,56,825.00 रुपये की आय हुई ।
2. **नमक :–** नमक मानव जीवन में प्रयुक्त होने वाले खनिजों से सर्वाधिक महत्वपूर्ण है । राजस्थान नमक उत्पादन का काफी बड़ा क्षेत्र है । यहाँ स्थानीय माँग पूर्ति के अतिरिक्त आसपास के क्षेत्रों में भी नमक भेजा जाता था । जोधपुर राज्य में सांभर झील के अतिरिक्त पचंभदरा, डीडवाना, फलौदी, नावां तथा सूनी आदि स्थानों पर नमक उत्पादन होता था । जयपुर राज्य में कुचोररिबास और बीकानेर क्षेत्र में लूणकरणसर में भी नमक काफी मात्रा में उत्पन्न होता था । इसी प्रकार भरतपुर, उदयपुर, सिरोही राज्यों में भी नमक का उत्पादन होता था । राजस्थान राज्य में नमक काफी सस्ता था क्योंकि उस पर बहुत कम कर लगाया जाता था । नमक के व्यापार के हजारों लोगों को रोजगार मिलता था । राज्य को आय होती थी । बंजारे भी इस व्यापार से जुड़े थे ।
3. **सूती वस्त्र :–** राजस्थान का प्राचीन एवं समृद्ध उद्योग वस्त्र उद्योग रहा है । स्थानीय उपभोग के लिए मोटे कोरे कपड़े का उत्पादन राजस्थान के सभी गाँवों एवं कस्बों में होता था । कर्नल टॉड के अनुसार जोधपुर, जैसलमेर एवम् बीकानेर इसके प्रमुख बाजार थे । कोटा मलमल के लिए प्रमुख बाजार था कोटा में कैथून एवं माँगरोल कस्बे कपड़ा बुनने के प्रमुख केन्द्र थे । कोटा में मलमल के साफे, चुनर बनाने का काम काफी लोकप्रिय था । कोटा के मलमल की विशेषता थी कि वह अत्यन्त बारीक एवं मुलायम होती थी । वस्त्रों की

बुनाई के अतिरिक्त राजस्थान में छपाई व रंगाई के भी प्रमुख बाजार थे । जयपुर राज्य के सांगानेर कस्बे की रंगाई एवं छपाई सर्वाधिक लोकप्रिय थी । इसका यहाँ भारी बाजार था । इसी प्रकार जोधपुर राज्य में बाड़मेर एवं पाली की रंगाई छपाई प्रसिद्ध थी ये भी रंगाई छपाई के प्रमुख बाजार माने जाते थे । पाली का खारा पानी पक्की रंगाई के लिए उपयुक्त माना जाता था ।

4. **ऊनी वस्त्र :–** सूती वस्त्रों के उद्योग की भाँति राजस्थान में ऊनी वस्त्र उद्योग का भी महत्वपूर्ण स्थान था । राजस्थान में बीकानेर, जोधपुर, शेखावाटी में भेड़पालन होता था । ऊन की भरपूर प्राप्ति के कारण यहाँ ऊनी वस्त्रों और ऊन से सम्बन्धित कारीगर विशेष रूप से उपलब्ध थे । कर्नल टॉड ने भी जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर को ऊनी वस्त्रों के उत्पादन का एक व्यापार केन्द्र बताया है । इन स्थानों पर उत्पादित ऊनी वस्त्रों में मुख्य रूप से कम्बल, लोई, दुप्पट्टा, साफा, घाघरा, शाल आदि प्रमुख है । जैसलमेर कम्बलों का उत्कृष्ट बाजार माना जाता था । बीकानेर के ऊनी वस्त्र भी उच्च कोटि के थे । लोटू कम्बल का मूल्य तीन रुपये जोड़ से तीस रुपये जोड़ तक था । यहाँ निर्मित साफों की लम्बाई 40 से 61 फिट तक थी परन्तु फिर भी सिर पर भारी नहीं लगते थे । इसके अतिरिक्त बीकानेर गलीचों का भी विशेष बाजार था । इनके अलावा टोंक मालपुरा भी इसके बाजार माने जाते थे ।

5. **पत्थर एवं लकड़ी का कलात्मक कार्य :–** राजस्थान में विभिन्न प्रकार के पत्थर भारी मात्रा में मिलते है । ओसियां, माउंटआबू, दिलवाड़ा, रणकपुर, बाड़ोली के मंदिर इसी प्रकार के काम के लिए प्रसिद्ध है । जयपुर, आमेर, चित्तौड़, जोधपुर, बीकानेर आदि स्थानों के किले एवं महल राजस्थान की विकसित प्रखर कला के साक्षी है । बलुआ पत्थर एवं संगमरमर से संबंधित नक्कासी के कार्यों में डीग, उदयपुर, बीकानेर, मकराना, जयपुर, अलवर, धौलपुर, जैसलमेर, अजमेर, प्रमुख बाजार रहे है । मूर्तियाँ एवं प्रतिमा बनाने का प्रसिद्ध बाजार जयपुर एवम् अलवर रहा है । इसके अतिरिक्त मणियों और जवाहरात नक्काशी के लिए भी जयपुर प्रसिद्ध बाजार था । लघुकलात्मक वस्तुओं के उत्पादन का कार्य बलुआ पत्थर से जोधपुर, भरतपुर, करौली में तथा संगमरमर का जयपुर एवं जोधपुर में होता था ।

   लकड़ी के कार्य के प्रमुख बाजार सवाई माधोपुर व जहाजपुर (उदयपुर राज्य) थे जहाँ रंगाई आदि का कार्य भी प्रमुख था कृषि उपकरण भी लकड़ी के बनते थे ।

6. **चमड़ा :–** राजस्थान में पशुधन की सम्पन्नता के कारण चमड़े के बाजार प्रमुख थे । चमड़े की वस्तुओं का उत्पादन राजस्थान के सभी राज्यों में था। जूती, डौलची, चड़स, मसक आदि प्रमुख थे । फिर भी जयपुर, जोधपुर एवम् बीकानेर में चमड़े का कलात्मक कार्य अधिक होता था तथा ये बाजार प्रमुख थे ।

7. **मिट्टी के बर्तन –** मानव द्वारा मिट्टी के बर्तनों का उपयोग प्राचीन काल से हो रहा है । ये मिट्टी के बर्तन प्रत्येक ग्रामीण जीवन का अंग है । इन मिट्टी के बर्तनों के अतिरिक्त मिट्टी के खिलौने भी बनाए जाते थे । राजस्थान में कोटा के मिट्टी के बर्तन अधिक कलात्मक और प्रमुख थे । काँच और चीनी मिट्टी के बर्तन भी प्रसिद्ध थे ।

8. **कागज :–** कागज का उपयोग भारत में मुगलों द्वारा प्रारम्भ किया गया । राजस्थान में कागज उत्पादकों एवम् व्यापारियों को कागजी कहा जाता था । जयपुर में कागज उत्पादन के बाजार सांगानेर, सवाई–माधोपुर एवं जयपुर था । यहाँ का कागज सांगानेरी, सवाई–माधोपुरी, ईश्वरी सिंह, शाही, जहाँगीरी कहलाता था । सांगानेर का कागज मोटा तथा चित्रकला के लिए उपयोगी था । सवाई–माधोपुरी कागज चिकना होता था ।

इसके अतिरिक्त राजस्थान में विभिन्न खनिजों की उपलब्धता और उनके बाजार इस प्रकार थे –

लौह अयस्क क्षेत्र में अधिकतर उत्तर–पूर्वी क्षेत्र मोरीजा, बातोल, नीमला, हाइसेला, डाबला, सिंघाना, नीम का थाना उत्पादन क्षेत्र है। दक्षिण–पूर्वी क्षेत्र में डूंगरपुर, बूंदी, भीलवाड़ा, झालावाड़ भी लोहे की खान है। 1953 में राज्य में प्रथम बार लौह–अयस्क निकाला गया। 17.5 हजार टन लोहा निर्यात के लिए कॉडला भेजा गया। 1960 में 1.28 लाख टन तथा 1985 में 1.31 लाख टन का उत्पादन रहा।

सीसा एवं जस्ता मिश्रित धातु है राजस्थान इन दोनों के उत्पादन में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। उदयपुर के दक्षिण–पूर्व में स्थित जावर माइन्स प्रमुख उत्पादन क्षेत्र थे। डूंगरपुर, बाँसवाड़ा तथा भीलवाड़ा जिले में भी इसकी खानें थी। 1985 में 23.9 हजार टन सीसा तथा 90.2 हजार टन जस्ता उत्पादित हुआ था।

साधारण सिलिका रेत (काँच बालुका) काँच उद्योग के लिए महत्वपूर्ण पदार्थ है। उत्तरप्रदेश के बाद राजस्थान ही सबसे बड़ा काँच बालुका उत्पादक राज्य है। जयपुर, टोंक तथा कोटा जिलों में यह बहुतायत से पाया जाता है।

अभ्रक आग्नेय और कायान्तरित शैलों में सफेद व काले टुकड़ों के रूप में पाया जाता है। आधुनिक बिजली उद्योगों में इसका प्रयोग अनिवार्य है। अनेक उद्योगों में भी इसका प्रयोग होता है। टोंक, भीलवाड़ा, उदयपुर एवं जयपुर जिलों में यह बहुतायत से पाया जाता है। 1990 में 780 टन अभ्रक का उत्पादन हुआ।

यूरेनियम अणु–शक्ति सम्बन्धी खनिज है। इसकी खानें डूंगरपुर, बांसवाड़ा तथा किशनगढ़ (अजमेर) में है। संगमरमर कार्यान्तरित शैल है। राजस्थान में मकराना का संगमरमर विश्व–विख्यात है । इसका प्रयोग ताजमहल (आगरा) और विक्टोरिया मेमोरियल (कलकत्ता) में हुआ । मकराना के अतिरिक्त राजस्थान के सीकर, अलवर, जयपुर, अजमेर पाली तथा उदयपुर जिलों में भी संगमरमर निकाला जाता है । जयपुर में संगमरमर की मूर्तियाँ बहुत ही सुन्दर एवं व्यापक रूप से बनती है ।

राजस्थान में चूना पत्थर एक सर्वव्यापी उद्योग है । यह न्यूनाधिक मात्रा में प्राय: सभी जिलों में पाया जाता है ।पाली, नागौर, सोजत, ब्यावर इसके प्रमुख उत्पादक क्षेत्र है ।

पन्ना हरे रंग का बहुमूल्य पत्थर है जो नवरत्नों में गिना जाता है । इसका उत्पादन उदयपुर जिले के उत्तर में एक संकीर्ण पट्टी के रूप में कालागुयान, टिरबी तथा गोगुन्दा में होता है ।

तामड़ा जिसे रक्तमणि या गारनेट भी कहते है । राजस्थान में अजमेर जिले में सरवाड़, खरखारी, टोंक जिले में राजमहल, गॉवरी, कुशलपुरा तथा जनकपुरा, भीलवाड़ा जिले में कमालपुरा, दादिया व बलाईखेड़ा, सीकर जिले में महवा व बागेश्वर में इसकी खानें पाई जाती है। 1889 में 930 टन अपघर्षी (कच्चा) तामड़ा उत्पादित हुआ । जयपुर में इसको तराश कर सुन्दर मणियों एवं नगीनों के रूप में परिवर्तित किया जाता है ।

11.5 हाट एवं मंडी

भारत एक ग्रामीण देश रहा है और यहाँ के ग्रामीण बाजार हाट कहलाते थे । राजस्थान में भी इसी प्रकार के हाट–बाजार गाँव–गाँव में लगते थे । हाट बाजारों में विभिन्न वस्तुओं की बिक्री और खरीद की जाती थी ग्रामीण जनता अधिकांशत : अपने दैनिक उपयोग की वस्तुओं को इन हाट बाजार से खरीदती है हाट बाजार साप्ताहिक, मासिक, त्रैमासिक, छमाही या कभी–कभी वार्षिक मेलों पर भी लगते थे । इन हाट बाजारों में आस–पास के व्यापारी अपना माल बेचने आते थे । गाँव के लोग इन हाट बाजारों से ही सामान खरीदते थे । इनके अतिरिक्त कहीं–कहीं किसान भी अपने माल को इन हाट बाजारों के माध्यम से बेचते थे । प्राचीन काल में जब वस्तु विनिमय प्रणाली का प्रचलन था । उस समय इन हाट बाजारों का विशेष महत्व था । क्योंकि समस्त व्यापारी गतिविधियाँ इन्हीं बाजारों द्वारा संचालित होती थी । हाट बाजारों में सभी प्रकार की वस्तुएँ उपलब्ध हो जाती थी चाहे वह महिलाओं के श्रृंगार के लिए चूड़ियां, बिन्दियाँ, सिन्दुर, कंघा, दर्पण हो या दैनिक उपयोग की कोई वस्तु । इन हाट बाजारों के अतिरिक्त एक अन्य महत्वपूर्ण बाजार मंडी कहलाती थी । मंडी का सम्बन्ध किसी वस्तु विशेष के बाजार से था । जिस स्थान पर किसी वस्तु विशेष का बाजार लगता हो या व्यापार होता हो वह स्थान उस वस्तु विशेष की मंडी कहलाता था । जैसे फल के बाजार को फल मंडी, सब्जी के बाजार को सब्जी मंडी, गुड़ के बाजार को गुड़ मंडी, अनाज के बाजार को अनाज मंडी, लोहे के बाजार को लोहा मंडी आदि कहा जाता था ।

11.6 उपसंहार

राजस्थान में मुद्रा, बाजार, हाट और मंडियों की स्थितियाँ श्रेष्ठ थी और यहाँ पर पर्याप्त साधन भी उपलब्ध थे परन्तु फिर भी राजस्थान के व्यापार का विकास नहीं हो सका और राजस्थान व्यापारिक रूप से पिछड़ा हुआ रहा । क्योंकि 1818 ई. में राजस्थान के राज्यों में जो संधियाँ अंग्रेजों से की उसके उपरान्त अंग्रेजों ने यहाँ के स्थानीय व्यापार को समाप्त करने का प्रयास किया और यहाँ के बाजारों पर एकाधिकार किया जिसका परिणाम यह हुआ कि राजस्थान व्यापारिक दृष्टि से पिछड़ गया । इसी कारण यहाँ की अर्थव्यवस्था लम्बे समय तक पिछड़ी हुई बनी रही ।

11.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. राजस्थान में सिक्कों के प्रचलन पर टिप्पणी लिखिये । देखें – 11.2
2. राजस्थान एक समृद्ध क्षेत्र होते भी व्यापारिक दृष्टि से पिछड़ा रहा कोई चार कारण बतालाईये।

1. 2.

3. 4. देखें – 11.3

3. राजस्थान में निम्न वस्तुओं के प्रमुख बाजार कहाँ स्थित थे?

1) नमक 2) सूती वस्त्र 3) ऊनी वस्त्र

4) पत्थर का काम देखें - 11.4

4. राजस्थान में नमक व्यवसाय पर अंग्रेजों का प्रभाव स्पष्ट कीजिए।

देखें - 11.4

11.8 संदर्भ ग्रन्थों की सूची

1. डॉ. बी.के. शर्मा : आधुनिक राजस्थान का आर्थिक इतिहास
2. कर्नल जेम्स टॉड : एनल्स एण्ड एन्टीक्यूटीज ऑफ राजस्थान
3. पं. हनुमान शर्मा : जयपुर राज्य का इतिहास
4. डॉ. गोपीनाथ शर्मा : सोसिएल लॉइफ इन मिडाइवल राजस्थान
5. डॉ. मथुरा लाल शर्मा : हिस्ट्री ऑफ दी जयपुर स्टेट
6. कालूराम शर्मा : उन्नीसवीं सदी के राजस्थान का सामाजिक एवं आर्थिक जीवन
7. पी.एन अग्रवाल : दि हिस्ट्री ऑफ इण्डियन बिजनेस
8. डॉ. एम.एस. जैन : आधुनिक राजस्थान का इतिहास
9. डॉ. पी.एम. जैन : जोधपुर राज्य में किसानों की स्थिति 1818– 1947 (अप्रकाशित शोध–ग्रन्थ)
10. डॉ. आर.पी. व्यास : रोल ऑफ नोबिलिटी इन मारवाड़
11. जगदीश चन्द्र गहलोत : राजस्थान का सामाजिक जीवन
12. डॉ. आर.पी. व्यास : आधुनिक राजस्थान का वृहत इतिहास (खण्ड–2)

इकाई 12
पशुपालन एवं कृषि सम्बद्ध व्यवसाय

इकाई संरचना :

12.0 उद्देश्य
12.1 प्रस्तावना
12.2 कृषि श्रम सम्बन्धी पशु
12.3 दूध देने वाले पशु
12.4 पशुओं पर आधारित अन्य व्यवसाय
12.5 पशुपालन की स्थिति
12.6 सारांश
12.7 अभ्यासार्थ प्रश्न
12.8 संदर्भ ग्रन्थ

12.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान पायेंगे कि:

1. अध्ययन काल के दौरान राजस्थान में पशुपालन की कृषि के सहायक व्यवसाय के रूप में स्थिति।
2. पशुपालन का राजस्थान जैसे अर्द्धरेगिस्तानी क्षेत्र में स्वतंत्र व्यवसाय के रूप में स्वरूप।
3. मुख्य पशुओं का विस्तृत विवरण तथा इसका राजस्थान के विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों के साथ अर्न्तसम्बन्ध।
4. पशुओं का विभिन्न आर्थिक उपयोगों के आधार पर वर्गीकरण।
5. पशुपालन की स्थिति का आलोचनात्मक विश्लेषण।
6. पशुपालन के प्रति राजस्थान की देशी रियासतों की नीति।
7. पशुपालन व्यवसाय में व्याप्त प्रतिरोध एवं पशुपालन व्यवसाय के विकास की संभावना।

12.1 प्रस्तावना

पशुपालन को कृषि के सहायक व्यवसाय का दर्जा प्राप्त है । किन्तु राजस्थान में पशुपालन व्यवसाय प्राचीन काल से एक विशेषता लिए हुये है । विशेषकर पश्चिमी राजस्थान में पशुपालन किसानों व ग्रामीण जनों के जीवनयापन का प्रमुख साधन था, एवं यहाँ पशु पालन कृषि का सहायक व्यवसाय न होकर कृषि पशुपालन का सहायक व्यवसाय थी । अर्थात् राजस्थान के मरुस्थल भू–भाग में पशुपालन ग्रामीण जनों का प्रमुख व्यवसाय था । वैसे भी राजस्थान जैसे प्रदेश में जहाँ लोगों के आर्थिक जीवन का आधार कृषि थी वहां पशुधन की महत्वपूर्ण भूमिका स्वयं सिद्ध थी । कृषि कार्यों में पशुधन से श्रम शक्ति प्राप्त होती थी । पशुओं द्वारा खेतों की जुताई, कृषि उपज की ढुलाई, सिंचाई, किसानों के आवागमन व परिवहन की पूर्ति एवं व्यापारिक माल के परिवहन की आवश्यकताओं की पूर्ति होती थी । कृषि भूमि की

उर्वरता बढ़ाने के लिए पशुओं का गोबर देशी उर्वरक का प्रमुख स्त्रोत था । मांसाहारी जनसंख्या के भोजन का आधार भी पशुपालन ही था । शाकाहारी व्यक्तियों के भोजन में दूध व इसके उत्पाद आवश्यक तौर पर सम्मिलित थे । पशु धन का इतना अधिक महत्व होते हुये भी सर 1818 से 1949 के दौरान राजस्थान में पशुपालन की स्थिति अनेक कारणों से संतोषजनक नहीं थीं । इन कारणों में प्रमुख तौर से राजाओं व जागीरदारों द्वारा इस व्यवसाय की उपेक्षा महत्वपूर्ण थी ।

12.2 कृषि श्रम सम्बन्धी पशु :

अध्ययन काल के दौरान कृषि में मशीनों का प्रयोग नहीं के बराबर था । कृषि मुख्यत: पशु व मानव श्रम पर आधारित थी । कृषि श्रम सम्बन्धी पशुओं की श्रेणी में मुख्यत: ऊँट एवं बैल थे । राजस्थान के पश्चिमी एवं उत्तर पश्चिमी क्षेत्रों मुख्यत: जोधपुर, जैसलमेर, बाड़मेर, बीकानेर, गंगानगर, चूरु, एवं जयपुर राज्य के शेखावाटी क्षेत्र जो अधिकांशत: रेगिस्तानी थे, में ऊँट पालन अधिक लोकप्रिय था । सिंचाई, जुताई, परिवहन आदि कार्यों में ऊँटों का उपयोग अधिकतर होता था । नर एवं मादा ऊँट दोनों ही कृषि कार्यों, परिवहन एवं सवारी के साधन थे, तथा मादा ऊँट का दूध भी भोजन में सम्मिलित था । ऊँट पालन के संदर्भ में 1908 में प्रकाशित "इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इण्डिया" में जीवंत विवरण प्राप्त होता है जो इस प्रकार है "ऊँट को एक गूंगे पशु के स्थान पर परिवार के सदस्य के रुप में देखा जाता है । वे खेतों को जोतते है, एवं मेजते है, फसल को घर लाते है, लकड़ी एवं पानी ढोते है । तथा सवारी में जोते जाते है, इनके दूध का उपयोग भोजन एवं दवाई दोनों रुपों में होता है । इनकी ऊन बेचकर अच्छा लाभ अर्जित किया जाता है एवं जब वे मर जाते है तो उनके चमड़े से घी एवं तेल भरने के मर्तबान बनाये जाते है । जो सवारी के ऊँट इन भागों (पश्चिमी एवं उत्तर पश्चिमी राजस्थान) में पाले जाते है वे भारत के किसी भी भाग की तुलना में उत्कृष्ट हैं । इनमें से सर्वोत्तम आवश्यकता पड़ने पर एक रात में 80 से 100 मील तक का सफर तय कर लेते है । इनकी कीमत 150 से 300 रुपये के मध्य है । जैसलमेर के ऊंट अपनी सहज रफ्तार एवं साहस के लिए प्रसिद्ध है तथा लम्बी दूरी बिना भोजन पानी के तय कर सकते है, अनेक दिनों तक ये थोड़े से गुड एवं फिटकरी पर निर्भर रह सकते है जो खुरजी में साथ रखे जाते है । इसकी सर्वोत्तम नस्ल छोटी होती है तथा इनका सिर व गर्दन साधारण ऊंट की तुलना में सुन्दरता लिये हुये होता है । जैसलमेर की तुलना में जोधपुर एवं बीकानेर के ऊंट विशाल व मजबूत है तथा सामान्यत: द्रुतगामी है । कर्नल जेम्सटॉड ने भी ऊँटों के संदर्भ में बड़ा रोचक विवरण प्रस्तुत किया है । कर्नल टॉड के अनुसार "ऊँट रेगिस्तान का जहाज प्रथम उल्लेख का पात्र है जो वहाँ अपरिहार्य है ।''

रेगिस्तान की जलवायु में ऊँट अधिक अनुकूलता से पाला जा सकता था । इसके रखरखाव पर अधिक व्यय नहीं होता था । ऊंट ऑकडे को छोड़कर सभी प्रकार की झाड़ियों, जंगली वृक्षों, घास आदि से अपना भोजन प्राप्त कर लेता है । ऊँट खेजडा, बबूल, कैर एवं जवास से अपना पेट भर लेता है तथा पानी के बिना लम्बे समय तक रह सकता है । आज भी

मशीनों के आगमन के उपरान्त भी ऊँट पश्चिमी राजस्थान का अत्यधिक उपयोगी एवं लोकप्रिय पशु है । स्वाभाविक रूप से अध्ययन काल के दौरान और भी अधिक लोकप्रिय था। पशुपालन, पशु व्यापार पर लगने वाले विभिन्न भारी करों, चारे के अभाव एवं कृषि विस्तार न होने के कारण ऊँट पालन व्यवसाय को काफी धक्का लगा था । 1921–26 की जोधपुर राज्य की भूमि बंदोबस्त रिपोर्ट में इसका उल्लेख किया गया है कि ऊँट पालन के लिये यह प्रदेश (जोधपुर) अत्यधिक उपयुक्त है। किन्तु किन्हीं कारणों से ऊंट व्यवसाय अवनति की ओर है।

राजस्थान में कृषि श्रम सम्बन्धी पशुओं में बैलों का भी महत्वपूर्ण स्थान था। बैलों का प्रजनन एवं पालन भी पश्चिमी राजस्थान में काफी बड़े पैमाने पर होता था किन्तु इनका कृषि कार्यों में अधिक उपयोग दक्षिणी एवं पूर्वी राजस्थान होता था। सम्पूर्ण राजस्थान के किसान अच्छी नस्ल के बैल सामान्यतया पश्चिमी राजस्थान से प्राप्त करते थे। जोधपुर राज्य के नागौर निजामत के बैल सम्पूर्ण उत्तरी भारत में लोकप्रिय थे, एवं उत्तरी भारत के सभी पशु मेंलों में बिकते थे। जोधपुर राज्य में दो देश प्रसिद्ध पशु मेले लगते थे, जिनमें तिलवाडा का मेला अप्रेल में एवं पर्बतसर का मेला अगस्त में लगता था। तिलवाडा का मेला ऊँटों के लिये अधिक लोकप्रिय था जबकि पर्बतसर का मेला बैलों के लिए लोकप्रिय था। पर्बतसर के मेले में प्रतिवर्ष लगभग 20 लाख रुपये की बिक्री होती थी। यहाँ के बैल अपने आकार, भारी सींग एवं पीठ के लिए विशेषरूप से जाने जाते थे। बैलों के एक जोडे का मूल्य 150 रुपये से 300 रुपये तक था।

राजस्थान के सभी राज्यों में स्थानीय उपयोग हेतु बैल पालन होता था, किन्तु सक्ष्म व समृद्ध किसान कार्यक्षमता की दृष्टि से पर्बतसर के बैलों को जोतना उपयुक्त समझते थे। जयपुर एवं अलवर जैसे राज्यों तथा मुख्यरूप से पूर्वी राजस्थान में बैल पालन स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ती करने में असक्षम था इसलिए वहां बाहर से बैलों का आयात किया जाता था। वैसे भी बैल पालन, गाय पालन पर निर्भर करता है तथा पूर्वी राजस्थान में दूध देने वाले पशुओं में गाय की तुलना में भैस पालन अधिक लोकप्रिय था जिसका कारण वहां की भौगोलिक एवं जलवायु दशाऐं थी। जयपुर राज्य के संदर्भ में 1933 की एक रिपोर्ट में लिखा था कि बैल जयपुर राज्य में कृषि की रीढ़ थे तथा अच्छे बैल किसानों की प्राथमिक आवश्यकता थे। जयपुर राज्य में अच्छी नस्ल के बैल बाहर से आयात किये जाते थे। बैलों का वार्षिक आयात 30,000 बैल था।

सम्पूर्ण राजस्थान के कृषि श्रम सम्बन्धी पशुओं के पूर्ण आकड़े उपलब्ध नहीं है। जयपुर राज्य के प्राप्त आकड़े रोचक जानकारी देते है। जयपुर राज्य का पश्चिमी अनुभाग रेगिस्तानी था जबकि पूर्वी भाग चिकनी अथवा दुरमट मिट्टी का क्षेत्र था। अत: दोनों की संभागों में कृषि पशुओं के स्वरूप में अंतर था 1921 में जयपुर राज्य में जोतने वाले पशुओं का विवरण निम्न प्रकार से था।

क्षेत्र एवं स्थान	बैल	ऊंट
पश्चिमी संभाग :	1	2
1. जयपुर शहर	890	कुछ नहीं
2. सवाई जयपुर निजामत	51176	कुछ नहीं

3. शेखावटी निजाम	24961	11,651
4. तोरावाटी निजामत	50490	82
5. सम्भर निजामत	40396	212
6. मालपुरा निजामत	37188	कुछ नहीं
7. आम्बेर निजामत	35797	2
8. सीकर ठिकाना	17636	8,639
9. खेतडी ठिकाना	16972	3,065
10. उनियारा ठिकाना	8808	कुछ नहीं
पश्चिमी संभाग कुल	2,84,314	23,671
पूर्वी संभाग :	1	2
11. दौसा निजामत	56247	कुछ नहीं
12. सवाई माधोपुर निजामत	43840	कुछ नहीं
13. हिण्डौन निजामत	28964	कुछ नहीं
14. गंगापुर निजामत	25546	02
15. कोट कासिम निजामत	2939	कुछ नहीं
16. बांदी कुई निजामत	648	कुछ नहीं
पूर्वी संभाल कुल	1,57,184	02
जयपुर राज्य कुल	4,41498	23,674

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट हाता है कि जयपुर राज्य में ऊंटों की तुलना में बैल प्रमुख जुताई पशु था । किन्तु इसके पूर्व के विवरण में स्पष्ट किया गया है कि बैल पालन की स्थिति अच्छी नहीं थी तथा अधिकांशत: बैल आयात किये जाते थे । पूर्वी राजस्थान के सभी राज्यों की स्थिति लगभग यही थी । सम्पूर्ण राजस्थान को एक इकाई मान लिया जाय तो कह सकते है कि पश्चिमी राजस्थान के बैल पूर्वी राजस्थान की कृषि का आधार थे । 1899 में अलवर राज्य से सम्बन्धित तथ्य एवं आंकडे इस बात की पुष्टि करते है जो निम्न प्रकार से है :

1899 में अलवर राज्य की कुछ तहसीलों में बैल एवं ऊंटों की संख्या

तहसील	बैल	ऊंट
तिजारा	21,911	271
बहरोड़	19,953	509
मण्डावर	16,712	275
कठ्रमर	12200	47
राजगढ़	17,211	430
कुल	87,987	1,532

सम्पूर्ण राजस्थान के कृषि पशुओं का आकलन किया जाय तो हम पायेंगे कि बैल सबसे महत्वपूर्ण थे तथा ऊंट दूसरे स्थान पर था। कुछ अन्य कृषि पशु भी थे जिनमें भैंसा, गधा एवं

खच्चर प्रमुख थे । पूर्वी राजस्थान के भरतपुर राज्य में भैंसा हल जोतने, परिवहन, सिंचाई आदि उन सभी उपयोगों में आता था जिन कामों में बैल। राजस्थान के अधिकांश भू–भागों में भैंसा कृषि कार्य के लिए अनुपयुक्त थे क्योंकि राजस्थान की गर्म जलवायु में भैंसा प्रभावी तरीके से काम नहीं कर सकता था । गधे एवं खच्चरों का प्रयोग साधारणतया ढुलाई के कार्यों में होता था । ढुलाई कार्य इनकी पीठ पर भार लादकर किया जाता था । किन्तु पश्चिमी राजस्थान में कही–कहीं इनको छोटी गाड़ियों में जोता जाता था । घोड़ा, घोड़ी पालन एवं प्रजनन व्यवसाय प्रमुखत: जोधपुर राज्य में अधिक लोकप्रिय था । राजस्थान की राजपूत जाति जो परम्परागत पेशे से सैनिक जाति थी, में घोड़ा पालन लोकप्रिय था । आधुनिक काल में अंग्रेजों के साथ संधि के पश्चात् (1818ई.) राजस्थान के राज्यों की सैनिक गतिविधियां लगभग समाप्त हो गयी थी । परम्परागत रूप से राज्य के अस्तबल में भारी संख्या में घोड़े रखे जाते थे तथा राज्यों के जागीरदार भी राज्यों की सेवायें अपनी जागीर के तन के अनुसार घोड़े रखते थे । किन्तु अब नये परिवेश में घोड़ी का सैनिक महत्व कम हो गया था । अत: स्वाभाविक तौर पर राजस्थान में घोड़ा पालन अवनति की ओर था । 1908 के समकालीन श्रोत से ज्ञात होता है कि राजस्थान में जोधपुर राज्य के दो जिलों मालानी एवं जालौर के घोड़े अपनी कठोरता एवं सहज गति के लिए विख्यात थे तथा भारी वजन ले जाते थे एवं बिना भोजन पानी के लम्बी दूरियां तय कर सकते थे ।

अध्ययनकाल के दौरान घोड़ा पालन व्यवसाय मुख्यत: जोधपुर राज्य में प्रचलित था, किन्तु धीरे–धीरे यह व्यवसाय अवनति की ओर था । 1921–26 की जोधपुर राज्य की सैटिलमेंट रिपोर्ट में घोड़े पालन के संदर्भ में लिखा है कि "राठौड (जोधपुर का राजवंश) हमेशा से घोड़ों एवं प्रसिद्ध घुड़सवारों के भारी प्रेमी रहे है । हाल के वर्षों तक अधिकांश बड़े जागीरदार जंगी घोड़े रखते थे किन्तु स्थानीय नस्ल कठोर एवं बड़ी हड्डियों के ढांचे के कारण पोलो एवं फौज की आधुनिक आवश्यकताओं के अनुरूप पर्याप्त नहीं दौड़ते है एवं इस व्यवसाय का पतन हो रहा है।

12.3 दूध देने वाले पशु :–

इस श्रेणी में गाय एवं भैंस मुख्य दुग्ध देने वाले पशु थे । भेड एवं बकरियों को भी दूध वाले पशुओं की कोटि में रखा जा सकता है । बकरियों का मुख्य उपयोग दूध के लिए होता था तथा बकरे मांसाहारी लोगों के भोजन का आवश्यक अंग थे । भेड़ का दूध भी काफी उपयोगी था, किन्तु भेड़ पालन ऊन के लिए अधिक लोकप्रिय था । राजस्थान में गाय की उल्लेखनीय नस्ल पश्चिमी राजस्थान की थी। सम्पूर्ण रेगिस्तानी प्रदेश मुख्यत: जोधपुर में मालानी एवं सांचौर तथा बीकानेर में पूगल की गायें सर्वोच्च महत्व की थी । इनकी कीमत 40 रुपये से 200 रुपये तक थी तथा एक दिन में पांच से दस किलो तक दूध देती थी । वैसे गाय पालन सम्पूर्ण राजस्थान में प्रचलित था किन्तु अन्य क्षेत्रों की गायें विशेष उल्लेखनीय नस्ल की नहीं थी । ऐसी गायें भी थी जो बकरी से भी कम दूध देती थी । उत्तरी एवं पूर्वी राजस्थान में पंजाब प्रांत के हिसार (वर्तमान हरियाणा) क्षेत्र की गायें काफी लोकप्रिय थी एवं काफी संख्या में आयात की जाती थी ।

दूसरे स्थान पर दूध देने वाले पशुओं में भैंस थी । पश्चिमी राजस्थान में भैंस पालन लगभग नगण्य था । यहां की जलवायु में भैंसों का पनपना संभव नहीं था । जोधपुर राज्य की 1921– 26 की सेटिलमेंट रिपोर्ट में लिखा है कि "भैंसें अधिक नहीं है एवं यह प्रदेश उनके अनुकूल नहीं है ।" पूर्वी राजस्थान में विशेषकर अलवर एवं भरतपुर राज्यों में भैंस पालन अधिक लोकप्रिय था । आज भी इन स्थानों पर यह कहावत प्रचलित है कि "दूध तो भैंस का चाहे सेर ही क्यों न हो" पूर्वी राजस्थान के जयपुर राज्य में भी भैंसों की संख्या में गायें अधिक थी । 1918–19 में जयपुर राज्य में गायों की संख्या 1,93,621 एवं भैंसों की संख्या 55,574 थी । राजस्थान में भैंसों की कोई उल्लेखनीय नस्ल नहीं थी तथा अच्छी नस्ल की भैंसे अधिकतर पूर्वी पंजाब (वर्तमान हरियाणा) एवं पश्चिमी संयुक्त प्रांत (वर्तमान उत्तर प्रदेश) से आयात की जाती थी ।

भेड़ एवं बकरी पालन सम्पूर्ण राजस्थान में होता था । पहाड़ी क्षेत्रों में इनके चरने के लिये अधिक स्थान प्राप्त था तथा अरावली की पहाड़ियों के निकट की बस्तियों में भेड़ एवं बकरी पालन लोकप्रिय था जिसमें बकरियों की संख्या अधिक होती थी । जयपुर राज्य के शेखावाटी क्षेत्र में भेड़ पालन भारी पैमाने पर होता था फिर भी यहां भेंडों की तुलना में बकरियों की संख्या अधिक थी । 1918–19 में जयपुर राज्य में कुल 1,87,284 बकरियां एवं 1,00180 भेडें थीं । पश्चिमी राजस्थान में भेड़ एवं बकरी पालन एक लाभदायक व्यवसाय था । बकरियों की तुलना में भेड़ें अधिक पाली जाती थी, जिनकी ऊन से भेड़ पालकों को भारी लाभ होता था । जोधपुर राज्य की 1921–26 की सैटिलमेंट रिपोर्ट में भेड़ पालन व्यवसाय का सजीव चित्रण किया है जो इस प्रकार है राज्य में भेड़ एवं बकरियों के भारी झुण्ड है एवं इनको इसकी विस्तृत दूरी में भरपूर चारा मिलता है । अहमदाबाद जैसे पड़ौसी शहरों में इनके लिए तैयार बाजार उपलब्ध है । ऊन का निर्यात मुख्य रूप से मेड़ता, फलौदी, बाड़मेर एवं पाली से होता है । सबसे अच्छी ऊन उत्तर–पश्चिम एवं पश्चिम से आती है एवं ज्यों–ज्यों आप पूर्व की ओर जायेंगे इसकी गुणवत्ता गिरती जाती है, सम्पूर्ण ऊन का एक चौथाई भाग प्रथम श्रेणी का है । इस ऊन का अधिकांश भाग उपरिभारत की ऊनी मिलों के दलालों के द्वारा खरीद लिया जाता है तथा सीधे कानपुर अथवा पंजाब भेज दी जाती है । यहाँ राज्य में शक्ति संचालित ऊन की गांठें बनाने वाली मिल पाली में है जो विस्तृत क्षेत्र से ऊन प्राप्त करती है तथा यहां से ऊन की गांठें मुख्य रूप से बम्बई एवं कराची जाती है । बकरियों के बाल एवं अल्पमात्रा में ऊंट के बाल इसी प्रकार निकासी पाते है ।

जोधपुर राज्य के अतिरिक्त बीकानेर एवं जैसलमेर में भेड़–पालन काफी लोकप्रिय था । बीकानेर एवं जैसलमेर की भेड़ों की नस्ल जोधपुर राज्य की तुलना में उच्च कोटि की थी । पश्चिमी राजस्थान की ऊन को बाजार पूरे देश में प्राप्त था । यहाँ भेड़ एवं बकरी पालन सस्ता पड़ता था क्योंकि ये पशु एक–एक तिनका बीनकर अपना पेट भरने में समर्थ थे । राजस्थान में इस संदर्भ में एक कहावत प्रचलित थी कि "ऊँट ना खावे आकरा और बकरी ना खावे कांकरा" अर्थात ऊंट केवल आक नहीं खाता एवं बकरी केवल कंकड पत्थर नहीं खाती, शेष सब कुछ खाते है । कहने का तात्पर्य यह है कि ऊँट एवं भेज–बकरी कुछ भी खाकर गुजारा कर सकते है एवं

ये अकाल, सूखा एवं अभाव का मुकाबला करने में समर्थ होते है तथा अन्य पशुओं की तुलना में अच्छी हालत में रहते है । अत: इन पशुओं की प्रकृति रेगिस्तानी भागों के काफी अनुकूल थी।

12.4 पशुओं पर आधारित अन्य व्यवसाय : –

पशु मांस प्राप्ति का भी प्रमुख साधन थे । अध्ययन काल के दौरान उच्चवर्गों में जंगली जानवरों का शिकार काफी लोकप्रिय था । राजस्थान में जंगली पशु बहुतायत से पाये जाते थे । राजा एवं सामन्तों के अपने सुरक्षित शिकारंगाह थे । इससे यह स्पष्ट होता है कि मांस प्राप्ति के लिए पालतू पशुओं पर निर्भरता लगभग नहीं के बराबर थी । शाक्तमत को मानने वाले मांसाहारी लोगों में बकरे की बलि का प्रचलन अवश्य हो गया था । पहले पशु बलि मुख्यत: जंगली पशुओं की ही दी जाती थी । इन बिखरे तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि पालतू पशुओं से भी मांस प्राप्त किया जाता था । मुस्लिम समुदाय के लोगों में पालतू पशु का मांस भक्षण प्रचलित था । इस सबके उपरान्त भी विशेष भौगोलिक स्थिति के कारण राजस्थान में नियमित भोजन में मांस भक्षण अधिक लोकप्रिय नहीं था । राजस्थान से पूर्व की ओर बकरों, बछड़ों, गायों तथा भैंसा का निर्यात मुख्य तौर पर उत्तर प्रदेश, व बिहार में माँस उत्पादन हेतु किया जाता था। इस क्षेत्र में पशु आधारित व्यवसाय की भारी संभावना थी, किन्तु अविकसित वध प्रक्रियाओं तथा माँस के संरक्षण की वैज्ञानिक विधि के अभाव में यह अधिक विकसित नहीं हो पाया था ।

चमड़े का प्रचलन दैनिक जीवन में अपरिहार्य था । चमड़े से जूते–जूतियाँ, चडस, घोड़े की जीन, डोलची, रस्सीयाँ, वाद्ययंत्र, वर्तन इत्यादि दैनिक उपयोग की वस्तुओं का उत्पादन किया जाता था । चमड़ा शोधन व चमड़े की वस्तुओं का उत्पादन कुटीर उद्योगों में मानव श्रम व कौशल द्वारा ही होता था । अत: इनका उत्पादन अत्यधिक छोटे पैमाने पर प्रचलित था। इसमें भी विकास की भरपूर संभावनाएं थी किन्तु राजा व सामन्तों की उपेक्षा के कारण यह व्यवसाय अधिक विकसित नहीं हो सका ।

पशुओं से प्राप्त गोबर देशी खाद के रूप में प्रयोग में लाया जाता था । गोबर से भोजन पकाने का ईंधन भी तैयार होता था । 19वीं सदी के अंतिम दशक में भारतीय कृषि पर एक विस्तृत सर्वेक्षण हुआ था जिसमें वह पाया गया कि गोबर का अधिकांश हिस्सा कृषि में प्रयुक्त न होकर ईंधन के रूप में काम में लिया जाता था । उन्नत कृषि के लिए यह सिफारिश की गई थी कि पशुओं के गोबर से अधिक से अधिक खाद व उर्वरक बनाये जायें । अत: बीसवीं सदी के आरम्भ से गोबर का प्रयोग खाद के रूप में अधिक किया जाने लगा । पशुओं की हड्डियों से भी खाद बनाया जाना संभव था किन्तु इसके लिए मशीन आधारित कारखाने आवश्यक थे, जिनका राजस्थान में पूर्णत: अभाव था ।

राजस्थान का ऊन उत्पादन में प्रमुख स्थान था । सम्पूर्ण भारत के परिदृश्य पर नजर डालें तो पाते हैं कि राजस्थान भेड़ पालन का अग्रणी क्षेत्र था । यही स्थिति ऊंट पालन के क्षेत्र में थी । ऊंट एवं भेड़ों के बालों से ऊन प्राप्त की जाती थी । न केवल पश्चिमी राजस्थान बल्कि सम्पूर्ण राजस्थान में ऊन आधारित कुटीर उद्योगों का प्रचलन था । इनमें कम्बल, लोई,

कोट, जर्सी, गलीचे, रस्से, खेस आदि का उत्पादन स्थानीय आवश्यकताओं के अनुकूल किया जाता था । राजस्थान से अन्य भू–भागों में कुटीर उद्योगों व आधुनिक बड़े उद्योगों के उपयोग हेतु ऊन का निर्यात किया जाता था । इसके निर्यात में अनेक राजकीय बाधाऐं उपस्थित होती थी जिससे ऊन व्यापर सहज नहीं था । मुख्य तौर पर कानपुर एवं अहमदाबाद जैसे कपड़ा उद्योग के केन्द्रों में राजस्थान से ऊन भेजी जाती थी ।

पशुओं का प्रयोग परिवहन कार्यों के लिए भी किया जाता था, यातायात एवं परिवहन के परम्परागत साधनों में मुख्यत: ऊंट, बैल, घोड़े, गधे, खच्चर, टट्टू, बैलगाड़ी एवं ऊंटगाड़ी का प्रयोग होता था । बैलगाड़ियों अथवा ऊंटगाड़ियों का उपयोग स्थानीय स्तर पर कम दूरी के लिए होता था। लम्बी दूरी तक माल वहन का कार्य बैलों अथवा ऊंटों की पीठ पर लाद कर किया जाता था । बंजारे इस व्यवसाय में मुख्य रूप से संलग्न थे । ऐसे बंजारों का भी उल्लेख मिलता है जिनके पास माल लादने के एक लाख बैल हुआ करते थे । पश्चिमी राजस्थान में सिक्ख लोग यह कार्य किया करते थे, जिन्हें दीवाना फकीर कहा जाता था । 19वीं सदी तक राजस्थान में यातायात एवं परिवहन पशुओं पर ही आधारित था । राजस्थान में 1880 के बाद रेल मार्गों के आरम्भ होने तथा सड़क यातायात के विकास से परिवहन के क्षेत्र में पशुओं का महत्व कम होने लगा।

12.5 पशुपालन की स्थिति –

पशु–पालन से सम्बन्धित विवरण से स्पष्ट है कि केवल पश्चिमी राजस्थान में गाय, बैल, ऊंट, भेड़, बकरी तथा घोड़े उल्लेखनीय नस्ल के थे । वहां पशुपालन कृषि का सहायक व्यवसाय नहीं बल्कि मुख्य व्यवसाय था । राजस्थान के शेष भागों में पशु–पालन एवं प्रजनन स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असमर्थ था तथा यहां के किसान पशुओं का आयात करते थे । आधुनिक काल में पशुपालन पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया था। कुछ राज्यों में पशुओं की नस्ल सुधार के लिए नागौर, सांचौर एवं हिसार से सांडों का आयात किया जाता था । उदाहरणार्थ 1876 में अलवर के पॉलीटिकल एजेंट ने गवर्नर जनरल को हिसार से पशु भेजने के लिए आग्रह किया था । समय–समय पर पशु–नस्ल सुधार के लिए ब्रिटिश विशेषज्ञों को सलाह देने के लिए आमंत्रित किया जाता था। 1928–29 में जयपुर राज्य में मालव गायों एवं मुर्रा भैंसों की खरीद की गयी थी जिनसे पशु–नस्ल सुधार केन्द्र बनाये जा सकें । इन प्रयासों के कोई उल्लेखनीय परिणाम नहीं निकले क्योंकि तत्कालीन राजनीतिक आर्थिक संरचना के अंतर्गत यह संभव नहीं था ।

राजस्थान में पशुपालन व्यवसाय के विकास की संभावनायें भरपूर थी किन्तु अनेक प्राकृतिक एवं अप्राकृतिक कारणों से पशुपालन की स्थिति संतोषजनक नहीं थी । राजस्थान में पड़ने वाले निरन्तर अकाल पशुओं के सबसे बड़े शत्रु थे । अकालों के समय चारे एवं पानी के अभाव में पशु जर्जर हो जाते थे, उनमें रोग प्रतिरोधी तत्वों का अभाव उत्पन्न हो जाता था तथा पशु मौत का शिकार बन जाता था । पश्चिमी राजस्थान के पशुधन का भारी नुकसान अकालों के कारण होता था । इसका विशेष विवरण इकाई–14 में दिया गया है । अकालों की निरन्तरता

एवं भयंकरता तथा चारे के अभाव को आंशिक तौर पर प्राकृतिक कारण माना जा सकता है, जो पशु पालन व्यवसाय के विकास में अवरोधक थे ।

पशु–पालन व्यवसाय के अविकसित स्थिति में होने के अप्राकृतिक कारण अधिक प्रभावी थे । कुटीर एवं शिल्प उद्योगों के पतन एवं अनेक परम्परागत व्यवसायों जैसे सेना, प्रशासन, परिवहन व्यापार आदि के लोप होने अथवा कम होने से इनमें लगे हुए लोगों के पास कृषि व्यवसाय में जाने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं बचा था। कृषि पर निर्भर जनसंख्या की वृद्धि के कारण स्वाभाविक तौर पर कृषि क्षेत्र का विस्तार हुआ तथा कृषि क्षेत्र के विस्तार के परिणाम स्वरूप चारागाहों का क्षेत्र सीमित हो गया । चारागाहों के अभाव ने पशुपालन व्यवसाय को विपरीत रूप में प्रभावित किया । अर्द्ध–औपनिवेशिक एवं अर्द्ध–सामंती व्यवस्था के अन्तर्गत पशु–पालन पर अनेक भारी कर लगा दिये गये थे, जिसका उल्लेख हम पिछली इकाई में कर चुके है । इन करों में घासमारी घास बेची, छैली गिनती, ऊंट गिनती, पान चराई, खूंटा बंदी, हांसिल चराई, हांसिल वापी (तालाब या पोखरा) गुआड़ा, घोड़े का घी, घोड़े का घास आदि प्रमुख थे । पश्चिमी राजस्थान में पशु कर मध्यकाल से ही चले आ रहे थे किन्तु आधुनिक काल में इनकी संख्या एवं राशि में भारी वृद्धि हुयी थी । पश्चिमी राजस्थान में पशुकर को कुछ सीमा तक उचित भी कहा जा सकता है कि जहां कृषि गौण हो तथा पशु पालन प्रमुख वहां स्वाभाविक तौर पर राज्य की आय पशुकरों पर निर्भर करेगी । किन्तु राजस्थान के अन्य भागों में पश्चिमी राजस्थान के समान पशुकरों को लागू करके पशुपालन को हतोत्साहित किया । इन करों के अतिरिक्त पशु, चारा, दूध एवं इसके अन्य उत्पादों के आयात–निर्यात पर अनेक चुंगियां अथवा सीमा शुल्क लिये जाते थे । राजस्थान को एक राज्य से दूसरे राज्य में एवं कहीं–कहीं एक की राज्य की एक जागीर से दूसरी जागीर क्षेत्र में पशुओं की निकासी पर सीमा शुल्क लगता था ।

चारे का अभाव जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके है, पशु पालन में भारी बाधक था । चारा मात्रात्मक एवं गुणात्मक दोनों दृष्टियों से उपयुक्त नहीं होता था । पशुओं को जो चारा खिलाया जाता था उसमें पौष्टिकता का अभाव था, ऐसी स्थिति में स्वाभाविक तौर पर पशु की रुग्णता बढ़ती थी । साधारणतया ज्वार, बाजरा, मक्का की सूखी कड़बी, जौ एवं गेंहू का खाखला पशु आहार का प्रमुख अंग थे । बारह महीने हरे चारे का उपयोग लगभग नहीं होता था । दलहनों एवं कपास के बिनौले से पशु को पौष्टिक आहार मिल सकता था, किन्तु इनकी खेती अधिकतम सीमित थी । वर्षा काल में अपने आप उत्पन्न होने वाले घास से वर्षाकाल में पशुओं को हरा चारा मिल जाता था, किन्तु राजस्थान जैसे सूखे प्रदेश में यह हरा घास एक दो महिने से अधिक समय के लिए मिल पाना संभव नहीं था । सूखे घास के ढेर एकत्रित कर लिये जाते थे तथा पशुओं को बारह महिने खिलाया जाता था जिसमें पौष्टिकता का अभाव होता था। राजस्थान में प्राकृतिक उत्पादों से पशुओं को पौष्टिक आहार मिल सकता था । प्राकृतिक उत्पाद जैसे खेजड़ा, कीकर, लौंग, पाला, लूम, बेरझाड आदि पौष्टिकता से भरपूर थे, किन्तु राजाओं एवं जागीरदारों की नियंत्रक नीतियों के कारण इनकी उपलब्धि पर्याप्त मात्रा में नहीं थी । इसके अतिरिक्त राज्यों द्वारा चारे की फसलों के उत्पादन को उत्साहित नहीं किया जाता था ।

राजस्थान में पशु विशेषज्ञों का पूर्ण अभाव था तथा किसान पशु–पालन की वैज्ञानिक विधियों से परिचित नहीं था । 1938 में जयपुर राज्य में पशुपालन के सम्बन्ध में अनेक सर्वेक्षण हुए थे, जिनसे इन स्थितियों के बारे में जानकारी मिलती है । एक रिपोर्ट में लिखा था कि पशुओं को अपने आप चरने के लिए छोड़ दिया जाता था तथा पशु गंदे पोखरों के पानी से अपनी प्यास बुझाते थे । पशुओं के स्वामी इनको सामान्यतया चारों और से बांध कर दूध की अंतिम बूंद तक निचोड़ कर उनको पुन: खोल देते थे । राज्य के द्वारा पशु चिकित्सा की कोई सुविधा नहीं दी जाती थी जिससे किसानों द्वारा पशुपालन जोखिम भरा था । बैल के बधियाकरण का नवीन वैज्ञानिक विधियों की जानकारी न होने के कारण यह कार्य भी जोखिम भरा था । परम्परागत बधियाकरण की पद्धति अत्यधिक क्रूर थी, जिससे कभी–कभी बैल की मृत्यु भी हो जाती थी ।

कुल मिलाकर पशुपालन की स्थिति संतोष जनक नहीं थी यह किसानों के जीवन–यापन का अच्छा साधन हो सकता था, किन्तु यह व्यवसाय के रूप में पूर्ण विकसित नहीं हो सका था। इससे किसानों द्वारा अतिरिक्त कमाई तो पृथक बात थी, बल्कि पश्चिमी राजस्थान के अलावा राजस्थान के अन्य भागों की स्थानीय कृषि एवं कृषि समुदायों की आंतरिक घरेलू आवश्यकता की पूर्ति भी नहीं हो रही थी । जयपुर – राज्य के विशेष अध्ययन में पाया कि जयपुर राज्य की राजनीतिक संरचना किसान को "कमाऊ–खाऊ" अर्थात् "रोजकुआ खोदने एवं रोज पानी पीने" की स्थिति में रखे हुए थी, जिसके कारण किसान अच्छी नस्ल के पशुपालन में असमर्थ था । जब कभी किसान प्रत्येक तीसरे या चौथे वर्ष पशु मेले में जाता था तो बैल खरीदने के लिए सूदखोर से ब्याज की ऊँची दरों पर ऋण लेता था । अधिकांश किसान अच्छे बैल खरीदने में समर्थ नहीं थे, ऐसी स्थिति में किसान अपने दो या तीन बैल अथवा बछड़े अच्छी नस्ल के एक बैल से बदल लेते थे । अदला–बदली बैलों की स्थानीय नस्ल नहीं सुधारती थी जो स्थानीय स्थितियों के अनुकूल नहीं थी ।

पशुओं के रख रखाव की स्थिति भी संतोषजनक नहीं थी । बाडों एवं पशुओं की झोपड़ियों को उपयुक्त तरीकों से साफ नहीं रखा जाता था । पशु गंदगी के बीच रहते थे तथा पानी–पेशाब के निकास की कोई सुविधा भी पशुओं के रखने के स्थान पर नहीं रहती थी । पशु एवं इनके स्वामी सामान्यता अलग–अलग नहीं रहते थे जिसमें दोनों एक दूसरे की बिमारियों का शिकार हो जाते थे । पशुओं की निर्धन नस्ल अकुशल कृषि कार्यों का कारण एवं परिणाम दोनों ही थी । पशुओं की इस स्थिति के कारण किसान पशुपालन से अतिरिक्त कुछ भी कमाने में असमर्थ था ।

पशु विपणन के क्षेत्र में पशु मेलों का भारी महत्व था । राजस्थान के मुख्य पशु मेले अजमेर में पुष्कर में अक्टूबर अथवा नवम्बर के महिने में एवं जोधपुर में बालोतरा के समीप तिलवाडा में मार्च या अप्रेल के महीने में लगते थे । घोड़ों एवं अन्य सींगधारी पशुओं के मेले अलवर, भरतपुर, धौलपुर, करौली एवं कोटा में लगते थे सितम्बर के महीने में जोधपुर राज्य के परबतसर नामक स्थान पर अत्यधिक महत्वपूर्ण पशु मेला लगता था जो मुख्य रूप से बैलों के लिए लोकप्रिय था । बीकानेर राज्य के अनेक स्थानों पर पशु एवं ऊँट के छोटे मेले लगते थे ।

12.6 सारांश :–

सारांशत: यह कहा जा सकता है कि आधुनिक राजस्थान में पशुपालन कृषि का सहायक व्यवसाय था । किन्तु पश्चिमी राजस्थान में पशुपालन को कृषि से अधिक महत्व दिया जाता था । विशेष भौगोलिक स्थितियों के कारण कृषि में भारी अनिश्चयतता व्याप्त थी । अत: पशुपालन ग्रामीण अर्थव्यवस्था का प्रमुख साधन था । कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था में मशीनों के अभाव में पशु का प्रयोग महत्वपूर्ण स्थान रखता है । आधुनिक काल में राजस्थान की कृषि पशु श्रम पर निर्भर करती थी । खेतों की जुताई, सिंचाई, कृषि सम्बन्धी पशुओं में मुख्यरुप से ऊँट एवं बैलों का प्रयोग राजस्थान में अधिक लोकप्रिय था । राजस्थान के उत्तरी एवं पश्चिमोत्तर भागों में ऊँट अधिक लोकप्रिय था जबकि दक्षिणी एवं दक्षिण–पूर्वी राजस्थान में बैलों का कृषि एवं अन्य कार्यों में उपयोग होता था । दूध देने वाले पशुओं में गाय एवं भैंस प्रमुख थी । यूं दूध बकरी, भेड़ एवं मादा ऊँट से भी प्राप्त होता था । बकरे मांसाहारी लोगों के भोजन का आवश्यक अंग थे । इनके अतिरिक्त पशुओं पर विभिन्न व्यवसाय आधारित थे । पशुओं से श्रम, दूध व मांस के अतिरिक्त अन्य उपयोगी वस्तुएँ भी प्राप्त होती थी । पशुओं से प्राप्त चमड़े का उपयोगी दैनिक जीवन में काम आने वाली वस्तुओं के उत्पादन में किया जाता था । पशुओं के गोबर से ईंधन एवं खाद प्राप्त होता था । हड्डियों का उपयोग भी उर्वरक के रूप में किया जाता था । पशुओं से प्राप्त ऊन का राजस्थान के आर्थिक जीवन में बडा ही महत्व था । राजस्थान से ऊन व ऊन उत्पाद भारत के अन्य भागों में निर्यात किये जाते थे । यहाँ का ऊन व ऊन का उत्पाद पश्चिम व मध्य एशिया तक भी जाते थे । अहमदाबाद व कानपुर के कपड़ा उद्योगों में राजस्थान से ऊन निर्यात होता था । पशुओं का उपयोग यातायात व परिवहन के रूप में भी पर्याप्त रूप में होता था । पशुओं का महत्व तो काफी था किन्तु इनके विकास के प्रति राज्य की उपेक्षा थी । भारी पशुधन होने के उपरान्त भी राजस्थान में पशुओं का आयात करना पड़ता था । पशुओं की चिकित्सा व नस्ल सुधार सम्बन्धी कार्यक्रमों का पूर्णत: अभाव था । पशुपालन के क्षेत्र में भारी संभावनाएं व्याप्त थी, किन्तु राजा व सामन्तों की उपेक्षा के कारण इन संभावनाओं का न्यूनतम दोहन भी नहीं किया गया ।

12.7 अभ्यासार्थ प्रश्न –

1. राजस्थान की कृषि संरचना में पशुओं का महत्व बताईये ।
2. राजस्थान में कृषि श्रम सम्बन्धी एवं दूध देने वाले पशुओं का विवरण दीजिये ।
3. पशुओं पर आधारित विभिन्न व्यवसायों की व्याख्या कीजिये ।
4. राजस्थान में पशुपालन की स्थिति का आलोचनात्मक विश्लेषण कीजिये ।

12.8 संदर्भ ग्रन्थ :–

1. व्यास, आर. पी. : आधुनिक राजस्थान का वृहत इतिहास, भाग–2 राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर ।
2. शर्मा, कालू राम : 19वीं सदी के राजस्थान का सामाजिक एवं आर्थिक जीवन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर ।

3. शर्मा, बी. के. : आधुनिक राजस्थान का आर्थिक इतिहास, पब्लिकेशन स्कीम, जयपुर।
4. जैन, एम. एस. : आधुनिक राजस्थान का इतिहास, पंचशील प्रकाशन, जयपुर ।
5. चौधरी, पी. एस. : राजस्थान विटविन टू वर्ल्ड वार्स, मेहरा प्रकाशन, आगरा ।
6. राजपूताना गजेटियर : भाग 1, 2, एवं 3, कलकत्ता, 1879.

इकाई – 13

आधुनिक राजस्थान के मेले एवं त्यौहार

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 मेले

(अ) धार्मिक मेले

(1) पुष्कर का मेला

(2) महावीर जी का मेला

(3) कैला देवी का मेला

(4) शीतला माता का मेला

(5) करनी माता का मेला

(6) कपिल मुनि का मेला

(7) सीता बाड़ी का मेला

(8) जीर्ण माता का मेला

(9) भृर्त हरि का मेला

(10) डिग्गी का मेला

(11) नाथद्वारा का अन्नकूट मेला

(12) बाणगंगा का मेला

(13) रणथंभौर का गणेश मेला

(14) केसरिया नाथ जी का मेला

(15) उर्स (अजमेर)

(16) गलियाकोट उर्स

(ब) वीर पूजा के मेले

(1) रामदेवजी का मेला

(2) मुकाम का जंभेश्वर मेला

(3) रानी सती का मेला

(स) पशु मेले

(1) तेजा जी का मेला

(2) परबतसर का मेला

(3) गोगा जी का मेला

(4) मल्लीनाथ (तिलवाड़ा) का मेला

(5) मूंडवा मेला

(द) आदिवासी मेले

(1) बैणेश्वर मेला

3.3 हिन्दू त्योहार

(अ) राजस्थान के विशिष्ट त्योहार

(1) घुडला

(2) गणगौर

(3) आखा तीज

(4) तीज

(ब) मारवाड़ के विशिष्ट त्योहार

(1) निर्जला एकादशी

(2) झूलना एकादशी

(3) बछ बारस

(स) राष्ट्रीय स्तर पर मनाये जाने वाले त्योहार

(1) होली

(2) रक्षा बंधन

(3) दशहरा

(4) दीपावली

(द) अन्य त्योहार

13.4 मुसलमान त्योहार

(1) ईद–उल–फितर

(2) ईद–उल–जुहा

(3) मुहर्रम

(4) शब–ए–बारात

(5) बारावफात

13.5 जैन त्यौहार

(1) पर्युषण

(2) संवत्सरी

(3) पालना

(4) इंद्रध्वज

13.6 ईसाई त्यौहार

13.7 सारांश

13.8 संदर्भ ग्रंथों की सूची

13.0 उद्देश्य

इस अध्याय का उद्देश्य राजस्थान के मेले और त्यौहारों के बारे में जानकारी देना और इन मेलों का आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक महत्व और इनकी उत्पत्ति का परिचय देना है ।

13.1 प्रस्तावना

राजस्थान कला और संस्कृति का भण्डार है । वह अपनी सांस्कृतिक परंपरा के लिए प्रसिद्ध है । राजस्थान के मेले त्यौहार इत्यादि यहां की उन्नत परम्परा को उजागर करते है । रेगिस्तान के नीरस जीवन को सरस और रंगमय बनाने में इनका महत्वपूर्ण योगदान है ।

मनुष्य अपनी प्रवृति से त्यौहारों, सामूहिक समारोहों, पर्वों इत्यादि का प्रेमी है । मेलों को हम त्यौहार की चरम सीमा का नाम दे सकते है ।

राजस्थान के त्यौहार, मेले तथा उत्सव पौराणिक गाथाओं और विशुद्ध परंपराओं से अनुप्राणित है । प्रत्येक त्यौहार और मेला, यहां के लोक जीवन की किसी किवदन्ती अथवा किसी ऐतिहासिक कथानक से जुड़ा हुआ है । यही कारण है कि इन मेलों तथा त्यौहारों के आयोजन में संपूर्ण लोक जीवन पूरी सक्रियता से सम्मिलित होता है और यहां की लोक संस्कृति जीवन्त हो उठती है ।

पर्वों, त्यौहारों और मेलों के अपने गीत है और अपनी संस्कृति है, जिससे उनके प्रति जन समाज की गहरी भावात्मक आस्था पायी जाती है । राजस्थान में प्राचीन और पौराणिक त्यौहार तो मनाये ही जाते थे, इनके अतिरिक्त यहाँ के कुछ विशिष्ट त्यौहार भी है ।

आधुनिक राजस्थान के इतिहास के अवलोकन से हमें यह ज्ञात होता है कि यहां कई त्यौहार मनाये जाते थे । ये त्यौहार इस प्रकार व्यवस्थित है कि जीवन प्रत्येक माह में आनंदमय रहता है । राजस्थान में एक लोकप्रिय कहावत है – "सात वार नौ त्यौहार" अर्थात् एक सप्ताह में सात दिनों में नौ त्यौहार आते है ।

राजस्थान में लगभग सभी मेलों का उद्भव धार्मिक था । इसके अलावा ये सामाजिक और आर्थिक कारण से भी आयोजित होते थे । कुछ मेलों का आयोजन वीर तथा महत्वपूर्ण पुरुषों की स्मृति में भी किया जाता है ।

मेलों को हम निम्नलिखित भागों में विभाजित कर सकते है :–

1. धार्मिक मेले
2. वीर पूजा के मेले
3. पशु मेले
4. आदिवासी मेले ।

13.2 (अ) धार्मिक मेले :

(1) पुष्कर का मेला –

पुष्कर पवित्रमय प्राचीन स्थल, समस्त तीर्थों का राजा है। हिन्दू धर्म ग्रन्थों के अनुसार पुष्कर पांच पवित्र धर्म स्थलों में से एक है। कहा जाता है कि अन्य तीर्थ स्थानों– बद्री, केदार, पूरी, रामेश्वरम् और द्वारिका के दर्शनों का फल तब तक अपूर्ण रहता है, जब तक श्रद्धालु

पुष्कर में स्नान न करलें। ऐसी मान्यता है कि पुष्कर की स्थापना स्वयं ब्रम्हा जी ने की थी। पौराणिक कथाओं के अनुसार आदिकाल में जिस स्थान पर पुष्कर स्थित है, वहां एक दानव रहता था। वह ब्रहा के पुत्रों की हत्या कर देता था। ब्रह्मा ने इसे एक कमल के फूल द्वारा मार डाला। कमल की पत्तियाँ तीन जगह बिखरी, जिनसे तीन तालाब बन गए, इन तीन तालाबों में से एक पुष्कर था। फिर ब्रह्मा ने कार्तिक माह में यहां एक यज्ञ का आयोजन किया, जिसमें सभी देवी, देवताओं को आमंत्रित किया गया।

कार्तिक माह हिंदुओं के लिए विशेष धार्मिक महत्व रखता है। ऐसी मान्यता है कि इस माह में पवित्र सरोवर में स्नान करने से मनुष्य को पापों से मुक्ति मिलती है और उसे स्वर्ग में स्थान मिलता है। पुष्कर में प्रतिवर्ष कार्तिक शुक्ला एकादशी से पूर्णिमा तक विशाल मेला लगता है। इस मेले में दूर–दूर से बहुत बड़ी संख्या में नर–नारी श्रद्धा सुमन अर्पित करने यहां आते है।

तालाब के अतिरिक्त यहां अनेक मंदिर है, जिसमें ब्रह्मा जी का मंदिर उल्लेखनीय है। यह भारत का एकमात्र ब्रह्मा मंदिर है। इस सरोवर पर 52 घाट है, जिसमें बारह घाट अत्यधिक महत्वपूर्ण माने जाते है, ऐसी मान्यता है कि भगवान विष्णु बराह (बाघ) के रूप में यहां स्नान करने आये थे।

पुष्कर मेले को लाखी मेला भी कहा जाता है, क्योंकि इसमें लगभग 1 लाख लोग सम्मिलित होते थे। रंग–बिरंगे परिधानों में सजी स्त्रियां और बालक गेरुआ वस्त्रों में साधु भस्म लगाए, संन्यासी एक नयानाभिराम दृश्य प्रस्तुत करते थे। पारम्परिक राजस्थानी वेषभूषा में सजे–धजे स्त्री–पुरुषों को देखकर लगता था कि राजस्थान की संपूर्ण संस्कृति यहां मुखरित हो उठी हो।

इस अवसर पर पशु मेले का आयोजन भी किया जाता है। इस मेले में यहां बीकानेरी, जैसलमेरी ऊँटों के झुंड दिखाई देते थे, वहीं भारी संख्या में नागोरी, हरियाणवी बैलों की जोड़ियाँ भी क्रय–विक्रय के लिए आती थी। इस मेले में ऊँटों–घोड़ों की दौड़ तथा अनेक प्रकार के करतब दिखाए जाते थे।

(2) महावीर जी का मेला :

यह मेला संभवत : जैनियों का सबसे बड़ा मेला था। सवाई माधोपुर जिले की हिंडौन तहसील में गंभीरी नदी के किनारे बसे चंदनगांव में इसका आयोजन होता था। यह दिगम्बर जैनियों की ही नहीं, सभी वर्ग एवं संप्रदाय के लोगों की पावन श्रद्धा स्थली थी।

इस तीर्थ क्षेत्र के उद्भव के संबंध में यह कथा प्रचलित है कि लगभग चार शताब्दी पूर्व चंदन गांव के एक चर्मकार की गाय का दूध स्वत : ही एक टीले पर झर जाता था। उस टीले की खुदाई करने पर, पत्थर की मूंगा वर्ण की एक महावीरजी की भव्य प्रतिमा मिली। इस की स्थापना एक झोंपड़े में कर दी गई।

1782 ई में जयपुर नरेश ने मंदिर के लिए भूमि दान की और इसी शताब्दी के अंतिम वर्षों के चैत्र माह में इस मूर्ति की स्थापना हुई।

श्री महावीर जयंती के अवसर पर यहां प्रतिवर्ष चैत्र शुक्ल 13 से वैशाख कृष्णा द्वितीया तक पांच दिवसीय मेला लगता था। यह जैन तीर्थ ऐसा धार्मिक स्थल था, जहां जैनियों

के साथ–साथ सभी वर्गों के लोग जैसे मीणा, गुर्जर, जाट, अहीर, चर्मकार आदि सम्मिलित होते है। एकता की भावना से लोग दर्शन करते, जय–जयकार करते और मनौतियां मानते थे।

इस मेले का मुख्य आकर्षण वैशाख की प्रतिपदा की रथयात्रा थी। रथ यात्रा मुख्य मंदिर से आरंभ होकर गंभीर नदी तक जाती थी। रथ यात्रा को आरम्भ करने का सम्मान आज भी चर्मकार ग्वाले के वंशजी को दिया जाता है।

रथयात्रा की झांकी अत्यन्त अलौकिक और आकर्षक होती थी, श्रद्धालु रंग–बिरंगी पोशाकों में सजे–धजे आते थे। रथ के आगे मीणा जाति के झुंड परम्परागत पोशाकें धारण किए तथा हाथों में लंबे लट्ठ, फर्से, मूसल लिए मंजीरों की झंकार के साथ लोक–गीत गाते चलते थे। प्राचीन परंम्परा के अनुसार मीणा जाति के लोग रथ यात्रा के आरंभ होने तक मेले का आनंद उठाते थे। रथ की वापसी के समय उनका स्थान गुर्जर ले लेते थे।

(3) कैलादेवी का मेला :

सवाई माधोपुर जिले में कटोली उपखंड के कैलाग्राम में पहाड़ियों और घने जंगलों के मध्य स्थित कैलादेवी का अनोखा मेला लगता था। चैत्र कृष्णा–अष्टमी से चैत्र शुक्ला अष्टमी तक लगभग एक पखवाड़े तक लगने वाले इस रंग–बिरगें उत्सव में राजस्थान से ही नहीं वरन् समीपवर्ती राज्यों से भी लाखों श्रद्धालु एकत्र होते थे।

प्राचीन काल से ही खींची राजपूतों और उनके बाद यादव वंश की इष्ट देवी के रूप में कैलादेवी की मान्यता थी। कैलादेवी की मूर्ति के प्रतिष्ठापन के संबंध में बताया जाता है, कि कालीसिंध नदी के किनारे त्रिकूट पर्वत पर केदारगिरी नामक एक साधु देवी की आराधना करते थे, देवी के प्रत्यक्ष दर्शन की मनोकामना करते हुए साधु ने बिहार के हिंगलाज पर्वत पर बारह वर्ष की कठोर तपस्या करने के बाद देवी के प्रत्यक्ष दर्शन का वरदान प्राप्त किया और अंत में वह अपने संकल्प में सफल हो गये।

उपलब्ध आलेखों के अनुसार सन 1114 के लगभग में केदारगिरी तथा पिड़तपुरा के मीणा जाति के पटेल ने मंदिर की स्थापना की थी। 1407 के लगभग इस मंदिर पर यादववंशियों का अधिकार हो गया, तभी से कैलादेवी की पूजा कुल देवी के रूप में की जाने लगी।

इस मेले में आसपास के क्षेत्रों के व्यापारी क्रय–विक्रय के लिए आते थे।

(4) शीतला माता का मेला :

शीतला माता की राजस्थान में ही नहीं अपितु संपूर्ण उत्तर भारत में पूजा की जाती थी चैत्र कृष्णा अष्टमी को इसका पूजन किया जाता था। लगभग प्रत्येक गांव और नगर में इस अवसर पर मेले लगते थे। यह पर्व मारवाड़ में सप्तमी के दिन मनाया जाता था। राज परिवार के किसी सदस्य की मृत्यु अष्टमी के दिन होने के कारण, अष्टमी को अशुभ माना गया और शीतला पूजन सप्तमी के दिन आरंभ कर दिया गया।

इस त्यौहार को ठंडा त्यौहार कहा जाता था। इस दिन लोग एक दिन पहले का बना खाना खाते थे। सप्तमी की रात को गीत गाकर शीतला मां का आव्हान किया जाता था। अष्टमी के दिन प्रात : स्त्रियां नहा–धोकर रंग–बिरंगे कपड़ों और गहनों में सज– धज कर दैवी

की पूजा करने जाती थी। प्रत्येक घर में भी परीण्डे (पानी रखने का स्थान) पर शीतला मां की अर्चना की जाती थी। माता की कोई विशेष मूर्ति नहीं होती थी, अनघड़ पत्थर ही उनका प्रतीक माने जाते थे।

शीतला माता के मंदिर के आस–पास अष्टमी से कई दिन पहले ही मेले की तैयारियां आरंभ हो जाती थी। दुकानदार दुकानों की सजावट में व्यस्त हो जाते थे। बच्चों के लिए झूलों और मिट्टी के खिलौनों का आकर्षण मुख्य था।

चेचक को शीतला माता का प्रकोप समझा जाता था। यदि कोई व्यक्ति इससे पीड़ित होता है, तो स्वस्थ होने के बाद उसके परिवार के सदस्य एक दिन ठंडा खाना खाते है और शीतला माता का पूजन करते थे।

जयपुर जिले के, सील की डूंगरी नामक गांव में शीतला मां का सबसे बड़ा मेला लगता था। यह जयपुर जिले का संभवत : सबसे बड़ा मेला है। यह बैलगाड़ी मेले के नाम से भी जाना जाता था। दूर–दूर से भक्त दर्शनों के लिए रंगीन कपड़ों में सजे, अपनी सुसज्जित बैलगाड़ियों में मेले में जाते थे। बैलों के गले में बंधी घटिया, उनके पांव के घुंघरू की आवाज सारे वातावरण को संगीतमय बना देते थे।

(5) करनी माता का मेला :

बीकानेर की नोखा तहसील के देशनोक गांव में स्थित इस मंदिर में प्रतिवर्ष दो मेलों का आयोजन लोगों के जन जीवन को उल्लासपूर्ण बनाता था। एक मेला चैती नवरात्री और दूसरा अश्विन नवरात्री के अवसर पर आयोजित होता था। ऐसी मान्यता है कि देशनोक की स्थापना 1419 ई में करनी माता ने स्वयं की।

करनी माता का जन्म 1387 में हुआ। पिता की छठी पुत्री होने के कारण, इनकी बुआ ने इन्हें हानि पहुंचानी चाही, परन्तु किसी चमत्कारी शक्ति से उनकी बुआ का हाथ टूट गया। बड़ी होने पर उन्होंने अनेक चमत्कार किए और लोग इनकी वंदना करने लगे। 1538 ई में उनकी मृत्यु हो गई। करनी माता के मंदिर की विशेषता वहां स्वछंद घूमने वाले चूहे थे।

(6) कपिल मुनि का मेला :

इस मेले का आयोजन प्रतिवर्ष कार्तिक पूर्णिमा के दिन बीकानेर के निकट कोलायत में किया जाता था।

स्कंद पुराण के अनुसार महर्षि करदान ब्रह्मा के पुत्र थे। उनका विवाह महर्षि मनु की पुत्री से हुआ, जिन्होंने कपिल मुनि को जन्म दिया। शिक्षा अरर्जित करने के बाद कपिल मुनि अपनी माता को सांख्य दर्शन का अध्ययन करवाते थे। इसके बाद वे हिमालय जाने के लिए रवाना हुए। मार्ग में एक मरु प्रदेशीय रमणीय स्थल की सुरम्यता ने उनका मन मोह लिया। उनकी आत्मा का एक भाग वहीं रह गया और दूसरा हिमालय चला गया। उस स्थान का नाम कपिलस्थान (आधुनिक कोलायत) पड़ गया। बहु संख्या में भक्त यहां आने लगे। अन्य देवों को इनसे ईर्ष्या हुई और उन्होंने इस सुरम्य स्थल को मरुस्थल में परिवर्तित कर दिया। शिव–पार्वती के पुत्र स्कंधदेव ने फिर से इस स्थान को सुरम्य स्थल बना दिया। लोग. कोलायत स्नान को पुष्कर स्नान से भी अधिक पवित्र मानते थे।

(7) सीताबाड़ी का मेला :

सीताबाड़ी कोटा की शाहबाद तहसील के केलवाड़ा गांव के निकट स्थित है। यह स्थान हजारों की संख्या में तीर्थ यात्रियों को आकर्षित करता था। ये श्रद्धालु सीता कुंड, लक्ष्मण कुंड और सूरज कुंड में स्नान करना, गंगा स्नान के समकक्ष मानते थे। यह मेला बैसाख के शुक्ल पक्ष की पूर्णिमा से जैष्ठ के कृष्ण पक्ष की अमावस्या तक लगता था।

कथानुसार, इस स्थान पर लक्ष्मण सीता को छोडकर गए थे, जब नगरवासियों ने सीता के चरित्र पर संदेह किया था। यहां एक भरत कुंड भी है, परन्तु इसमें स्नान करना अपवित्र माना जाता था।

(8) जीणमाता का मेला :

यह मंदिर सीकर जिले में रेवासा ग्राम से दक्षिण की तरफ गिरिमाला की उपात्यका में स्थित है। नवरात्रों के समय यहां विशेष चहल–पहल रहती थी। मुख्यत : राजपूत और मीणा जाति के लोग इस देवी की आराधना करते थे। यहां बलि चढ़ाई जाती थी और सुरा का भोग लगाया जाता था। इस मंदिर का निर्माण 1070 ई में होने का उल्लेख मिलता है।

(9) भृर्तहरि का मेला :

यह स्थान अलवर के निकट स्थित है। यहां प्रतिवर्ष दो मेलों का आयोजन किया जाता था। लगभग एक लाख लोग इनमें सम्मिलित होते थे। इनमें मुख्यत : मीणा, गुर्जर, अहीर, जाट तथा बागड़ा लोग सम्मिलित होते थे। राजस्थान के अलावा उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, पंजाब और हरियाणा से भी लोग इसमें आते है। मेले के समय यह स्थान लघु कुंभ का सादृश्य प्रस्तुत करता था।

(10) डिग्गी का मेला :

यह स्थान जयपुर से लगभग 75 किलोमीटर दूर है। यह राजस्थान के चर्चित और लोकीप्रय तीर्थों में से एक था। राजस्थान के समीपवर्ती प्रदेशों से भी श्रद्धालु श्री कल्याणजी की पूजा–अर्चना करने आते थे। श्री कल्याणजी को भगवान विष्णु का स्वरूप माना जाता है।

यहां वर्ष में तीन बार मेला लगता था। सावन की अमावस्या, वैशाख की पूर्णिमा और भाद्रपद की एकादशी। सावन के मेले का विशेष माहात्म्य था।

डिग्गी के बारे में निम्नलिखित लोकोक्ति है। – एक बार इन्द्र ने अपने दरबार की अप्सरा उर्वशी पर क्रुद्ध होकर बारह वर्ष मृत्युलोक में रहने का दण्ड दे दिया। कुछ समय तक उर्वशी सप्तऋषियों के आश्रम में रही, फिर वह चंद्रगिरि के राजा के महल में रहने चली गयी। उसने चंद्रगिरि के राजा से यह प्रतिज्ञा करवा ली कि जब इंद्र उसे वापिस लेने आये तो वह उर्वशी को इन्द्र से बचाये।

12 वर्ष पश्चात् इंद्र मृत्युलोक पहुंचे और भगवान विष्णु की सहायता से उन्होंने चंद्रगिरि के राजा डिग्गी को पराजित किया। उर्वशी ने जाते–जाते डिग्गी को कोढ़ी बनने का शाप दिया। परन्तु भगवान विष्णु ने राजा को कुष्ठ निवारण का उपाय बताया। इसके उपरांत डिग्गी ने उसी स्थान पर श्री कल्याण जी का मंदिर बनवाया, जहाँ उसमें और इंद्र के मध्य युद्ध हुआ था।

(11) नाथद्वारा का अन्नकूट मेला :

ये नाथद्वारा उदयपुर जिले में स्थित है और वैष्णवों के वल्लभ संप्रदाय का प्रमुख धार्मिक स्थल है। दीवाली के अगले दिन अन्नकूट का उत्सव मनाया जाता था। ब्रह्माण्ड के देवता की भूख को संतुष्ट करने के लिए यह त्यौहार आयोजित किया जाता था। उबले हुए चावलों का एक ढेर मंदिर के प्रांगण में लगा दिया जाता था। भील इसे प्रसाद के रूप में ग्रहण करने के लिए नाचते–गाते आते थे। इन चावलों को बहुत पवित्र माना जाता था और ऐसी मान्यता थी कि इनसे बहुत सी बीमारियां दूर होती थी।

(12) बाणगंगा का मेला :

यह स्थान जयपुर के ऐतिहासिक शहर बैराठ के निकट स्थित है। ऐसी मान्यता है कि इस झरने का उद्गम अर्जुन द्वारा तीर मारने के कारण हुआ। वैशाख माह की पूर्णिमा को बड़ी संख्या में भक्त, इस पवित्र झरने में स्नान करने जाते थे।

मेले की उत्पत्ति को लेकर कई धारणाएं प्रचलित है। एक धारणा के अनुसार यह मेला 200 वर्ष पूर्व आरंभ हुआ था जब वहां राधा–कृष्ण मंदिर का निर्माण करवाया गया था।

इस मेले में हिन्दुओं के अलावा मुस्लिम भी भाग लेते थे। मेला भरने के पहले वाली रात्रि को भक्तजन जागरण कर भजन गाते थे और सुबह पवित्र झरने में सान किया जाता था।

बाणगंगा का किनारा अनेक मंदिरों से सुशोभित था। राधाकृष्ण के मंदिर के पास एक हनुमान मंदिर भी है। जयपुर के महाराजा रामसिंह ने यहां हर की पौड़ी का निर्माण करवाया था।

(13) रणथभौर का गणेश मेला :

भाद्रपद शुक्ला चतुर्थी को एक बड़ा मेला रणथंभौर के किले में लगता था। यहाँ स्थित गणेश मंदिर में हजारों लोग दर्शनार्थ आते थे। कोसों दूर से प्रत्येक विवाह की कुमकुम पत्रिका इस मंदिर में व्यक्तिगत रूप से पहुँचाई जाती थी। जिसमें गणेश जी से निवेदन किया जाता था कि वे विवाह में पधारें और भजरो को अक्षय रखे।

(14) केसरिया नाथ जी का मेला :

जैन तीर्थंकर ऋषभदेव का घुलेव गाँव (उदयपुर) में भव्य मंदिर है। आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के इस मंदिर में श्वेताम्बर और दिगम्बर जैन ही नहीं, वैष्णव, शैव, भील एवं मुस्लिम सभी संप्रदाय के लोग श्रद्धापूर्वक भगवान के दर्शन करने आते थे। भगवान की पूजा में केसर का विशेष प्रयोग होने के कारण भगवान को केसरिया नाथ भी कहा जाता था। काली मूर्ति होने के कारण भील उन्हें काला जी भी कहते थे।

भावनात्मक एकता वाले इस स्थान पर प्रतिवर्ष आश्विन कृष्णा प्रथमा और द्वितीया को भव्य रथयात्रा निकलती थी और चैत्र कृष्णा अष्टमी को विशाल मेला लगता था, जिसमें दूर–दूर से आये हजारों व्यक्ति एकत्र होते थे।

(15) उर्स (अजमेर) :

मुसलमानों का सबसे बड़ा धार्मिक मेला अजमेर में रजब महीने के 1–6 दिनों में प्रसिद्ध मुस्लिम सूफी संत ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती की याद में आयोजित किया जाता था। इनका जन्म सन् 1142 में ईरान के संजार नामक स्थान पर हुआ, 52 वर्ष की आयु में वे अजमेर में बस

गए और 1238 ई. में इनकी मृत्यु हुई। मुईनुद्दीन चिश्ती प्रसिद्ध सूफी संत ख्ताजा उस्मान हारुनी के शिष्य थे। ये गरीबों के उद्धारक थे।

मुईनुद्दीन चिश्ती को गरीब नवाज़ भी कहा जाता था। उनकी याद में निर्मित ये दरगाह अजमेर शहर के मध्य में स्थित है। मक्का–मदीना के पश्चात् अजमेर की यह दरगाह मुसलमानों के लिए पवित्र स्थान है। इस उर्स की उत्पत्ति के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। परन्तु यह उस समय से प्रसिद्ध हो गया, जब मुगल शासक अकबर ने यहाँ तक पैदल यात्रा की और फिर उन्हें पुत्र रत्न प्राप्त हुआ।

उर्स का महोत्सव सजदा नशीन द्वारा सफेद ध्वजारोहण से आरंभ होता था। चौथे दिन दरगाह का जन्नत दरवाजा खोला जाता था। ऐसी धारणा थी कि सात दिन बाद इस दरवाजे को पार करने वाले व्यक्ति को मृत्यु के बाद जन्नत मिलती है।

सुबह की प्रार्थना के बाद पूरे भारत देश और अन्य मुस्लिम देशों से आए भक्तों की एक सभा बुलाई जाती थी। शाम को फतिहा की रस्म के बाद दरगाह पर मेंहदी और कलावा चढ़ाया जाता था। इस उर्स का अंत कुल की रस्म से होता था। उर्स के दिनों में सारे अजमेर में एक महोत्सव का सा दृश्य दिखाई देता था। नए रंगीन चमकीले वस्त्रों में सजे स्त्री और बालक सारे दृश्य को इंद्रधनुषी बना देते थे। कई भक्त इस दौरान गरीबों के लिए भोज–नियाज की व्यवस्था करते थे। धनी भक्त कव्वालियों और मिलाद शरीफ के पाठ का आयोजन करते थे। इस दरगाह पर जाति, संप्रदाय, लिंग इत्यादि का कोई बंधन नहीं था।

(16) गलियाकोट उर्स :

यह डूंगरपुर जिले के सागवाड़ा तहसील में गलियाकोट नामक गाँव में मनाया जाता है। यह मेला लाखों दाऊदी बोहरो को आकर्षित करना था। यहाँ पर प्रसिद्ध बोहरा संत सैयद फखरुद्दीन की दरगाह थी। दरगाह के निकट ही एक मस्जिद है, जिसमें स्त्रियां भी प्रार्थना कर सकती थी। इस उर्स का आयोजन ईरानी कैलण्डर के अनुसार मोहर्रम के 27वें दिन किया जाता था।

13.2 (ब) वीर पूजा के मेले :

समय–समय पर उत्कृष्ट कार्य, बलिदान, उत्सर्ग या परोपकार करने वाले महापुरुषों को लोक देवता या पीर के रूप में पूजा जाता था। वीर पूजा के उदाहरण है पाँच पीर – पाबू, हरबू, रामदे, मांगलिया, मेहा। यद्यपि ये ऐतिहासिक वीर थे। परन्तु लोक देवता के रूप में पूजे जाने लगे।

(1) रामदेवजी का मेला :

राजस्थान के रेगिस्तानी अंचल के जैसलमेर जिले के पोकरण कस्बे के निकट भाद्रपद माह के शुक्ल पक्ष की द्वितीया से एकादशी तक रामदेवजी का मेला लगता है। इस मेले में स्थानीय संत रामदेव की अर्चना की जाती थी। साम्प्रदायिक सद्भाव एवं अछूतों के उद्धार में अग्रणी रहे पश्चिमी राजस्थान के लोक देवता की क्रीड़ास्थली रामदेवरा, लाखों श्रद्धालु भक्तजनों की श्रद्धा स्थली थी।

बाबा रामदेव का प्रादुर्भाव 15वीं शताब्दी में तर वंशीय क्षत्रीय अजमलजी के घर हुआ था। युवा होने पर रामदेव ने उस दानव का शिकार किया, जो पोकरण में तबाही मचा रहा था, फिर उन्होंने रामदेवरा नामक गाँव की स्थापना की। रामदेव जी की एक मुस्लिम पीर से मित्रता हो गई। पीर से मित्रता के कारण रामदेवजी का नाम रामसापीर भी हो गया। मृत्यु के बाद उनकी इच्छानुसार उन्हें दफनाया गया। सभी संप्रदाय रामदेवजी को पूजते थे।

(2) मुकाम का जंभेश्वर मेला :

यह मेला विश्नोई संप्रदाय के संस्थापक जंभाजी के सम्मान में आयोजित किया जाता था। मुकाम गांव बीकानेरी के नोखा जिले के निकट बसा हुआ है। यहा प्रतिवर्ष दो मेले लगते थे, फाल्गुन के कृष्ण पक्ष अमावस्या और अश्विन कृष्ण पक्ष अमावस्या को।

ऐसी मान्यता है कि जंभाजी ने एक तालाब बनाया और उसके निकट ही एक गाँव बसाया, जिसका नाम तलवा या मुकाम रखा गया। तालाब के किनारे ही उन्होंने अपने लिए एक कब्र बनवाई थी। परन्तु उनके अनुयायियों ने उन्हें उस स्थान पर ही दफना दिया, जहाँ उनकी मृत्यु हुई।

मुकाम गाँव में जंभाजी द्वारा बनाई गई कब्र के पास ही 1536 ई में एक मंदिर का निर्माण किया गया। इन मेलों में राजस्थान से ही नहीं अपितु सीमावर्ती राज्यों से भी श्रद्धालु भाग लेने आते थे। जंभाजी के मुस्लिम अनुयायी भी थे। विश्नोई लोग जंभाजी को विष्णु के अवतार के रूप में पूजते थे।

(3) रानी सती का मेला :

राजपूताना में प्राचीन काल से सती प्रथा का प्रचलन था, अपने पति की चिता पर प्राणोत्सर्ग कर देने वाली सब सतियों ने लोकमानस में आस्था जगाई और परिणामस्वरूप सती मंदिरों का निर्माण हुआ झुंझुनू नगर में इस मेले का आयोजन सन् 1912 में पहली बार किया गया। यह मेला वर्ष में दो बार लगता था। माघ कृष्ण नवमी को और भाद्रपद नवमी को झाला परिवार की पहली स्त्री सती हुई थी और अमावस्या को अंतिम।

हिसार के दीवान जाली रामु के पुत्र टंडनराम ने वहाँ के नवाब के पुत्र की हत्या कर दी क्योंकि वह इसका घोड़ा चोरी कर रहा था। नवाब के क्रोध से डरकर, जालीराम ने अपने परिवार सहित झुंझुनू में शरण ली और वहाँ का दीवान बन गया। एक दिन टंडनराम अपनी पत्नी नारायणी देवी के साथ कहीं जा रहा था, मार्ग में हिसार की सेना ने उस पर आक्रमण कर, उसकी हत्या कर दी। नारायणी देवी अपने पति के साथ सती हुई। इसी परिवार की 12 अन्य स्त्रियां नारायणी देवी के बाद सती हुई। कालांतर में इन सब सतियों को पूजा जाने लगा।

13.2 (स) पशु मेले :

(1) तेजाजी का मेला –

तेजा जी राजस्थान के एक लोक देवता थे, जिन्हें साँप से रक्षा के लिए, भाद्रपद की दशमी में पूजा जाता था। इस दिन को तेजा दशमी कहा जाता था।

लोक मान्यता के अनुसार तेजाजी नागौर के एक जाट परिवार में पैदा हुए और इनका विवाह किशनगढ़ के सरसुरा गाँव में हुआ। एक बार जब वे अपनी ससुराल में थे, तब डाकुओं ने

उनके ससुर की गायों को खदेड़ दिया। तेजा जी ने डाकुओं का पीछा किया, परंतु साँप ने उनका मार्ग रोक लिया। तेजा जी ने साँप से विनती की कि इस समय तो वह उसे जाने दे। उन्होंने वायदा किया कि लक्ष्य प्राप्ति के बाद वे स्वयं साँप के समक्ष उपस्थित हो जायेंगे। जब तेजा जी लौटे तो वे खून से सरोबार थे, साँप ने घावों पर काटने से इंकार कर दिया। तेजा जी ने अपनी जीभ निकाली और साँप को उस पर काटने के लिए कहा। साँप उनसे बहुत प्रभावित हुआ और उसने वरदान दिया कि तेजा जी के नाम से यदि कोई व्यक्ति धागा (तांती) बांध ले तो सॉप उसे नहीं काट सकेगा। सरसुरा में तभी से इस दिन मेला लगता था।

(2) परबतसर का मेला –

यह स्थान मारवाड़ में स्थित है। दस दिनों तक चलने वाला यह मेला भाद्रवा माह में लगता था। मेले की उत्पत्ति के पीछे निम्नलिखित कथा है – महाराजा विजय सिंह के शासनकाल में चतुर हाकिम ने पाया कि मारवाड़ के जाट बहुत बड़ी संख्या में किशनगढ़ के सरसुरा मेले में तेजाजी की स्तुति के लिये जाते थे। परिणामस्वरूप किशनगढ़ दरबार की आय में वृद्धि होती।

जाटों को वहाँ जाने से रोकने के उद्देश्य ने यह कहानी गढ़ी कि तेजा जी ने उन्हें सपने में दर्शन देकर कहा कि भविष्य में उन्हें परबतसर में ही पूजा जाये। तत्पश्चात् परबतसर में मंदिर का निर्माण कर दिया गया। जाटों को यह आदेश दिया गया कि भविष्य में तेजा जी की आराधना परबतसर में ही की जाए।

(3) गोगाजी का मेला –

ये पांचवे पीर माने जाते है। ये बीकानेर की एक जागीर के सरदार थे। ये बहुत वीर थे और अपने दो संबंधी सरजन और अरजन के साथ एक सैनिक टुकड़ी का नेतृत्व करते थे। अरजन और सरजन ने दिल्ली से सैनिक सहायता लेकर गोगाजी की गायों के झुंड को घेर लिया। गोगाजी ने गायों को बचा लिया और अरजन और सरजन की हत्या कर दी। गोगाजी की माँ उनसे अत्यन्त नाराज हुईं क्योंकि अरजन तथा सरजन उनकी बहिन के पुत्र थे। उन्होंने गोगाजी से कहा कि वह उन्हें कभी नहीं देखना चाहती। माँ की आज्ञानुसार उन्होंने दाद्रेवा छोड़ दिया और नोहर के निकट मेड़ी में बस गये।

प्रार्थना के समय गुरु गोरखनाथ ने उन्हें दर्शन दिए और अपना अनुयायी बना लिया। गोगाजी ने जीवित समाधि ली और उनकी याद में प्रति वर्ष मेला लगने लगा। इस मेले का आयोजन भाद्रपद में कृष्ण पक्ष की नवमी से एकादशी तक होता था।

(4) मल्लीनाथ (तिलवाड़ा का मेला) –

यह मेला फाल्गुन में बाड़मेर के तिलवाड़ा नामक गाँव में लगता था। राजपूताना का यह सबसे बड़ा पशु मेला था। राज्य के केन्द्र में स्थित होने के कारण जैसलमेर, जोधपुर, पाली और जालौर इत्यादि के व्यापारी पशु क्रय–विक्रय के प्राचीन काल से ही एकत्र होते थे। मेले में ऊँट, घोड़े, बकरियों और भेड़ों का व्यापार होता– था।

कन्नौज में महमूद गजनी से हारने के बाद चौहान इस क्षेत्र में आकर बस गये। ये लोग स्वयं को अपने इष्टदेव मल्लीनाथ के पीछे मल्ली कहते थे।

मध्यकालीन भारत में मल्लीनाथ ने इस क्षेत्र को मुसलमान आक्रमणों से बचाया। अपने पड़ौसी राजाओं को परास्त कर, उसने मंडोर को भी तुर्कों से मुक्त करवा दिया। दक्षिण में सिंध और उत्तर में जैसलमेर तक उसका प्रभाव फैला हुआ था।

तिलवाड़ा में मल्लीनाथ के मंदिर का निर्माण किया गया, जहाँ बताशे और लड्डू की भेंट चढ़ाई जाती थी।

(5) मूंडवा मेला

यह मेला नागौर के निकट मूड़वा में लगता था । जोधपुर के महाराजा बख्त सिंह ने श्रीकृष्ण को श्रद्धा–सुमन अर्पित करने के लिए इस मेले का आयोजन आरंभ किया था। इस मेले में बहुत बड़ी संख्या में बैलों का क्रय–विक्रय होता था।

13.2 (द) आदिवासी मेले :

(1) बैणेश्वर मेला –

अरावली पर्वतमालाओं के बीच गुजरात एवं मध्य प्रदेश की सीमा के समीप बागड़ू प्रदेश में बहने वाली सोम, माही एवं जाखम नदियों के ठीक मध्य में वैणेश्वर स्थित है। ये स्थान मालवा, गुजरात एवं राजस्थान के सीमावर्ती क्षेत्र के भक्तजनों, दलित वर्ग और आदिवासी लोगों के जीवन में ईश्वर भक्ति का प्रेरणा–स्त्रोत एवं उद्‌गम स्थल था।

बैणेश्वर धाम को हिन्दू धर्म के मुख्य तथा पुष्कर, कुरुक्षेत्र, गया तथा प्रयाग के समकक्ष माना जाता था। यह मुख्यत : भील आदिवासियो का मेला था, जो माघ–शुक्ल एकादशी से माघ–शुक्ल पूर्णिमा तक चलता था। वस्तुत : यह मेला नहीं आदिवासियों का कुंभ पर्व था।

पौराणिक कथाओं के अनुसार माही नदी के उस पार गुप्त क्षेत्र में असुरों के राजा बली ने महायज्ञ का आयोजन कर अपना पूरा राजपाट वामन रूपी विष्णु भगवान को दान में दे दिया था। ऐसा कहा जाता है कि जब भगवान ने वामन अवतार लेकर तीन डग भूमि दान लेते समय, जिस स्थान पर तीसरा पैर रखा, वही स्थान आबूदर्रा कहलाया। संगम बिन्दू के मध्य आबूदर्रे के दाई ओर पत्थरों के कटाव से कैलाश पर्वत सी निर्मित चट्टानों पर छोटे–छोटे खण्डों में शिवलिंग है, जिसे बाण गंगा कहा जाता है।

बैणेश्वर महादेव के मंदिर में पाँच स्थानों से खंडित शिवलिंग था। बैणेश्वर के विषय में लोकश्रुति है कि एक ग्वाले की गाय एक मूर्ति के पास जाकर अपने स्तनों से उस पर दूध की धार अर्पित कर मूर्ति का दुग्धाभिषेक किया करती थी। ग्वाला दूध के अभाव के कारण चकित था, उसने छिपकर गाय का पीछा किया। संयोग वश गाय जब शिवलिंग पर दुग्धाभिषेक कर रही थी, उस समय ग्वाला वहाँ पहुंच गया और गाय की नजर उस पर पड़ी। गाय भाग खड़ी हुई किन्तु उसके पैर के खुर से शिवलिंग के पांच टुकड़े हो गये।

इस मेले में आदिवासी झुंड बनाकर, थाथों में झंडे लिए नाचते–नाचते आते थे। पूर्णिमा की रात को मेला अपनी चरम उत्कर्ष पर होता था। इसमें राजस्थान के ही नहीं वरन् गुजरात और मध्यप्रदेश के आदिवासी भाग लेते थे। ये आदिवासी रंग–बिरंगे परिधानों में आतें थे।

मेले के मुख्य आकर्षण आदिवासी महिलाओं द्वारा किए जाने वाले घूमर, गैर आदि नृत्य होते थे। भोपा, भगत, भांड, नट आदि परंपरागत रूप में वीरगाथाओं का गान कर मेले में आने वालों के प्रमुख मनोरंजन के साधन होते थे।

मेले में आभूषणों, बर्तनों, हाथ के बने लकड़ी के खिलौनों का बाजार लगता था। रंग–बिरंगी ओढ़नियों, घेरेदार घाघरे, माथे पर चांदी के बोरले, हाथों में चूड़े और गजरे, पांवों में पैजनिया पहने आदिवासी कन्याओं की छवि देखने योग्य होती थी। लोग ढोल–थाली आदि वालों के साथ गाते बजाते थे।

13.3 हिन्दू त्यौहार :

राजस्थानी संस्तुति को यदि त्यौहार बहुला कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। दीपावली, दशहरा, राखी, होली के त्यौहार तो यहाँ मनाये ही जाते है, किन्तु इसके अतिरिक्त यहाँ ऐसे अनेक पर्व और त्यौहार थे, जिनकी अपनी स्थानीय विशिष्टतायें थी।

हिन्दू त्यौहारों को हम अपनी सुविधा के लिए निम्नलिखित भागों में विभाजित करते है–

(अ) राजस्थान के विशिष्ट त्यौहार –

(1) घुडला

(2) गणगौर

(3) आखा तीज

(4) तीज

(ब) मारवाड़ के विशिष्ट त्योहार –

(1) निर्जला एकादशी

(2) झूलना एकादशी

(3) बछ बारस

(स) राष्ट्रीय स्तर पर मनाये जाने वाले त्यौहार –

(1) होली

(2) रक्षा बंधन

(3) दशहरा

(4) दीपावली

(द) अन्य त्यौहार –

मकर संक्रान्ति, शिवरात्रि, बसंत पंचमी, नाग पंचमी, गणेश चतुर्थी, जन्माष्टमी, शरद पूर्णमा आदि।

13.4 मुसलमान त्योहार –

(1) ईद–उल–फितर

(2) ईद–उल–जुहा

(3) मुहर्रम

(4) शब–ए–बारात

(5) बारावफात

13.5 जैन त्योंहार –

(1) पर्युषण

(2) संवत्सरी

(3) पालना

(4) इंद्रध्वज

13.6 ईसाई त्योहार –

(1) क्रिसमस

(2) नववर्ष

13.3 हिन्दू त्यौहार :

(1) घुड़ला –

चैत्र माह में इस उत्सव को मनाया जाता था। स्त्रियाँ और बालिकाएं एकत्र होकर, गीत गाती हुई, कुम्हार के घर घुड़ला लेने जाती थी। यह घुड़ला एक छोटा सा घड़ा होता था, जिसमें छेद होते थे। इस घुड़ले के अंदर थोड़ी सी मात्रा में गेहूँ या अन्य अनाज डालकर उस पर एक जलता हुआ दिया रखा जाता था। स्त्रियाँ जब ढोल की ताल पर ये घुड़ले लेकर नाचती तो ऐसा प्रतीत होता था कि रात्रि में तारे जमीन पर उतर आये हों। चैत्र शुक्ल तृतीय को इन घुड़लों को पानी में बहा दिया जाता था।

इस त्यौहार के संबंध में कहा जाता है कि सन् 1491 में अजमेर के हाकिम मल्लुखाँ ने पीपाड़ (जिला जोधपुर) पर आक्रमण कर 140 स्त्रियों को गिरफ्तार कर बांदी बना लिया। ये स्त्रियाँ तीजणियां (गणगौर का व्रत रखने वाली स्त्रियां) थी। जोधपुर के राव सातल सूचना मिलते ही मल्लूखां पर आक्रमण करने पहुंचे। मल्लूखां की सेना कोसाणा में थी। वहाँ राव सातल ने मुस्लिम सेनापति घुड़ले खाँ को पराजित कर सभी स्त्रियों को रिहा कर दिया। राव सातल बुरी तरह घायल हो गये, चैत्र शुक्ला तृतीय को उनकी मृत्यु हो गई। विजय की स्मृति में इस त्यौहार पर अनेक छिद्रों से युक्त घड़े में दीपक जलाया जाता था।

(2) गणगौर –

राजस्थानी स्त्रियाँ गणगौर का त्यौहार बड़ी श्रद्धा और निष्ठा से मनाती थी। यह त्यौहार होलिका दहन के बाद ही आरंभ हो जाना था। चैत्र बदी 1 से आरंभ होकर चैत्र शुक्ला तृतीया तक यह त्यौहार समाप्त होता था। फागुन और होली के गीत समाप्त होते ही बालिकाओं के कंठ से गणगौर के गीत आरम्भ हो जाते थे। होली की राख के पिंड बनाकर सात दिन तक उनकी पूजा होती थी। आठवें दिन शीतला का पूजन होता था। इसके बाद बालू और चिकनी मिट्टी से ईसर और गौरी की प्रतिमाओं का निर्माण किया जाता था।

पौराणिक आधार पर ऐसा विश्वास किया जाता है कि पार्वती के अपने पिता के घर वापिस लौटने पर उसकी सखियों ने नाचकर और गा कर उसका स्वागत किया था। तब से गणगौर का त्यौहार मनाया जाता है।

कुमारियाँ श्रेष्ठ पति के लिए और सुहागिने पति की दीर्घायु के लिए गणगौर का व्रत करती थी। नवविवाहित स्त्रियाँ गणगौर बहुत उत्साह और उमंग से मनाती थी। वे पूरे 18 दिन तक गौरी पूजन करती थी। नवविवाहित 6,8 या 10 कुंआरी लड़कियों को बबूल का दातुन (लकड़ी) देकर आमंत्रित करती थी। ये लड़कियाँ गौरी पूजन में उसका साथ देती थी।

अपने दैनिक काम–काजों में समय निकालकर स्त्रियाँ, हाथों और पांवों पर मेंहदी रचाकर सुंदर वस्त्र और आभूषण पहनकर गणगौर के गीत गाती थी। घूमर नृत्य इस उत्सव में चार चाँद लगा देता था।

जयपुर और बीकानेर में गणगौर की सवारी निकाली जाती थी। जोधपुर में गवर (पार्वती) और ईसर (शिव) की सवारी को तालाब तक पानी पिलाने ले जाया जाता था। तीज के त्यौहार की तरह, गणगौर के उपलक्ष में भी स्त्रियों को अपने पिता के घर से नए वस्त्र और सिंजारा (भेंट, मिठाई आदि) मिलता था।

(3) आखा तीज (अक्षय तृतीया) -

यह वैशाख के महीने में मनाया जाने वाला सबसे महत्वपूर्ण त्यौहार था। इस पर्व को वैशाख की शुक्ल पक्ष की तृतीया को मनाया जाता था। इस दिन राजपताने के कृषक हवा का रुख देखकर शगुन लेते थे। लोगों का ऐसा विश्वास था कि इस दिन अच्छे शगुन होने से सारा वर्ष आनंद से बीतेगा।

बाजरा, गेहूँ, चना, तिल, जौ इत्यादि सात अनाजों की पजा कर शीघ्र ही वर्षा की कामना की जाती थी। घरों के द्वार पर अनाज की बालियों के चित्र बनायें जाते थे। स्त्रियाँ मंगलाचार के गीत गाती थी। इस दिन बच्चे दुल्हा–दुल्हन का वेश धारण करके प्रत्येक घर में जाते थे, जहाँ उन्हें जलपान कराया जाता था और शगुन के रूप में कुछ पैसे दिए जाते थे।

खीच और गलवानी इस दिन का विशिष्ट भोजन होता था। इस महत्वपर्ण लोकोत्सव के दिन राज्यों में दरबार लगते थे। राज्याधिकारी शासक को गुज़रा करने जाते थे। दरबारियों में अफीम और सखे मेवे बाँटे जाते थे।

जिला नागौर में आखा तीज के शुभावसर पर लोग अपने मित्रों और संबंधियों को भोज पर आमंत्रित करते थे। यह दिन बहुत शुभ माना जाता था। इस दिन लोग बिना मुहर्त निकलवाये ब्याह रचाते थे।

(4) तीज –

श्रृंगार की भावनाओं का यह त्यौहार सावन–भादों की मनोरम ऋतु होने के समय मनाया जाता था। इस समय सावन की फुआरों से धरती की तपन दूर हो चुकी होती है। नए अंकुरण से धरती हरियाली चादर ओढ़ लेती है। राजस्थान में दो तीजों के पर्व मनाये जाते थे, लौडी तीज और बड़ी तीज। लौडी तीज (छोटी तीज) श्रावण के शुक्ल पक्ष की तृतीया को और बड़ी तीज भाद्रपद के कृष्ण पक्ष की तृतीया को पड़ती थी। तीज के पहले से ही चौमासा के गीत

प्रारंभ हो जाते थे। गाँव–गाँव और कस्बे–कस्बे में जब ये गीत गाये जाते थे, तब लोक जीवन में उत्साह और उल्लास आ जाता था।

ऐसी मान्यता है कि इस दिन शिव और पार्वती का पुनर्मिलन हुआ था। इस दिन स्त्रियाँ रंगीन लहंगे और सतरंगी–पचरंगी ओढ़ने ओढ़े, हाथों पर मेंहदी लगाये और आभषणों से सुसज्जित होकर त्यौहार मनाती थी। यह पर्व मुख्यत : कन्याओं और स्त्रियों का था। कन्याएँ और स्त्रियाँ दिन भर उपवास रखती थी। कन्याएँ एक सुयोग्य वर की कामना करती थी और स्त्रियाँ अपने पति की दीर्घायु और समृद्धि की कामना करती थी। वे दिन भर झले का आनन्द उठाती और गीत गाकर वातावरण को संगीतमय बनाती थी।

शाम को सभी एकत्र होकर मंदिर जाती थी। मंदिर में मिट्टी का एक छोटा सा कुंड बनाया जाता था। जिसमें दूध और पानी का मिश्रण भरा जाता था। कुंड के किनारे एक जलता दीपक रखकर स्त्रियाँ और बालिकाएँ नींब, लाल कपड़ा, मोती, नीम की पत्तियों आदि की परछाई देखने का प्रयत्न करती थी। उपवास रात्रि को चाँद देखकर उसकी पूजा करने के पश्चात् समाप्त किया जाता था।

विवाहित कन्याओं के ससुराल में उनके माता–पिता "सिंजारा" भेजते थे। सिंजारा में वस्त्र, फल, मिठाई इत्यादि भेजे जाते थे।

जयपुर में यह त्यौहार बड़ी धूमधाम से मनाया जाता था। राजस्थान के कोने–कोने से लाखों की संख्या में लोग इस त्यौहार का आनंद उठाने जयपुर आते थे। इस अवसर पर तीज माता की सवारी निकाली जाती थी। सवारी में सबसे पहले सजे हुए हजारों हाथी घोड़े होते थे। फिर तीज माता और अंत में अपनी–अपनी वेशभूषा में सजे लोग। ये लोग नृत्य करते और गीत गाते हुए सवारी के साथ जाते थे।

(ब) मारवाड़ के कुछ विशिष्ट त्यौहार :

(1) निर्जला एकादशी –

हिन्दुओं के लिए एकादशी विशेष धार्मिक महत्व की है। न केवल ब्राह्मण बल्कि प्रत्येक हिन्द इसे तन्मयता से मनाता है। इस दिन लोग अपनी श्रद्धा अनुसार दान–दक्षिणा देते है। लोग इस दिन उपवास रखते है। कोई अधार्मिक कार्य नहीं करते तथा दिन भर भक्ति उपासना में व्यस्त रहते है।

निर्जला एकादशी का पर्व जेठ के महीने में शुक्ल पक्ष की एकादशी के दिन पड़ता है। जैसा कि नाम से विदित है, इस दिन लोग उपवास करते थे, जिसमें पानी तक पीना वर्जित था। ब्राह्मणों, कन्याओं और गरीबों को दान–दक्षिणा दी जाती थी। एक ब्राह्मण जोड़े (पति–पत्नि) को वस्त्र दिए जाते थे, जिसे निर्जला रो पेहरावन कहा जाता था। ये दान–दक्षिणा अपनी स्थितिनुसार दी जाती थी। उदाहरण के लिए जोधपुर की रानी साहिबा ने 1953 विक्रम सम्वत् में 21 ब्राह्मणों को लोटे, टुकड़ियाँ, कलसिया, पगरखी, फल आदि भेंट किए। इतना ही नहीं ब्राह्मणों के लिए ब्रह्म भोज की भी व्यवस्था की गई।

(2) **झूलना एकादशी –**

भाद्रपद के शुक्ल पक्ष की एकादशी को ठाकुरजी (भगवान) की एक सवारी निकाली जाती थी, जिसे रेवाड़ी कहा जाता था। यह त्यौहार विशेषतया मारवाड़ का ही था। रेवाड़ी के आगे कपूत, सुतरी, बरलाय, नोबत इत्यादि वाद्य होते थे। शाही अधिकारी भी इस रेवाड़ी में उपस्थित होते थे। गुलाब सागर पर ठाकुरजी को स्नान करवाया जाता, फिर भेंट और चढ़ावा चढ़ाया जाता। अंत में आरती उतारी जाती और तालाब में नारियल तथा ककड़ी की भेंट चढ़ाई जाती थी। लोग इस दिन भी उपवास करते थे।

(3) बछ बारस

यह मारवाड़ का एक विशिष्ट पर्व था, जो भाद्रपद माह के कृष्ण पक्ष की द्वादशी को मनाया जाता था। यह मुख्यतया स्त्रियों का त्यौहार था। इस दिन स्त्रियाँ गाय और बछड़े की पजा करती थी।

इस त्यौहार के पीछे यह कथा प्रचलित है – एक बार एक वृद्धा ने अपनी पुत्र वध से गाय का बाटा बनाने के लिए कहा और बछड़े को रस्सी से छुड़ाने की आज्ञा दी। पुत्र–वध ने बात ठीक से नहीं सुनी, उसने बछड़े को ही एक बर्तन में पका दिया। वृद्धा स्त्री ने जब बछड़े की पछताछ की तो उसे सारी घटना ज्ञात हुई। बेचारी वृद्धा संकट में पड़ गई क्योंकि गाँव की स्त्रियां गाय और बछड़े की पूजा के लिए आने वाली थीं। उसने गऊ माता से स्वयं को संकट से उभारने की प्रार्थना की। गऊ माता की कृपा से बछड़ा फिर जीवित हो उठा। उसी दिन से बछ बारस का त्यौहार मनाया जाता है।

इस अवसर पर बछड़े के मस्तक पर तिलक लगाकर उसे फलों की माला पहनाई जाती थी। फिर उसे भिजोवना खिलाया जाता था। भिजोवने में अंकुर निकली मोठ की दाल, चने और लड्डू होते थे। उसके बाद स्त्रियाँ अपने पुत्रों के टीका लगाती, उन्हें लड्डू खिलाती और नकद रुपये भेंट करती थी। (पुत्र को बछड़े का प्रतीक मानकर पूजा जाता था) इस दिन स्त्रियाँ केवल उबले मोठ की सब्जी, सोगरे (बाजरे की रोटी) के साथ खाती थी। स्त्रियाँ इस दिन चाकू से सब्जी इत्यादि नहीं काटती थी।

(स) राष्ट्रीय स्तर पर मनाये जाने वाले त्यौहार :

(1) **होली** –

रंगों का त्यौहार होली, फाल्गुन शुक्ला पर्णिमा को संपर्ण राजपताने में ही नहीं वरन् पूरे भारत में मनाया जाता था। पौराणिक कथा के अनुसार इसी दिन भक्त प्रहलाद की भक्ति की विजय हुई थी और हिरण्यकश्यप के नृंशस शासन का अंत हुआ था। रबी की फसल की कटाई का समय होने के कारण संपर्ण जनमानस इस पर्व को हर्षोल्लास के साथ मनाता था। होली के नाच–गाने एक महीने पर्व ही आरंभ हो जाते थे। गली–गली गीतों और चंग की आवाज गंजने लगती। लोग चंग की थाप पर डांडिया नृत्य करते नहीं थकते।

साधारण जनता की तरह होली का त्यौहार राजपरिवारों में भी उतने ही उल्लास से मनाया जाता था। परम्परा के अनुसार फाल्गुन के शुक्ल पक्ष की द्वितीया को गेहर किले जाती

थी। होली तक ये गेहर एक दिन के अंतराल के बाद किले पहुँचती थी। इन गेहरों को जातिनुसार–पुरबियों की गेहर, सन्यासियों की गेहर, जोगेश्वरों की गेहर आदि पुकारा जाता था।

होली के एक दिन पुर्व रोपणी की रस्म होती थी। इसके अंतर्गत खेजडी के पेड़ की एक टहनी जमीन में खोदे गये गडडे में खड़ी की जाती थी। दरबार से व्यास, पुरोहित जोशी इत्यादि गाजे–बाजे के साथ इसकी पजा करने जाते थे। रोमांचक बात यह थी कि शाही घराने का प्रत्येक व्यक्ति अपना अलग पुजापा (पुजा का सामान), रोपणी के लिए भेजता था। रोपणी की रस्म के अगले दिन होलिका दहन होता था।

सभी बड़े पर्वों की तरह इस दिन भी राज दरबार लगता था। परगनों से भेंट इत्यादि और अधिकारियों को अबीर और गुलाल भेंट की जाती थी। होलिका दहन के अगले दिन छारोड़ी मनायी जाती थी। लोग एक–दूसरे पर रंग और गुलाल डालकर उत्सव का आनंद उठाते। सारा वातावरण रंगों का इन्द्रधनुष सा प्रतीत होने लगता था। हमारे अध्ययन काल में पिचकारी से रंग डालने का उल्लेख मिलता है। राजा स्वयं अपने अधिकारियों और जनता के साथ होली खेलता था।

(2) रक्षा बंधन –

यह त्यौहार केवल भाई–बहिन के प्रेम का प्रतीक ही नहीं था, वरन् इसका धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक महत्व भी था। इस पावन त्यौहार के दिन बहन अपने भाई की कलाई पर राखी बांधती थी और ब्राह्मण अपने यजमान की कलाई पर। इस दिन श्रवण कुमार की भी पूजा अर्चना की जाती थी। घरों के प्रवेश द्वारा पर श्रवण कुमार का एक चित्र बनाया जाता था। जिसमें उसे अपने माता–पिता की डोली को कंधे पर उठाये हुए दर्शाया जाता था। इस चित्र को कुमकुम लगाया जाता और मिठाई भेंट की जाती थी। राजनीतिक पक्ष में ये सरदारों और जागीरदारों की शासक के प्रति स्वामीभक्ति का सचक था। इस दिन सभी सरदार और जागीरदार अपने राजा के समक्ष उपस्थित होकर सम्मान प्रकट करते थे।

जोधपुर राज्य में इस दिन दरबार लगता था। सभी दरबारी इसमें उपस्थित होते थे। सरदार शासक के मस्तक पर तिलक लगाकर राखी बांधने और शासक उन्हें साफे (पगड़ी) भेंट करता। इसी प्रकार राखी बांधने के उपरांत प्रत्येक भाई अपनी बहन को श्रद्धानुसार भेंट देता था।

(3) दशहरा –

यह पर्व राजस्थान के वीरों के लिए एक विशेष महत्व रखता था। इसे आसोज माह के शुक्ल पक्ष के दसवें दिन मनाया जाता था। इस त्यौहार से पहले नवरात्रि मनाई जाती थी। जिसका आरंभ देवी की स्थापना से होता था। इस दिन पुरे गाजे–बाजे से देवी की स्थापना यज्ञ और बलि चढ़ाकर की जाती थी। इसी दिन ज्वार (जौ) बोई जाती थी और उसकी आराधना की जाती थी। पुरे नो दिन तक देवी को विभिन्न तरीकों जैसे व्रत, यज्ञ, प्रार्थना, धार्मिक प्रवचन इत्यादि द्वारा पुजा जाता था। आठवें दिन होमाष्टमी मनाई जाती थी। नौ कन्याओं को दुर्गा के नौ प्रतीक के रूप में पुजा जाता था।

सभी राजघरानों में भी ये त्यौहार इतनी ही श्रद्धापर्वक मनाया जाता था। जोधपुर किले में प्रत्येक दिन चावण्डा माता (राजपतों की कुल देवी) का पाठ करवाया जाता था। नवें दिन

ब्राह्मणों को घेवर, लड्डू, दही, थडी, हलवा, लापसी, खीर–खाजा, चावल आदि का भोज कराया जाता। पुरे नौ दिन तक किले पर नौबत बजाई जाती थी।

दशहरा का त्यौहार राम की रावण पर विजय, अच्छाई की बुराई पर विजय का प्रतीक है। इसी दिन राम ने रावण को मारने में सफलता प्राप्त की थी। सदियों से लोग इस विजय के उपलक्ष्य में इस दिन रावण का पुतला जलाकर, राम की विजय मनाते है। राजस्थान में भी ये पर्व धुमधाम से मनाया जाता था।

प्रत्येक राज्य में इस दिन दरबार का आयोजन होता था। दरबार की समाप्ति के बाद शासक और सरदार भोज का आनंद उठाते थे। अंत में सरदार गुजरा (प्रणाम) करते और शासक की ओर से सीख (भेंट) दी जाती। परगनों से राजा के लिए इस दिन भेंट आती थी। जोधपुर राज्य में दशहरा के उपलक्ष में सर्वप्रथम किलेदार, महाराजा की व्यक्तिगत तलवार से भैसे की बलि चढ़ाता था। दोपहर बाद शाही लवाजमे के साथ एक बड़ा जुलस निकाला जाता, इस जुलस में भगवान राम की सवारी निकाली जाती थी। उन्हें एक सुसज्जित रथ में बिठाकर रावण के पुतले तक ले जाया जाता, जो सामान्यतया शहर के द्वार के बाहर बनाया जाता था। राजा स्वयं भी इस जुलस में भाग लेता था।

इस स्थान पर एक मेला सा लग जाता था। शहर के निवासी इसमें उमंग के साथ भाग लेते थे। राम की सवारी के पहुँचने के बाद रावण का पुतला जलाया जाता। लोग भिन्न– भिन्न प्रकार की आतिशबाजी का आनंद लेते।

(4) दीपावली

भारतीय संस्कृति में ऐसे भी पर्व है, जिनमें धर्म की परिधि में विज्ञान और लोक जीवन की परी झाँकी निहित है। इन पर्वों में दीपावली सर्वोपरि है। यह त्यौहार हिंदुओं का सबसे बड़ा त्यौहार है। इस दिन भगवान राम, रावण को पराजित करने के उपरांत अयोध्या लौटे थे। अयोध्यावासियों ने राम का स्वागत घी के दिए जलाकर किया। तभी से आज तक भारतीय संस्कृति में यह परंपरा चली आ रही है। दीयों का त्यौहार कार्तिक माह की अमावस्या को मनाया जाता था।

दीपावली से बहुत पहले ही त्यौहार की तैयारियाँ हो जाती थी। लोग अपने घरों की सफाई और पुताई करते थे। कुम्हार हफ्तों पहले मिट्टी के दीये बनाने में व्यस्त हो जाते थे। महलों में रहने वाले लोगों से लेकर झौपड़ी में वास करने वाले लोगों को इन दीयों की आवश्यकता पड़ती थी।

दीपावली के दो दिन पर्व धनतेरस का एक दीया जलाया जाता था, जिसे यम दीप कहा जाता था। धनतेरस के अगले दिन, अर्थात् दीपावली के एक दिन पर्व छोटी दीपावली मनायी जाती थी। इस दिन ग्यारह दीप जलाये जाते थे। इस दिन तेल के व्यंजन बनाये जाते थे। और दीपावली के दिन तेल व घी दोनों के व्यंजन बनाये जाते थे।

विभिन्न राजघरानों में दीपमालिका के अवसर पर दरबार का आयोजन होता था। सभी मुत्सदी, जागीरदार इत्यादि दरबार में उपस्थित होते थे और महाराजा को नजर भेंट करते थे। इसी दिन परगनों के मुख्यालयों से खजाना भी दरबार में भेजा जाता था। महत्वपूर्ण राज्य

निर्देश जैसे पदोन्नति इत्यादि इसी दिन जारी किए जाते थे। किले और सरकारी इमारतों पर दीये जलाये जाते थे। किले पर नाई जाति के लोगों को दीप जलाने का काम सुपुर्द था। किले में रंगीन झाड़फानुस, रंग–बिरंगी झंडिया लगाई जाती थी। बाजार सजाये जाते थे। रात्रि के समय लोग आतिशबाजी का आनंद उठाते थे। ऐसा प्रतीत होता था कि जैसे कि रोशनी की बाढ़ आ गई हो। दीयों की जगमगाहट से अमावस्या की काली रात देदीप्यमान हो जाती थी।

दीपावली के दिन लक्ष्मी पूजन होता था। वैश्य संप्रदाय और व्यापारियों के लिए ये एक महत्वपूर्ण दिन था। इस दिन वे अपने नए बही खाते शुरु करते थे। इसी दिन उनका नववर्ष आरंभ होता था।

दीपावली के दूसरे दिन लोग एक–दूसरे से मिलने जाते थे। इसी दिन गोवर्धन पूजा भी की जाती थी। गाय को भी पूजा जाता था। उसके गले में घटिया बांधी जाती थी। बैलों के सींग रंगे जाते थे। गाय पर मेंहदी और रंग इत्यादि लगाया जाता था। गोवर्धन पूजा के अगले दिन दवात–मजा की जाती थी।

(5) अन्य त्यौहार

राजस्थान में शरद पूर्णिमा, नागपंचमी, जन्माष्टमी, गणेश –चतुर्थी, मकर सक्रान्ति बसंत पंचमी और शिवरात्रि आदि भी उल्लास के साथ मनाया जाता था।

13.4 मुसलमान त्यौहार –

राजस्थान में काफी संख्या में मुसलमान थे। उन्हें अपने धार्मिक एवं सांस्कृतिक त्यौहारों को मनाने की पर्ण स्वतंत्रता थी। राज्य की ओर से उनके त्यौहार मनाने के लिए प्रोत्साहित किया जाता था। ईद–उल–फितर, ईद–उल–जुहा, मुहर्रम, बारावफात और शब–ए–बारात मुसलमानों के प्रमुख पर्व है।

(1) ईद–उल–फितर

इसे शावल, दसवें महीनें के प्रथम दिन मनाया जाता था इस माह को दूध का महीना कहा जाता था, क्योंकि इस माह में मुसलमान मीठी सेवईयाँ बनाते थे। इसे खाली महीना भी कहा जाता था।

ईद–उल–फितर को रोजा ईद भी कहा जाता था। मुसलमान पूरे एक महीने तक रोजा (उपवास) रखते थे। ये दिन में न कुछ खाते थे और न ही कुछ पीते थे। शाम को तारों के निकलने के बाद खाना खाया जाता था। पूरे महीने दान–पुण्य किया जाता था। महीने के अंत में रोजा–ईद का त्यौहार मनाया जाता था।

बच्चे, बड़े, बुढें सभी नए वस्त्र पहन कर मस्जिद जाते थे। नमाज के बाद सारा वातावारण ईद मुबारक – ईद मुबारक से गूँज उठता था। मुसलमान दिन भर हर्षोल्लास से एक–दूसरे के घर ईद–मिलन के लिए जाते और उपहारों का आदान–प्रदान करते। विभिन्न राजघराने भी मुसलमानों के उत्सव में भाग लेते थे। किले से इस पर्व के उपलक्ष्य में छह तोपें दागी जाती थी।

(2) **ईद–उल–जुहा (बकरा ईद) –**

यह पर्व जित्कार की दसवीं तारीख को इब्राहिम द्वारा अपने प्रिय पुत्र इस्माईल की कुर्बानी की स्मृति में मनाया जाता था। कुर्बानी के बाद, जब चादर हटाई गई तो बजाय इस्माईल के एक भेड़ कटी मिली। इसी के प्रतीक के रूप में इस दिन बकरे–भेड़ आदि की कुर्बानी की जाती थी और उसके माँस को एक दूसरे को वितरित किया जाता था। सामान्यत: कुर्बानी करने वाला व्यक्ति ही बकरे को काटता था। बकरे का सिर मक्का की दिशा में रखा जाता था। माँस तीन भाग में बाँटा जाता था। एक भाग दान में दिया जाता, दूसरा संबंधियों और मित्रों में बाँटा जाता और एक भाग कुर्बानी देने वाले व्यक्ति के लिए शेष बचता। कई लोग इस दिन सवा पहर अर्थात् 9.45 बजे तक उपवास रखते थे। प्रात: काल ही लोग नमाज के लिए ईदगाह जाते थे।

(3) मुहर्रम –

इस त्यौहार के अवसर पर मुसलमान दस दिन तक उपवास रखते थे। अंतिम दिन मुहम्मद साहिब के नाती हुसैन और हुसन इमाम के बलिदान की याद में ताजिये निकालते थे। यह पर्व मुहर्रम माह में मनाया जाता था। ताजिये निकालने से एक रात पहले मेहंदी रात या कल की रात मनायी जाती थी।

मेहंदी रात के अगले दिन ताजियों का जुलस निकाला जाता और उन्हें शहर से बाहर ले जाकर दफना दिया जाता। जुलस के साथ, अखाड़ा करने वाले जाते थे और कुछ नवयुवक छाती पीट–पीट कर शोक का प्रदर्शन करते थे। जुलस के मार्ग पर कई स्थानों पर प्याऊ की व्यवस्था की जाती और कई स्थानों पर शर्बत भी पिलाया जाता था।

(4) शब–ए–बारात –

यह पर्व शबान महीने के 14वें दिन मनाया जाता था। मुसलमान इस अवसर पर कुरान का पाठ करते थे। लोग अपने घरों और मस्जिदों को दीयों से सजाते थे और आतिशबाजी का आनंद उठाते थे। इसी कारण अबुल फजल ने इसकी दीवाली के साथ तुलना की है।

(5) बारावफात

बारावफात का त्यौहार रबी–उल–अवाल माह के 12वें दिन मनाया जाता था। इस त्यौहार को मनाने के पीछे यह तथ्य है कि इसी दिन इस्लाम के पैगम्बर हजरत मुहम्मद सा. का जन्म एवं वफात हुई। इस दिन मुसलमान लोग कुरान ख्वानी एवं दउद फातिहा करते है। बारावफात का जलसा किया जाता है। जिसमें हजरत मुहम्मद साहब के जीवन–परिचय एवं उनकी कार्यशैली, उपलब्धियों एवं शिक्षाओं पर प्रकाश डाला जाता है। मकतब एवं अन्य धार्मिक संस्थाओं में अध्ययन–अध्यापन करने वालों को ईनाम व अन्य तोहफे भी दिये जाते है। बच्चों, यतीमों एवं फकीरों को खाना खिलाया जाता है। दान–दक्षिणा एवं अन्य पुण्यार्थ कार्य किए जाते है।

13.5 जैन त्यौहार :

(1) पर्युषण –

जैन संप्रदाय से संबंधित अनेक उत्सव भी राजस्थान में बड़ी श्रद्धा से मनाये जाते थे। भाद्रपद में मनाया जाने वाला उत्सव पर्युषण, जैन धर्मावलम्बियों का सबसे पवित्र और महत्वपूर्ण पर्व है। श्रावकगण इस अवसर पर मंदिर जाते थे, पूजन, अर्चन, स्तवन, कीर्तन, व्रत, उपवास आदि प्रक्रियाओं द्वारा आत्म शुद्धि, संयम एवं नियम का पालन करते थे। इस उत्सव का अंतिम दिन संवत्सरी कहलाता था।

(2) संवत्सरी –

संवत्सरी के दूसरे दिन अर्थात् अश्विन कृष्णा के प्रथम दिन को क्षमावाणी पर्व मनाया जाता था। इस दिन जैन संप्रदाय के लोग एक जगह इकट्ठा होकर एक दूसरे से क्षमा याचना करते थे। इस पर्व में नैतिक आचरण और धार्मिक चिंतन की प्रधानता है जो भारतीय संस्तुति का मूल मंत्र है।

(3) **पालना –**

जोधपुर के ओसवालों में पर्युषण के अवसर पर पालना की रस्म की जाती थी। इस अवसर पर लोग घी की बोली लगाते थे। सबसे ऊँची बोली लगाने वाले को भगवान का पालना अपने घर ले जाने का अधिकार मिलता था। भगवान को अगले दिन वापिस मंदिर पहुंचा दिया जाता था।

(4) इंद्रध्वज –

कार्तिक माह की पूर्णिमा पर इंद्रध्वज का जुलस निकाला जाता था। जोधपुर में यह मंडी स्थित महावीर जी के मंदिर से आरंभ होकर नागोरी गेट के मुकमचंद मंदिर तक जाता था। जुलस में दरबार द्वारा हाथी, कोतल, घोड़े इत्यादि भिजवाये जाते थे।

13.6 ईसाई त्यौहार –

राज्य में रहने वाले ईसाई लोग क्रिसमस, ईस्टर और नव वर्ष. के त्यौहार बड़ी धमधाम से मनाते थे। राज्य के विभिन्न शासक उस अवसर पर भेंट, मिठाई इत्यादि अंग्रेज अधिकारियों के लिए भिजवाते थे।

13.7 सारांश :

भारत की सांस्कूतिक परंपराओं के अंतर्गत जो त्यौहार सार्वदेशिक थे, वे तो सम्पूर्ण राजपताने में उल्लास और उमंग के साथ मनाये जाते थे। इनके अतिरिक्त कई ऐसे त्यौहार भी थे, जो इस प्रदेश की लोक संस्कृति के परिचायक थे।

इन त्यौहारों का उद्भव यहां की प्राकृतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों से हुआ है। रेगिस्तान होने के कारण यहां वर्षा का सदैव महत्व था। इसके आते ही राजस्थानी लोग आनन्द की मन–स्थिति में आ जाते थे। यही कारण है कि यहां वर्षा ऋतु में अनेक उत्सवों और त्यौहारों का आयोजन होता था।

हजारों वर्ष बीत जाने के बाद भी ये पर्व और मेले समाज को सांस्कूतिक एकता के सत्र में गंथे हुए है। रेगिस्तान के कठोर संघर्षमय जीवन ने, राजपताना के लोगों को नीरसता नहीं, वरन् एक प्रकार की अदभूत सरसता प्रदान की है। यहां के पर्व ओर मेले संघर्षरत समाज को एक नया जीवन–दर्शन प्रदान करते है।

इन सामाजिक और धार्मिक प्रथाओं के माध्यम से जीवन पद्धति की नींव सुदृढ़ और गहरी हो जाती है तथा संस्कारों का प्रतिनिधित्व करती है।

राजस्थान की संस्कृति के लौकिक रूप को चित्रित करने में इन सामाजिक त्यौहारों और उत्सवों का बहुत बड़ा योगदान है। भारतीय दर्शन, धर्म और संस्कृति का सच्चा : स्वरूप आज भी हमें दीपावली, दशहरा, गणगौर, तीज आदि उत्सवों में जीता–जागता मिलता है। भारतीय और राजस्थानी सभ्यता के सृजनात्मक उपादान इन नियमित अनुष्ठानों में निहित है। पारलौकिक और लौकिक विद्याओं का समन्वय प्रत्यक्ष रूप से इन त्यौहारों और उत्सवों के परिपालन में मिलता है जो सच्ची संस्कृति का रूप है।

13.8 संदर्भ ग्रन्थों की सूची

English :

1. Dubois Abbe — Hindu Manners, Customs and Ceremones translated by Henry K. Beauchamp (Oxford, 1906)
2. Sharma, G.N. — Social Life in Medieval Rajasthan (Agra, 1968)
3. Zabar Singh — East India Company and Marwar
4. shukla, U.S. — Wall Paintings of Rajasthan (Ahmedabad, 1984)
5. Prabhakar Manohar — Cultural Heritage of Rajasthan (Jaipur,1972)
6. Ahuja, D.R. — Folkore of Rajasthan (Delhi, 1980)
7. Boileau, A.H.E. — Personal Narrative, a tour through the Western State of Rajwara in 1835 (Calcutta, 1837)
8. Parihar, Vinita — Society in Transition (Jaipur, 1989)
9. Erskine, K.D. — Rajputana Gazettes Vol. 3(a) (Allahbad)
10. Rajputana Gazetter Vol. II, 1997
11. Report, on the Political administration of Jodhpur State

हिन्दी

1. शर्मा, गोपीनाथ — राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास (जयपुर,1989)
2. गहलोत, सुखवीर सिंह — राजस्थन के रीति – रिवाज (जयपुर, 1966)
3. डॉ. जयसिंह नीरज, — राजस्थान की सांस्कृतिक परंपरा, भगवती लाल शर्मा, संपादक (जयपुर,1989)

इकाई – 14

अकाल - उसके सामाजिक व आर्थिक प्रभाव

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य
14.1 प्रस्तावना
14.2 राजस्थान में 1818 ई. से 1949 ई. के मध्य स्थिति एवं स्वरुप
14.3 अकाल का अर्थ एवं परिभाषा
14.4 अकाल पड़ने के कारण
14.5 अकाल के सामाजिक प्रभाव
14.6 अकाल के आर्थिक प्रभाव
14.7 अकाल को रोकने एवं नियंत्रण करने हेतु उपाय
14.8 सारांश
14.9 अभ्यासार्थ प्रश्न
14.10 संदर्भ ग्रंथों की सूची

14.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप निम्नांकित बिन्दुओ का अध्ययन करेंगे:

- 1818 ई से 1949 ई के मध्य किस प्रकार अंग्रेजी शासन का स्वरूप एवं अर्थव्यवस्था की स्थिति विद्यमान थी।
- अकाल अर्थव्यवस्था की समस्याओं के अन्तर्गत महत्वपूर्ण समस्या के रूप में बना रहा।
- अकाल शब्द से क्या अर्थ है एवं इसके संबंध में विभिन्न विद्वानों एवं अर्थशास्त्रियों के द्वारा दिए गए विचार।
- अकाल की स्थिति किन परिस्थितियों के फलस्वरूप उत्पन्न होती है।
- अकाल की स्थिति के कारण सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्र में क्या प्रभाव पड़ते है।
- अकाल को रोकने हेतु उपाय, सुझाव तथा सरकार के द्वारा किए गए विभिन्न प्रयासों का विश्लेषणात्मक विवरण।

14.1 प्रस्तावना

राजस्थान में अकाल अर्थव्यवस्था का अंग बन गया है। अकाल की समस्या प्राचीन एवं निरंतर चली आ रही समस्या का स्वरूप है। ऐतिहासिक दृष्टि से प्रसिद्ध इतिहासकार जेम्स टॉड ने राजस्थान में पड़े अकालों का हृदय विदारक एवं विश्लेषणात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है। उन्होंने लिखा है कि विक्रम संवत् 1348 और 1392 के अकालों में कई लोग तड़प–तड़प कर भूख के कारण यमुना नदी में डूबकर मर गए थे। विक्रम संवत् 1500 से 1900 तक लगभग 10 बड़े एवं भीषण अकाल पड़े। विक्रम संवत् 1900 से 1901 के भीषण अकाल भी काफी संख्या में लोगों व पशुओं की मौत का कारण बने। विक्रम संवत् 1956 का सबसे विनाशकारी अकाल का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है कि इस अकाल में अनाज, पानी, चारे आदि सभी

चीजों की अकाल की स्थिति उत्पन्न हो गयी थी जिसे "छपन्ना का अकाल" उपमा दी गयी है। इस अकाल में लगभग 10 लाख लोग मृत्यु को प्राप्त हुए थे। कर्नल टॉड ने इस समस्या का "प्राकृतिक रोग" के नाम से परिचय कराया है।

राजस्थान में 1947 ई के पश्चात् भी अकाल की स्थिति निरन्तर रूप में बनी रही। 1951 ई. से 1996 ई के काल में कुछ वर्षों को छोडकर अकाल की स्थिति बनी रही।

14.2 राजस्थान में 1818 ई. से 1949 ई. के मध्य स्थिति एवं स्वरुप

1818 ई का वर्ष आधुनिक ब्रिटिश कालीन भारत के संदर्भ में महत्वपूर्ण ऐतिहासिक काल माना जाता है, क्योंकि इस समय तक अंग्रेजों ने सार्वभौम सत्ता को संगठित रूप में स्थापित कर लिया था। राजस्थान में अंग्रेजों ने राजस्थान की रियासतों के साथ संधि करने की नीति को अपनाकर राजस्थान में भी अपनी सत्ता को स्थापित करने का प्रयास किया था। इस क्षेत्र में अंग्रेजी गवर्नर जनरल लार्ड होस्टिंग्ज ने राजपूत राज्यों के साथ विभिन्न संधियां करके राजपूत अंग्रेज संबंधों का एक नया अध्याय आरम्भ किया था। स्पष्ट है कि राजपूताना अर्थात् राजस्थान में अंग्रेजी शासन का प्रभाव बना हुआ था। इस युग में राजस्थान के कई क्षेत्रों में अकाल की स्थिति उत्पन्न हुई थी विभिन्न वर्षों में अकाल से प्रभावित होने वाले क्षेत्रों एवं जिलों की संख्या अलग–अलग रही है लेकिन कुछ जिले ऐसे है। पश्चिमी मरूस्थलीय क्षेत्र में जोधपुर, बाड़मेर, बांसवाड़ा जिले प्रमुख हे। इसी प्रकार झुझुनू व साकर जिले भी अकाल की चपेट में आते रहते है।.

1861 ई. में अलवर, 1868–69 ई. में राजपूताना में भीषण अकाल की स्थिति उत्पन्न हुई। यह अकाल लगभग समस्त राज्य में चला परन्तु मेवाड़, बीकानेर तथा अजमेर क्षेत्र सर्वाधिक प्रभावित हुए थे। इन अकालों में 25 हजार वर्ग मील के इलाके में निवास करने वाले 13 मिलियन लोगों पर प्रभाव पड़ा। इसी प्रकार 1896–97 व 1900 ई. में राजपूताना के कई क्षेत्रों में भयंकर अकाल की स्थिति उत्पन्न हुई थी, जिसमें काफी संख्या में लोग मृत्यु को प्राप्त हुए।

ब्रिटिश शासन काल में अकाल की भयंकरता व अकालों के आने की गति निरन्तर बढ़ती गयी। प्रत्येक आने वाला अकाल अपने पूर्ववर्ती अकाल से ज्यादा भयंकर था।

14.3 अकाल का अर्थ एवं परिभाषा

अकाल किसी भी देश की अर्थव्यवस्था की प्रमुख समस्या एवं तत्व है। राजस्थान जो की पहाड़ी एवं मरुस्थलीय प्रदेश रहा है, जहां कि नदियों, सिंचाई के साधनों की कमी, वर्षा की अनिश्चितता, अतिवृष्टि आदि परिस्थितियाँ निरन्तर रूप में बनी रहती है, उससे अकाल की स्थिति का स्वरूप कभी कम अथवा ज्यादा बना रहता है।

साधारण अर्थों में यह माना जाता है कि जब फसल का उत्पादन नहीं के बराबर हुआ हो अथवा सूखा पड़ गया हो। पशुओं के लिए चारे, पानी की कमी हो जाए, उस स्थिति को अकाल कहा जाता है।

आधुनिक परिस्थितियों में अकाल से तात्पर्य यह माना जाता है कि जब खाद्य पदार्थों की कमी की स्थिति उत्पन्न होती है तथा इस कमी की स्थिति में यदि लोगों के पास क्रय शक्ति का अभाव होता है, तभी अकाल पड़ता है।

यद्यपि एनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइन्सेज खण्ड VI पेज 85 में अकाल की परिभाषा इस रूप में दी गई है कि, Famine is "a State of extreme hunger suffered by the population of a region as a result of the failure of the accustomed food supply" तथापि आधुनिक परिप्रेक्ष्य में इसकी परिभाषा इस रूप में दी गयी है कि आज विश्व के किसी भी प्रदेश में वहां की नियमित फसलों के नष्ट होने से अकाल की स्थिति उत्पन्न नहीं हो सकती है क्योंकि आधुनिक समय में आवागमन, संदेशवाहन के साधन पर्याप्त एवं गतिशील है। किसी भी एक देश की फसल नष्ट होने पर अन्य देशों सें खाद्य सामग्री मंगवा कर अकाल की स्थिति से बचा जा सकता है। अत: आधुनिक समय में अकाल उसी स्थिति में पड़ता है जबकि किसी भी प्रदेश के मानव समुदाय के पास धन का इतना अभाव हो कि वह बढ़ी हुई कीमत देकर अनाज प्राप्त न कर सके।

14.4 अकाल पड़ने के कारण

राजस्थान के विशेष संदर्भ में अकाल के समय–समय पर होने के निम्नांकित महत्वपूर्ण कारण है।

1. **वर्षा की अनियमितता एवं अनिश्चितता :**

   राजस्थान में अकाल पड़ने का यह महत्वपूर्ण प्राकृतिक कारण माना जाता है। राजस्थान में साधारणत : वर्षा समय के प्रतिकूल होती है और जो वर्षा होती है वह पर्याप्त नहीं होती। इस स्थिति के कारण कृषक के द्वारा खेत में डाला गया बीज अथवा उगी हुई फसल नष्ट हो जाती है। राजस्थान का किसान प्राय वर्षा के पानी पर निर्भर करता है। इसी प्रकार पीने के पानी की भी काफी कमी हो जाती है, क्योंकि जलाशयों व जल स्त्रोतों में पानी कम रहता है अथवा सूखे की स्थिति बन जाती है। इस स्थिति के परिणामस्वरूप मनुष्यों व पशुओं के लिए पीने के पानी की कमी होती है जो अकाल की स्थिति को प्रोत्साहित करता है। इस स्थिति में पशुओं के लिए घास व चारे की भी कमी स्वाभाविक रूप में हो जाती है।

2. **अतिवृष्टि या अनावृष्टि :**

   अकाल की स्थिति को अत्याधिक वर्षा अथवा वर्षा नहीं के बराबर हो या सूखे की स्थिति बन जाए, उसके फलस्वरूप भी प्रोत्साहन मिलता है। राजस्थान में यह स्थिति प्राय : उत्पन्न होती रहती है। क्योंकि यदि वर्षा आवश्यकता से अधिक हो जाए, बाढ़ आ जाए तो फसलें नष्ट हो जाती है। और यदि वर्षा बिल्कुल नहीं हो या बहुत थोड़ी हो तो फसलें नष्ट हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप "अकाल" की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

3. **राजस्थान की भौगोलिक स्थिति :**

   राजस्थान में अकाल पड़ने का यह भी प्राकृतिक कारण माना जाता है कि राजस्थान की भौगोलिक स्थिति मानसून को प्रभावित करती है। राजस्थान का क्षेत्र पश्चिमी भाग में ऐसे स्थान पर स्थित है जहां बंगाल की खाड़ी की मानसूनी हवाएं सूख जाती है और वर्षा

बिल्कुल नहीं होती। इसी प्रकार अरावली पर्वत का राजस्थान के बीचों बीच उत्तर से दक्षिण तक फैले होना भी पूर्वी भाग में मानसूनी हवाओं को रोक देता है। अरब सागर से आने वाली मानसूनी हवाएँ अरावली पर्वतों के समानान्तर चलती हुयी राजस्थान में बिना बरसे पार कर जाती है जिसके कारण पश्चिमी भाग सूखा रह जाता है।

4. प्राकृतिक विपदाएँ :

राजस्थान में अकाल की स्थिति प्राकृतिक प्रकोपों के कारण भी उत्पन्न होती है। यहां ओला वृष्टि, बाढ़, पाला पड़ने, आधी, तूफान, टिड्डी दलों, फसलों में कीड़े व महामारियों आदि का प्रकोप भी फसलों को नष्ट कर देता है। इससे भी अकाल की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

5. वनों का विनाश :

राजस्थान में अधिकांश तौर पर यह प्रवृति बन गयी है कि वृक्षों को काटा जा रहा है। इसके कारण वनों का विनाश हो रहा है। इस स्थिति ने पर्यावरण को भी असन्तुलित कर दिया है। परिणामस्वरूप वर्षा कम होने लगी है। इसी के कारण जलवायु में भी शुष्कता बनी रहती है। यह शुष्कता फसलों के लिए हानिकारक होती है।

6. सिंचाई साधनों की कमी :

राजस्थान में सिंचाई के साधनों की निरन्तर रूप में कमी रही है। इस प्रदेश में सदैव से सिंचाई के साधनों – नदियों, तालाबों, कुंओं, नहरों बाँधों का अभाव रहा है। यद्यपि इस क्षेत्र में साधनों को विकसित करने का प्रयास किया जाता रहा है तथापि उसका अपर्याप्त विकास ही हो पाया है। राजस्थान में 75 प्रतिशत् क्षेत्र सिंचाई के लिए वर्षा पर निर्भर है जो कि अपर्याप्त है। इसके परिणामस्वरूप फसलों का नष्ट होना, कम उत्पादन होना, पशुओं के चारे व पीने के पानी की कमी आदि की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

7. कुटीर एवं लधु उद्योगों का पतन :

अकाल पड़ने हेतु कुटीर व लघु उद्योगों के पतन के परिणामस्वरुप भी प्रोत्साहन मिला है। आर्थिक दृष्टि से कुटीर उद्योगों व लघु उद्योग रोजगार व आय के प्रमुख स्त्रोत होते है। जोकि अकाल व मुसीबत की स्थिति में लोगों को रोजगार के साधन होते है। लेकिन राजस्थान में बड़े उद्योगों के विकास, सरकार की उपेक्षा पूर्ण नीति, कला की प्रगति के कारण इन उद्योगों का पतन संभव हुआ है। इसके कारण गरीब एवं बेरोजगार लोगों के लिए वैकल्पिक रोजगार का साधन बंद प्राय : हो गए है।

8. राजस्थान में गरीबी की स्थिति :

राजस्थान स्वतंत्रता से पूर्व एवं स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् आर्थिक दरिद्रता की स्थिति में रहा है। यहां गरीबी की रेखा निरन्तर रूप में निम्न रही है। यहां के किसान व सामान्य लोग आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न नहीं होते। वे प्राय : कर्जदार, बेरोजगार, साधनों की कमी आदि के कारण दरिद्रता की स्थिति में है। इस स्थिति का सामना करने की क्षमता नहीं रहती है। परिणामस्वरुप अकाल की गंभीरता में वृद्धि संभव होती है।

9. सामाजिक दोष एवं समस्यायें :

राजस्थान में विद्यमान सामाजिक रीति रिवाज, परम्पराएँ, सामाजिक समस्यायें भी अकाल की स्थिति को उत्पन्न करने में सहायक हुई है। यहां के निवासियों के सामाजिक पिछड़ापन, गरीबी, बेकारी, समाज के कई दोषपूर्ण रीतिरिवाज, जनसंख्या की समस्या आदि अकाल की स्थिति को प्रोत्साहन करने के कारण सिद्ध हुए है। इस सामाजिक पिछड़ापन में निवासियों में अकाल की स्थिति का सामना करने की क्षमता नहीं रहती। परिणामस्वरूप अकाल की तीव्रता को बल मिलता है।

10. सरकार की दोषपूर्ण नीति :

अकाल होने का अन्य कारण सरकार की दोषपूर्ण नीति का होना है। राजस्थान में प्रारम्भ से सरकारों का स्वरूप बदलता रहा एवं स्वतंत्रता प्राप्ति तक एवं उसके पश्चात् भी सरकार की त्रुटिपूर्ण नीति रही है। 1818 ई. से 1949 ई. के काल में सरकार के द्वारा भूमि की जो व्यवस्थाएं की उनमें उनका प्रमुख लक्ष्य अधिक मात्रा में किसान से लगान वसूल करना रहा। इसके परिणामस्वरुप राजस्थान के किसान इतने गरीब हो गए कि उन्हें दो समय का भरपेट भोजन भी नसीब नहीं हो पाता है। सरकार की गलत भूराजस्व नीति के कारण राजस्थान के किसान में यह क्षमता नहीं थी कि वह अकाल की स्थिति पैदा होने पर संकट की स्थिति के लिए कुछ बचत कर सके।

सरकार की निर्यात नीति के कारण भी अकाल की स्थिति में वृद्धि हुई। राजस्थान के कई क्षेत्रों के अलावा भारत के अधिकांश इलाकों में समय–समय पर जो अकाल पड़े उस समय अनाज व अन्य खाद्य सामग्री अन्य देशों को भेजी गयी। ब्रिटिश पेरामाऊण्टसी इण्डियन रेनेशां में कुछ आँकड़े दिए गए है उनसे यह जानकारी मिलती है कि 1849 ई में 8 लाख 58 हजार पौण्ड की कीमत के गेहूँ व चावल विदेशों को भेजे गए। 1858 ई में 3.8 मिलियन, 1877 ई. में 7.9 मिलियन पौण्ड की कीमत की खाद्य सामग्री भेजी गयी। 1901 ई में 9.3 मिलियन पौण्ड व 1914 ई. में 19.3 मिलियन पौण्ड कीमत की खाद्य सामग्री भारत से विदेशों में भेजी गयी। उस समय अलवर, राजपूताना, बंगाल, पंजाब, आगरा में अकाल की स्थिति उत्पन्न हुयी थी।

14.5 अकाल के सामाजिक प्रभाव

अकाल के परिणामस्वरुप सामाजिक क्षेत्र में अत्याधिक प्रभाव पड़ते है। सामाजिक क्षेत्र में राजस्थान के समाज परिवार लोगों के रहन–सहन, खानपान, वेशभूषा, आचार, विचार, स्त्रियों व लोगों की स्थिति, मनोरंजन के साधनों, रीतिरिवाज, परम्पराओं आदि पर अत्याधिक प्रभाव पड़ता है राजस्थान में समय व परिस्थिति के अनुसार जो अकाल पड़े उसने सामाजिक क्षेत्र के इन सभी पक्षों को प्रभावित किया।

अकाल के परिणामस्वरूप समाज में विभिन्न सामाजिक दोषों एवं बुराईयों को प्रोत्साहन मिलता है। खाद्यान्न की कमी, रोजगार के अभाव के फलस्वरूप भूखमरी की स्थिति उत्पन्न होती है। इसके कारण लोगों में चोरी, डकैती, हिंसा की प्रवृति अत्याधिक बढ़ती है क्योंकि भूख सभी प्रकार के आपराधिक कार्य करने हेतु व्यक्ति को मजबूर कर देती है। समाज में निम्न वर्ग विशेष रूप में किसान, मजदूर, श्रमिक और अधिक कमजोर, निर्बल, गरीब हो जाते है। उनके

सामाजिक शोषण में वृद्धि होती है। समाज का उच्च वर्ग और अधिक शक्तिशाली व धनवान हो जाता है क्योंकि अकाल की स्थिति में वह माल को भण्डार में रखकर ऊँची कीमतों पर खाद्यान्न की आपूर्ति करता है। यह वर्ग निम्न वर्ग का सभी दृष्टि से शोषण करता है। कृषक अपने परिवार का जीवन निर्वाह करने के लिए साहूकारों से ऋण लेते है। महाजन के पास अपनी भूमि गिरवी रखते है। जिससे वे ऋण भार में हमेशा के लिए दबते चले जाते है। बेकारी एवं भूखमरी से असामनता एवं दरिद्रता को बढ़ावा मिलता है।

अकाल के परिणामस्वरूप लोगों के रहन–सहन पर भी अत्याधिक प्रभाव पड़ता है। इस स्थिति में निम्नवर्ग के लोगों की स्थिति काफी शोचनीय हो जाती है। वे कच्चे व झुग्गी झोपड़ी में भी संतोषजनक रूप में निवास नहीं कर पाते है। उन्हें रहने व निवास करने की पूर्ण सुविधा उपलब्ध नहीं हो पाती है। उनका सामाजिक स्तर काफी नीचे गिर जाता है।

खान–पान की दृष्टि से भी लोगों की खाने–पीने की आदतों व स्तर पर इसका असर होता है। क्योंकि अकाल के परिणामस्वरूप खाद्यान्न की कमी हो जाती है अथवा महंगी हो जाती है उस स्थिति में लोगों को अपनी आदतों में परिवर्तन करना पड़ता है। मध्यम वर्ग के लोगों में उच्चस्तर पर खाद्य सामग्री पर किया जाने वाला व्यय कम हो जाता है। निम्न वर्ग के लोगों को एक समय का भोजन भी उपलब्ध नहीं हो पाता। वे ज्यादा से ज्यादा मोटे अनाज की रोटी व चटनी आदि से अपने भोजन की पूर्ति कर पाते है।

वेशभूषा की दृष्टि से भी अकाल का प्रमुख प्रभाव पड़ता है। इस स्थिति में विशेष रूप से निम्न वर्ग के लोगों में पहनने को कपड़ा भी नसीब नहीं हो पाता क्योंकि आमदनी के अभाव में जब वे अपनी भूख नहीं मिटा सकते तो कपड़ा खरीदने में वे असमर्थ रहते है। उनके पास जो कपड़े, आभूषण आदि पहले से उपलब्ध होते है, उसी से वे अपना काम चलाते है। नये रूप में उन्हें खरीदने की क्रय शक्ति का अभाव हो जाता है।

पारिवारिक दृष्टि से भी अकाल का प्रभाव होता है। परिवार में आलस्य, बेरोजगारी, कलह, की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। परिवार के सदस्यों के लिए खाद्यान्न सामग्री, रोजगार के अभाव में परिवार का सामाजिक सन्तुलन बिगड़ जाता है।

सामाजिक क्षेत्र में अकाल की स्थिति में स्त्रियों के स्तर पर भी प्रभाव पड़ता है। स्त्रियों की शिक्षा, रहन–सहन अत्याधिक प्रभावित होता है। उनके प्रति शोषण, अत्याचार व अन्य सामाजिक दोषों में वृद्धि संभव होती है।

अकाल के वातावरण में सामाजिक रीति रिवाजों एवं परम्पराओं में भी अन्तर आ जाता है। क्योंकि इन रिवाजों का पालन करने हेतु धन की आवश्यकता होती है। इसके अभाव में लोगों को विशेषकर किसानों, मजदूरों एवं निम्नवर्ग से संबंधित अन्य लोगों को अपने रिवाजों के अनुसार कार्यो को स्थगित करना पड़ता है। और साधारण व कम स्तर पर कार्यों को सम्पन्न करने के लिए मजबूर होना पड़ता है।

अकाल के कारण सभी वर्ग के लोगों के आचार–विचार में भी परिवर्तन देखने को मिलता है। इस वातावरण में सादगी, मितव्ययता, कम मात्रा में सामग्री का अधिक से अधिक उपयोग, पानी, खाद्य सामग्री का उचित सदुपयोग की विचारधारा व आदतों को प्रोत्साहन मिलता है। इसके अतिरिक्त दान दाताओं, सरकार, व्यापारी, धनिक वर्ग में दान देने, राहत कार्य

प्रारम्भ करने, प्याऊ, कुंए, बावड़ी खुदवाने, कपड़े, भोजन की व्यवस्था करने संबंधित विचारधारा को प्रोत्साहन मिलता है।

अकाल के कारण सामान्यत: समाज में रहने वाले लोगों के मनोरंजन के साधनों पर भी प्रभाव पड़ता है। इस स्थिति में लोग अपने जीवन को सुखमय, आनन्दमय नहीं बना पाते है। उनका जीवन नीरस, संकीर्ण बन जाता है। वे किसी भी कार्य को करने हेतु आलस्य प्रदर्शित करते है, जिससे उनका समय सामाजिक मनोरंजन कार्यों में नहीं लगता। इस स्थिति में सामाजिक मनोरंजन के साधनों जैसे कि आखेट, नुक्कड़ सभाएं, मल्लयुद्ध, जानवरों की लड़ाई, चौपड़, ताश, आदि में नहीं लगता। उसके लिए धन व रोजगार का अभाव भी प्रमुख बाधा बन जाता है।

14.6 अकाल के आर्थिक प्रभाव

अकाल से अर्थव्यवस्था पर व्यापक एवं दीर्घकालीन प्रभाव पड़ते है। इसके कारण अर्थव्यवस्था का सम्पूर्ण ढांचा अव्यवस्थित हो जाता है। कृषि, व्यवसाय, रोजगार, उद्योग, व्यापार आदि क्षेत्र काफी प्रभावित होते है।

अकाल के परिणामस्वरूप राज्य की कृषि आश्रित जनसंख्या का अधिकांश भाग रोजगार एवं आय से वंचित हो जाता है। क्योंकि राजस्थान में अधिकतर लोग कृषि का कार्य करते है और कृषि के फलस्वरूप अपनी आजीविका कमाते है। खेतों में फसल का उत्पादन कर, उसे बेचने पर अपनी आय प्राप्त करते है। मजदूर किसान खेतों पर जो कार्य प्रतिदिन करते है उससे उन्हें पारिश्रमिक मिलता है। स्पष्ट है कि ज्यादातर लोग कृषि कार्यों से जुड़े होते है और वही उनकी आय का साधन है। जब राजस्थान में अकाल की स्थिति उत्पन्न होती है तो कृषि कार्य में लगे लोग पानी के अभाव में खेत जोतने, बीज बोने, फसल उगाने के कार्य से वंचित हो जाते है और उन्हें उससे मिलने वाली आय भी बंद हो जाती है। उन्हें रोजगार व आय के अभाव में विश्व आर्थिक परिस्थितियों से गुजरना पड़ता है।

अकाल की स्थिति के परिणामस्वरूप लोगों में भुखमरी एवं बेकारी की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। क्योंकि अन्न व खाद्य सामग्री का उत्पादन न होने के कारण लोगों को खाने को कुछ नहीं मिल पाता। लोग भूखे रहते है जिससे मृत्यु को प्राप्त होते है। लोगों में बेकारी की स्थिति भी उत्पन्न हो जाती है। अकाल के वातावरण में उन्हें किसी प्रकार का कार्य नहीं मिल पाता क्योंकि वे शुरु से कृषि कार्य करने के आदी हो जाते है, उसके अलावा अन्य कार्य वे न तो कर पाते है और न ही कोई कार्य अकाल की स्थिति में उन्हें उपलब्ध हो पाता है। परिणामस्वरूप जन–जीवन अव्यवस्थित हो जाता है।

राजस्थान में अकाल का अन्य आर्थिक प्रभाव इस रूप में देखने को मिलता है कि इससे आर्थिक दरिद्रता और असमानता की स्थिति भी उत्पन्न हो जाती है। राज्य में रहने वाले लोगों को कार्य न मिलने, कृषि कार्य व अन्य रोजगार से वंचित होने के कारण आय की प्राप्ति नहीं हो पाती है। जब धन अथवा आमदनी का साधन अवरुद्ध हो जाता है उस स्थिति में उनमें निर्धनता की स्थिति बनती है। वे और अधिक गरीब हो जाते है। समाज में सभी वर्गो के लोगों

में आर्थिक असमानता की स्थिति उत्पन्न होती है। कोई बहुत गरीब, कोई अधिक धनवान इससे परस्पर मतभेद, विभिन्नता, असमानता का वातावरण बनता है।

अकाल के कारण लोगों में कुपोषण व भूखमरी की जो स्थिति उत्पन्न होती है; उसके परिणामस्वरूप लोगों की कार्यक्षमता भी घटती है। जब लोगों को भूखो रहना पड़े अथवा एक वक्त का भोजन भी प्राप्त नहीं हो तो लोग किसी कार्य को करने का साहस नहीं कर पाते। उनमें अन्य कार्य करने की रुचि नहीं होती। यदि वे किसी कार्य को करने की कोशिश भी करते है तो वह कार्य क्षमतापूर्वक नहीं करते क्योंकि उनसे कमजोरी, शारीरिक क्षीणता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

अकाल के कारण जब चारे की कमी होती है उस स्थिति में पशुओं की अकाल मृत्यु स्वाभाविक है। इसके परिणामस्वरूप काफी संख्या में पशु मृत्यु को प्राप्त होते है। इससे पशुपालन व्यवसाय अत्याधिक प्रभावित होता है। जो पशु खेती करने, यातायात के साधनों के रूप में, दूध, ऊन व्यवसाय के लिए पाले जाते है उनकी मृत्यु इन व्यवसायों को काफी प्रभावित करती है। जो लोग इन व्यवसायों से जुड़े होते है वे बेरोजगार हो जाते है।

राजस्थान में अकाल की स्थिति उत्पन्न होने के कारण कुल उत्पादन भी प्रभावित होता है। क्योंकि राज्य में जो उत्पादन सिंचाई साधनों, व लोगों के अथक परिश्रम के कारण होता है वह वहां के निवासियों के भरण–पोषण के लिए संतोषजनक स्थिति में होता है, लेकिन अकाल की स्थिति में कुल उत्पादन बहुत कम हो जाता है। क्योंकि फसल न होने, सूख जाने अथवा नष्ट होने की स्थिति अकाल के दिनों में उत्पन्न होती है जिससे उत्पादन पर काफी प्रभाव पड़ता है।

अकाल की स्थिति में पशूओं का पलायन भी होता है। जिस क्षेत्र में अकाल की स्थिति के कारण पानी व चारे की कमी हो जाती है। लोग अपने पशुओं को उन क्षेत्रों में ले जाते है जहां कि अकाल की स्थिति नहीं होती।

इसी प्रकार अकाल के समय पशुओं का चारा, घास व अन्य खाद्य सामग्री काफी महंगी हो जाती है जिसका असर पशुपालकों पर तो होता है साथ–साथ दूध की दर महंगी होने से उपभोक्ताओं को भी महंगाई की स्थिति का सामना करने व ऊंची दर का भुगतान करने हेतु मजबूर होना पड़ता है।

इसके अतिरिक्त सरकार को अकाल की स्थिति में वित्तीय संकट का सामना करना पड़ता है। सरकार को अकाल एवं सूखा राहत कार्यों पर अत्यधिक राशि व्यय करनी पड़ती है। उन्हें बांध बनाने, नहरें बनाने, सड़कें बनाने, कुंए खुदवाने, अन्य कार्यों को राहत कार्य के रूप में प्रारम्भ करने पड़ते है जिससे कि काफी धन व्यय होता है। अकाल की स्थिति में सरकार को लगान व ऋण माफ करने पड़ते है अथवा भुगतान स्थगित करना पड़ता है। इससे सरकारी राजकोष में कमी की स्थिति उत्पन्न होती है। राज्य सरकार की आर्थिक स्थिति एवं राजस्व पर भी इसका अत्याधिक प्रभाव पड़ता है।

अकाल के परिणामस्वरूप पानी की सबसे बड़ी समस्या होती है, जिससे मनुष्य व पशुओं तक को पीने का पानी उपलब्ध नहीं हो पाता तो कृषि व उद्योगों को जिन्हें कि अत्याधिक पानी की आवश्यकता होती है उपलब्ध न होने के कारण स्थापित उद्योग धंधे ठप्प हो जाते है

अथवा नए उद्योगों को खोलना संभव नहीं हो पाता। इससे औद्योगिक उत्पादन में कमी, आय, रोजगार में कमी उत्पन्न होती है। अधिकांश लोग बेरोजगार हो जाते है। मजदूरों की छंटनी की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

अकाल के परिणामस्वरूप जब कृषि कार्य नहीं हो पाता उस स्थिति में कच्चे माल का भी उत्पादन जैसे कपास, गन्ना, जूट आदि नहीं हो पाता। परिणामस्वरूप उनसे संबंधित उद्योग नष्ट होने लगते है। उन उद्योगों में उत्पन्न होने वाला उत्पादित माल तैयार नहीं हो पाता, जिससे उद्योग व व्यापार की गतिविधियों में गिरावट उत्पन्न होती है।

अकाल के परिणामस्वरूप ऋण ग्रस्तता की स्थिति और शोचनीय बन जाती है। क्योंकि भूखमरी, बेरोजगारी, कृषि साधनों के अभाव के कारण लोग साहूकारों से अपने जीवन निर्वाह हेतु ऋण प्राप्त करते है। इस स्थिति में ऋणी और ऋणी हो जाते है।

अकाल के कारण भूखमरी, कंगाली, और बेकारी सरकार के लिए जटिल व प्रमुख समस्या बन जाती है। सरकार प्रशासन के अन्य कार्यों की ओर अपना ध्यान न देकर केवल अकाल की समस्यायें निपटाने एवं राहत कार्य प्रारम्भ करने में व्यस्त रहती है। परिणामस्वरूप अन्य आर्थिक कार्य प्रभावित होते है तथा धन का काफी मात्रा में व्यय होता है।

अकाल के वातावरण में जब वस्तुओं व खाद्य सामग्री का अभाव हो जाता है, उसके परिणामस्वरूप ऊंचे मूल्यों को जन्म मिलता है। सभी चीजें काफी महंगी हो जाती है। गरीबों का जीवन निर्वाह दूभर हो जाता है। उनमें चोरी, डकैती, मारपीट, हत्या आदि बुरी आदतें उत्पन्न होती है।

स्पष्ट है कि अकाल के परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था पूर्णत : अस्तव्यस्त एवं अव्यवस्थित हो जाती है।

14.7 अकाल को रोकने एवं नियंत्रण करने हेतु उपाय

अकाल की स्थिति को रोकने एवं उस पर नियंत्रण प्राप्त करना प्रत्येक राज्य सरकार का कर्तव्य है। सरकार के लिए इस स्थिति को रोकने हेतु अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन दोनों ही प्रकार के उपायों का प्रयोग करना आवश्यक है। जो कि अकाल की स्थिति को रोकने के लिए व्यूहरचना का स्वरूप कहा जा सकता है। यह व्यूह रचना इस प्रकार संभव हो सकती है –

(अ) अल्पकालीन प्रबंध व्यूह रचना :

किसी भी संस्था अथवा सरकार के लिए यह वह व्यूह रचना का स्वरूप है जिसमें कि सरकार कुछ समय के लिए अकाल राहत कार्य एवं नियंत्रण के उपाय अपनाती है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत निम्नांकित कदम उठाएं जा सकते है -

1. इस व्यवस्था में सरकार को चाहिए कि वह सर्वप्रथम अकाल राहत कार्यक्रमों की घोषणा एवं उनके क्रियान्वयन की प्रक्रिया प्रारम्भ करें। इससे अकाल पीड़ित जनता को यह स्पष्ट रूप में विदित हो सके कि सरकार उनके लिए अकाल से राहत दिलाने हेतु क्या कार्य करने व लागू करने जा रही है।
2. सरकार के अधीन विभिन्न विभाग – अकाल व सूखा राहत विभाग, सार्वजनिक निर्माण विभाग, वन विभाग, सिंचाई, समाज कल्याण, जलप्रदाय एवं स्वास्थय विभाग, पंचायतें तथा

पंचायत समितियाँ आदि संस्थाएँ तथा निजी संस्थाएँ इस कार्य को सम्पन्न करने एवं उनकी क्रियान्विति में सक्रिय योगदान दे सकती है जिससे कि अकाल से राहत प्राप्त की जा सकती है एवं उसके भयंकर होने की स्थिति पर नियंत्रण प्राप्त किया जा सकता है।

3. अकाल की स्थिति उत्पन्न होने से पूर्व यदि लोगों को अकाल राहत कार्यों में लगाया जाए जैसे कि बांध, पुल, नहरें, सड़क, मेढ, आदि निर्माण संबंधी कार्य प्रारम्भ कर उन्हें रोजगार उपलब्ध करवाया जाए जिसके बदले में लोगों को मजदूरी का भुगतान उचित दर व पारिश्रमिक के रूप में किया जाए तो उस स्थिति में भी अकाल से राहत प्राप्त हो सकती है।
4. इसी प्रकार अकाल राहत कार्यों को प्रारम्भ कर लोगों को जिस कार्य में लगाया जाए उसके बदले में उन्हें अनाज के रूप में व कुछ नकद भुगतान करके भी लोगों को राहत पहुंचायी जा सकती है। क्योंकि उन्हें जब अनाज के रूप में मजदूरी मिलती है तो वे उसका उपयोग खाने के रूप में अवश्य करते है व उसका दुरूपयोग नहीं होता। मजदूरी का भुगतान पूर्णरूप से नकद करने की स्थिति में वह पैसा शराब, जुआ अथवा साहूकार को ऋण का भुगतान करने में दुरूपयोग हो जाता है।
5. अकाल की स्थिति में सरकार के द्वारा लगान व कर्जों की वसूली स्थगित कर दी जानी चाहिए जिससे कि किसानों को राहत मिल सके। अथवा अकाल निरन्तर पड़ने की स्थिति में लगान को माफ कर दिया जाना चाहिए।
6. इसी भांति सरकार के द्वारा जो ऋण अल्पकाल के लिए कर्जदारों को प्रदान किया होता है वह अकाल की स्थिति में बढ़ाकर मध्यावधि ऋण के रूप में परिवर्तित कर दिया जाना चाहिए।
7. अकाल के समय सरकार को चाहिए कि वह जगह–जगह पेयजल की व्यवस्था के लिए हैडपम्प या ट्यूबवेल खुदवाए। इसी प्रकार जो हैण्डपम्प खराब पड़े हों उन्हें ठीक करवाया जाना चाहिए। इसी प्रकार जहां हैण्डपम्प की व्यवस्था संभव न हो अथवा पानी नहीं निकल पा रहा हो उन क्षेत्रों में टेंकरों के माध्यम से पानी उपलब्ध करवाया जाना चाहिए।
8. जहां ट्यूबवेल खुदवाए जाते है वहां विद्युतीकरण की व्यवस्था भी की जानी चाहिए। इस प्रकार के कार्य के फलस्वरूप पानी अधिक मात्रा में व आसानी से शीघ्र रूप में लोगों को उपलब्ध करवाया जा सकता है।
9. गाँवों में सार्वजनिक वितरण प्रणाली को व्यवस्थित एवं सुचारू बनाकर उचित मूल्यों की दुकानें खोलकर जो लोग दूरस्थ स्थानों पर निवास करते है उन्हें भ्रमणशील दुकानों के माध्यम से आवश्यक वस्तुओं को उपलब्ध करवाकर राहत कार्य किया जा सकता है।
10. ग्रामीण इलाकों में रियायती दरों पर घास व चारे की व्यवस्था की जानी चाहिए। इस कार्य हेतु स्वयं सेवी संस्थाओं को विशेष रूप में सक्रिय कार्य करना चाहिए। सरकार को चाहिए कि वह उन सिंचित क्षेत्रों में अत्याधिक मात्रा में चारे को उगा कर कमी वाले क्षेत्रों में उसकी पूर्ति कर सके।

(ब) दीर्घकालीन प्रबंध व्यूह रचना :

अकाल की स्थिति को नियंत्रित करने एवं उसके दुष्प्रभावों से बचने हेतु स्थायी व्यूह रचना की आवश्यकता होती है। स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व एवं उसके पश्चात् भी राजस्थान में अकाल की समस्या का कोई स्थायी समाधान न खोज पाना सरकार की विवशता रही है। राजस्थान में अकाल की समस्या के निराकरण हेतु एवं दीर्घकालीन प्रबंध व्यूह रचना के लिए राजस्थान सरकार को निम्नलिखित कार्यों की ओर विशेष कदम उठाने चाहिए :

1. सरकार को चाहिए कि वह अकाल से संबंधित विशेष योजना संगठन स्थायी आधार पर लोगों को अकाल से राहत दिलाने हेतु योजनाएं व नीति बनाकर उन्हें क्रियान्वित करें।
2. इसी प्रकार राजस्थान के विभिन्न जिलों व ग्रामीण क्षेत्रों–जोधपुर, जैसलमेर, बाड़मेर, बीकानेर, चुरू, पाली, नागौर, दक्षिणी राजस्थान, डूंगरपुर, बांसवाड़ा में सूखा संभावित क्षेत्र कार्यक्रमों को लागू करें। इस कार्यक्रम के तहत सिंचाई सुविधाओं में वृद्धि, आर्थिक विकास को गति प्रदान करना, कृषि विकास की संभावनाओं का पता लगाना, मरूस्थल के विकास पर रोक, रोजगार के वैकल्पिक अवसरों में वृद्धि करना आदि से लोगों को राहत पहुंचायी जाती है।
3. राज्य में मरू विकास कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् यह कार्यक्रम सक्रिय रूप में राजस्थान के मरुस्थलीय क्षेत्रों में प्रारम्भ किया गया है। इस कार्यक्रम में भू–जल विकास भू–संरक्षक, लघु सिंचाई, पशु पेयजल, चारा विकास, दूध विकास, पशु स्वास्थय और भेड़ विकास कार्यक्रम के अतिरिक्त विद्तीकरण आदि कार्य किए जा रहे है।
4. सूखा एवं अकाल प्रभावित क्षेत्रों में जब धारा योजना 1947 ई. के पश्चात् से सरकार के द्वारा प्रारम्भ की गयी है, जिससे कि सीमान्त कृषकों को सिंचाई के विकास हेतु नाममात्र के किराये पट्टे पर पम्प सैट प्रदान करने की यह केन्द्र सरकार की योजना है।
5. राजस्थान में स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् पेयजल आपूर्ति योजना प्रारम्भ की गयी है। इससे राजस्थान के क्षेत्रों में पूर्ण रूप से शुद्ध पेयजल की व्यवस्था की गयी है जो कि सर्वोच्च प्राथमिकता का कार्यक्रम है।
6. जगह–जगह वृक्षारोपण किया जाना एवं पशुओं के लिए घास व चारे के उत्पादन में वृद्धि करना भी प्रमुख योजना है।
7. अकाल राहत कार्यों में भ्रष्टाचार पर प्रभावी रोक की सुद्ढ व्यवस्था की जानी चाहिए जिससे कि अकाल राहत कार्यों हेतु उपलब्ध धन राशि का दुरूपयोग रोक कर उसका अधिक से अधिक उपयोग राहत कर्यो में कर लोगों को पर्याप्त मात्रा में राहत पहुंचायी जा सकती है।

14.8 सारांश

उक्त विवेचन के आधार पर आपने यह अध्ययन किया कि राजस्थान में अर्थव्यवस्था का अकाल एक महत्वपूर्ण समस्या का स्वरूप है। अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में जो समस्या एवं दोष उत्पन्न होते है, उनमें यह प्रमुख समस्या है। अकाल के समय–समय पर होने और राजस्थान के विभिन्न क्षेत्रों में पड़ने वाले अकाल की भीषणता का अध्ययन ऐतिहासिक जानकारी एवं अध्ययन का रोचक विषय है। इस अध्ययन से यह भी स्पष्ट हो सका कि राजस्थान में समय–

समय पर जो अकाल पड़े एवं भविष्य में भी उनके पड़ने की जो संभावनाएं है उनके क्या कारण है।

राजस्थान में अकाल की स्थिति की भीषणता का सामाजिक व आर्थिक क्षेत्र में क्या प्रभाव पड़ता है, इसका भी अध्ययन आपने विस्तृत एवं विश्लेषणात्मक रूप में किया। इसके अतिरिक्त यह भी विवेचन किया कि किस प्रकार अकाल की स्थिति को नियंत्रित किया जा सकता है एवं अकाल की भीषणता व प्रभाव को कम किया जा सकता है।

14.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. "अकाल" शब्द से आप क्या समझते है।
2. 1818 ई. से 1949 ई. के मध्य राजस्थान में किन–किन स्थानों पर महत्वपूर्ण अकाल पड़े।
3. राजस्थान के संदर्भ में "छपना का अकाल" की उपमा के औचित्य को समझाईये।

बोध प्रश्न–2

निम्न वाक्यों को पढ़कर उनके सम्मुख सही (✓) या गलत (x) का निशान लगाएं।

1. अकाल राजस्थान की अर्थ व्यवस्था का प्रमुख अंग बन गया है। ()
2. अकाल से तात्पर्य खाद्य सामग्री की पूर्ति में कमी एवं लोगों की क्रय शक्ति में कमी से है।( )
3. अकाल मानवतावादी –दृष्टिकोण की उपज है। ()
4. अकाल के समय लोग विलासिता पूर्ण जीवन व्यतीत करते है। ()
5. राजस्थान के अकाल के संबंध में कर्नल जेम्स टॉड ने ऐतिहासिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत की है।()

बोध प्रश्न–3

निम्नांकित प्रश्नों के उत्तर 100 शब्दों में कीजिए।

1. राजस्थान में पड़ने वाले अकाल के कारणों का वर्णन कीजिए।

   .....

   .....

2. अकाल के परिणामस्वरूप राजस्थान के सामाजिक व आर्थिक जीवन पर पड़ने वाले प्रभावों का वर्णन कीजिए।

.....

.....

3. अकाल की स्थिति को रोकने एवं उस पर नियंत्रण स्थापित करने के उपायों को लिखिये।

.....

.....

14.10 संदर्भ ग्रंथों की सूची

1. डॉ. बी.के. शर्मा "आधुनिक राजस्थान का आर्थिक इतिहास"
2. एनसाइक्लोपिडिया ऑफ सोशल साइन्सेस खण्ड VI

3. रमेश दत्त "दि इकनामिक हिस्ट्री ऑफ इण्डिया"
4. आर सी. मजूमदार "ब्रिटिश पेरामाऊन्सी एण्ड इण्डियन रिनेशा"
5. जथार एवं बेरी – "इण्डियन इकनॉमी"
6. "केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया" खण्ड–VI
7. बढ़ाना "राजस्थान की अर्थव्यवस्था"
8. एच.सी.सक्सेना "राजस्थान की अथव्यवस्था"
9. बी.एल.ओझा "राजस्थान की अर्थव्यवस्था"
10. जेम्स टॉड "एनल्ट एण्ड एण्टिक्यूटिज ऑफ राजस्थान"
11. डी.एम.एल.छीपा "राजस्थान की अर्थव्यवस्था"
12. राजस्थान स्टेट गजेटियर

इकाई - 15
ग्रामीण ऋण ग्रस्तता

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य
15.1 प्रस्तावना
15.2 राजस्थान में ग्रामीण ऋणग्रस्तता के विशेष संदर्भ में अर्थव्यवस्था की स्थिति
15.3 ग्रामीण ऋणग्रस्तता का अर्थ एवं स्वरूप
15.4 ग्रामीण ऋणग्रस्तता के कारण
15.5 ग्रामीण ऋणग्रस्तता के प्रभाव
15.6 ग्रामीण ऋणग्रस्तता को दूर करने के उपाय
15.7 1818 ई. से 1949 ई. के मध्य सरकार के द्वारा ग्रामीण ऋणग्रस्तता को दूर करने के प्रयास
15.8 सारांश
15.9 अभ्यासार्थ प्रश्न
15.10 संदर्भ ग्रंथों की सूची

15.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप अध्ययन करेंगे :

- राजस्थान में ऋणग्रस्तता, ग्रामीण अर्थव्यवस्था की प्रमुख समस्या का स्वरूप बना रहा।
- 1818 ई. में राजस्थान में ब्रिटिश सर्वोच्च सत्ता की स्थापना, राजस्थान की अर्थव्यवस्था की स्थिति एवं ब्रिटिश सरकार की नीति।
- ग्रामीण ऋणग्रस्तता का अभिप्राय, अर्थव्यवस्था का अंग एवं स्वरूप।
- ब्रिटिश शासनकाल में राजस्थान के ग्रामीण क्षेत्रों में ऋणग्रस्तता की स्थिति में किन परिस्थितियों के फलस्वरूप वृद्धि हुई।
- ग्रामीण ऋणग्रस्तता का किसानों व ग्रामीण क्षेत्र में निवास करने वाले लोगों पर क्या प्रभाव पड़ा।
- ग्रामीण ऋणग्रस्तता को दूर करने के संबंध में क्या कदम उठाए गए एवं उनके निराकरण संबंधी सुझाव।
- गाडगिल समिति व सहकारिता आंदोलन ने किस प्रकार से ग्रामीण ऋणग्रस्तता की स्थिति को नियंत्रित करने में सक्रिय योगदान दिया।

15.1 प्रस्तावना

भारत के इतिहास एवं अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में राजस्थान का गौरवपूर्ण स्थान रहा है। राजस्थान का उल्लेख प्रागैतिहासिक समय से मिलता है। ई.पू 3000 से 1000 के बीच के समय में यहां की संस्कृति सिन्धु घाटी सभ्यता के समान थी। राजस्थान का यह प्रदेश ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से गौरवमयी परम्पराओं के लिए विख्यात एवं ऋग्वेद का

रचनास्थल रहा है। वीरता, त्याग और बलिदान की दृष्टि से इसका गौरवमयी स्थान है। राजस्थान का एक बड़ा भू–भाग रेगिस्तानी होते हुए भी कृषि, उद्योग, व्यापार, परिवहन, खनिज, जनसंख्या की दृष्टि से, राजस्थान का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

भारत के उत्तर–पश्चिम में स्थित राजस्थान $23^0 3^0$ उत्तरी अक्षांश से $30^0 12^0$ उत्तरी अक्षांश व $69^0 30^0$ पूर्वी देशान्तर से $78^0 17^0$ पूर्वी देशान्तर के मध्य स्थित है। यह पूर्व से पश्चिम तक 869 किलोमीटर व उत्तर से दक्षिण तक 826 किलोमीटर लम्बा है। राजस्थान के पश्चिम में पाकिस्तान, पूर्व में उत्तर प्रदेश व मध्यप्रदेश, उत्तर में पंजाब व हरियाणा और दक्षिण में गुजरात व मध्यप्रदेश स्थित है, जो राज्य की सीमा निर्धारित करते है। इसका कुल क्षेत्रफल: 3,42,239 वर्ग किलोमीटर है। राजस्थान में विभिन्न वर्षों में जनसंख्या का स्वरूप इस प्रकार रहा

वर्ष	जनसंख्या (करोड़ में)
1881	1.01
1891	1.22
1901	1.03
1911	1.10
1921	1.03
1931	1.17
1941	1.39
1951	1.60

अंग्रेजी शासन काल में 1901 ई. में राजपूताना (राजस्थान) में जनगणना विभाग की स्थापना की गयी थी। राजस्थान के आर्थिक विकास में विभिन्न समस्याओं का स्वरूप बना रहा जिसमें ग्रामीण ऋणग्रस्तता अर्थव्यवस्था का प्रमुख अभिशाप माना जाता है। समाज एवं अर्थव्यवस्था की संरचना के साथ ही इस समस्या का उद्भव हुआ जो कि वर्तमान समय में भी अर्थव्यवस्था का अंग बना हुआ है।

15.2 राजस्थान में ग्रामीण ऋणग्रस्तता के विशेष संदर्भ में अर्थव्यवस्था की स्थिति

1818 ई. तक अंग्रेजी सरकार व राजस्थान की विभिन्न रियासतों के मध्य संधियों के परिणामस्वरूप राजस्थान में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना हो चुकी थी। राजस्थान के राजपूत नरेशों के गृह–कलह, मराठों के बढ़ते प्रभाव, सामन्तों का प्रभुत्व, पिण्डारियों के प्रसार, लार्ड हेस्टिंग की साम्राज्यवादी नीति, कम्पनी की आर्थिक स्थिति में सुधारवादी नीति, राजपूत राज्यों से संधियों के प्रस्ताव आदि परिस्थितियों के फलस्वरूप राजस्थान में ब्रिटिश शासन की स्थापना को प्रोत्साहन मिला था। राजपूताने के विभिन्न राज्यों द्वारा कम्पनी के साथ संधियां किए जाने के परिणामस्वरूप समस्त राज्य कम्पनी के प्रभाव में आ गए थे। संधियों द्वारा राजपूताना के

राजाओं को यह विश्वास दिलाया गया था कि गद्दी पर उनका पैतृक अधिकार बना रहेगा। उनका शासन भी निरंकुश रूप में चलता रहेगा। कम्पनी उनके किसी भी आन्तरिक कार्य. में हस्तक्षेप नहीं करेगी। किसी अन्य बाहरी शक्ति के द्वारा हस्तक्षेप करने की स्थिति में कम्पनी द्वारा सुरक्षा, प्रदान किए जाने का आश्वासन दिया। लेकिन व्यवहार में इसके विपरीत स्थिति बनी रही। राजपूताना के नरेश अपने राज्य में ही प्रभुत्व सम्पन्न शासक न रहकर कम्पनी के सामन्त व जमींदार बन गए। आर्थिक क्षेत्र में कम्पनी ने संधि के अन्तर्गत राजपूताना के राज्यों को खिराज देने को बाध्य किया। यदि खिराज का भुगतान समय पर नहीं होता था, तो कम्पनी उन पर चक्रवृद्धि ब्याज लगाकर खिराज वसूल करती थी। कम्पनी शांति व्यवस्था स्थापित करने के नाम पर राजाओं से धन वसूल करती थी। युद्ध की परिस्थितियों में भी राजाओं को धन देने के लिए बाध्य किया जाता था। राजाओं को अपने खर्च पर कम्पनी के लिए सेना रखनी पड़ती थी। इसी प्रकार शांति सुरक्षा के नाम पर यदि कम्पनी अपने सैनिक राजपूताना के किसी राज्य में भेजती थी तो उनका खर्च वसूल करती थी।

राजस्थान में ब्रिटिश शासन की स्थापना के पश्चात् 1818 ई. से 1947 ई के मध्य अर्थव्यवस्था की स्थिति अधिक संतोषजनक नहीं थी। लगभग 80 प्रतिशत जनसंख्या ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करती थी तथा अधिकांश ग्रामीण खेतिहर थे। कई ग्रामीण अपनी भूमि के स्वामी थे, तो कई हिस्सेदार या वेतन भोगी के रूप में कृषि करते थे। अधिकांशत: ग्रामीण ऋणग्रस्त स्थिति में थे। अंग्रेजी शासनकाल में कृषि एवं ग्रामीण ऋणग्रस्तता की स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ क्योंकि उन्होंने कृषि संबंधी विकास की ओर ध्यान नहीं दिया। उनका ध्येय केवल राजपूताना के शासकों से अपनी खिराज की रकम को वसूल करना था। उन्होंने इस ओर कदापि ध्यान नहीं दिया कि काश्तकार के साधनों को कैसे व्यवस्थित किया जाय या उनके जीवन स्तर को कैसे ऊपर उठाया जाये। परिणामस्वरूप कृषक ऋणग्रस्तता, महामारी, आदि समस्याओं से बंध गया।

ब्रिटिश शासनकाल में 1818 ई. के पश्चात् राजपूताना के शासकों पर आर्थिक भार बढ़ने लगा तो उन्होंने यह भार जागीरदारों पर डाला और कई प्रकार की लागें, जागीर व खालसा में लागू की गई, जिसका सम्पूर्ण भार कृषकों के कंधों पर पड़ा। इस स्थिति में कृषक और ऋणग्रस्त हो गए। अंग्रेजों ने 1852 ई में भूमि सर्वेक्षण और बंदोबस्त समय–समय पर संशोधनों के साथ लागू किया, इससे कृषकों को हानि हुई। कई राज्यों में पैतृक भूमि को नाजायज करार देकर उनको अपदस्थ किया गया जिससे गरीबी, बेरोजगारी, घूसखोरी व ऋणग्रस्तता जैसे अभिशाप उत्पन्न हुए। भूमि में पैदावार हो या न हो किसान को निर्धारित लगान देना अनिवार्य था। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि नगद रकम देने की बाध्यता से कृषकों को गांव के महाजन से उधार लेना पड़ता था। राजस्थान में कुटीर उद्योगों के संबंध में ब्रिटिश सरकार की उपेक्षा की नीति रही। उन्होंने इंग्लैण्ड की बनी वस्तुओं के आयात का क्रम बनाए रखा और यहां का कच्चा माल सस्ते दामों में इंग्लैण्ड भेजने की प्रक्रिया को प्रोत्साहित किया। इसके अलावा अन्य उद्योगों – संगमरमर, तांबा, लाल पत्थर, चाँदी, जिंक आदि उद्योगों के प्रति भी अंग्रेजी सरकार की उपेक्षापूर्ण नीति रही व उनकी प्रगति पर रोक लगा दी।

राजस्थान में समय–समय पर 1822, 32, 48, 68, 77, 1895, 99, 1900 ई. में जो भयंकर अकाल, महामारी की स्थिति उत्पन्न हुई उसमें भी सरकार का उपेक्षापूर्ण दृष्टिकोण रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि ग्रामीण क्षेत्र में रहने वाले लोगों को अपना जीवन निर्वाह, बैल, बीज, खाद, उपकरण के लिए साहूकार व महाजन से ऋण लेने हेतु मजबूर होना पड़ा।

15.3 ग्रामीण ऋणग्रस्तता का अर्थ एवं स्वरूप

ग्रामीण ऋणग्रस्तता किसी भी राज्य अथवा समाज की अर्थव्यवस्था का आवश्यक अंग एवं समस्या का स्वरूप है। यह समस्या प्राचीनकाल से ही ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले किसानों में प्रमुखत: देखने को मिलती है। राजस्थान जहां कि मुख्यत: ग्रामीण क्षेत्रों की बहुलता रही है, जहां कि ग्रामीण का प्रमुख व्यवसाय कृषि रहा है। जहां कि सिंचाई के साधनों की कमी, वर्षा की अनिश्चितता के कारण, कम कृषि उत्पादन, कृषकों की निर्धनता आदि परिस्थितियों के फलस्वरूप ग्रामीण ऋणग्रस्तता की स्थिति अधिक मात्रा में दृष्टिगोचर होती है।

साधारण अर्थों में ग्रामीण ऋणग्रस्तता का अर्थ इस रूप में परिभाषित होता है कि गांवों में किसान विभिन्न कारणों के परिणामस्वरूप ऋण के बोझ में दबे हुए है और उन पर निरन्तर ऋण का भार बढ़ता रहा है। प्राय: यह देखा गया है, किसान जब परिवार में जन्म लेता है तो उस पर पूर्वजों का ऋण होता है, और जब वह कार्य करने की स्थिति में होता है तो वह अपने कृषि कार्यों को ठीक रूप में संचालित करने हेतु अर्थात् खाद, बीज, बैल, कृषि उपकरण के लिए साहूकार से ऋण के रूप में रुपया उधार लेता है। इसी प्रकार अपने परिवार का खर्चा चलाने, विभिन्न सामाजिक, धार्मिक, कानूनी कार्यो को सम्पन्न करने हेतु भी वह ऋण के रूप में साहूकार व महाजन से रुपया उधार लेता है। इससे कृषकों में ऋण का भार एवं ऋणग्रस्तता की स्थिति में वृद्धि होती रही है क्योंकि जो रुपया ऋण के रूप में किसान प्राप्त करता है, वह ऋणदाता को कृषि का उत्पादन कम होने, आमदनी न होने के कारण भुगतान नहीं कर पाता है, और पीढ़ी दर पीढ़ी यह ऋण का भार निरन्तर रूप में बढ़ता रहता है।

15.4 ग्रामीण ऋणग्रस्तता के कारण

ग्रामीण ऋणग्रस्तता किसी भी देश अथवा राज्य की अर्थव्यवस्था की प्रमुख समस्या एवं अंग रहा है। भारत प्रारम्भ से ही कृषि प्रधान एवं ग्रामीण अर्थव्यवस्था का स्वरूप रहा है जहां कि ऋणग्रस्तता प्रमुख समस्या रही है। विभिन्न अर्थशास्त्रियों, समाजशास्त्रियों तथा समितियों के सर्वेक्षण एवं प्रतिवेदन के आधार पर यह पाया गया कि इस समस्या के विभिन्न कारण है। भारत में विशेषत: राजपूताना जिसे कि एकीकरण के पश्चात् राजस्थान का स्वरूप प्राप्त हुआ, ऋणग्रस्तता के निम्नांकित कारण देखने को मिलते है –

1. विरासत में ऋण का प्राप्त होना :

ग्रामीण क्षेत्र में ऋणग्रस्तता के बने रहने एवं उसमें वृद्धि होने का प्रमुख कारण किसानों को अपने पूर्वजों से विरासत में ऋण प्राप्त होना है। उन्हें. अपने बाप–दादों से उनके द्वारा लिए गए ऋण व उसे चुका न पाने के कारण उसका भार ऋण स्वरूप प्राप्त होता है। इससे

किसानों पर ऋण का भार अत्यधिक बढ़ जाता है और यह स्थिति उनको जीवन–पर्यन्त तक बांधे रखती है।

2. **ब्याज की ऊंची दर** :

ऋणग्रस्तता को प्रोत्साहित करने में अन्य कारण ब्याज की दर का उच्च होना है। ग्रामीण क्षेत्र में साहूकार, महाजन आदि कृषकों की धन संबंधी आवश्यकता की पूर्ति करते रहे है। इस वर्ग के द्वारा किसानों को ऊंची ब्याज दर पर ऋण प्रदान किया जाता रहा है। इनकी यह प्रवृत्ति रही है कि प्रारम्भ में वे किसानों को ऊंची व मिश्रित ब्याज दर पर ऋण प्रदान करके उनका शोषण करते है और अन्त में उन्हें भूमिहीन बना देते है। धीरे–धीरे ये ऋण प्रदान करने वाले किसानों की समस्त भूमि, चल–अचल सम्पत्ति पर अपना अधिकार स्थापित कर लेते है और उन्हें पूर्णतया ऋणग्रस्त बना देते है।

3. **दोषपूर्ण भूराजस्व नीति :**

1818 ई. से 1949 ई. के मध्य सरकार की दोषपूर्ण भूराजस्व नीति के कारण किसानों को बाध्य होकर महाजन की शरण में जाना पड़ा था। भूराजस्व के क्षेत्र में सरकार की कठोर व अनियमित नीति के फलस्वरूप किसानों को ऋणदाताओं का सहारा लेना पड़ा था। सरकार भूराजस्व के क्षेत्र में नकद पैसे के रूप में माल गुजारी वसूल करती थी, जिससे किसानों को असुविधा होती थी। इस असुविधा के लिए उसे बाध्य होकर साहूकारों आदि से ऋण लेना पड़ता था।

4. **भूमि पर जनसंख्या का भार :**

ग्रामीण क्षेत्र में ऋणग्रस्तता के उत्पन्न होने का अन्य कारण भूमि पर जनसंख्या का दबाव होना भी है। जनसंख्या में वृद्धि किसी भी अर्थव्यवस्था की प्रमुख विशेषता एवं समस्या रही है। राजस्थान जो कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था का स्वरूप रहा है वहां जनसंख्या के दबाव के फलस्वरूप कृषि योग्य भूमि का उपयोग जनसंख्या के निवास हेतु किया जाता है। परिणामस्वरूप किसान की आमदनी आर्थिक स्तर से नीचे चली गयी है। क्योंकि भूमि की उपज उस अनुपात में नहीं बढ़ रही है, जिसमें भूमि पर जनसंख्या का दबाव बढ़ रहा है। इस स्थिति में ग्रामीण ऋणग्रस्तता निरन्तर रूप में बढ़ती गयी है।

5. **जोतों का उपविभाजन एवं खण्डीकरण :**

जनसंख्या की वृद्धि के कारण भूमि का अत्यधिक रूप में विभाजन एवं खण्डीकरण हुआ है। क्योंकि परिवार में भूमि की तुलना में सदस्यों की संख्या अधिक होती है, जिसमें भूमि का विभाजन होने के कारण, जोतों का उपविभाजन एवं खण्डीकरण अत्यधिक हुआ है, जिससे उन पर इस स्थिति के किसानों की आमदनी कम होने के कारण उन्हें ऋण प्राप्त करने के लिए अग्रसर होना पड़ता है। यह स्थिति ऋणग्रस्तता को बढ़ाने में कार्यशील रही है।

6. **कृषकों में अंधविश्वास, अदूरदर्शिता और अपव्ययिता :**

ग्रामीण व्यवस्था के क्षेत्र में किसानों में जो अंधविश्वास, अदूरदर्शिता, अपव्ययिता और समाज के संस्कारों, परम्पराओं के प्रति अटूट श्रद्धा विद्यमान है, उसके कारण भी ऋणग्रस्तता में वृद्धि संभव हुई है। यद्यपि किसान कई दृष्टि से मितव्ययी होता है और वह

कई मामलों में सोच समझकर खर्च करता है। उनका रहन–सहन, खानपान सादा होता है। लेकिन कुछ अवसरों पर वह बिना कुछ सोचे विचारे अपनी आमदनी से अधिक एवं कर्ज लेकर व्यय करता है। उदाहरण स्वरूप शादी, जन्म–मरण, तीज–त्यौहार, श्राद्ध आदि अवसरों पर वह अत्यधिक खर्च करता है। इससे ऋणग्रस्तता और अधिक बढ़ती है।

7. फसलों की अनिश्चित उपज :

भारत में विशेषत: राजस्थान के विशेष संदर्भ में यह माना जाता है कि कृषि मानसून पर निर्भर करती है। जब कभी मानसून का अभाव रहता है, उपज भी नहीं होती है। सिंचाई के साधनों का पूर्ण रूप से अभाव रहा है। इसी प्रकार अकाल व बाढ़ की स्थिति भी फसल को नष्ट कर देती है। ऐसी स्थिति में किसान जो कि पहले से ही ऋण के भार से दबा होता है उसे इस स्थिति में अपने परिवार का खर्च, खाने की व्यवस्था करने हेतु ऋण लेने, भूमि को गिरवी रखने, बैलों को बेचने आदि के लिए बाध्य होना पड़ता है।

8. गरीबी :

किसानों का गरीब होना ग्रामीण ऋणग्रस्तता का अन्य प्रमुख कारण है। उनकी निम्न स्तर की आय, अनिश्चित व छोटी उपज उन्हें इस स्थिति के लिए बाध्य करती है कि वे साहूकार, महाजन आदि से ऋण ले जिससे कि वे अपने सामान्य जीवन निर्वाह को चला सकें। लेकिन कृषि के क्षेत्र में अनिश्चितता एवं पिछड़ेपन के कारण किसान को कोई लाभ नहीं मिल पाता, जिससे वह ऋण को चुका नहीं पाता है और वह अधिक गरीबी की स्थिति में बना रहता है।

9. ग्रामीण क्षेत्र में व्यवसायों का अभाव :

राजस्थान के ग्रामीण क्षेत्रों में किसानों के लिए उनसे संबंधित व्यवसायों का भी पूर्ण अभाव होना भी ऋणग्रस्तता का कारण माना जा सकता है। किसान जब खेती के कार्य से अवकाश प्राप्त होता है तो उनके लिए कोई कार्य अथवा व्यवसाय नहीं रहता, जिसको वे खाली समय में कर सकें और आमदनी प्राप्त कर सकें।

10. **कृषकों का असन्तोषजनक स्वास्थ्य** :

ग्रामीण क्षेत्रों में कृषकों का स्वास्थ्य प्राय : असन्तोषजनक रहा है । ब्रिटिश शासनकाल में हक और उपेक्षा का दृष्टिकोण बना रहा । ग्रामों में जब कोई रोग फैला उसकी रोकथाम की कोई व्यवस्था नहीं की गयी । चिकित्सा, स्वास्थ्य का कोई सन्तोषजनक प्रबंध नहीं रहा । इसके फलस्वरूप किसान निर्बल हो गए और उतना परिश्रम नहीं कर सकते जितने परिश्रम की आवश्यकता होती है ।

11. रोगों या अकाल से पशुओं की मृत्यु :

ग्रामीण क्षेत्रों में कृषकों पर ऋणग्रस्तता का भार इस परिस्थितिवश भी बढ़ जाता है कि यदि किसी कारणवश किसान का पशु मर जाता है तो उसके पास अपना रुपया तो इतना होता नहीं कि उससे वह नया पशु खरीद सके और अपना काम चला सके । इस स्थिति में उसे मजबूर होकर महाजन के पास जाना पड़ता है, और उससे ऋण प्राप्त करके नया पशु खरीदना होता है ।

12. पुराने ढंग के औजार :

ब्रिटिश शासन काल के अन्तर्गत किसानों के पास जो खेती संबंधी औजार, उपकरण होते है, वे अधिकतर पुराने ढंग के होते थे । उसे नए औजार खरीदने के लिए धन की आवश्यकता होती थी । इसके लिए उसे साहूकार, महाजन के पास रुपया उधार लेने के लिए जाना पड़ता था । इस स्थिति में भी उसकी ऋणग्रस्तता में वृद्धि होती थी ।

13. मुकद्दमा लड़ने का शौक :

ग्रामीण क्षेत्रों में परिवार मुख्यत : संयुक्त परिवार प्रणाली पर आधारित थे, लेकिन उनमें पतन का स्वरूप प्रारम्भ हुआ और व्यक्तिगत भावनाओं का प्रचलन हुआ । इस स्थिति में कुटुम्ब के सदस्यों में मुकददेमेंबाजी आरम्भ हो गयी । इसका परिणाम यह हुआ कि किसानों पर ऋण की मात्रा बहुत अधिक होने लगी । इस परिस्थिति में किसान अधिक ब्याज दर पर भी महाजन से रुपया उधार लेने लगा ।

15.5 ग्रामीण ऋणग्रस्तता के प्रभाव

राजस्थान में ग्रामीण क्षेत्र के अन्तर्गत व्याप्त ऋणग्रस्तता के विभिन्न दूरगामी परिणाम हुए, जो कि इस प्रकार है :

1. ऋणग्रस्तता का प्रमुख प्रभाव यह हुआ कि कृषकों की भूमि महाजनों एवं धनी व्यक्तियों के पास चली गयी ।
2. ऋणग्रस्तता के फलस्वरूप कृषकों का जीवन स्तर निम्न हो गया । क्योंकि ऋणी ब्याज के बोझ में दबा रहा और आय का अधिकांश भाग ब्याज के रूप में देने के कारण उसे भोजन के लिए दो समय का भोजन भी उपलब्ध नहीं हो सका ।
3. ऋणग्रस्तता के परिणाम स्वरूप कृषि विकास के क्षेत्र में भी बाधा उत्पन्न होती है । ऋणग्रस्त कृषक ऋणी होने के कारण कृषि के विकास के लिए कृषि उपकरण, खाद, बीज आदि खरीदने हेतु असमर्थ रहता हे ।
4. ऋणग्रस्तता की स्थिति में किसान जो कुछ वह उत्पादन करता है, उसे वह उचित दामों पर बेच नहीं पाता है, क्योंकि उसे ब्याज देने या ऋण का कुछ भाग चुकाने की शीघ्रता होती है । इस स्थिति में फसल तैयार होते ही उसे विक्रय करनी पड़ती है । महाजन और आढ़तिए मनमाने सस्ते दामों पर फसल खरीद लेते है ।
5. ऋणग्रस्तता के परिणामस्वरूप राजनैतिक आन्दोलनों को भी प्रोत्साहन मिलता है एवं ऋणग्रस्त किसान असन्तोषपूर्ण स्थिति में विद्रोह व आन्दोलन करने के लिए प्रेरित होता है।
6. ऋणग्रस्तता ग्रामीणों में विभिन्न अनैतिक कार्यो को प्रोत्साहित करती है । इसके कारण उनमें झूठ, बेईमानी, धोखेबाजी तथा अन्य बुराईयां उत्पन्न होती है ।
7. ऋणग्रस्तता के परिणामस्वरूप दासता के जीवन को प्रोत्साहित करती है । क्योंकि ऋणी किसान अपने आप में लाचारी महसूस करता है । उसमें हीनता की भावना जागृत होती है ।
8. ऋणग्रस्तता के कारण कृषकों में हस्तांतरण की स्थिति को भी प्रोत्साहन मिलता है और ऋणग्रस्त किसान ग्रामीण क्षेत्र को छोड़कर शहरी इलाकों अथवा पहाड़ी क्षेत्रों की ओर हस्तांतरित होने व बसने का प्रयास करता है ।

15.6 ग्रामीण ऋणग्रस्तता को दूर करने के उपाय

राजस्थान में ग्रामीण ऋणग्रस्तता अर्थव्यवस्था का प्रमुख अभिशाप है । इस समस्या के लिए निम्नांकित उपाय किए जा सकते है –

1. ग्रामीण क्षेत्र में ऋणग्रस्तता को दूर करने के लिए साख संस्थाओं की स्थापना की जानी चाहिए, जिससे कि ग्रामीण जनता को कम ब्याज पर ऋण उपलब्ध कराया जा सके और वे महाजनों तथा आढ़तियों के चंगुल से अपने आप को बचा सके ।
2. ग्रामीण किसानों को जो तकादी ऋण प्रदान किए जाते है उनके वितरण की समुचित व्यवस्था की जानी चाहिए, जिससे कृषकों को समय पर ऋण प्राप्त हो सके ।
3. किसान जो कि निरन्तर सेठ, साहूकारों आदि के ऋण प्राप्त करता है उनके पुराने ऋणों का निपटारा किसी न किसी तरह किया जाना चाहिए । इस दृष्टि से जिन कृषकों के पास जायदाद नहीं है, उन्हें दिवालिया घोषित करके ऋण समाप्त कर देना चाहिए ।
4. ऋणग्रस्तता को दूर करने का अन्य उपाय यह भी है कि ऋण देने वाले – साहूकार, महाजन आदि पर नियंत्रण स्थापित किया जाए । इस वर्ग पर इस प्रकार से नियंत्रण होना चाहिए जिससे कि वे कृषकों का शोषण न करें ।
5. राजस्थान में ऋणग्रस्तता की स्थिति को समाप्त करने अथवा कम करने की दृष्टि से यह तरीका भी व्यावहारिक है कि ग्रामीण क्षेत्रों में सहकारी साख समितियों का अधिक से अधिक प्रसार होना चाहिए ।
6. इसी प्रकार ग्रामीण क्षेत्रों में किसानों को अनुत्पादक ऋण लेने से हतोत्साहित किया जाना चाहिए और इस प्रवृति पर प्रतिबंध स्थापित किया जाना चाहिए

15.7 1818 ई. से 1947 ई. के मध्य सरकार के द्वारा ग्रामीण ऋणग्रस्तता को दूर करने के प्रयास

ऐतिहासिक स्रोतों के आधार पर यह जानकारी मिलती है कि ग्रामीण ऋणग्रस्तता की समस्या की ओर सरकार 1870 ई. से प्रयासरत रही है । इस क्षेत्र में ग्रामीण जनता को महाजनों के चंगुल से बचाने के लिए ब्रिटिश सरकार ने समय–समय पर अनेक कानून पारित किए जैसे–तकाबी कानून,भूमि सुधार, ऋण कानून और कृषक कानून आदि । तकाबी द्वारा किसानों को जा ऋण दिए जाते थे, वे अधिक सफल नहीं हो सके, क्योंकि वे कुछ विशेष कार्यों के लिए ही दिए जाते थे । इस प्रकार के ऋण प्राप्त करने की प्रक्रिया काफी जटिल थी । इसमें समय बहुत अधिक लग जाता था । कर्मचारी भी किसान से रिश्वत के रूप में धन ऐंठ लेते थे । तकाबी कानून के द्वारा जितना रुपया ग्रामवासियों को दिया जाता था वह उनकी आवश्यकता से बहुत कम था । 1870 ई. में ही अदालतों को अधिकार दिया गया कि जो रुक्के, पर्चे किसान और महाजन के बीच लिखे गए हों, अदालत यदि चाहे तो, उन सब बातों को जानने का अधिकार रखती है, जो लिखा–पढ़ी होने से पूर्व हुयी हो । अदालत को ब्याज की दर कम करने का भी अधिकार दिया गया । अदालत भूमि को नीलाम करने से भी रोक सकती थी जब तक कि भूमि विशेष रूप से गिरवी न रख दी गई हो । कानून द्वारा महाजनों के लिए यह अनिवार्य

कर दिया गया कि वे किसान व अदालत को पूरा हिसाब दें और किसान को रुपये की प्रत्येक वसूली के लिए रसीद देते रहें ।

1888 ई. के कानून के अधीन किसानों को लंबे समय के लिए रुपया उधार दिया जा सकता था । इस ऋण द्वारा किसान कुंए खुदवा सकता था । बगीचे आदि लगाने का कार्य कर सकता था । 1884 ई. के कानून के तहत् अल्पकाल के लिए कृषकों को रुपया उधार दिए जाने की व्यवस्था की गयी । इस धनराशि के माध्यम से किसान बीज, पशु, खाद आदि खरीद सकता था ।

1935 ई. के पश्चात् से महाजनों की अनुचित कार्यवाहियों पर नियंत्रण रखने और किसानों पर से उनका दबाव कम करने के उद्देश्य से कानून पारित किए गए । यह व्यवस्था की गयी कि जो व्यक्ति रुपये के लेन–देन का कार्य करना चाहता हो वह सरकार की पूर्व अनुमति प्राप्त करे और लाइसेंस प्राप्त करे । उसका यह कार्य भी निश्चित किया कि वह अपने बही खाते भी ठीक रखे और देनदार को प्रत्येक तीसरे या छठे माह हिसाब का खाता भेजता रहे । महाजन अथवा साहूकार के लिए यह अनिवार्य कर दिया गया कि खाते में वह पूर्ण विवरण कि कितना रुपया उधार दिया गया, कितना ब्याज हुआ, देनदार ने कितना रुपया किन–किन तरीकों से चुकाया आदि विवरण लिखें । ऐसा न करने पर साहूकार दण्ड का भागी होता था । यह भी व्यवस्था की गई कि समस्त ब्याज की मात्रा मूलधन से अधिक नहीं वसूल की जा सकती । महाजन कृषकों को डरा, धमका नहीं सकेगा । किसानों को यह सुविधा दी गयी कि उनकी जोत की कुर्की नहीं की जा सकती थीं । इसी प्रकार ऋण किश्तों में भुगतान करने की व्यवस्था की गयी थी ।

1938 ई. में जो कानून ऋणग्रस्तता की स्थिति को नियंत्रित करने के उद्देश्य से बनाए गए उसके अनुसार यह व्यवस्था की गयी कि महामंदी 1930 ई. से पूर्व ऋणों पर जो ब्याज शेष रह गया था वह सब समाप्त कर दिया गया । इसी प्रकार जो ऋण महामंदी के पश्चात् लिए गए थे, उन पर केवल 5 प्रतिशत ही ब्याज लिए जाने की व्यवस्था की गयी थी । किसानों को यह भी सुविधा दी गयी कि दो वर्ष से पूर्व का जो लगान बकाया हो वह समाप्त कर दिया जाए ।

1944 ई में डी. आर. गाडगिल की अध्यक्षता में जो कमेटी गठित की गयी थी उसकी सिफारिशों के आधार पर भी ग्रामीण ऋणग्रस्तता को दूर करने के प्रयास किए गए । इस समिति की सिफारिश के आधार पर यह व्यवस्था की गयी थी कि –

1. किसानों के पुराने ऋण में अनिवार्य रूप में कमी की जाए और उन्हें व्यवस्थित किए जाने हेतु उचित प्रशासनिक, न्यायिक, वित्तीय समर्थन की व्यवस्था होनी चाहिए ।
2. वित्तीय ढाँचे का पुनर्निमाण किए जाने का सुझाव दिया गया । इसके लिए स्वायत्तशासी सार्वजनिक निगमों की स्थापना पर बल दिया गया । इन निगमों के द्वारा अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन ग्रामीण ऋण दिए जाने की व्यवस्था हेतु सुझाव दिया गया ।
3. ग्रामीण क्षेत्रों में प्राथमिक को–ऑपरेटिव सोसायटी स्थापित किए जाने का सुझाव दिया गया । इन संस्थाओं को रिजर्व बैंक का सहयोग प्राप्त करने की सिफारिश की गयी ।

4. समिति ने ग्रामीण क्षेत्रों में ऋण समितियों, वाणिज्यिक बैंकों, निजी एवं अराजकीय वित्तीय संस्थाओं को विकसित करने की सिफारिश की ।

15.8 सारांश

इस इकाई में आपने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासनकाल में विशेषता 1818 ई. से 1849 ई के मध्य अंग्रेजी कम्पनी की ग्रामीण ऋणग्रस्तता के प्रति नीति के संबंध में अध्ययन किया । कम्पनी की उपेक्षा पूर्व नीति के कारण ऋणग्रस्तता के विभिन्न कारणों एवं उसके परिणामों के संबंध में जानकारी प्राप्त की । ग्रामीण त्रत्णग्रस्तता की यह स्थिति किस भांति निरन्तर रूप में बढ़ती चली गयी एवं अंग्रेजी सरकार के द्वारा इस क्षेत्र में विशेष प्रयास नहीं किए जाने के कारण यह समस्या अर्थव्यवस्था का अंग बन गयी । इस क्षेत्र में स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् निरन्तररूप से जो प्रयास किए गए उससे इस समस्या को नियंत्रित करने में सरकार को कुछ हद तक सफलता प्राप्त हो सकी ।

15.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

बोध प्रश्न– 1

पांच पंक्तियों में उत्तर दें ।

1 ग्रामीण ऋणग्रस्तता से आप क्या समझते है?

2 1818 ई. से 1948 ई. के मध्य ऋणग्रस्तता के स्वरूप को समझाइए ।

3 ऋणग्रस्तता के प्रभावों का उल्लेख कीजिए । 100 शब्दों में उत्तर दें

बोध प्रश्न– 2

1 राजस्थान में ग्रामीण ऋणग्रस्तता के कारणों का विवेचन कीजिए।

2 राजस्थान में ग्रामीण ऋणग्रस्तता को दूर करने के उपायों का वर्णन कीजिए।

3 राजस्थान में 1818 ई. से 1948 ई. के मध्य ग्रामीण ऋणग्रस्तता के क्षेत्र में सरकार के द्वारा किए गए प्रयासों का वर्णन कीजिए।

15.10 संदर्भ ग्रंथों की सूची

1. राजपूताना गजेटियर
2. इम्पीरियल गजेटियर
3. बढ़ाना, मेहरा, अग्रवाल रचित पुस्तक "राजस्थान की अर्थव्यवस्था"
4. लक्ष्मीनारायण नाधूरामका "राजस्थान की अर्थव्यवस्था"
5. रे कृत "इण्डियन इकनॉमी"
6. डॉ एच. सी. सक्सेना – "राजस्थान की अर्थव्यवस्था"
7. डॉ एम. सी. गुप्ता "राजस्थान की अर्थव्यवस्था"
8. बी. एल. ओझा – "राजस्थान की अर्थव्यवस्था"
9. डॉ. के. बी. सक्सेना "हमारा राजस्थान"
10. डॉ गोपीनाथ शर्मा –"आधुनिक राजस्थान का इतिहास"
11. शर्मा–पावा–राजस्थान के इतिहास का सर्वेक्षण

12. शर्मा–व्यास–राजस्थान के इतिहास का सर्वेक्षण
13. डी गोपीनाथ शर्मा – "सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान"
14. डी. एम. एस. जैन – आधुनिक राजस्थान का इतिहास
15. कालूराम शर्मा – "उन्नीसवी सदी के राजस्थान का सामाजिक एवं आर्थिक जीवन"
16. डॉ बृज किशोर शर्मा, आधुनिक राजस्थान का आर्थिक इतिहास

इकाई–16

राजस्थान के कृषकों व मज़दूरों की सामाजिक

16.0 भूमिका
16.1 भैगोलिक स्थिति
16.2 कृषकों व कृषक मज़दूरों की सामाजिक स्थिति
16.3 भूमि धारण
16.4 काश्तकारी
16.5 सिंचाई
16.6 भूमि कर
16.7 लाग बाग
16.8 भूमि कर वसूली
16.9 बेगार
16.10 कृषि मजदूर
16.11 कृषि विपणन
16.12 कृषिकों की कर्जदारी
16.13 अकाल
16.14 किसान आन्दोलन
16.15 सारांश
16.16 संदर्भ ग्रंथों की सूची

16.0 भूमिका :

राजस्थान स्वतंत्रता पूर्व काल में राजपूताना कहलाता था। उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में इसके – अंतर्गत निम्न 16 रियासते थी – मेवाड़, मारवाड़, जयपुर, कोटा, बूंदी, अलवर, बीकानेर, जैसलमेर, प्रतापगढ, डूंगरपुर, बांसवाड़ा, सिरोही, किशनगढ़, करौली, शाहपुरा, व भरतपुर । सन 1806, में धोलपुर 1817 में टोंक, व 1839 में झालावाड़ की रियासतें स्थापित हुई । सन 1867 में टोंक के अधीन लावा ठिकाना तथा 1868 में बांसवाड़ा के अधीन कुशलगढ़ ठिकाना अंग्रेजों के अधीन उपरियासतें बन गयी । झालावाड़ रियासत कोटा रियासत का विभाजन कर बनाई गई । सन 1818 में सिन्धिया ने अजमेर को अंग्रेजों को समर्पित किया । जिससे मेरवाड़ा के कुछ गांव मिलाकर एक अंग्रेजी उप प्रांत बनाया गया । सन 1888 में राजपूताना का कुल क्षेत्रफल 1,30 ,462 वर्ग मील था इसके पश्चिम में सिन्ध, उत्तर पश्चिम में पंजाब की भावलपुर रियासत, उत्तर व उत्तर पूर्व में पंजाब, पूर्व में संयुक्त प्रांत (अब उत्तर प्रदेश) व ग्वालियर रियासत तथा दक्षिण में मध्य भारत (अब मध्य प्रदेश तथा बम्बई प्रांत) और गुजरात थे ।

16.1 भौगोलिक स्थिति :

किसी प्रांत का भूगोल जानना आवश्यक होता है । क्योंकि वहां की आब–हवा, मिट्टी, पहाड़, नदियां, खनिज, पेड़–पौधे, आदि वहां के निवासियों की सांस्कूतिक, सामाजिक व आर्थिक दशा को काफी प्रभावित करते है । इसी परिपेक्ष्य में देखें तो राजपूताना की मारवाड़, बीकानेर व जैसलमेर रियासतें उत्तर व पश्चिम में, अलवर व जयपुर राज्य का शेखावटी क्षेत्र उत्तर पूर्व में जयपुर, भरतपुर, धोलपुर, करौली, बूंदी, कोटा, व झालावाड़ पूर्व व दक्षिण पूर्व में मेवाड़ डूंगरपुर, बांसवाड़ा व प्रतापगढ़ दक्षिण में सिरोही, दक्षिण पश्चिम में व अजमेर मेरवाड़ा, शाहपुरा, किशनगढ़, टोंक, व लावा प्रांत के मध्य में स्थित थे ।

उत्तर पूर्व से दक्षिण पश्चिम तक अरावली पहाड़ की श्रृंखलाएं इस प्रांत को विभाजित करती चली गई है । इसमें राजस्थान का 40 प्रतिशत भाग अरावली के दक्षिण पूर्व में तथा 60 प्रतिशत भाग अरावली के उत्तर पश्चिम में रह गया है । उत्तर पश्चिमी भाग में मारवाड़, बीकानेर, जैसलमेर व शेखावटी क्षेत्र का रेतीला भाग है । शेष दक्षिण पूर्वी भाग काफी उपजाऊ क्षेत्र है । रेतीले भाग में सिंचाई की सुविधायें नगण्य थी तथा वर्षा पर ही काश्त के लिए निर्भर रहना पड़ता था । पीने के पानी की भी बड़ी समस्या थी । पीने के पानी के कुंऐं 200 से 400 फुट तक गहरे होते थे । कही–कहीं तालाब व नाले थे जिनका पानी स्वास्थ्य कर नहीं होता था । कुछ गांवों में तो पानी मीलों दूर से लाना पड़ता था । अकाल के वर्षो में पीने के पानी की विकट समस्या हो जाती थी और गांव खाली हो जाते थे । उत्तर पश्चिम भाग की महत्वपूर्ण नदी लूणी है जो पुष्कर के पहाड़ों से निकलकर नागौर, जोधपुर व बाड़मेर जिलों में लगभग 200 मील बहकर रण के कच्छ में जाकर गिरती है । यह नदी वर्षाती है । दक्षिण पूर्व में सबसे महत्वपूर्ण नदी चम्बल है जो बारह मास बहती है । इसकी सहायक नदियां बनास, टोंक व जयपुर में, पार्वती व काली सिंध झालावाड़ जिले में बहती है । इनमें बनास नदी काफी महत्वपूर्ण है । जयपुर, भरतपुर व धोलपुर की बाणगंगा भी काफी लाभप्रद नदी है । डूंगरपुर व बांसवाड़ा जिले की नदी माही सिंचाई हेतु काफी सहायक रही है । ये वस्तुतः माही नदी गुजरात की नदी है । राजस्थान में मीठे पानी की प्राकृतिक झीलें नहीं है । दो महत्वपूर्ण झीलें सांभर व डीडवाना की है । लेकिन वे नमक का उत्पादन करती है । सिंचाई के लिये बड़े बांध राजसमन्द व जयसमन्द आदि मेवाड़ राज्य में । सत्रहवीं शताब्दी में बने थे । उन्नीसवीं शताब्दी में कुछ बांध विभिन्न रियासतों ने बनवाये थे । इनसे कुछ सिंचाई होने लगी है ।

वर्षा–

राजस्थान, में वर्षा सब स्थानो पर समान रूप से नहीं होती है। पश्चमी व उत्तरी भाग में वर्षा का औसत 30 सें. मीं है। लेकिन दक्षिणी व पूर्वी भाग में लगभग 60 सें. मीं. है। दक्षिण पूर्वी राजस्थान(कोटा व बूंदी व झलावाड़ जिले) में औसत 80 सें.मी. है। बांसवाड़ा में वर्षा औसत 100सें.मी. है। इससे स्पष्ट है पश्चिमी भाग में पर्याप्त वर्षा नहीं होती है ।जिसके कारण अकाल पड़ते ही रहते है । लेकिन दक्षिणी पूर्वी व दक्षिणी भाग में अत्यधिक वर्षा होती है । ज्यादा वर्षा होने से वहा कभी–कभी बाढ़ भी आ जाती है । बाढ़ों को रोकने के लिए बांधों का होना अत्यन्त

आवश्यक था लेकिन सामन्ती शासन में इस ओर ध्यान नहीं दिया गया । और यों भी संभव नहीं था क्योंकि तब उनकी आर्थिक क्षमता बहुत ही सीमित थी ।

खनिज–

राजस्थान में, खनिजों, का अपार भण्डार है । यहां कई प्रकार के खनिज मिलते है । तांबा सीसा, चांदी आदि की खानों के अलावा इमारती पत्थर' – लाल, पीला, सफेद, व भूरा तथा संगमरमर के पत्थर को खानें राजस्थान के विभिन्न भागों में थी लेकिन इनका दोहन वैज्ञानिक ज्ञान के अभाव में तथा सीमित आर्थिक साधनों के कारण हो नहीं पाया। इस कारण यहाँ के लोगों का मुख्य धन्धा भूमि पर काश्त करना ही रहा। खनिज आधारित उद्योग लगाने या उनसे आर्थिक स्थिति को सुधारने की ओर विशेष' ध्यान नहीं दिया गया।

16.2 कृषकों व कृषिक मजदूरों की सामाजिक स्थिति :

राजस्थान कृषि प्रधान राज्य है । यहां के 80 प्रतिशत लोग कृषि या कृषि आधारित देशों से सम्बन्धित रहे है । काश्त करने वालों में मुख्य जातियां जाट, सीरवी, कलबी या कुर्मी माली, विश्नोई, कलखड़ राजपूत (राजपूत), अहीर, मीणा, रावत, धाकड़, डांगी, लोधा, काछी, (मुराव) राठ (लोक), मेव (मेवाती) आदि है । इनमें जाट जाति की संख्या सबसे अधिक थी वे खेती में बड़े प्रवीण होते है । कहा भी है –

राड में राजपूत बांको, बिणज बाकों वाणियों ।
खेती में जाट बाकी, कुबद बांको कणियो । ।

गांवों में उनकी सामाजिक स्थिति भी अच्छी होती है । गांवों के चौधरी सामान्यत: इसी जाति के लोग होते है जो गांव की पंचायत में मुख्यत: भाग लेते है । लगान की वसूली में गांव चौधरी का महत्वपूर्ण भाग रहता था। काश्तकार पड़े लिखे नहीं होते थे । इस कारण उन्हें कृषि विकास की नवीनतम खोजों का ज्ञान नहीं होता था और न उनमें कृषि की उन्नति करने की इच्छा ही होती थी । वे अपने अधिकारों के प्रति जागरूक नहीं थे । वे बड़े संतोषी, अपने व्यवहार में सच्चे, सादा जीवन बिताने वाले होते थे । यों स्वभाव से वे मेहनती होते थे । वर्षा हो या सर्दी या गर्मी वे खेतों में बराबर दिन रात काम करते थे ।

कृषि के कार्यों से, संबन्धित जातियां थी – खाती, लोहार, राइका, बढ़ाई, आदि । कृषि मजदूरों में सभी जातियों के भूमिहीन लोग होते थे जो कृषकों के यहां मजदूरी पर काम करते थे । कई मजदूर हली या सागड़ी के रूप में वार्षिक वृत्ति पर रहते थे । तब उन्हें कुछ धान व कपड़े मिल जाते थे ।

यों कुछ उच्च जातियों – ब्राह्मण, वैश्य, राजपूत आदि ने गांवों में कृषि कार्य अपना लिया था लेकिन वे सामान्यत : कृषि मजदूरों से खेती करवाते थे । इन जातियों को भूमि कर कृषक जातियों के वनिस्पत कम देना पड़ता था । इनके खेतों में काम करने वाले कृषि मजदूरों, जो ज्यादातर पिछड़ी जातियों के होते थे, की स्थिति बड़ी दयनीय होती थी। उनको न तो भरपेट भोजन मिलता था और न पहनने कोर पर्याप्त कपड़े । उनको खेतों पर 10 से 15 घण्टे तक काम करना पड़ता था । उनको बीमारियां घेरे रहती थी अत : 40 वर्ष के होते–होते वे बूढ़े हो

जाते थे । सामान्यत : उनकी आयु 50 वर्ष की ही होती थी । स्त्रियां तो ज्यादा, ही अस्वस्थ रहती थी तथा कई जापे में ही मर जीती थी । इनके बच्चों को शिक्षा दिलाना तो दूर रहा उन्हें बाल्यकाल से ही काश्त या पशुपालन के काम में लगा दिया जाता था ये भी ज्यादातर अस्वस्थ रहते थे ।

खानपान:

काश्तकारों द्वारा उपयोग में लाये जाने वाले खाद्य पदार्थ बाजरी, ज्वार, जौ व मक्की थे । गेहूँ का उत्पादन करके भी उसे कम ही खाते थे । एक राजस्थानी कहावत भी है – 'कूरो करसा खाय, गेहूँ जीमें बाणिया' अर्थात् किसान कूरा अनाज (घटिया मिश्रित धान) खाकर अपने कर्जे के पेटे गेहूँ महाजनों को देते थे । शाक तरकारी के लिये ये लोग कैर, कूमटिया, फोम सांगरी आदि काम में लेते थे । उनको गोभी, आलू, टमाटर, मटर, शलगम आदि पीष्ट्रिक सब्जियाँ उपलब्ध ही नहीं होती थी । सब्जियों का कम से कम प्रयोग किया जाता था ।

ज्यादातर लोग मिर्च, प्याज, लहसन आदि का प्रयोग करते थे । तेल, घी, गुड़ आदि का प्रयोग उत्सवों व त्यौहारों पर ही करते थे । सामान्यत : किसान दिन में चार बार भोजन करते थे – प्रातः, सिरावन, दिन चढ़ते रोटी, दोपहर बाद दोपरा और रात को ब्यालू दोपरा सामान्यत : खेतों में किया जाता था । स्त्रियां या बच्चे दोपहर का भोजन खेतों में ले जाते थे।

जाति पंचायतें :

प्रेत्येक़ जाति की पंचायत होती थी जो पारिवारिक झगड़ों – खानपान, शादी विवाह, रीतिरिवाज, आदि से सम्बन्धित– का निपटारा करती थी । जाति पंचायत द्वारा अपराध के अनुसार दण्ड दिया जाता था लेकिन सबसे बड़ी सजा जाति बाहर करना था । जिसके कारण जाति बाहर व्यक्ति जाति के किसी व्यक्ति से खान पान या कोई सम्बन्ध नहीं रख सकता था। जिन लोगों पर आर्थिक दण्ड लगाये जाते थे उन्हें तत्काल दण्ड का भुगतान करना पड़ता था । जाति पंचायतों को राज्य सरकारी का संरक्षण प्राप्त था । शासक भी जाति के मामलों को जाति पंचायतों को निर्णय हेतु भेजते थे तथा उनके निर्णयों को ही मान्यता दी जाती थी । इस प्रकार सामाजिक संगठन का अनुशासन कड़ा होता था । अनुशासन तोड़ने की कम ही सोची जाती थी। इस प्रकार परम्परागत ढांचे को बनाये रखने में जाति पंचायतों का महत्वपूर्ण भाग था । ज्यादातर पंच अशिक्षित होते थे । अत : वे रूढ़िवादी थे तथा औसर, मौसर, गंगाजली, बालविवाहों आदि पर ज्यादा जोर देते थे । जिनसे काश्तकारों का शारीरिक, आर्थिक, व सामाजिक दृष्टि से सुधार नहीं हो पाता था ।

पहनावा –

कृषकों का पहनावा बहुत साधारण था । आदमी सिर पर पछेड़ी व घुटने तक धोती बांधते थे । छाती नंगी ही रहती थी । सर्दी में अवश्य सूती चादर से छाती ढक लेते थे । स्त्रियाँ चोली, अगरखी, घाघरा, व ओढ़नी का प्रयोग करती थी । सर्दियों में चादर लपेट कर ठंड से बचने की कोशिश करती थी । स्त्रियाँ गहने पीतल व तांबे के ही प्रयोग करती थी । कुछ स्त्रियाँ चांदी के गहने भी पहनती थी । सोने के गहने गहने पहनने की मनाही थी । पैरों में चमड़े की जुटीयां पहनी जाती थी । लेकिन निर्धन काश्तकार नंगे पैर फिरते थे ।

वास स्थान -

किसानों के वास स्थान कच्चे झोपड़े होते थे जो वे स्वयं परिवार के सहयोग से घास फूस से व लकड़ी से बनाते थे । तथा गोबर से ही लीपते थे । झोंपड़े के कोने में ही खाना बनाते थे । एक झोंपड़े में ही सभी सोते, बैठते थे । उसमें स्त्री–पुरुष के अलावा उनके अवयस्क बच्चे रहते थे । लड़की का विवाह हो जाने पर अलग से झोपड़ा बांध लेते थे । झोंपड़ों में हवा, आने–जाने के लिये छोटे–छोटे छेद होते थे । जानवरों को झोपड़ो के पास ही बांधते थे । वास स्थान के चारों ओर कंटीली झाड़ियों की बाड़ होती थी । जो बाहर के अनाधिकृत व्यक्ति या पशु को आने से रोकती थी । काश्तकार पक्के मकान नहीं बना सकते थे । इसकी राजा व सामन्त की ओर से मनाही थी । कृषि मजदूर अपने कृषक के खेत पर ही रहते थे । इससे कृषकों को लाभ भी था । वह मनचाहे जब उन्हें काम पर लगा सकता था । न केवल मजदूर बल्कि उसकी स्त्री व बच्चे भी खेतों पर काम करते रहते थे । स्त्रियाँ पानी ढोने के अलावा पशु बाड़ों का गोबर साफ करने, उठाने व खाद डालने का काम करती थी तो बच्चे ढोरों को चराने में लगे रहते थे । यों खेतों में काश्त के समय पुरुष, स्त्रियाँ, बच्चे सभी साथ काम करते थे ।

धार्मिक विश्वास–

कृषक व कृषि मजदूर सामान्यत : धर्म भीरू होते थे । वे देवी देवताओं, लोक देवी देवताओं व भूत–प्रेतों में ज्यादा ही विश्वास करते थे । प्रत्येक किसान के घर में व खेत में किसी देवी देवता या लोक देवी देवता की प्रतीक रूप में एक पत्थर रखकर स्थापना कर दी जाती थी । प्रत्येक कार्य आरम्भ करने के पूर्व उनकी पूजा की जाती थी । जन्म, विवाह, मृतक संस्कार आदि उन देवी देवताओं को याद किये या पूजा किये बिना सम्पन्न नहीं होता था । धर्म में ज्यादा विश्वास होने से पुराने रीतिरिवाजों में परिवर्तन या संशोधन करने से डरते थे । बिमारियों को भी देवी देवता की नाराजगी होना मानकर दवा दारू न कर झाड़ू व फूंक में विश्वास करते थे । खेतों में सांप ज्यादा होते थे । अत : नाग देवता की ज्यादा पूजा की जाती थी । सांप का विष भी झाड़ू फूंक से उतारने का प्रयत्न करते थे । भूत–प्रेतों से ज्यादा डरते थे । इस कारण कई बीमारियां मुख्यत : मानसिक, उनके डर से ही होती थी । मन्दिर के पुजारियों, भोपों आदि का इस कारण बड़ा आदर करते थे । कोई काम ब्राह्मण से मुहर्त पूछे बिना नहीं करते थे ।

जातीय असमानता–

काश्तकार व कृषि मजदूर राजपूतों, ब्राह्मणों व महाजनों को अपने से उच्च जाति का मानते थे । अत : इनको बड़ा महत्व देते थे । भांभी, रेगर, चमार, भील, सरगरा, मेरणा, आदि को नीची जाति का मानते थे । विभिन्न उत्सवों में ब्राह्मण का कर्तव्य बड़ा महत्वपूर्ण होता था, इसके द्वारा विभिन्न उत्सवों के लिये शुभ लगन निकलवाने, पूजा करवाने, देवी देवताओं तथा पूर्वजों के आशीर्वाद प्राप्त करने, आदि के लिये आवश्यकता रहती थी । सभी जातियों के विवाह संस्कार में ब्राह्मण की उपस्थिति अनिवार्य थी । संस्कारों व उत्सवों में भाग लेने के, उपलक्ष में ब्राह्मण भोजन व दान दक्षिण पाते थे । जहां जाति प्रतिष्ठा के कारण उनके लिए पकाया हुआ भोजन वर्जित होता था वहां वे "सीधा ग्रहण" करते थे । राजपूतों का शासक जाति का होने से

बड़ा आदर किया जाता था । यों राजपूतों को भू–स्वामी होने पर भी काश्तकारों पर बहुत अधिक निर्भर होना पड़ता था । उनके सहयोग के बिना वे अपने खेतों को जोत, या बो नहीं सकते थे । निराई, कटाई, और ओसाई आदि नहीं कर सकते थे और न उपज को इकट्ठा कर सकते थे लेकिन सामन्ती शासन होने से काश्तकार उससे दबे रहते थे और बिना पारिश्रमिक लिये गौर निकालते रहते थे । कई बार तो काश्तकारों को अपने खेतों का काम छोडकर सामन्तों के खेतों पर जाकर काम करना पड़ता था । दैनिक जीवन में कृषि कार्यों में आत्म निर्भरता के कारण जातिवाद के कट्टर नियमों के होते हुए और उनसे बंधे रहने पर भी सभी उच्च व निम्न जातियां हिल मिल कर साथ–साथ रहती थी । जातिय संघर्ष कम होते थे । उनमें धार्मिक विद्वेष भी नहीं था । सभी को अपने–अपने धर्म व विश्वास में पालन की छूट थी ।

संयुक्त परिवार :

काश्तकारों के परिवार ज्यादातर संयुक्त परिवार होते थे और यह सामाजिक व आर्थिक दृष्टि से उचित भी था । संयुक्त परिवार में काश्तकार की पत्नी के अलावा पुत्र, पौत्र, प्रपोत्र आदि होते थे जो शांति पूर्वक एक साथ में रहते थे । दुख–सुख में बराबर हाथ बंटाते थे तथा परिवार के कर्ता के आदेशों का बराबर पालन करते रहते थे । परिवारों के सब कार्य उसकी सलाह से किये जाते थे । सबका खाना–पीना परिवार के सब कार्य उसकी सलाह से किये जाते थे । सबका खाना–पीना एक चूल्हे से ही होता था । सभी साथ में ही खेतों पर काम करते थे । यों भी खेती के लिये चार–पांच व्यक्तियों की बराबर आवश्यकता रहती थी । उनके बिना खेती का काम होना संभव नहीं था । अत : आर्थिक दृष्टि से संयुक्त परिवार होना अत्यन्त आवश्यक था । संयुक्त परिवार प्रथा होने से पर्दाप्रथा का प्रचलन था तथा पत्नीयों को अपने पति के साथ घूमने–फिरने की स्वतंत्रता नहीं थी ।

शिक्षा –

काश्तकारों में शिक्षा नगण्य थी । किसानों के बच्चों को बाल्यकाल में ही काश्त के काम में यहां पशु चराने के लिये लगा दिया जाता था। अत : उन्हें कोई शिक्षा नहीं मिलती थी । यों गांवों में केवल ब्राह्मणों में ही कुछ शिक्षा का प्रचलन था और वे अपने घरों में ही शिक्षा पाते थे । महाजनों में भी काम चलाऊ शिक्षा थी ।नगरों व गांवों में सरकार या ठिकानों की ओर से कोई पाठशालायें नहीं थी । उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षो में नगरों में कुछ पाठशालायें खुली। लेकिन काश्तकार स्वयं अशिक्षित थे अत : उन्होंने शिक्षा का महत्व ही नहीं समझा। 20वी शताब्दी में अवश्य काश्तकारों में कुछ चेतना आई लेकिन उनमें से कम ही शिक्षित हो पाये । अधिकतर काश्तकारों के अशिक्षित होने से वे कृषि की नवीनतम विधियों से अनभिज्ञ रहे । उनमें अपने मूल अधिकारों के प्रति चेतना भी नहीं जगी। अत : सामन्ती शासन के अत्याचारों को अपना ऐसा ही भाग्य होना मानकर सहते रहे । एक कवि ने कहा भी है -

सोनों गढड़े सुनार, कंदोई खजा केर ।
भोगे भोगण हार, करम परवाणे किसनीया । ।

16.3 भूमि धारण :

राजस्थान में 1947 के पूर्व कुल 34,324 गांव थे जिनमें से 16,638 खालसा के, 16,631 जागरी गांव व 1,325 संयुक्त रूप से खालसा व जागीरी गांव थे । राजस्थान की लगभग 40 प्रतिशत भूमि खालसा व 60 प्रतिशत भूमि जागीरी के अधीन थी । सिद्धांत भूमि का स्वामित्व राजा में निहित था । लेकिन भूमि पर काश्त करने वाले, जब तक–लगान देते रहते थे, व्यवहारिक रूप से. भूमि के स्वामी होते थे । राज्य की समस्त, भूमि खालसा या हवाला व गैर खालसा या जागीर में बंटी हुई थी । इनाम, भेंट आदि में दी भूमि यदि किसी एक सम्पूर्ण गांव या आधे गांव या कई गांवों की होती थी तो वह जागीर कहलाती थी । जागीर भूमि में वह भूमि भी सम्मलित थी जो ईनाम, जूनाजागीर, भोमि चारा, भोम, सासण, पसायता, आदि में दी होती थी। राजा को किसी व्यक्ति या संस्थान को जागीर में भूमि देने का पूर्ण अधिकार था ।मारवाड़ में जागीरदारों को ईनाम, ड़ोली, पसायता आदि के रूप में अपने गांव की भूमि देने का अधिकार था। लेकिन 1850 में ऐसी भूमि देना अवैध करार दिया गया । खालसा भूमि पर राजा का सीधा सम्बन्ध और नियंत्रण रहता था और वही अपने कर्मचारियों द्वारा भूमि के काश्तकारों से लगान वसूल करता था । जागीरी भूमियों का लगान जागीरों के स्वामी– जागीरदार, ईमानदार, भोमियां, सासणदार, आदि वसूल करते थे । कुछ भूमियों का वे राजा को नाम मात्र का निश्चित वार्षिक लगान देते थे । यह लगान पेशकश, फौजबल, भूमिबाद आदि कहलाता था । मध्य– युग में, राजाओं ने जागीरदारों को कई जागीरे सैनिक सेवा के बदले में दे दी थी और उन जागीरदारों को आवश्यकतानुसार सैनिक रखने पड़ते थे । लेकिन सन 1859 के बाद अंग्रेजों का पूर्ण संरक्षण पर जाने पर, राजाओं को, जागीरदारों से सैनिक सेवा लेने की आवश्यकता नहीं रही अत : वे जागीरदारों से सैनिक सेवा के बदले नकद राशि लेने लगे । यह राशि जागीरदारों द्वारा लिये जाने वाले लगान आदि से बहुत कम थी । जागीरदारों को शेष रकम का उपयोग करने का अबाध अधिकार था ।

प्रत्येक गांव की भूमि कृषि भूमि, आबादी भूमि, चरणोद, श्मसान भूमि मकरा, पहाड़ी, वन आदि में बेटी थी । कृषि भूमि व आबादी भूमि का आवंटन करने का अधिकार राजा या जागीरदार को था लेकिन चरणोद, मगरा, पहाड़ श्मसान भूमि, तालाब आदि पर गांव का सम्मिलित अधिकार माना जाता था । फिर भी कई स्थानों पर सामन्तों ने उनके उपयोग पर कई लागें लाकर, लगा दो थी ।कृषि भूमि के नीचे आने वाली खानों पर काश्तकार का कोई अधिकार नहीं होता था। आबादी भूमि में गांव के काश्तकार व गैर काश्तकार लोग रहते थे जिन्हें ऐसी भूमि राजा या जागीरदार भूमि के नाप व स्थिति के अनुसार कुछ राशि लेकर देते थे । कृषि भूमि कुछ खतों पर दी जाती थी और जब तक काश्तकार उन शर्तो का पालन करते रहते थे तब तक उन्हें उनके कब्जे की भूमि से बेदखल नहीं किया जाता था । लालची व अत्याचारी सामन्त अच्छी भूमि देखकर काश्तकारों को बेदखल भी कर देते थे । विरोध करने पर उन्हें गांव से निकाल देते थे । जोधपुर में एक मामला मेरे ध्यान में है कि जागीरदार ने एक बेरा एक काश्तकार से छीन लिया था । काश्तकार वर्षों तक विभिन्न न्यायालयों में मुकदमा

लड़ता रहा और जब वह उच्च न्यायालय में जीत गया तब महाराजा ने उसी जागीरदार को वह बेरा ईनाम में दे दिया और काश्तकार हाथ मलता रह गया ।

भूमि काश्त हेतु दो शर्तो पर जाती थी – स्थाई काश्त पर या अस्थाई काश्त पर । स्थाई काश्त करने वाले खातेदार, बिस्वेदार, बापीदार, मुस्तकिल, असली काश्तकार, बपौनीदार आदि कहलते थे । अस्थाई काश्त वाले गैर बापीदार, गैर खातेदार, गैर मुस्तकिल काश्तकार, मजारदार, दाखिली आदि कहलाते थे ।

बापीदार काश्तकार को भूमि पर वंशानुगत अधिकार प्राप्त थे और उसे राजा या ठिकाने से पट्टा प्राप्त होता था । उसे निर्धारित नियमों व शर्तो का पालन करना पड़ता था तथा प्रतिवर्ष लगान, देना पड़ता, था । यदि भूमिपति, को ऐसी भूमि की आवश्यकता पड़ती थी तो भूमिपति उसे उतने ही मूल्य की, भूमि अन्य स्थान पर दे देता था । यदि काश्तकार दुर्भिक्ष के कारण कुछ वर्षो के लिये गांव के बाहर चला जाता था तो उसके उस भूमि से अधिकार समाप्त नहीं होते थे । बापीदार को भूमि पर खड़े वृक्षों को कृषि कार्य या घरेलू कार्य के लिये उपयोग करने का अधिकार था लेकिन वह उन्हें बेच नहीं सकता था । यदि वह अपनी भूमि पर पक्का कुंआ बनवा लेता था तो उससे दस वर्षो के लिये और कच्चा कुंआ खुदवाने पर 5 वर्षो के लिए बारनी भूमि के हिसाब से ही लगान लिया जाता था । बाद में सिंचित भूमि के हिसाब से लगान देना पड़ता था । बापीदार की मृत्यु हो जाने पर उसके उत्तराधिकारी को अथवा उसकी विधवा पत्नी को बापी के अधिकार मिल जाते थे । भूमि से निकलने वाली खानों व खनिजों या गड़े धन पर बापीदार का कोई अधिकार नहीं होता था । बापीदार अपनी भूमि दूसरे काश्तकार को काश्त के लिये दे सकता था । उसे गिरवी रख सकता था व बेच भी सकता था। ऐसे काश्तकार बहुत कम संख्या में थे ।

गैर बापीदार को किसी भी समय भूमि से बेदखल किया जा सकता था और बेदखली पर उसे किसी भी प्रकार का मुआवजा नहीं दिया जाता था । भूमि पर लगे वृक्षों तथा घास पर उसका कोई अधिकार नहीं था। भूमि पर कुंआ खोदने पर उसे कोई लाभ नहीं मिलता था । इसके विपरीत उसे सामान्य लगान से कुछ बढ़कर ही भूमि कर देना पड़ता था । उस भूमि पर उसे कोई वंशानुगत अधिकार प्राप्त नहीं होते थे । सामान्यत बापीदार से गैर बापीदार को डेढ़ गुना लगान देना पड़ता था ।

पाही काश्त –

जिन काश्तकारों के पास अपने गांवों में काश्त की श्रम नहीं होती थी वे पड़ौसी गांव में भूमि लेकर काश्त करते थे । ऐसी काश्त पाही काश्त कहलाती थी । गांव वाले इसको पसंद नहीं करते थे व विरोध भी करते थे क्योंकि इससे गांव के पशुओं को खाली पड़त भूमि पर घास चरने को नहीं मिलता था । गांव के देही काश्तकारों व पाही काश्तकारों की काश्त की शर्ते भी भिन्न–भिन्न होती थी । पाही काश्तकारों को देही काश्तकारों की तुलना में ज्यादा लगान देना पड़ता था तथा उनके पशुओं को पड़त भूमि में चरने से मनाही थी । यदि वे ऐसा करते थे तो उनसे और ज्यादा लगान लिया जाता था ।

16.4 काश्तकारी प्रक्रिया और पारिश्रमिक :

काश्तकारों को भूमि पर कितना श्रम करना पड़ता था और उसका क्या प्रतिफल मिलता था, यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय था । काश्तकारों का अपने श्रम पतियों से सम्बन्ध भी इसी पर निर्भर होता था । यह सर्वविदित है कि राजस्थान की 80 प्रतिशत जनसंख्या प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से काश्त पर निर्भर थी । अत: काश्तकारी प्रक्रिया को जानना अत्यन्त आवश्यक है।

वर्ष में दो फसलें होती थी – खरीफ (सावणु) व रबी (उनालू) । खरीफ फसल वर्षा ऋतु में बोई जाती थी और रबी सर्दियों में । ज्यादातर भूमि पर खरीफ फसल बोई जाती– थी और इसी से काश्तकारों को मुख्य रूप से खाद्यान्न और चारा मिलता था । इसके उत्पादन में व्यय भी कम होता था और निर्धन काश्तकार अपने लिये वर्ष भर के खाद्यान्नों के लिये इस फसल की पैदावार पर निर्भर थे । खरीफ फसल में बाजरा, ज्वार, मक्का, मोठ, मूंग, तूर, उड़द, चवला, तिल, आदि होते थे । कुछ क्षेत्रों में मूंगफली, कपास, पटसन आदि भी होता था । खरीफ की फसल वर्षा होने पर जून व जुलाई में बोई जाती थी और सितम्बर व अक्टूबर में काट ली जाती थी । बाजरा रेतीले क्षेत्र का मुख्य खाद्यान्न था । मूंग व मोठ सब्जी के काम में लिया जाता था । अर्ध रेगिस्तानी व पहाड़ी क्षेत्रों में ज्वार व मक्का मुख्य खाद्यान्न था । तिल, सरसों, मूंगफली, गन्ना, कपास, मिर्च, धनिया, जीरा आदि व्यापारिक फसलें थी । कपास व तिलहन, तिल, सरसों, अलसी, मूंगफली आदि के ज्यादा बोने में अंग्रेजी सरकार भी हित रखती थी ।

रबी की फसल खरीफ से 15 प्रतिशत से–भी कम होती थी । रबी की मुख्य फसलें गेहूँ, जौ, चना, मसूर की दाल, सरसों, आदि होती थी । गेहूँ व जै सिंचित भूमि पर होते थे लेकिन कहीं–कहीं गेहूं, जौ, व चना सेवज भूमि पर होता था । साधारण किस्म का चावल भी होता था लेकिन यह अधिकतर दक्षिण व पूर्वी राजस्थान में होता था । व्यापारिक फसलों में सरसों, गन्ना, सौंफ व जीरा होता था । दक्षिणी पूर्वी राजस्थान में अफीम भी सीमित क्षेत्र में होता था । प्रतापगढ़ का अफीम सर्वोत्तम माना जाता था । बहुत ही सीमित क्षेत्र में तम्बाकू भी रबी व खरीफ फसल में होता था । लेकिन यह साधारण किस्म का होता था । करौली राज्य में भांग होती थी ।

नगरों व कस्बों के आसपास सब्जियां होती थी । ग्रामीण क्षेत्रों में भी सीमित क्षेत्र में जहां सिंचाई होती थी, सब्जियां होती थी। सब्जियों में मुख्यत : गाजर, मूली, मेथी, पालक, शकरकन्द, भिण्डी, प्याज आदि होते थे । नदियों के पेटे में तरबूज, खरबूजा, व तालाबों में सिंगाड़ा होता था । टोंक व पाली के खरबूजे मशहूर थे ।

प्राकृतिक उपज में खेजड़ा, कीकर, पाला आदि होते थे । काश्तकारों का वृक्षों पर पूर्ण अधिकार नहीं होता था तथा प्राकृतिक उपज पर भी उन्हें लागों देनी पड़ती थी । इस कारण वे वृक्षारोपण पर ज्यादा ध्यान नहीं देते थे । स्वत : उत्पन्न वृक्षों को घरों में बापीदार काम में लेते थे । ज्यादा लकड़ी चूल्हा जलाने के काम में लेते थे । खेजडा, कीकर आदि की पत्तियां पशु चारे के काम में आती थी ।

फलों की उपज पर बहुत कम ध्यान दिया जाता था । यों पूर्वी व दक्षिणी राजस्थान में आम, पपीता, संतरा, जामुन, अमरूद, कॉफी होते थे । बेर, अनार, करोंदा, आदि पश्चिमी राजस्थान में भी होते थे । इनको उगाने की ओर कम ध्यान दिया जाता था । क्योंकि कम ही काश्तकारों को भूमि पर मालिकाना अधिकार मिले हुये थे तथा सिंचाई की सुविधायें भी कम मिली हुई थी । ज्यादातर काश्तकारों को फलों के वृक्षों की देखभाल का ज्ञान भी नहीं था ।

काश्तकारों को बोने के लिये बीज भी समय पर नहीं मिलता था । यों वे अपने बोहरों पर ही बीज के लिये निर्भर रहते थे क्यौंकि वे फसल का ज्यादातर उत्पादन ऋण पेटे बोहरो को पहले ही दे देते थे । अपने पास केवल खाने के लिये खाद्यान्न रखते थे । बोहरे अच्छा धान बेच देते थे तथा सड़ा गला पुराना धान, जो बेचने के बाद रहता था बीज में काश्तकारों को दे देते थे । यों काश्तकारों के पास अच्छा बीज खरीदने को पर्याप्त रकम भी नहीं रहती थी । इस कारण काश्तकार हल्का बीज ही काम में लेते थे और इस कारण उत्पादन कम होता था । खाद के वारे में भी काश्तकार ज्यादा ध्यान नहीं देते थे । पहले तो उन्हें विश्वास ही नहीं रहता था कि वह भूमि आगामी वर्ष उन्हें ही काश्त के लिये मिलेगी । इसके अलावा उन्हें जानवरों का गोबर खाद हेतु सुरक्षित रखने के तरीके ज्ञात नहीं थे । रसायनिक खाद व जानवरों की हडिड्यों की खाद उनकी पहुंच की बाहर थी । सबसे ज्यादा समस्या तो उनकी निर्धनता थी जिसके कारण यह अच्छी खाद खरीद ही नहीं सकते थे । उनको आर्थिक सहायता या जानकारी देने वाला कोई नहीं था कि कैसी मिट्टी में कैसी व कितनी खाद कब देनी चाहिए ।

काश्तकारों को जंगली पशुओं – सुअरों, रोज, हिरण, पक्षियों, व टिड्डी व कातरा, चूहों आदि से भी काफी खतरा रहता था । वे उनकी खड़ी फसल नष्ट कर देते थे । सामन्ती शासन में सामन्तों को शिकार का अत्यधिक शौक होने से काश्तकारों को सुअर, रोज, हिरण आदि पशुओं को मारने की मनाही थी, भले ही वे उनके खेत नष्ट कर दे । इनके अलावा पक्षियों, टिड्डी, कातरा, चूहे आदि भी उनकी फसल को काट कर देते थे । दीमक, रोली आदि से भी उनकी फसलों को कम नुकसान नहीं होता था । इनसे बचने का वैज्ञानिक तरीका उन्हें बतलाने वाला कोई नहीं था । ऐसी अनभिज्ञता से वे भरपूर फसल ले ही नहीं पाते थे । उनका काफी श्रम व्यर्थ जाता था ।

काश्तकारी के ढंग बड़े पुराने व अपरिष्कृत थे । अशिक्षा व निर्धनता के कारण व कृषि विज्ञान के विकास व काश्तकारी प्रविधि के सुधार से वंचित थे । जुताई के लिये वे लकड़ी के हल का प्रयोग करते थे । जिससे जमीन का ज्यादा फाड़ नहीं होता था । इसके अलावा वे कुदाली, गैती, खुरपा, पाटा, ओलना, दातली आदि का प्रयोग करते थे । जो भी पुराने ढंग के थे । और जिनसे काफी श्रम व्यर्थ जाता था । खेत की उपज, खेतों से घर पर लाने व मण्डी में ले जाने के लिये भारी भरकम व धीमी रफ्तार वाली बैलगाड़ी का प्रयोग करते थे । ये गाड़ियां लकड़ी के पहियों की होती थी और काफी धीमी गति से जाती थी। तथा ज्यादा वजन खीच नहीं पाती थी । अत : काश्तकारों का ज्यादातर श्रम व समय व्यर्थ में नष्ट हो जाता था । ऐसी दशाओं में ज्यादा परिश्रम करने पर भी ज्यादा फसल नहीं ले पाते थे तथा उसे बेच कर ज्यादा लाभ उठा नहीं पाते थे । उसका परिणाम निकलता था उनका सदा निर्धन रहना तथा बोहरों व सामन्तों से सदा दबे रहना।

16.5 सिंचाई :

भूमि का सर्वोत्तम उपयोग करने व पैदावार को बढ़ाने के लिये सिंचाई अत्यन्त आवश्यक होती है लेकिन इनकी सुविधाएं काश्तकारों को नाममात्र की मिली हुई थी । ज्यादातर काश्तकार वर्षा के पानी पर ही निर्भर थे और वर्षा सदा अनिश्चित रूप से होती थी । समय पर तथा उचित मात्रा में वर्षा न होने से दुर्भिक्ष ज्यादा ही पड़ते थे । सिंचाई के मुख्य सोत कुंए थे जिनसे सिंचित भूमि चाही भूमि कहलाती थी। इसका लगान बारानी (वर्षा पर निर्भर) भूमि से ज्यादा ही होता था । यों कुछ तालाबों व बींधो से भी सिंचाई होती थी । कुंओं से पानी निकालने का काम सामान्यत अरहट अथवा रहट (चरस) या ढेक्ली (चोंच) से होता था । मेवाड़ के पिछोला, उदयसांगर, राजसमन्द, जयसमन्द आदि झीलों से नहरें निकाल कर उक्त कुछ भूमि में सिंचाई की जाती थी । 20वी सदी के आरम्भ में अलवर, भरतपुर, जयपुर, जोधपुर आदि रियासतों में कई छोटे बांध बनवाये गये और उनसे नहरें निकाल कर सिंचाई भूमि में काफी वृद्धि की गई । 20वीं सदी में सबसे महत्वपूर्ण सिंचाई योजना बीकानेर नरेश ने गंगा नहर पंजाब से लाकर वर्तमान गंगानगर जिले में सिंचाई भूमि की काफी वृद्धि की । इससे न केवल काश्तकारों की आर्थिक स्थिति सुधरी बल्कि रियासत की आय में भी वृद्धि हुई । खाद्यान्न की पैदावार भी बहुत ज्यादा बढ गई । राजस्थान में सिंचाई बांधों की कमी का कारण रियासतों व सामन्तों का इसमें विशेष रुचि न लेना व ऐसी योजना के निर्माण के लिये आर्थिक दृष्टि से स्वयं का समर्थ न होना था । किसान भी नहरों की सिंचाई की विरुद्ध थे क्योंकि नहरों के निर्माण से उनके खेत अलग–अलग टुकड़ो में बंट जाते थे यों नहरों की सिंचाई की दरें, काफी ज्यादा थी तथा यह भी निश्चित नहीं होता था कि कितनी बार कब–कब कितना पानी दिया जावेगा । अत : काश्तकार तालाबों व बांधों की सिंचाई की ओर कम ध्यान देते थे । काश्तकार कुंअे बनाने में भी असमर्थ थे क्योंकि इसमें हजारों रुपये खर्च होते थे । यों ज़ादातर क्षेत्रों में पानी खारा था तथा अपर्याप्त भी । इसके अलावा कुंअे भी काफी गहरे होते थे और उनको चलाने के लिये कम से कम पांच आदमियों की आवश्यकता रहती थी । इनसे औसतन 10 बोंघा की सिंचाई बड़ी मुश्किल से हो पाती थी और ये काफी महंगी व परिश्रम साध्य होती थी । दुर्भिक्ष व वर्षा कम होने पर कुंओं में पानी ओर कम हो जाता था और पीने का पानी भी कठिनाई से मिल पाता था । इन कारणों से काश्तकार सिंचाई के साधन बढ़ाने की ओर कम लगन देते थे ।

16.6 भूमि कर :

किसानों व राज्य के बीच सम्बन्ध भूमि कर के कारण बंधे थे । भूमि कर को लगान, हासिल, भोग, आदि भी कहा जाता था यह भूमि कर मिट्टी के गुण, भूमि की स्थिति, फसल की किस्म, काश्तकार की जाति के अनुसार तय किया जाता था । सिंचित भूमि का लगान, असिंचित (बारानी–वर्षा पर निर्भर) भूमि से ज्यादा होता था । गांव के समीप की भूमि पर लगान गांव में दूर स्थित भूमि से ज्यादा होता था । दुर्भिक्ष के समय लगान स्वत : कम हो जाता था । बापीदार को गैर बापीदार से कम भोग देना पड़ता था । गैर काश्तकार, जातियों – राजपूत, बाहण, महाजन, भील, मीणा, आदि को काश्तकार जातियों से कम लगान देना पड़ता था । व्यापारिक फसलों व खाद्यान्न सम्बन्धी फसलों के लगान में भी अंतर होता था ।

व्यापारिक फसलों अफीम, तंबाकू, कपास, पना, जीरा, आदि उत्पन करने वाले काश्तकारों से गेहूँ, जौ, चना, बाजरा, आदि के उत्पादकों से ज्यादा भोग लिया जाता था ।

उन्नीसवीं शताब्दीं के आरम्भ में लगान, सामान्यत : पैदावार के हिस्से के रूप में लिया जाता था जो आधे से आठवें हिस्से तक होता था । खरीफ (सियालु) या सावगु फसल पर आधा या तिहाई था । तो उनालू (रबी) पर तिहाई या चौथाई था । सियालू फसल (जून से सितम्बर माह) ज्यादातर वर्षा पर निर्भर थी । तथा उनालू फसल (नवम्बर से मार्च माह) सिंचाई पर निर्भर थी । सियालू फसल में बाजरा, ज्वार, मक्की, तिल, मूंग, मोठ आदि होते थे और रबी फसल में गेहूं, जौ, चना, सरसों आदि होते थे । तालाबों, बांधों आदि के तल की भूमि में उनालू फसलें होती थी और उन पर चौथाई से पांचवा हिस्सा, उपज का लिया जाता था । वर्षा का पानी इकट्ठा हो जाने के बाद सर्दियों में सूख जाने पर उस भूमि – सेवज से भी उनालु फसल ली जाती थी । ऐसी भूमि को लगान बारानी भूमि से ज्यादा लिया जाता था। जब कुछ क्षेत्रों में भूमि बंदोबस्त हो गया तब वहां भूमि के गुण आदि के आधार पर लगान नकद में दिया जाने लगा जो बारानी भूमि के लिये चार आना से सवा रुपये बीघा तक था तथा सिंचित भूमि के लिए एक रुपये से पांच रुपये बीघा तक था । भूमि बंदोबस्त समय–समय पर होते रहे और प्रत्येक भूमि बंदोबस्त के समय भूमि पर बढ़ते गये । रियासतों की आमदनी का मुख्य स्रोत भूमि कर बन गया और इस कारण ज्यों–ज्यों रियाततो व जागीरदारों के खर्चे बढ़ते गये भूमि कर भी बढ़ता गया । नगरों का विकास काश्तकारों पर बढ़ाये गये लगानों द्वारा किया जाने लगा अत कई काश्तकार बढ़े लगानों को न देने के कारण तथा महाजनों के ऋणी होकर भूमि छोड़ गये और अपनी भूमि गैर काश्तकार लोगों को दे गये और कई भूमिहीन होकर नये भूमिधारकों के खेतों पर मजदूरी करने लग गये । भूमिहीन काश्तकारों व कृषक मजदूरों की संख्या बराबर बढ़ती गयी । भूमि बंदोबस्त क्षेत्र के, जहां इजारेदारी प्रथा समाप्त हो गयी, बनिया वर्ग को अब काश्तकारों के रुपये उधार देने व लेने तक सीमित होना पड़ा या परदेश व्यापार के लिये जाना पड़ा । उन काश्तकारों को भी काफी परेशान होना पड़ा जहां भूमि बंदोबस्त हो जाने पर नकद लगान देना पड़ता था । दुर्भिक्ष के समय फसलों के चौपट हो जाने पर भी उन्हें जैसे तैसे लगान देना ही पड़ता था और इस कारण या तो बोहरो का कर्जदार बनना पड़ता था या भूमि बेचनी या गिरवी रखनी पड़ती थी । इससे भूमिहीन कृषि मजदूरों की संख्या बढ़ती ही गयी।

16.7 लागबाग :

काश्तकारों को भूमि कर के अलावा कई अन्य कर भी देने पड़ते थे जिन्हें लागबाग कहा जाता था । लागबागें दो प्रकार की होती थी – मुस्तकिल, जो प्रतिवर्ष या दो तीन वर्षों के अंतर पर देनी पड़ती थी, तथा गैर मुस्तकिल जिसकी रकम निश्चिम नहीं होती थी और पैदावार के घटने–बढ़ने के साथ कम ज्यादा होती रहती थी । विभिन्न रियासतों व गांवों में मुस्तकिल या गैर मुस्तकिल लागों के कोई निश्चित आधार नहीं थे । एक रियासत के सभी गांवों में भी लागें एक समान नहीं थी । कुछ गांवों में एक प्रकार की लागें प्रचलित थी तो दूसरे गांवों में दूसरे प्रकार की । कुछ गांवों में बहुत अधिक लागें थी तो कुछ गांवों में कम लागें थी । कुछ

लागें नकद में ली जाती थी तो कुछ लागें जिन्स के रूप में वसूल की जाती थी । किसी राज्य या ठिकाना में लागें लगाने के कोई नियम निर्धारित नहीं थे और न ही इनकी दरें ही निर्धारित थी। लागें भी मनचाहे जब लगा दी जाती थी । उन्नीसवीं शताब्दी में अंतिम वर्षो में जालोर परगने में 222, पाली परगने में 93 व मेड़ता परगना में 81 लागें थी । 1936 में जोधपुर रियासत में 119 लागेबागें समाप्त की गई थी । फिर भी 1941 में मारवाड़ किसान सभा में प्रचलित 136 अवैध लागबागों की सूची सरकार को पेश की थी । इस सूची से ऐसा प्रतीत होता था कि काश्तकारी की कोई वस्तु लागबाग से बची नहीं थी । मारवाड़ राज्य की बिलाड़ा तहसील में 1948 में 142 लागें प्रचलित थी । इसी प्रकार सर 1922 में बिजोलिया मेवाड़ राज्य के काश्तकारों ने राजपूताना के ए.जी.जी. के समक्ष 74 लाग बागों की सूची पेश की थी । 1927 में अलवर राज्य के किशनगढ़ तहसील में 49 लाग बागें प्रचलित थी । ये लागें बागें बढ़ती रहती थी । उदाहरणार्थ – शेखावाटी में जब ठाकुरों ने मोटर गाड़ियां खरीदी तब काश्तकारों पर नई मोटर लाग लगा दी गई । कई जागीरदारों ने वेश्यायें रख छोड़ी थी उनके लिये भी काश्तकारों से लाग ली जाती थी ।

कई लागें सामान्य जनहितार्थ भी लगाई जाती थी जैसे गांव के साथ सन्यासियों की सेवा; मन्दिरों में पूजा, अतिथि सत्कार आदि के लिये । कुछ लागें करों के रूप में ली जाती थी कैसा पेशा कर, मकान कर, वाहन कर आदि । गांव के विकास कार्यो के लिये मलबा लाग, खरड़ा लाग आदि भी लगाई हुई थी। सैकड़ों लागों में से कुछ लागों का विवरण इस प्रकार है –

मलबालाग को गंवाई खरडा, गदाई अगाई, बाछ आदि भी कहते थे । इसकी राशि का उपयोग गवाई खर्च के लिये किया जाता था । यथा सरकारी कर्मचारियों, साधु सन्यासियों आदि के खाने–पीने की व्यवस्था करने । मावली भाबसी लाग खालसा गांव के उन काश्तकारों से ली जाती थी जो अपने गांव के बाहर जागीरी भूमि पर काश्त करते थे । इस लाग को मुख्य ध्येय खालसा भूमि के काश्तकारों को जागीरी भूमि पर काश्त करने से रोकना था ताकि खालसा भूमि पड़ी न रहे ।

औउरखान लाग –.

चमड़ा खरीदने के लिये लगाई जाती थी । पहले सरकारी घुड़साल के लिये खालसा गांव के जागीरदारों से चमड़ा मंगाया जाता था। बाद में चमड़े के बदले प्रति गांव पर नकद लाग लगा दी गई ।

खरगढ़ी लाग–

गधों के लिए बेगार लेने के बदले गांवों पर लगा दी गई क्योंकि पहले दुर्गो, के अंदर भवन निर्माण हेतु पत्थर चूना मिट्टी आदि का ढुलाई के लिये गांवों से गधे मंगाये जाते थे ।

धुवों या झूंपी लाग -

राज्य के नागरिकों से प्रति घर ली जाती थी । यह एक प्रकार का गृह कर था जो प्रतिघर एक से पांच रुपया वार्षिक होता था ।

अंग लाग –

प्रत्येक काश्त कार के परिवार के प्रत्येक सदस्य से जो पांच वर्ष से ज्यादा आयु का होता था प्रति सदस्य एक रुपया लिया जाता था ।

कोसी खर्च लाग –

ठिकाना की कोटड़ी के खर्चे के लिये प्रत्येक परिवार से एक से छ रुपया तक वार्षिक लिया जाता था ।

चंवरी लाग –

किसान के पुत्र या पुत्री के विवाह पर एक से पच्चीस रुपये तक लिये जाते थे ।

जोधपुर खर्च -

जोधपुर जाने के लिये स्वयं ठाकुर या वकील का यात्रा व्यय, जो प्रति परिवार एक से दो रुपया होता था, लिया जाता था ।

हाथी के पूले –

हाथी के घास के लिये कर

पोस्टकार्ड लाग –

ठिकाना के डाक खर्च के लिये 2 से 6 रुपये तक की लाग ।

चीला लता –

जागीरदार अपने ठिकाने की सीमा में से निकलने वाली प्रत्येक गाड़ी से 6 पाई प्रति गाड़ी लाग लेता था ।

चूड़ा लाग -

जब भी ठकुरानी नया चूड़ा पहनती थी तब काश्तकारों को उसका मूल्य चुकाना पड़ता था ।

गर्ज लाग –

यदि जागीरदार अपने पट्टे के गांव में जाता था तब गांव वाले 200 से 300 रुपये इकट्ठे कर जागीरदार को भेंट में देने थे ।

माहेरा की लाग

किसान के पुत्र के विवाह के समय वर के ननिहाल के लोग माहेरा लाते थे तब जागीरदार उनसे माहरों लाग का एक रुपया लेता था ।

नेवता लाग –

जागीरदार स्वयं की, अपने पुत्रों व पुत्रियों के विवाह के अवसर पर प्रत्येक काश्तकार से 10 से 50 रुपये लेता था ।

गंगाजी की लाग–

स्वर्गीय जागीरदार की भस्मी गंगाजी में डालने पर नये जागीरदार द्वारा प्रति काश्तकार एक से दो रुपया लिया जाता था ।

कुंवर जन्म लाग -

जागीरदार कुंवर के जन्म पर एक रुपया लाग में लेता था ।

कुंवरजी की घोड़ा लागू –

कुंवर के बड़े होने पर घोड़े की सवारी करना सिखाया जाता था । तब घोड़ा खरीदने के लिए प्रति घर एक रुपया लिया जाता था ।

कुछ लागें उत्पादनों पर भी लगाई जाती थी । ये लागें धान में से वसूल की जाती थी। इनमें से कुछ इस प्रकार थी –

फाडया लाग -

जागीरदार द्वारा हासिल का हिस्सा लेने हेतु लाये कपड़ों के लिये एक से डेढ़ मन धान लाग के रूप में लिया जाता था।

तोल लाग –

इसे सेरी लाग, लारी लाग, लार की लाग, आदि भी कहते थे । यह लाग जागीरदार द्वारा हासिल वसूल कर लेने के बाद अधिभार के रूप में दो से 10 सेर लिया जात थी।

घोड़ों का फेर लाग –

जागीरदार द्वारा घोड़ों के लिये चारे के लिये सिट्ये ली जाती थी । कुछ जागीरदार होला व फूंक के नाम से चणा के होले सवा चणा लेते थे ।

फलावट लाग –

यह लता हासिल को आंकने के लिये ली जाती थी । प्रत्येक मन पर 5 सेर लोग ली जाती थी ।

ऊडी लाग –

जागीरदार काश्तकार से एक गण पर 10 सेर लेते थे तथा इसे अपनी काश्त के लिये बीज के रूप में काम में लेते थे जबकि काश्तकार बीज को अपने बोहरों से खरीदता था ।

कबुतरों का धान –

जागीरदार द्वारा कबुतरों के लिये 5 से 10 सेर धान लिया जाता था ।

उबाहिरया लाग –

काश्तकार द्वारा हासिल का धान तथा अन्य देय चुकाने के बाद शेष धान पर उससे प्रति मण 3 सेर लिया जाता था ।

बकरा लाग -

प्रत्येक काश्तकार से जागीरदार, एक बकरा स्वयं के खाने के लिये लेता था। कुछ जागीरदार बकरे के बदले प्रति परिवार दो रुपया वार्षिक लेते थे ।

जट लाग –

रायको व रेबारियों द्वारा ऊंट के बाल ठिकाने के लिये जाजम बनाने के लिये दिये जाते थे ।

दूध लाग –

ठिकाने के लिये ग्रामीणों से प्रतिदिन प्रति व्यक्ति एक सेर दूध, बारी बारी प्रत्येक घर से मंगाया जाता था ।

राली लाग –

प्रति वर्ष काश्तकार अपने कपड़ों में से एक गद्दा या राली बनाकर देता था जो जागीरदार या उसके कर्मचारियों के काम आती थी।

ताली लाग –

दुर्भिक्ष के समय जब काश्तकार अपना पचावा खोलते थे तब जागीरदार उससे कूतर या गाड़ी पर चारा लेते थे जब तक काश्तकार यह, लाग नहीं देते थे तब तक उन्हें वह चारा काम में लेने नहीं दिया जाता था ।

माचा लाग –.

प्रति वर्ष काश्तकार को अपने व्यय से ठिकाने को एक माचा देना पड़ता था। ठिकाने में मेहमान आते थे तब उनके लिये काश्तकारों को बारी बारी माचे देने पड़ते थे । भले ही उनके परिवार वालों को माचे के बिना जमीन पर सोना पड़ता हो ।

कुम्हार लाग –

कुम्हार बेगार में ठिकाने का पानी भरता था लेकिन प्रत्येक काश्तकारों, को लाटों के समय 5 से 10 सेर धान कुम्हार के लिये देना पड़ता था।

भाम्बी लोग –

वह ठिकाने में प्रत्येक प्रकार की बेगार निकालता था । प्रत्येक काश्तकारों 5 से 20 सेर धान लाग में देता था । ऐसी ही लागें नाई, ढोली सुनार, धोबी, सुथार, दर्जी, बावरी, भंगी आदि को देनी पड़ती थी । ठिकाने के कर्मचारियों – कामदार, पटवारी, सेहणा, चोबदार आदि के लिये भी लागें देनी पड़ती थी । जागीरदार के पुरोहित, गुरु, ब्राह्मण आदि को भी काश्तकार द्वारा लागें दी जाती थी । जब ठिकाने के जागीरदार के साथ कामदार, हवलदार आदि उनके पट्टे के गांव में लाटा व कूता करने जाते थे । तब उनके खाने–पीने का कुल खर्चा व सवारियों–ऊंट, घोड़े आदि का खर्चा काश्तकारों को देना पड़ता था। जिला नागौर के ठिकाना खीवसर प्रति वर्ष इस मद के तहत 200 रुपये अपने पट्टे के गांव से वसूल करता था।

मौसर या विवाह के अवसर पर जागीरदारों के लिये निर्धारित संख्या व मात्रा में कांसे दिए जाते थे । इनकी संख्या व मात्रा एक ठिकाने के गांवों में भी अलग–अलग थी । जागीरदारों द्वारा निर्धारित कांसे की संख्या में अंत्यजों व कर्मचारियों के कांसों की संख्या सम्मिलित नहीं थी । कुछ लोग भोजन सामग्री एवं मिष्ठान पदार्थ की एवज में नकद राशि दे' देते थे जो ज्यादा से ज्यादा 15 रुपये तक थी ।

इस प्रकार जागीरदार अपने प्रत्येक–कार्य के लिये यहां तक की, अपना शौक पूरा करने के लिए अपने काश्तकारों से विभिन्न प्रकार की लागें वसूल करता था । धर्म, दान आदि करने के लिये भी वह स्वयं कुछ भी,खर्चु नहीं कुरता था बल्कि काश्तकारों से ही वसूल करता था। वहाँ तक कि शराब, वेश्या आदि के लिए भी काश्तकारों को लागें देनी पड़ती थी यदि कोई काश्तकार मना करता था तो उसकी जमकर पिटाई की जाती थी, झोपड़े जला दिये जाते थे । धान, घास, फूंस आदि को जला दिया जाता था तथा लागों की वसूली में अड़चन डालने वालों को काठ में डाल दिया जाता था । उनके कष्टों की सुनवाई करने वाला कोई नहीं था ।

ठिकाने के कर्मचारियों द्वारा ठिकाने के हिसाब के अतिरिक्त भी लागों की वसूली के अधिकार ठेके पर कभी–कभी दे दिये जाते थे । इसमें ठिकाने को भी नकद लाभ होता था । कई बार ठिकाना लागें सीधे ही वसूल किया करता था और इस कार्य के लिए नियुक्त कर्मचारियों का वेतन भी लागों में से ही लेकर देता था । कई बार वसूली ठेके पर नहीं भी उठाई जाती थी तब भी लाग की वसूली उस दशा में भी की जाती थी । इस प्रकार सामन्तों को कुछ भी किए बिना काश्तकारों का कुछ भी भला न करते भी लागों से अपार आय हो जाती थी।

16.8 भूमिकर वसूली :

लगान की वसूली के कई तरीके थे । इनमें मुख्य – लाटा, कूंता, काकड़ कूता, मुकाता, घूधरी, नीवघोड़ी, हजारेदारी आदि थे । सर्वाधिक प्रचलित तरीका लाटा था । लाटा, लटाई, बंटाई आदि एक समान अर्थ रखते थे । सवाई में काश्तकारों को अपने खेत की कुल पैदावार खलिहान में इकट्ठी करनी पड़ती थी । उस पैदावार को तोला या मापा जाता था और फिर उसके हिस्से कर लगान की वसूली की जाती थी। काश्तकार उस पैदावार में से कुछ नहीं ले सकता था जब तक कि सरकार या ठिकाने का लगान वसूल नहीं हो जाता था । उससे पूर्व कुछ भी काश्तकार द्वारा ले लेना संगीन अपराध माना जाता था और उसे भारी जुर्माना देना पड़ता था । काश्तकार को भी कई दिनों तक लाटे का इंतजार करना पड़ता था क्योंकि लाटा करने वाले फुरसत पाने पर ही आते थे । लाटों करने वालों व लाटा की निगरानी रखने वाले की भी बड़ी आवभगत करनी पड़ती थी । कहीं पर पैदावार को तोलने के पूर्व गांव के सेवकों – भांबी, नट, ढोंली, धोबी, नाई, कुम्हार, मेहतर, आदि का हिस्ता (नेग) अलग कर लिया जाता था तो कही पर तोलने के बाद काश्तकार को गांव के सेवकों का हिस्सा चुकाना पड़ता था । गांव के भीखमंगों, याचकों, मन्दिर के पुजारियों आदि को भी उसमें से कुछ धान देना पड़ता था । सरकारी या जागीरदारों के कर्मचारी इसी समय किसानों से लागबाग भी वसूल कर लेते थे । इस प्रकार, काश्तकार से निर्धारित लगान से सवाया या ड्योढ़ा लगान वसूल कर लिया जाता था । यह लटाई न होकर किसानों की लुटाई होती थी । किसानों के पास इस लूट की शिकायत करने का कोई साधन नहीं था और उसकी शिकायत सुनने वाला कोई था भी नहीं । किसानों के हित में की गई जांच समितियों, ने विलत जांच कर बतलाया कि किसान के पास उसकी पैदावार का सामान्यत : 20 प्रतिशत हिस्सा रहता, था जबकि जागीरदार 70 प्रतिशत् हिस्सा ले लेते ये और शेष 10 प्रतिशत याचक आदि ले लेते थे ।

यों लाटा पद्धति से कुछ लाभ भी थे। सबसे बड़ा लाभ यह था कि उसे फसल का ही हिस्सा देना पड़ता था ज्यादा पैदावार होने पर ज्यादा भूमिकर तो, कम होने पर कम भूमि कर देना पड़ता था । दुर्भिक्ष पड़ जाने पर कुछ भी पैदावार नहीं होती थी और जब वह भूमि कर देने से बच जाता था

कूता -

इस पद्धति में लगान पैदावार का अनुमान कर वसूल किया जाता था। खेते पर खड़ी फसल या कुल पैदावार के ढेर का अनुमान कर लगान वसूल कर लिया जात था । खालसा क्षेत्र में राज्यकर्मचारी तथा गांव चौधरी मिल कर अनुमान लगाते थे तो जागीर क्षेत्र में जागीरदार व

उसके कर्मचारी ।इसमें भी काश्तकार के हित में अनुमान नहीं लगाया जाता था और काश्तकार सदा नुकसान में रहता था ।

काकड़ कूत -

यह कूंता (अनुमान) खड़ी फसल को देखकर किया जाता था ।

धूघरी व बीज घूघरी –

प्रत्येक खेत या कुंए पर जितना बीज बोया जाता था उसी के हिसाब से लगान ले लिया जाता था चाहे पैदावार कितनी ही हो ।

मुकाता –

इसमें काश्तकारों से लगान प्रतिखेत निश्चित नकद राशि या जिन्सो के रूप में ले लिया जाता था । यह विभिन्न उपजों पर भिन्न–भिन्न थी ।

डोरी -

काश्तकारों को डोरी से नापकर भूमि वतला दी जाती थी और उससे नकद या उपज में लगान ले लिया जाता था ।

नीधोड़ी –

कोटा राज्य में सर्वप्रथम भूमि बंदोबस्त सन 1807 में; अजमेर ,मेरवाड़ा में सन 1849 में; भरतपुर में सन 1855 में; अलवर में सर 1859 में; जयपुर में सन 1863 में; व जोधपुर में 1883 में; खालसा भूमियों का भूमि बंदोबस्त आरम्भ हो गया था । अन्य राज्य में भी धीरे–धीरे भूमि बंदोबस्त हुआ । जहां भूमि बंदोबस्त हो गया वहां लगान प्रति बीघा की दर से लिया जाने लगा । ऐसा प्रचलन ज्यादातर खालसा गांवों में ही था । बीघों का नाम सभी रियासतों में अलग–अलग था । ज्यों–ज्यों राज्यों का व्यय बढ़ता गया त्यों–त्यों नीघोड़ी की दरें बढ़ती गई । काश्तकारों ने इस प्रकार की बढ़ोतरी का विरोध भी किया लेकिन उनकी सुनने वाला कोई नहीं था । अंग्रेज सरकार स्वयं नीघोड़ी प्रथा के पक्ष में थी और यह प्रावधान कर रखा था कि प्रत्येक भूमि बंदोबस्त के समय नीघोड़ी का कुछ प्रतिशत बढ़ाया जाये । इस कारण सभी राज्यों की आय बढ़ती गई लेकिन किसानों के लिए लगान का भुगतान करना कठिन हो गया और इसके लिए उन्हें बोहरों से ऋण लेकर लगान चुकाने के लिए विवश होना पड़ा और इस कारण कई किसान जीवन भर कर्जो में डूबे रहे ।

इजारेदारी प्रथा -

पूर्वी तथा दक्षिणी पूर्वी राजस्थान में विशेष रूप से इजारा पद्धति थी । इसे ठेकेदारी मुकातेदारी या आकबंदी भी कहते थे । ऐसे इजारेदार बड़े–बड़े सेठ अथवा उन राज्याधिकारी होते थे । इस पद्धति के तहत कुछ परगनों या क्षेत्रों को भूराजस्व संग्रहण सार्वजनिक ठेके द्वारा सबसे ऊंची बोली देने वाले को दे दिया जाता था और वह ठेकेदार एकमुश्त सब रकम रियासत के खजाने में जमा करवा देता था । उदाहरणार्थ – वि. सं. 1887 में उदयपुर राज्य की भूमि कर वसूली का ठेका शाह जालिमचंद को 12,73,000 रुपये का दिया गया था । इजारादार काश्तकारों को अपनी शर्तो पर भूमि काश्त के लिए देता था । सामान्यत : काश्तकारों के समूह को गांव या क्षेत्र काश्त के लिए दिये जाते थे और इसे आम इजारा कहा जाता था । और वे काश्तकार भूमि के अनुसार लगान इकट्ठा कर जमा करवाते थे । इस प्रकार काश्तकार संयुक्त

रूप से लगान के लिये जिम्मेदार थे । लेकिन व्यक्तिगत रूप से भी उस रकम का भुगतान उन्हें ही करना पड़ता था ।

इजारेदारी के अलावा भूमि को, वे काश्तकार जिन्हें कोई काश्तकारी अधिकार नहीं मिले हुए थे, एक फसल के लिये गांव के मुखिया या राजस्व कर्मचारी को कहकर ले लेते थे और जो भी वार्षिक लगान तय किया जाता था एक फसल का दे देते थे ।

16.9 बेगार :

परिश्रम करवाने की बलात प्रथा जिसमें पारिश्रमिक न दिया जाये बेगार कहलाती है । सामन्ती युग का यह एक बड़ा अभिशाप था । चाहे खालसा क्षेत्र हो या जागीर क्षेत्र काश्तकारों से बेगार बराबर ली जाती थी । कोई जाति, राजपूत, व ब्राह्मण जाति के अलावा, इससे बची नहीं थी । किसी भी समय चाहे दिन हो या रात, सर्दी हो या गर्मी, बेगार ली जाती थी । प्रत्येक गांव में प्रतिदिन बेगार ली जाती थी । पटवारी हवलदार, आदि निम्न श्रेणी के कर्मचारी भी जब एक गांव से दूसरे गांव जाते थे तो उनका बस्ता बेगारी ही ले जाता था। किस प्रकार से बेगार ली जाती थी उसका जातिवार विवरण इस प्रकार है – भाम्बी, बलाई, मेघवाल आदि जाति के स्त्री, पुरुष व बच्चे घास काटने, चमड़े की साजों की मरम्मत करने, मकानों में गोबर लीपने, पोतने आदि का काम करते थे, सरगरा जाति के लोग विवाह आदि में बांकिया और थाली बजाते थे । यदि ये लोग उपस्थिति नहीं हो सकते थे तो उन्हें बदले में दूसरा व्यक्ति एवजी में भेजना पड़ता था । नाइयों से हजामत बनवाते थे । उनसे घरों में दीये जलवाते, भोजन तैयार करवाते, कपड़े धुलवाते, झूठे बर्तन मंजवाते, रात में पैर दबवाते और जलसों में वैश्यायों, ढोलकियों और भाण्डों की चाकरी में मशाल लिए खड़े रखवाते थे । कुम्हारों से घड़े मंगवाकर पानी भरवाते थे । जाट, माली, सीरवी आदि से बैलगाड़ी हल, दूध, दही, घास आदि वस्तुएं आवश्यकतानुसार मंगवाते थे । भीलों, मेणों आदि के साथ डाक एक गांव से दूसरे गांव भिजवाते थे । विभिन्न जाति की स्त्रियों से विवाह, गौठ गगरी आदि के समय मेणों आटा पिसवाया जाता था । राजपुरुषों व ठाकुरों के मकान आदि बनने के समय प्रत्येक जाति के व्यक्ति को काम करना पड़ता था । चाहे वे बीमार हो या थके हुये हों उनको जबरन पकड़ कर काम करवाया जाता था । उदाहरणार्थ – जोधपुर नगर में जब किशोर बाग (बालसमन्द के पास) बन रहा था तब प्रतिदिन शाम को खेती या मजदूरी से लोटने वाले व्यक्तियों को पकड़ लिया जाता था । और उनसे जबरन कमठे का काम करवाया जाता था । जोधपुर के मुसाहिब वाला (प्रधानमंत्री) छज्जुराम ने अपने संस्मरण सन 1918 में लिखते हुए बताया था कि – "किसी भी खालसा गांव व उसके निवासियों का वर्णन, बिना बेगार प्रथा का उल्लेख किये, पूर्ण नहीं हो सकता है । इस बेगार प्रथा ने ग्राम्य जीवन को नीरस बना रखा है । इसके कारण ग्रामीणों को अपना गाव तक छोडकर पड़ोसी जागीरदार की शरण में जाना पड़ता है । जब सरकारी कर्मचारी गांव में आता है तब गांव वालों को उसके प्रत्येक सिपाही व चपरासी को बेगार देनी पड़ती है । मना करने पर बेगारियों की चपलों व जूतों से पिटाई होती है । उन अहलकारो की सवारी के पशु किसानों की खड़ी फसल को खा जाते है । यही नहीं निर्धन काश्तकार द्वारा विरोध, करने पर उससे झूठमूठ दोष लगा कर कैद कर लिया जाता है । और उसे तब तक नहीं छोड़ा जाता है

जब तक कि उसका बोहरा कुछ धन लेकर उसे छुड़ाने न आये । यही दशा जागीर क्षेत्र के किसानों की भी थी। किसानों को जगीरदार के खेतों पर काम करने के लिए बेगार में जाना पड़ता था । जागीरदार को जब भी बैलगाड़ी, हल, माचे, बिस्तर आदि की आवश्यकता होती थी उन्हें काश्तकारों को पहुंचाना पड़ता था। भीलों–मेणों आदि को रात में उनके गढ़ों की चौकीदारी करनी पड़ती थी । कई बार बेगारी अस्वस्थ होने के कारण बेगार निकालते के समय ही अकाल मृत्यु को प्राप्त हो गये । उनके उत्तराधिकारियों को किसी प्रकार का मुआवजा नहीं दिया गया। यह भी हुआ कि बेगार न देने पर उनकी इतनी पिटाई हुई कि वे मर गये। इस प्रकार बेगार से काश्तकार बहुत ही परेशान थे व कई तबाह हो गये।

बेगार के पक्षपातियों का यह तर्क था कि बेगार से बहुत ही सुविधायें है और उसके उठ जाने से राजकर्मचारियों आदि को मजदूर सवारी सामान आादि समय पर मिल नहीं सकता था । यह तर्क विवेक हीन था। जब पर्याप्त रकम दी जावे' तो प्रत्येक वस्तु गरीब काश्तकार को भी, मिल सकती है । तब राज कर्मचारियों, जागीरदारों को कैसे नहीं मिले? पूरा मूल्य देने से सब तरह की सुविधा रहती है और काश्तकारों को व्यंर्थ तंग नहीं होना पड़ता है । बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में कई राज्यों से बेगार उठा दी गई और कहीं–कहीं वास्तविक मजदूरी से आधी या चौथाई तक देना निर्धारित कर दिया गया था लेकिन वास्तव में बेगारियों को कुछ भी पारिश्रमिक नहीं दिया जाता था। कई बार तो यह देखा गया कि किराया लेकर बिठाई सवारियों को कर्मचारी उतार कर बेगारियों को बैल, ऊंट या घोड़े सहित पकड़ ले जाते थे । उन्हें भोजन आदि दिए बिना दिन रात काम लिया जाता था। और चलते समय बिना, । कुछ दिए उन्हें टरका दिया जाता था । काश्तकार विवश थे । यह बेगार स्वतंत्रता काल के बाद तक गांवों में चलती रही और जागीरदारी प्रथा का उन्मूलन होने पर समाप्त हुई ।

16.10 कृषि मजदूर :

जिन लोगों के पास काश्त के लिए भूमि नहीं होती थी वे मजदूरी कर अपना परिवार चलाते थे । कई लोगों के पास नाममात्र की भूमि होती थी और उससे अपने परिवार का भरण–पोषण नहीं कर सकते थे । इस कारण वे खेती के अलावा मजदूरी भी करते थे । कुछ जातियों के लोग, भूमि न होने या कम होने पर अपना जाति धन्धा कर अपना भरण–पोषण करते थे । ऐसी जातियां थी कई, कुम्हार, धोबी, दर्जी, लोहार, खाती, चमार, बलाई, भंगी आदि । जो ग्रामीण भाषा में कमीण कहलाते थे । ये लोग ऊंची जाति के काश्तकारों – दागा, राजपूत, महाजन, माली, गूजर आदि के काश्त सम्बन्धी' औजारों को बनाते या मरम्मत करते थे या उन काश्तकारों के घर काम करते थे । ऐसे काश्तकार जजमान कहलाते थे । जो इन कमीजों को पारिश्रमिक में नकद या धान दे देते थे । ज्यादातर धान दिया जाता था और वह भी फसलों के कटने के बाद या लगान दे देने के बाद यह एक प्रकार से विभिन्न जातियों का एक आर्थिक पहलू था। जिसमें एक ओर भूमिगत व धनवान ऊंची जाति के लोग थे और दूसरी ओर गरीब भूमिहीन लोग थे जो अपने भूमिपतियों को निम्न श्रेणी की सेवाएं देते थे और उनसे नकद रकम या धान प्राप्त करते थे । कमीण लोग आपस में भी एक दूसरे का काम कर देते थे लेकिन

खारती, कुम्हार, नाई आदि अपने से निम्न जातियों – चमारों, रेगरों, नायकों आदि का काम करते थे तब उनसे नकद राशि या धान लेते थे ।

भूमिहीन काश्तकारों में एक वर्ग था जो चाकर कहलाता था । चाकर काश्तकारों के खेत व घर पर दिन रात रहता था । काश्तकार उसे भोजन के अलावा वर्ष में कपड़े व जूते पहने को देता था। कुछ रकम वार्षिक भी देता था जो वह समय–समय पर लेता रहता था । वह काश्तकार के परिवार से बराबर सम्बंध बनाये रखता थी।

काश्तकारों के खेतों पर स्थाई काम करने, वाले भूमिहीन मजदूर "कायम मजूर" कहलाते थे । वे प्रतिदिन प्रातः काल खेत पर जाकर काम करते थे। और शाम को काम करने के बाद अपने घर चले जाते थे । दोपहर का खाना वे अपने साथ लाते थे और खेत पर ही दोपहरा करते थे । उसे काश्तकार नकद या धान के रूप में पारिश्रमिक देता था । वार त्यौहार कुछ इनाम व कभी–कभी भोजन भी खिला देता था। ये लोग मनचाहे जब काश्तकार के यहां काम करने चले जाते थे। काश्तकार भी यही चाहते थे क्योंकि उनको प्रतिदिन देने का काम भी नहीं रहता था। ओसतन एक वर्ष में 180 दिन ही काम करते थे ।

कुछ भूमिहीन लोग गेहूँ, चना, मूंगफली आदि के उत्पादक काश्तकारों के यहां काम करते थे । वे मजूर कहलाते थे । इनका पारिश्रमिक कायम मजूरों से काफी ज्यादा – दुगुना या तिगुना होता था । वे उसे काश्तकार की पूरी फसल का काम करके ही हटते थे । काश्तकार उन्हें कुछ पेशगी – खावन्दी देकर रख लेता था ताकि वे जब चाहे तब उनके पास ही आकर काम करते रहें । ऐसे मजुरों को काम वर्ष में कठिनाई से चार माह के लिए मिलता था ।

काश्तकारों द्वारा कुछ भूमिहीन लोगों को हाली के रूप में रखा जाता था । हाली को सांगड़ी भी कहते थे । हाली ज्यादातर पिछड़ी जाति के लोग – सहरिया, बलाई, मेणा, कोली, भील, आदि होते थे । इसे पद्धति के तहत एक भूमिहीन मजदूर कुछ कर्ज के बदले अपने काश्तकार बोहरा के पास बिना मजदूरी के या नाममात्र की मजदूरी पर कुछ या अनिश्चित अवधि के लिए–काम करता था । हाली अपनी मजदूरी के लिए कुछ भी कम या ज्यादा का सौदा नहीं कर सकता था और इस कारण अपनी विवशता के कारण वर्षो तक और यहां तक की उमर भर उन काश्तकार बोहरों के यहां काम करता ही रहता था। अपने भूमिपति काश्तकार से उसे खाना के अलावा कुछ कपड़े भी मिल जाते थे । कई बारे उन्हें उनको दी गई रकम का बढ़ा व्याज बतलाकर उन्हें सदा फंसाये रखते थे । कई बार न केवल मर्द बल्कि इनकी स्त्री व बच्चे भी हाली के रूप में वर्षो तक, काम करते रहते थे ।,

हाली के रूप में काम करने वालों के अलावा चाकरों, मजूरों आदि की स्त्रियों भी खेतों के, अलावा काश्तकारों के मकान पर भी काम करती थी वे घरों पर सामान्य काम के अलावा काश्तकारों के पशुबाड़ो का गोबर उठाती थी, उनकी सफाई करती थी व पानी भरती थी । धान आदि को भी ठीक़ करती थीं । कई काश्तकार उन गरीब स्त्रियों की इज्जत लेने से भी नहीं चूकते थे । उनके छोटे बच्चों को भी गवालियों का काम मिल जाता था' वे काश्तकारों के पशुओं को प्रतिदिन जंगल में चराने हेतु ले जाते थे । कुछ गवालिया बच्चे कई काश्तकारों के पशुओं

को चराने व रखवाली करने के लिए जंगल में, ले जाते थे और उन्हें इसकी मासिक रकम मिलती थी।

इस प्रकार भूमिहीन काश्तकार अपने बड़े काश्तकार मालिकों से बराबर दबे रहते थे । वे उनके सामाजिक, आर्थिक, व नैतिक न्यायों के विरुद्ध कुछ भी बोल नहीं पाते थे । वे अपने भूमिपतियों को सरकार, माई बाप, मालिक आदि नामों से सम्बोधित करते थे ।

16.11 कृषि विपणन :

कृषि उत्पादन के सार्थ कृषि विपणन भी बहुत महत्वपूर्ण होता है । यदि कृषि–उत्पादन बहुत अच्छा हो और ज्यादा से ज्यादा उत्पादन भी हो तब भी काश्तकारों की आर्थिक स्थिति सुधर नहीं सकती । यदि काश्तकार को अपने उत्पादनों का सही मूल्य नहीं मिले । जैसा हालात थे यहां के काश्तकारों को अपने उत्पादनों का उचित मूल्य नहीं मिलता था क्योंकि सामान्यत : फसल कटने के समय खाद्यान्न आदि का मूल्य घट जाता था और गरीब काश्तकारों को लगान व ऋण चुकाने के लिये कम मूल्य पर ही अपनी पैदावार बेचनी पड़ती थी । काश्तकारों के अपने उत्पादन की लागत पर कृषि उत्पादकों का भाव निर्धारित नहीं होता था बल्कि बड़े व्यापारियों के लाभ को देखते हुये तय किया जाता था अत: गांवों व मण्डीयों में उन भावों के अनुसार ही काश्तकारों से फसल खरीदी जाती थी । इसके अलावा ऋण ग्रस्त काश्तकार अपने ऋण चुकाने हेतु कम ही मूल्य पर अपने उत्पादन बेच देते थे । यहां तक कि कई बार बोहरे काश्तकारों को अपने द्वारा तय किये गये भावों पर बेचने को विवश कर देते थे । इससे काश्तकार अपने उत्पादन का पूरा मूल्य नहीं ले पाते थे ।

अपने उत्पादन का इस प्रकार हानि उठाकर बेचने के कारण उनकी बेहतर विपणन सुविधाओं का न होना था । काश्तकारों को बेचने के समय कई कर आदि भी देने पड़ते थे यथा आढ़त, तोलाई, पल्लादारी, दलाली, धर्मादा, गौशाला व्यवस्था हेतु दान, प्याऊ व्यवस्था हेतु दान आदि । इन सबका भार काश्तकारों पर ही पड़ता था । तोलाई में काफी बेइमानी होती थी । कुछ कहावतें काश्तकारों में प्रसिद्ध थी – "भेड़ रो ऊंन कुण छोड़े" और "गेहूँ जीमें बाणिया कुर्रा करसा खावें। आदि । इस प्रकार फसल के बाजार में आते ही बोहरे व दलाल काश्तकारों को लूटते रहते थे और काश्तकार असहाय हो चुप बैठे देखते रहते थे । काश्तकार अशिक्षा निर्धनता, व भूखमरी से इस प्रकार अपने दिन बिताते रहे और कृषी व्यवस्था बिगड़ती रही ।

16.12 कृषकों की कर्जदारी :

काश्तकारों की ऋगग्रस्तता बड़ी विकट समस्या थी । बोहरों के कर्जे से वे सदा–दबे रहते थे । और भरपेट खाना भी नहीं खा सकते थे । वे कर्जदारी में ही पैदा होते थे, कर्जदारी में रहते थे और कर्जदारी में ही मर जाते थे । उनकी कर्जदारी बराबर बढ़ती रहती थी । और वे उनका भुगतान करने में असमर्थ हो गये थे । उनकी कर्जदारी का मुख्य कारण था उनका काश्त हेतु औजार व बीज खरीदने व लगान देने के लिये कर्ज लेना । यों कुछ सामाजिक कार्यो – विवाह, गौना, मौसर, आदि के लिये भी कर्ज लेते थे लेकिन वह नाममात्र का होता था । काश्तकारों का ज्यादा धन, लगभग तीन चौथाई, तो भूमि लगान व लगभग 150 लगबागों के भुगतान में ही चला जाता था । शेष उत्पादन व्यय में खर्च हो जाता था । अत : अपने पेट

पालने को उन्हें कर्ज लेना पड़ता था । काश्तकारों के लिये कृषि कर्म के अलावा और कोई धन्धा नहीं था । आबादी बढ़ने के साथ काश्त की भूमि पर भार बढ़ता गया और खेत छोटे होने तो और उनसे आर्थिक लाभ मिलना बराबर कम होने लगा । इस कारण कर भी बराबर बढ़ने लगे । कई काश्तकारों को भूमि बेचनी पड़ी और वे भूमिहीन हो गये । वे अब बड़े काश्तकारों के खेतों पर मजदूरी करने लगे मजदूरी में उन्हें केवल पेट भरने को रोटी के अलावा नाम मात्र के कपड़े मिलने लगे । दुर्भिक्ष के समय तो काश्तकारों की ओर भी बुरी दशा होती थी । तब उनके स्वयं के पेट भरने को ही कुछ नहीं मिलना था । तब पशुओं को क्या खिला सकते थे अत उनके पशु मर जाते थे व कृषि के औजार भी बिक जाते थे । दुर्भिक्ष के बाद औजार, बीज, पशु आदि खरीदने के लिये उन्हें बोहरों से श्रण भारी व्याज पर लेना पड़ता था । इस प्रकार 90 प्रतिशत से ज्यादा काश्तकार सदा कर्जदार बने रहे ।

काश्तकारों को ऋण भी इतने ऊंचे ब्याज पर दिया जाता था कि वे मूलधन तो क्या व्याज भी समय पर दे नहीं पाते थे । उनसे सवाया या ड्योढ़ा व्याज लिया जाता था अर्थात् यदि काश्तकार 40 सेर बीजं मांगता था तो उसे केवल 30 सेर बीज देकर छ : माह बाद 45 सेर अच्छा धान ले लिया जाता था या 40 सेर बीज देकर छ :, माह बाद 50 सेर धान ले लिया जाता था । जो बीज दिया जाता था वह बहुत ही साधारण किस्म का होता था लेकिन जब वापस धान लिया जाता था, वह अच्छी किस्म का बीज लिया जाता था । यदि नगद रकम ली जाती थी तो काश्तकार को 40 प्रतिशत वार्षिक व्याज देना पड़ता था । कही–कही बोहरे 100 रुपये के बदले 75 रुपये देकर उनसे 125 रुपये वसूल करते थे । तब ब्याज की दर 66.25 प्रतिशत हो जाती थी । यों बीज देते समय बीज का प्रचलित मूल्य लगाया जाता था लेकिन फसल कटने के समय, जबकि मूल्य बहुत कम होता था, उस सस्ती दर से धान लेकर वसूली दिखाई जाती थी । इससे कई काश्तकारों के पास एक माह के लिये भी खाने का धान नहीं बचता था । कई बार तो काश्तकारों को अपने कृषि यंत्र, पशु और यहां तक की स्त्रियों, के गहने भी बेच कर कर्ज चुकाना पड़ता था । इसी से कई काश्तकार बोहरों के हाली बनकर अपना कर्जा चुकाते थे । शेष ब्याज का नया खाता खोलकर दोहरे उनकी सेवा हाली के रूप में लेते थे । तब उन्हें नाम मात्र का खाना व कपड़ा देते थे तथा उनसे रात दिन काम करवाते थे । फिर भी व्याज तो उस नये खाते के साथ जुड़ता ही रहता था । इस कारण कई हाली वर्षो तक बोहरों के यहां काम करते रहते थे । केवल काश्तकार ही नहीं उसका सम्पूर्ण परिवार बोहरे के यहां वर्षो तक और कई काश्तकार जीवन भर हाली के रूप में काम करते रहते थे । इसीलिये बोहरो के लिये कहा जाता था "बाणियां धारी बाण कोई नर जले' नहीं, पाणी पावे छाण लोहु अणछाणियों पीवे" तथा "जाण मारे बाणिया, अणजाणे मारे चोर" । काश्तकार भी बेचारे क्या करते ? वे यह सब कुछ जानते भी कुछ कर नहीं पाते थे क्योंकि उनसे कर्ज लिए बिना उनका काम चलता ही नहीं था। सरकार व जागीरदार सदा बोहरो का पक्ष लेती रहती थी । तथा काश्तकार पूर्णतया असहाय थे ।

16.13 अकाल :

राजस्थान को अधिकांश भाग, विशेषकर पश्चिमी भाग, दुर्भिक्ष से पीड़ित रहता था । वर्षा का अभाव, समय पर वर्षा का न होना, कभी–कभी ज्यादा वर्षा का होना या टिडड्यों का झुंड आने से अकाल पड़ते रहते थे । यहां प्रसिद्ध, है –

"पग पूंगल धड़ मेड़ता बाहुड़ बाड़मेर।
जोयो लादे जोधपुर, ठावो जैसलमेर।।"

अकाल के पैर पुंगल (बीकानेर) में, धड़ मेडता (नागौर) भुजाये बाड़मेर में रहती है कभी–कभी जोधपुर में भी अकाल रहता है लेकिन जैसलमेर में तो इसका सदा पड़ाव रहता है । इस प्रकार राजस्थान का 60 प्रतिशत भाग व 40 प्रतिशत जनसंख्या अकाल के दानव पंजों में जकड़ी रहती थी ।

सामान्यत : चार प्रकार के अकाल होते है–,

1. अन्नकाल, अन्न की कमी के कारण ।
2. जनकाल, वर्षा की कमी के कारण ।
3. ऋणकाल, घास चारे की कमी के कारण ।
4. त्रिकाल, अन्न, जल, व ऋण–तीनों की कमी के कारण ।

त्रिकाल सबसे भयंकर होता है, यों तो अकाल; पड़ते ही रहते थे लेकिन भयंकर अकाल सन 1832, 1848, 1868, 1877, 1891, 1895, 1899, 1901, 1905, 1915, 1936, 1939, व 1940 में पड़े । इन दुर्भिक्षों के पड़ने का मुख्य कारण वर्षा का अभाव था । यातायात के साधनों की कमी, सिंचाई की व्यवस्था समुचित न होना व काश्तकारों की निर्धनता के कारण लोगों को इन दुर्भिक्षों में काफी परेशानियां उठानी पड़ी । काश्तकारों द्वारा खाद्यान्नों के स्थान पर व्यापारिक फसलों के उत्पादन पर ज्यादा ध्यान देना भी एक कारण था । इससे खाद्यान्न कम होने लगा । रियासती सरकारें भी अब भूमि लगान बराबर बढ़ा कर काश्तकारों को बर्बाद करती रही । दुर्भिक्ष के कारण न केवल आबादी घटी और पशु धन नष्ट हुआ बल्कि रियासतों को भी कर्जदार बना दिया । इसके फलस्वरूप रियासतें अपना औद्योगिक विकास करने में भी असफल होती, रही । इन अकालों ने सामान्य– जनता की गरीबी को भी बढ़ा दिया । सैकडों काश्तकारों को अपनी भूमि बेचनी पड़ी और वे भूमिहीन होकर कृषि मजदूर बन गये । और कई हाली के रूप में काम करने लगे। स्वतंत्रता पूर्व काल तक इनकी संख्या लगभग एक लाख हो गयी।

16.14 किसान आन्दोलन :

अंग्रेजी सर्वोच्च सत्ता स्थापित होने के बाद राजस्थान के शासक तथा सामन्त काश्तकारों के हितों की ओर कम ध्यान देने लगे । सर्वोच्च सत्ता काश्तकारों के हितों की ओर ज्यादा ध्यान न देकर राजाओं व सामन्तों का ज्यादा पक्ष लेने लगी क्योंकि काश्तकारों से ज्यादा से ज्यादा धन वसूल कर सामन्त सर्वोच्च सत्ता को संतुष्ट रखने लगे थे । इस कारण काश्तकार बड़ी परेशानियों व, कष्ट में रहने लगे । इन परेशानियों व कष्ट उठाने की भी सीमा

थी । जागीर क्षेत्रों में असंतोष ज्यादा ही, व्यापक था । ऊंची दर के लगान, अनेकों प्रकार की लागबागे, जबरदस्ती की बेगार, व असम्मानजनक जीवन बिताते काश्तकार परेशान हो गये थे । 20वी शताब्दी के आरंभिक वर्षो में राजस्थान के बाहर अंग्रेजी भारत में जन चेतना आने लगा थी । प्रथम विश्व युद्ध में कई ग्रामीण सैनिक विदेशों में अन्य देशों के काश्तकारों की उन्नत स्थिति देख आये थे । राजस्थान के बाहर के प्रांतों में भी तब किसान आंदोलन चलने लगे थे अत : वहां के किसानों के जन आंदोलनो को देखकर यहां के किसान भी आंदोलनो की ओर अग्रसर हुये मेवाड़ रियासत के बिजौलिया ठिकाने के 96 गांव के धाकड़ जाति के किसानों ने बैठ बेगार व अनुचित तथा अत्यधिक लाग बागों के विरुद्ध एक संगठित आंदोलन आरम्भ कर दिया । और उन्हें इसमें सफलता भी मिली । कई लागबागे उठा दी गयी । व बेगार पर रोक लगा दी गयी । आंदोलन के मुख्य नेता विजयसिंह पथिक, रामनारायण चौधरी, माणकलाल वर्मा आदि थे । यह आंदोलन' लगभग 45 वर्ष सन 1807 से 1041 तक चला ।

उदयपुर रियासत में ही बेगू ठिकाने के काश्तकारों ने 53 लागबागे व बेगार के विरोध में आंदोलन 1921 में किया । तब ही भलों व गरासियों में भी मोतीलाल तेजावत के नेतृत्व में आंदोलन किया । तब भील व गरासियों जानि के लोगों ने भवानी माता की सौगंध लेकर एक होकर "एकी" नाम से आंदोलन चलाया । एक और ठिकाना पारसोली के काश्तकारों ने भी बढ़े लगानों को देने से मना कर दिया और शूवरों द्वारा उनके खेतों को नष्ट करने पर बिना सरकार के अनुमति लिये उन्हें मारना आरम्भ कर दिया । ऐसी दशा देखकर राजपूताना, के ए. जी. जी. ने हस्तक्षेप किया और काश्तकारों से समझौता करवाया जिसके कारण कई लागे बंद कर दी गई । महाराणा फतहसिंह को प्रशासन करने के अयोग्य घोषित कर उनके पुत्र भोपालसिह को प्रशासनिक अधिकार दे दिये । सन 1933 में एक कमीशन नियुक्त किया गया ताकि काश्तकारों की शिकायतों की जांच कर उनको राहत दी जा सके इस कमीशन ने काश्तकारों को कोई विशेष राहत नहीं दिलवाई । किसानों के नेता विजयसिंह पथिक को गिरफ्तार कर लिया गया ।

अंग्रेजी सर्वोच्च सत्ता का विरोध करने वालों में सबसे अग्रणी उदयपुर के भील थे । जिन्होंने 1818 में व बाद में 1881–1933 में अपने भूमि व वन अधिकारों के लिये आंदोलन किया । इसमें कोई संदेह नहीं कि सरकार ने इन आंदोलनों को दबा दिया लेकिन इन आंदोलनों से उन्हें बराबर प्रेरणा मिली । बीसवीं शताब्दी के आरंभ में गोविन्द गिरी के सुधार आंदोलन से बांसवाड़ा, व डूंगरपुंर के भीलों में काफी जागृति आई और उनके आंदोलन ने विद्रोह का रूप धारण कर लिया। यह विद्रोह भी दबा दिया गया । लेकिन अब भीलों की ओर ज्यादा ध्यान दिया जाने लगा और इससे अगे चलकर काश्तकरी आदोलनों का आधार बन गया । आगे चलकर मेवाड़ व सिरोही के पोलो व गरासियो काश्तकारों ने भी ऊंची लगान दरों लागबागों व बेगार के विरुद्ध आदोलन 1908 मै किया । सन् 1921 में उनका आंदोलन काफी तेज हो गया । और तब इनके, नेता विजयसिंह पथिक के अलावा मोतीलाल तेजावत थे । मिरोही रियायत को सन 1922 में भूला, बात्नेरिया, व नवाबास गाव के भीलों को दबाने के लिये सेना भेजनी पड़ी । जिसके कारण उनके 650 मकान जला दिये गये । 80 हजार रुपये की सम्पत्ति लूट ली गयी तथा 29 भील व गैरासिये मारे गये । फिर भी आंदोलन चलता रहा । और अंत में 1928 में

समझौता होने के बाद ही आंदोलन समाप्त हुआ । अन्य जाति के काश्तकार भी ऊंचे लगान व बेगार के विरुद्ध थे । अत उनका मामला सिरोही प्रजा मण्डल ने उठाया । इन काश्तकारों की मांगे भारत के स्वतंत्र होने तक मानी नहीं गयी । और न काश्तकारों की दशा ही सुधरी ।

बूंदी राज्य में भी ऊंची लगान दरों, लागबागों व बेगार के विरुद्ध काश्तकारों में असंतोष 1921 से ही आरम्भ हो गया था । इन आंदोलनो के पीछे राजस्थान सेवा संघ का नेतृत्व था । इनका आंदोलन 1927 तक चला और रियासतों को लगान, लागबागो व बेगार लेने में कुछ संशोधन करना पड़ा । सन 1936 व 1945 के बीच में बूंदी के बरड़ क्षेत्र में गूजर मेणा, आदि जातियों के काश्तकारों ने कुछ लागों व बेगार के विरुद्ध आंदोलन किये । इन आंदोलनो में महिलाओं ने रूप से भाग लिया। लेकिन इनके आंदोलन विशेष सफल नहीं हो सके 1 क्योंकि इनकी कोई योग्य नेता या सलाहकार नहीं मिला ।

मेवाड़ व; सिरोही के एक आंदोलन का प्रभाव सीमावर्ती मारवाड़ के जोड़वाड़ क्षेत्र में भी पड़ा । वहां के भीलों व गैरासियो ने 1922 में लागे देना बंद कर दिया इस कारण मारवाड़ की सेना उनका दमन करने भेजी गयी । तब ही सिरोही रियासत ने भील व गैरासियों का रियासत से समझौता हो गया । अत मारवाड़ में भी भीलों व गरासियों ने अपना आंदोलन समाप्त कर दिया । मारवाड़ के अन्य क्षेत्रों में भी अनुचित लागबाग व बेगार के कारण परेशान काश्तकारों ने 1921, में पुष्कर में एक सम्मेलन कर बेगार, ऊंची लगान दरें, जागीरदारों को न्यायिक अधिकार देने के विरुद्ध प्रस्ताव पारित किये । पशु चिकित्सालय, पाठशालायें, सहकारी समितियां व बैंक समितियां स्थापित करने के लिये भी महाराजा को निवेदन किया गया । प्रारम्भ में रियासतों ने उनकी मांगो पर गौर नहीं किया लेकिन जब काश्तकारों में ज्यादा ही असंतोष देखा तो लगान दरों आदि में कमी की गयी तथा 119 लाग बागों को समाप्त कर दिया लेकिन काश्तकार संतुष्ट नहीं हुए । डीडवाना व सांभर परगना के काश्तकारों ने वहां के जागीरदारों के द्वारा ली जाने वाली लागे व बड़े लगानों को अनुचित मानते हुए उनको न देने के लिए आवाज उठाई लेकिन उनका आंदोलन दबा दिया गया ।

सन 1938 में मारवाड़ लोक परिषद की स्थापना हुई । परिषद् ने काश्तकारों से जागीरी गांवों में काश्तकारों से ली जाने वाली 119 लाग बागों का मामला उठाया जिनको महाराजा ने 1936 में ही समाप्त कर दिया था लेकिन अभी तक जागीरदार वसूल कर रहे थे । जोधपुर सरकार ने लोकपरिषद को अवैध संस्था घोषित कर दिया । लेकिन जागीरी, गांवों के किसानों ने आंदोलन छेड़ दिया । तंग आकर सरकार ने लोक परिषद को पुन : मान्यता दे दी! लोक परिषद ने शीघ्र काश्तकारों को अनुचित लाया का भुगतान करने से मना कर दिया लेकिन जागीरदारों ने लटाई करने से मना कर दिया जिसके कारण काश्तकारों का धान लाटों में पड़ा नष्ट होता रहा । जागीरदारों ने काश्तकारों के साथ मारपीट करनी आरम्भ कर दी और कई को गांवों से निकाल दिया । सरकार ने विवश होकर जागीरदारों व काश्तकारों के बीच समझौता कराने के काफी प्रयत्न किये लेकिन वह विफल रही । इसके विपरीत जागीरदारों ने अनेक प्रकार से काश्तकारों को परेशान किया । काश्तकारों की फसलें नष्ट कर दी गयी । लूट ली गयी, उनके झोपड़े जला दिये गये, पशुओं को नीलम कर दिया गया और कई नई लागें लगा दी । अब सरकार ने

मारवाड़ लोक परिषद का विरोध करने के लिये 1941 में मारवाड़ किसान सभा की स्थापना करवाई लेकिन यह सभा भी बाद में काश्तकारों के हित का ज्यादा ध्यान देने लगी उसने काश्तकारों की दयनीय दशा से सरकार को अवगत कराया । सरकार को विवश होकर भूमि लगान व लागबाग की जांच के लिये एक समिति बनानी पड़ी । इस समिति ने विभिन्न गांवों का दौरा कर यह स्पष्ट किया कि भूमि लगान की दरें व लागबागे बहुत ज्यादा है । सन 1942 में मारवाड़ लोक परिषद ने सरकार से मांग की कि लागे व बेगार लेना तत्काल बंद की दी जावे। लेकिन सरकार जागीरदारों का ही पक्ष लेती रही । इसके फलस्वरूप चण्डावल खिवसर, रोडु, बडू, आदि के जागीरदारों ने कई काश्तकारों को मारा पीटा व कुछ की हत्या तक कर दी । अब काश्तकारों ने संगठित होकर किसान सभा व लोक परिषद से मिलकर जागीरदारी प्रथा को समाप्त करने की मांग की । कई परगनों में काश्तकारों ने बिना लाटा या कूंता कराये ही फसलें अपने घरों में डाल दी । जागीरदार व काश्तकार एक दूसरे के घोर विरोधी हो गये और इस कारण 1947 की 13 मार्च को जब लोक परिषद व किसान सभा ने एक किसान सम्मेलन डाबड़ा (परगना डीडवाना) में किया तब जागीरदारों ने पूरी तैयारी कर किसानों पर हमला कर दिया । इससे कई काश्तकार मारे गये व कई घायल हो गये । फिर भी सरकार ने जागीरदारों का पक्ष लिया । तथा किसान सभा व लोक परिषद के कई कार्यकर्ताओं को इस हत्या कांड का दोषी बतलाया । उन पर मुकदमें चलाये लेकिन ये मुकदमें 1948 में लोक प्रिय मंत्रिमण्डल बन जाने पर वापस ले लिये गये ।

सन 1948 में लागबाग जांच समिति ने अपनी रिपोर्ट सरकार को पेश की तब सरकार ने कई लागबागों को अवैध मानकर अकेले बिलाडा तहसील में 81 लागे समाप्त कर दी । तथा 85 लागे भू राजस्व में मिला दी गयी । तथा 8 लागे गवाई हित में लाने का आदेश दे दिया । स्पष्ट है कि 1948 में पूर्व में 174 लागे अवैध रूप से काश्तकारों से ली जा रही थी । इस प्रकार मारवाड़ लोक परिषद व मारवाड़ किसान सभा ने बड़े साहस से जागीरदारों के अत्याचारों का विरोध किया । काश्तकारों ने काफी कष्ट उठाये । लेकिन वे अपने ध्येय दे सफल हुये ।

बीकानेर के महाराजा गंगासिंह ने 1927 में उत्तरी बीकानेर में गंगा नहर लाकर काश्तकारों का बड़ा उपकार किया था । लेकिन सिंचाई की दरें बड़ी ऊंची लगा दी तथा सिंचाई हेतु पानी भी पर्याप्त नहीं दिया । इस कारण वहां के काश्तकारों ने सरकार के समक्ष 1929 में इन दरों का विरोध किया लेकिन सरकार लगान में मामूली कटौतियां कर चुप हो गयी । काश्तकार इससे संतुष्ट नहीं हुए । समय–समय पर किसान बराबर अपनी मांगे रखते रहे लेकिन सरकार मामूली रियायतें देकर उन्हें चुप करती रही । इस प्रकार काश्तकार 1943 तक ऊंची लगान दरों आदि का विरोध करते रहे । इसके अलावा बीकानेर के कुछ जागीरी गांव महाजन, मूंगल, कुम्भाना, काकू, दूध व खारा आदि में ऊंचे लगान, व अनुचित लाग बागों के विरोध में काश्तकारों ने सरकार को शिकायतें की । प्रारम्भ में काश्तकारों की सुनवाई नहीं हुई लेकिन जब काश्तकारों ने आंदोलन किया तब सरकार ने झूठी और कई अनुचित लागे समाप्त कर दी व लगान भी कम कर दिया ।

सन 1922 में किसान आंदोलन सीकर व झुंझनू जिला – शेखावाटी क्षेत्र में आरम्भ हुआ। मुख्य आंदोलन सीकर ठिकाने से आरम्भ हुआ क्योंकि वहां के जागीरदार ने 25 प्रतिशत भूराजस्व इस कारण बढ़ा दिया था कि वहां के भूतपूर्व जागीरदार के मृत्यु संस्कार व नये जागीरदार के उत्तराधिकार समारोह में काफी खर्चा हों गया था । पहले तो यह कहा गया कि यह वृद्धि एक वर्ष के लिये ही गयी है लेकिन अगले वर्ष फिर उसी प्रकार वसूली की जाने लगी। जबकि उस वर्ष वर्षा कम हुयी थी । काश्तकारों ने बढ़ा लगान देने से मना कर दिया। अत : उनके मुख्य नेता गिरफ्तार कर लिये गये । कई अन्य काश्तकार भी गिरफ्तार कर लिये गये । इस कारण आंदोलन और तेज हो गया । अंत में रियासत के दीवान ने हस्तक्षेप कर कई लागबागे कम करवा कर समझौता करवा दिया । जागीरदार ने फिर भी समझौते का पालन नहीं किया और किसान आंदोलन 1940 तक चलता रहा । काश्तकारों को काफी परेशान किया गया । उनकी निर्दयता से पिटाई की गयी तथा उन्हें गिरफ्तार कर काफी यातनायें दी गयी । कई स्त्रियों को बेइज्जत किया गया। जयपुर रियासत ठिकाना का ही पक्ष लेती रही । तोरावटी क्षेत्र में भी काश्तकारों ने. लगान के विषय में 1939 में आंदोलन किया। उणीयारा ठिकाने में बेरवा (चमारा) जाति, के कृषिक मजदूरों ने बेगार के विरुद्ध आंदोलन किया । तब उन्हें पक्के मकान बनाने नहीं दिया जाता था । सर – 1946 में मरे पशुओं को ढोने के लिये उनसे जबरदस्ती की गयी तथा उन्हें उनके खेतों से बेदखल किया गया । उन्होंने इसके लिये रियासत के प्रधानमंत्री को निवेदन किया कि उन्हें. जागीरदारों के जुल्म से राहत दिलाई जावे लेकिन उनकी कोई सुनवाई नहीं हुई । इस कारण उनका आंदोलन 1949 तक चलता रहा । इस प्रकार 1922 से–1947 तक जयपुर रियासत में काश्तकार काफी परेशान होकर जागीरदारों, के: विरुद्ध आंदोलन करते रहे लेकिन उनके कष्टों का निवारण नहीं हुआ ।

अलवर रियासत में 80 प्रतिशत भूमि खालसा थी। यहां 1876 में ही भूमि बंदोबस्त हो गया था। तथा बाद में समय–समय पर 1923 तुक होता रहा। लेकिन प्रत्येक बंदोबस्त पर लगान बढ़ता रहा। 1923 में लगान ज्यादा ही बढ़ा दिया गया। वहां काश्तकारों में राजपूत जाति के काफी लोग थे । उन्होंने ऊंचे लगानों का विरोध किया। सरकार ने काश्तकारों को शांत करने के लिये एक जांच समिति गठित की । यह समिति 1925 में निमूचूणा गांव में गई। तब वहां कई राजपूत इकट्ठे हो गये और ऊंचे लगान दरों का विरोध करने लगे। इस पर सरकार ने वहां 13 मई 1925 को सेना भेज दी। और विरोध करने वालों पर गोली चलवा दी । इससे 50 व्यक्ति मारे गये, 100 घायल हो गये तथा 144 मकान जल गये । कई व्यक्ति गिरफ्तार कर लिये गये । इस जघन्य काण्ड का भारत भर में भारी विरोध हुआ और अंत में सरकार को झुकना पड़ा तथा लगान दरें कम करनी पड़ी । सर 1926 में जागीरी गांव के काश्तकारों ने लागबागों के विषय में आंदोलन किया । सरकार ने जांच कराकर कई लागे समाप्त कर दी लेकिन जागीरदार फिर भी वसूल करते रहे । इस प्रकार काश्तकार बराबर परेशान होते रहे ।

अलवर व उसकी पड़ोसी रियासत भरतपुर में काश्तकारों की एक बड़ी संख्या मेव जाति की थी। इन लोगों ने कई लाग बागों, को समाप्त करने की मांग 1931 में सरकार के सामने रखी। उन्होंने अपनी काश्त को जंगली जानवरों से बचाने के लिये उन जानवरों को मारने की

छूट– चाही। मेवो को कुछ मुस्लिम राजनैतिक संस्थायें मदद करती रही । अत: वे आंदोलन के साथ–साथ रियासत में दंगे भी करते रहे। अत: केन्द्रीय सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ा और – दोनों राज्यों की सरकारों को लगान में कमी करनी पड़ी भरतपुर में काश्तकारों सा बेगार भी ली जाती रही। अत: काश्तकारों ने बेगार के विरुद्ध 1947 में आंदोलन किया। और विवश होकर सरकार को बेगार बंद करनी पड़ी । भरतपुर में जागीरदारी प्रथा अन्य राज्यों जैसी नहीं थी अत: वहां के काश्तकारों को उतने कष्ट नहीं उठाने पड़े जितने अन्य रियासतों में उठाने पड़ते थे। वहां की मुख्य समस्या बेगार ही थी ।

16.15 सारांश :

इस प्रकार 1920–38 के बीच के वर्षो में किसान आंदोलन बड़ी तेजी से फैले। ये आंदोलन– राष्ट्रीय आंदोलन से प्रत्यक्ष रूप में सम्बन्धित नहीं थे लेकिन उनसे प्रभावित अवश्य थे । कांग्रेस ने 1938 से अवश्य इनको सहयोग देना आरम्भ कर दिया। राष्ट्रीय आंदोलन के नेता स्पष्ट रूप से कहने लगे की वे न अँग्रेजी के विरुद्ध लड़ रहे है बल्कि रियासती शासन के विरुद्ध भी। क्योंकि अंग्रेजी राज व देशी रियासतों के राजाओं के बीच एक अपवित्र गठबन्धन है। इन आंदोलनों से सामन्त शाही घबरा गयी। और जैसे तैसे काश्तकारों की दशा सुधारने के लिये कुछ प्रयास करते रहे। फिर भी काश्तकारों की आर्थिक व सामाजिक स्थिति में परिवर्तन भारत के स्वतंत्र होने के बाद ही आया।

16.16 संदर्भ ग्रंथों की सूची :

1. कालूराम शर्मा : उन्नीसवी सदी के राजस्थान का सामाजिक एवं आर्थिक जीवन
2. डॉ. धनश्याम लाल देवड़ा : राजस्थान की प्रशासनिक व्यवस्था
3. डॉ. पेमाराम : एग्रेरियन मुवमेण्ट इन राजस्थान
4. डाँ. बृजकिशौर शर्मा : पीजेण्ट मुवमेण्टे इन राजस्थान
5. डॉ. जहूर खा मेहर : राजस्थान में आजादी रो आन्दोलन
6. सुखवीर सिंह गहलोत : फ्रीडम स्ट्रगल इन राजस्थान
7. सुखवीर सिंह गहलोत : राजस्थान का संक्षिप्त इतिहास
8. पूर्णिमा नवीन लाल : राजस्थान अनुशीलन
9. नीलम गहलोत : राजस्थान का आर्थिक इतिहास

इकाई – 17
राजस्थान की खाने व खनिज सम्पदा
(1818–1947)

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य
17.1 प्रस्तावना
17.2 राजस्थान में खनिज सम्पदा का विदोहन
17.3 अभ्रक
17.4 संयुक्त राजस्थान के निर्माण के बाद खनिज सम्पदा के विदोहन की स्थिति
17.5 सारांश
17.6 शब्दावली
17.7 अभ्यासार्थ प्रश्न
17.8 संदर्भ ग्रन्थों की सूची

17.0 उद्देश्य

इस पाठ में राजस्थान को खानों से उसकी सम्पत्ति के विदोहन तथा उपयोग के बारे में जानकारी देने का प्रयास किया है। यह अध्ययन 1818–1947 तक के काल से सम्बन्धित है।

17.1 प्रस्तावना

1. **राजस्थान की भौगोलिक दशा तथा खनिज पदार्थो की बहुतायत** – राजस्थान भारत का एक विस्तृत प्रदेश है जिसमें प्राकृतिक दशायें समान नहीं है। कहीं पर रेगिस्तान, शुष्क भूमि है तो कहीं पर पहाड़ी प्रदेश और कहीं पठार, उबड़–खाबड़ भूमि व कहीं समतल भूमि है। आमतौर पर राजस्थान को चार प्राकृतिक विभागों में बाँटा जाता है –
   (1) उत्तर –पश्चिमी मरूस्थली प्रदेश
   (2) मध्यवर्ती पहाड़ी प्रदेश
   (3) दक्षिण–पूर्वी पठारी प्रदेश
   (4) उत्तर–पूर्वी मैदानी भाग

1. **उत्तर–पश्चिमी मरूस्थली प्रदेश –** इसमें बीकानेर, चुरू, श्री गंगानगर, बाड़मेर, जोधपुर, जैसलमेर, जालोर, पाली, नागौर और जयपुर जिले के कुछ भाग सम्मिलित है। सम्पूर्ण राजस्थान की लगभग 58 प्रतिशत भूमि इस शुष्क प्रदेश में है। इस शुष्क प्रदेश में भी जिप्सम –जैसे महत्वपूर्ण खनिज पदार्थ पाये जाते है।

2. **मध्यवर्ती पहाड़ी प्रदेश :–** इसमें अरावली पर्वत की श्रेणियाँ फैली हुई है। इसकी ऋखलाऐं दिल्ली के निकट से प्रारम्भ होती है। अलवर, जयपुर, अजमेर, उदयपुर, डूंगरपुर, बांसवाड़ा, बूंदी, झालावाड़, बाड़मेर तथा सिरोही जिलों में अरावली की श्रेणियाँ देखी जा सकती हे। ये पर्वतीय प्रदेश राजस्थान के 9.3 प्रतिशत भाग में फैला हुआ है। भूगोलवेत्ताओं के अनुसार

अरावली दुनिया का एक सबसे पुराना पर्वत है। इस भाग में खनिज सम्पदा बहुतायत से पाई जाती है।

3. **दक्षिण–पूर्वी पठारी प्रदेश :–** कोटा, बूंदी, चितौड़गढ़ और झालावाड़ के प्रदेश इसमें सम्मिलित है। यह राजस्थान के 9.6 प्रतिशत भाग में फैला हुआ है। इन प्रदेशों में भी खनिजों की खोज हो रही है।
4. **उत्तर–पूर्वी मैदानी भाग :–** इसमें सवाई माधोहेर, झुंझुनू, अलवर, भरतपुर, टोंक तथा भीलवाड़ा के भाग है। इसमें अभ्रक व अन्य कुछ खनिज पदार्थ पाये जाते है।

खनिज सम्पदा का महत्व :

सभ्यता के आदिकाल से विश्व के अनेक भागों में मानव ने पृथ्वी के गर्भ में छिपी हुई खनिज सम्पदा को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उपयोग में लाने की आवश्यकता का अनुभव किया है। इसके लिए उसने अपने भू–गर्भ शास्त्र तथा खनन–विद्या के को विकसित करने का प्रयास किया है। भारत में भी हमारे पूर्वरजों को इन विषयों का पर्याप्त ज्ञान था। महाभारत के अनुसार हिमालय के क्षेत्र में युधिष्ठिर के लिये माया दानव ने सोना, चाँदी, तांबा व अन्य खनिज पदार्थों की खोज व विदोहन करके ही इन्द्रप्रस्थ का निर्माण किया था। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में खानों को खजाने का स्त्रोत बताया है। लगभग तीन हजार वर्ष पहले हमारे देश में सोना, चाँदी, शीशा व अन्य धातुऐं निकाली जाती थी। ऐतिहासिक युग के आरम्भ में लोहे का विदोहन होने लगा। गुप्त काल में कुतुब मीनार के पास बना हुआ जंग विहिन लोह स्तम्भ इस देश की लोहे में उत्पादन में दक्षता को प्रमाणित करता है। समय के साथ–साथ इस देश में भी खनिज सम्पदा का अधिकाधिक विदोहन व उपयोग होने लगा किन्तु आधुनिक युग में भारत पश्चिमी देशों के मुकाबले में पिछड़ गया। इसका एक प्रमुख कारण यान्त्रिक शक्ति का अभाव था। अठारहवीं शताब्दी में अराजकता के कारण भी इस क्षेत्र में प्रगति न हो सकी।

ब्रिटिश सरकार की नीति :

इंग्लैण्ड की मिलों के लिए कोयले की आवश्यकता होने पर तो अंग्रेजों ने 1775 ई. में रानीगंज की खानों से कोयला निकालना आरम्भ किया। 1843 ई. में भारत में प्रथम ज्वांइट स्टॉक कोल कम्पनी(Joint Stock Coal Company) का गठन किया गया। इसने बिहार में व्यवस्थित रूप से कोयले के खनन का कार्य किया। लेकिन अन्य खनिज पदार्थों के विदोहन की ओर उन्होंने ध्यान नहीं दिया। उन्नीसवीं शताब्दी में मुक्त व्यापार की नीति का पालन करते हुए इंग्लैण्ड ने अपने देश में उद्योगों व व्यापार को कार्य करने की स्वतंत्रता दी। इसी नीति से प्रेरित होकर तथा स्वार्थों की पूर्ति हेतु भी ब्रिटिश सरकार ने भारत में भी उद्योगों तथा खनिज सम्पदा के विदोहन में रूचि नहीं ली। केवल कोयला, कपास आदि ऐसे कच्चे माल की प्राप्ति करना ही उनका मुख्य उद्देश्य था क्योंकि इंग्लैण्ड को इनकी आवश्यकता थी। 1813 में मुक्त व्यापार की नीति का पालन करते हुए ईस्ट इण्डिया कम्पनी के व्यापार के एकाधिकार कोसमाप्त

1. M.l. Roonwal(Editor).The Natural Resources of Rajasthan Volume2,Article by M.L.Sethi on Mineral Resources of Rajasthan: A Review,Pages 746–763.

कर इंग्लैण्ड की सरकार ने भारत में पूंजी लगाने के लिए अंग्रेज पूंजीपतियों को प्रोत्साहन दिया। इस समय अनेक अंग्रेज पूंजीपतियों तथा कंपनियों को कोयले की खानें, चाय बागान, जूट मिलें व अन्य उद्योगों को स्थापित करने के लिए ऋण अथवा सुविधाऐं दी गई। कुछ समय बाद भारतीय पूंजीपतियों को भी वस्त्र व जूट की मिलें, कोयले की खानें तथा स्टील के कारखाने खोलने की अनुमुति दी गई। लेकिन फिर भी देश में उद्योगों व खनिजों के विदोहन की प्रगति धीमी रही। 1905 में भारत, पाकिस्तान, बंगला देश व बर्मा के कुल खनिज विदोहन का मूल्य केवल एक सौ मिलियन रुपया था। इस समय इन सब प्रदेशों में 301 कोयले की व 349 अन्य खाने थी। आर्थिक महत्व के केवल पन्द्रह खनिजों का विदोहन होता था। खदानों में श्रमिकों की दशा अत्यन्त खराब थी। उनकी दशा सुधारने तथा उनकी सुरक्षा के प्रबन्ध के लिए लिए 1901 में ब्रिटिश शासित प्रान्तों में प्रथम माईस अधिनियम (First Mines Act) पारित किया गया, जिसे अजमेर–मेरवाड़ा में भी लागू किया गया। जो–ज्यों प्रथम महायुद्ध की संभावनाऐं बढ़ती गई त्यों–त्यों ब्रिटिश सरकार की आवश्यकताओं में वृद्धि होती गई। 1916 में भारत सरकार ने इंडस्ट्रियल कमीशन (Industrial Commission) की सिफारिश पर उद्योगों में, जिनमें खनिज उद्योग भी शामिल थे, भारतीय पूंजी को प्रोत्साहित करने की नीति अपनाई। द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ होने के बाद भारत सरकार ने 1940 ई. में खनिज नियंत्रण अधिनियम पारित किया। इसके तहत उसने अनेक खनिज पदार्थो की खरीद का एकाधिकार प्राप्त कर लिया। इस नीति का पालन युद्ध के अंत तक किया गया।

वास्तव में 1947 तक ब्रिटिश सरकार ने खनिज सम्पदा के सर्वेक्षण तथा विदोहन को प्रोत्साहन देने के लिए कोई निश्चित नीति नहीं अपनाई थी। इस समय तक मुख्य रूप से उन खनिजों के विदोहन को प्रोत्साहित किया जाता था जिनकी कि इंग्लैण्ड के उद्योगों को आवश्यकता होती थी। खनिज पदार्थों के विदोहन के लिए यांत्रिक शक्ति का समुचित प्रयोग नहीं किया जाता था। आम तौर पर कम लागत पर प्राप्त होने वाले खनिजों का ही विदोहन किया जाता था तथा ऊँचे स्तर का माल को निकालने का प्रयत्न किया जाता था। यदि उच्च स्तर का माल खानों से प्राप्त नहीं होता था तो उसे खानों के पास फैक दिया जाता था। खानों के ठेके लम्बे समय के लिए दिये जाते थे तथा ठेकेदारों की वित्तीय स्थिति पर ध्यान नहीं दिया जाता था। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि खनिज सम्पदा के उपयोग के लिए आत्म निर्भर आर्थिक व्यवस्था स्थापित करने की दिशा में ब्रिटिश सरकार ने समुचित प्रयास नहीं किए थे।

17.2 राजस्थान में खनिज सम्पदा का विदोहन

राजस्थान में खनिज सम्पदा प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। इसीलिए इस प्रदेश को खनिज पदार्थों का म्यूजियम कहा जाता है। प्राचीन काल से ही इस प्रदेश में लोहा, अभ्रक, जस्ता, सीसा व अन्य खनिज पदार्थों का विदोहन किया जाता है। उदयपुर के निकट आहड़ में की गई खुदाई में लोहे को शुद्ध करने के प्रमाण मिले है। राजस्थान के अनेक भागों में इमारती पत्थर काफी मात्रा में निकाला जाता था। मेवाड़ में जस्ता व सीसे का विदोहन होता था। अभ्रक भी काफी मात्रा में निकाला जाता था। लेकिन इस प्रदेश में राजपूत राजाओं में से अधिकांश ने खनिज सम्पदा के महत्व को भली–भांति नहीं समझा। वे केवल उन्हीं खनिजों का विदोहन करते थे

आसानी से तथा कम लागत पर प्राप्त हो जाते थे। उदाहरणार्थ मेवाड़ में राणा लाखा के समय जावर माल में जस्ता और उसके साथ चांदी का उत्पादन होता था लेकिन इनके खनन का कार्य कभी–कभी बन्द कर दिया जाता था। इन राज्यों के पास धन व साधनों की कमी भी थी। खानों तक पहुंचने के लिए अच्छी सड़कें भी नहीं थी। पानी का भी अभाव था। मुगल साम्राज्य के पतन के समय मराठा आक्रमणों ने राजस्थान के राज्यों में अराजकता फैला दी। लगभग सभी राज्यों की आर्थिक दशा शोचनीय हो गई। 1818 से 1823 तक सभी राजपूत राज्यों ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी से संधि कर ली। शनै : शनै: राजपूताना में शान्ति स्थापित हुई। लेकिन खनिज विदोहन उद्योग में प्रगति नहीं हुई। विभिन्न राज्यों के शासकों की इसके प्रति उदासीनता, वित्तीय साधनों की कमी, पानी का अभाव, रेतीले और पहाड़ी प्रदेशों में परिवहन साधनों की दुर्गमता तथा भिन्न–भिन्न राज्यों में इस सम्बन्ध में भिन्न–भिन्न नीतियों का पालन करने के कारण खनिज सम्पदा के विदोहन में यह प्रदेश भारत के अन्य प्रान्तों से पिछड़ गया। ब्रिटिश सरकार ने भी देशी राज्यों की खनिज सम्पदा के उपयोग में रूचि प्रदर्शित नहीं की। इस प्रदेश के विशाल खनिज भण्डारों का नाम मात्र का सर्वेक्षण किया गया। फलस्वरूप प्रथम महायुद्ध तक राजस्थान में खनिज सम्पदा के विदोहन का कार्य बेतरतीब ढंग से होता रहा। 1920 में राजस्थान के कुछ राज्यों ने अपनी नीति में परिवर्तन किया। उन्होंने यूरोपियन तथा भारत की प्रतिष्ठित कम्पनियों को विदोहन के ठेके दिए। खदानों में मजदूरों की सुरक्षा के लिए तथा रायल्टी आदि के सम्बन्ध में कुछ नियम बनाये। लेकिन प्रत्येक राज्य में ऐसे नियम भिन्न भिन्न थे तथा समय–समय पर बदलते रहते थे। उदाहरणार्थ 1934 में मेवाड़ में अभ्रक के ठेकेदारों को कुल विदोहन के क्रय मूल्य का 10 प्रतिशत राज्य को देना पड़ता था। 1940 तक यह बढ़ कर 16 प्रतिशत हो गया। इस अवधि में बिहार व मद्रास में इसकी दर पांच प्रतिशत ही थी। इससे राजस्थान में अभ्रक के उत्पादन में कमी आई।

वस्तुत: 1948 तक इस प्रदेश के भिन्न–भिन्न राज्यों द्वारा एक समग्र नीति का पालन करना सम्भव भी नहीं था। 1948 के बाद ही इस पर विचार किया गया तथा 1956 में अजमेर मेरवाड़ा के राजस्थान में मिलने के बाद ही खनिज सम्पदा के सर्वेक्षण और विदोहन के सम्बन्ध में निश्चित नीति अपनाई गई। इस समय से अब तक खनिज सम्पदा के उपयोग में उल्लेखनीय प्रगति देखने को मिलता है। आज अपने देश में बिहार के बाद राजस्थान का दूसरा नम्बर है।

आधुनिक काल में एक देश की प्रगति का मूल्यांकन औद्योगिक व व्यापारिक क्षेत्र में उसकी उपलब्धियों के आधार पर किया जाता है। यदि किसी देश के पास पर्याप्त मात्रा में उद्योगों के लिए कच्चा माल, जिनमें खनिज सम्पदा भी शामिल है,उपलब्ध है तथा उसके उपयोग के लिए अच्छी सुविधाऐं है तो वह देश अपना औद्योगिक व व्यापारिक विकास तेजी के साथ कर सकता है। यहां यह भी बता देना भी उचित होगा कि दिन प्रतिदिन तेजी के साथ हो. रहे औद्योगिक विकास में प्रयोग लाये जाने वाले खनिज पदार्थो की संख्या में, वृद्धि हो रही है

2. The Gazetters of India,Volume III, Economic Structure and Activities, 1975,Pages 405 to 446

तथा एक ही खनिज पदार्थ अनेक उद्योगों में काम में लिया जा रहा है। इस प्रकार के खनिज पदार्थों के उत्पादन में राजस्थान इस समय में सीसा, जस्ता, ट्रेरोम लाईम, कोरडम एवं बुलोस्टोनाइट का एक मात्र उत्पादक है तथा चांदी, टगस्टन, एसबस्टूस, केलयाइट, फेल्डस्पार, ग्लास सैड, रॉक फास्फेट, सेंड स्टोन एवं सोप स्टोन के उत्पादन में राजस्थान सबसे आगे है। देश की कुल अभ्रक का उत्पादन का एक बड़ा भाग राजस्थान में होता है। संगमरमर के उत्पादन के क्षेत्र में भी इस प्रदेश ने उल्लेखनीय प्रगति की है। कुछ समय पहले तक पन्ना (Emerald) के उत्पादन में भी राजस्थान काफी आगे था लेकिन अब इस प्रान्त में इसके उत्पादन में कुछ कमी आ गई है। कई अन्य खनिज पदार्थों के विदोहन में भी प्रगति देखने को मिलती है।

इस लेख में लगभग उन सभी खनिज पदार्थों का उल्लेख किया गया है जिनका आजकल उत्पादन होता है। उससे यह अनुमान लगाने में मदद मिलेगी कि 1948 तक राजस्थान की स्थिति अच्छी नहीं थी।

17.3 अभ्रक

अभ्रक उत्पादन का एक बड़ा भाग काफी समय से राजस्थान में उत्पादित हो रहा है। यद्यपि इस बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता कि इस प्रदेश में अभ्रक का विदोहन कब आरम्भ हुआ किन्तु यह अवश्य बताया जा सकता है कि मेवाड़ के क्षेत्र में प्राचीन काल से ही भील खदानों से अभ्रक निकालते थे। टॉड ने लिखा है कि अजमेर के निकट उसने 1819 में अभ्रक की एक बड़ी खदान देखी थी। 1884 में मेकमोहन ने अपने सर्वेक्षण में अरावली की श्रेणियों में अभ्रक होने के चिन्ह पाये थे।

यदपि प्राचीन काल से ही इस प्रदेश में अभ्रक का विदोहन होता रहा है लेकिन एक उद्योग के रूप में बीसवीं शताब्दी से इसका आरम्भ माना जा सकता है। 1948 तक राजस्थान में अभ्रक के उद्योग के विकास का निम्नांकित कालों में विभाजन किया जा सकता है –

(1) प्रथम महायुद्ध के पहले,

(2) 1920–35 ई.

(3) 1936–42 ई.

(4) 1943–46 ई.

(5) 1947 ई. व उसके बाद।

ज्योलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया (Geological Survey of India) के अनुसार 1904 ई. में राजस्थान में 138 टन अभ्रक का उत्पादन होता था। भारत के कुल उत्पादन 1282 टन का यह लगभग 18 प्रतिशत था। 1906 में यह उत्पादन दुगुना हो गया लेकिन देश के कुल उत्पादन का यह लगभग 11 प्रतिशत ही रह गया। इसका कारण मद्रास व बिहार में

---

3. K.S.Mathur Industry in Rajasthan,Pages24–28.
4. R.K Sinha–A treatise on Industrial Minerals in India:Introduction(Allied Publisher Private Limited,Bombay,1967).
5. James Tod–Annals and Antiguties of Rajasthan,Mewar,Page 613.

इसके उत्पादन में वृद्धि होना था।

प्रथम महायुद्ध की अवधि में भारत सरकार को युद्ध कार्यों के लिए अभ्रक की अधिक आवश्यकता हुई। अतएव भारत सरकार ने राजस्थान के राज्यों को इसका उत्पादन बढ़ाने के आदेश दिए। मेवाड़ ने इस आदेश के पालन में तत्परता दिखाई। 1917 ई. में महाराणा फतहसिंह ने एफ.एच. क्रिस्टियन एण्ड कम्पनी टोमचंच (बिहार) और एम.बी. दादाभोय कम्पनी, नागपुर को नानसा, अमली और सोरठी में कुछ अभ्रक खानों के विदोहन के ठेके दिये। यद्यपि इन कम्पनियों ने अभ्रक के उत्पादन में वृद्धि करने के लिए भरसक प्रयत्न किये किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली।' इस पर भी मेवाड़ ने अपनी सामर्थ्य के अनुसार भारत सरकार को अभ्रक भेजा। अजमेर–मेरवाड़ा ने प्रथम महायुद्ध की अवधि में पचास टन अधिक युद्ध कार्यों के लिए दिया। इस समय में जयपुर व अलवर राज्य में उत्पादन नाम मात्र का हुआ।

1920 से 1935 ई. तक का समय अभ्रक उद्योग के लिए गतिशील नहीं था। प्रथम महायुद्ध समाप्त होते ही विदेशों में अभ्रक की मांग कम हो गई। फलस्वरूप राजस्थान में अभ्रक की अनेक खानें बंद हो गई। 1920 ई. में अजमेर में अभ्रक का 104. 3 टन उत्पादन हुआ किन्तु राजस्थान के राज्यों में इसका उत्पादन लगभग बंद हो गया। 1932 ई. में अजमेर मेरवाड़ा का उत्पादन केवल 93 टन रह गया जो 1935 ई. तक बढ़ कर 192 टन हो गया। 1922 ई. से राजस्थान के राज्यों में पुन: अभ्रक के उत्पादन में वृद्धि करने का प्रयत्न किया गया । 1922 ई. में राजस्थान में कुल उत्पादन 15.4 टन था। इसमें प्रत्येक वर्ष बढ़त अथवा कमी होती रही। 1935 में समस्त राजस्थान के देशी राज्यों का उत्पादन केवल 8 टन था।

1936 से 1942 ई. तक की अवधि में अभ्रक के उत्पादन में उल्लेखनीय प्रगति हुई। द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ होने की आशंका ने तथा 1939 में द्वितीय महायुद्ध आरम्भ होने के कारण शस्त्रों के उत्पादन में बहुत अधिक वृद्धि हुई। इसके फलस्वरूप यूरोप में अभ्रक की मांग बढ़ी। अतएव भारत सरकार ने राजस्थान के राज्यों तथा अजमेर–मेरवाड़ा की अभ्रक खदानों के विकास में रूचि प्रदर्शित की और इन प्रदेशों में अभ्रक का उत्पादन तेजी के साथ बढ़ने लगा।

1906 ई. में राजस्थान व अजमेर मेरवाड़ा का कुल उत्पादन 147.5 टन था जो देश के कुल उत्पादन का तीन प्रतिशत था । 1942 ई. में यह बढ़ कर 2218.8 टन हो गया जो देश के कुल उत्पादन का 23.9 प्रतिशत था। इस समय में बिहार के बाद राजस्थान ही अभ्रक का सबसे अधिक उत्पादन करता था।

---

6. K.S Mathur,Mica Industry in Rajasthan,Page 24.
7. T.Holland: Mineral Production,Records of Geological Survey of India,Volume xxxvi,1906,page 77.
8. Administration Report of Mewar State,1917–18,page3.
9. C.M. Rahgarhia:Mining Processes and Use of Indian Mica,(McGraw Hill Book Company),Page 6.

इस वृद्धि से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि एक ओर भारत सरकार के ज्योलोजिकल सर्वेक्षण विभाग ने तथा दूसरी ओर अजमेर–मेरवाड़ा तथा राजस्थान के राज्यों ने इस उद्योग को अनेक सुविधाएँ प्रदान की। इस समय में अलवर व जयपुर में भी इसका उत्पादन होने लगा। 1938–39 ई. में अभ्रक उद्योग से इस प्रदेश की सरकारों को जो आमदनी हुई वह 1942–43 ई. में बढ़ कर लगभग ढाईं गुनी हो गई।

इस अवधि में अभ्रक उद्योग में सबसे अधिक प्रगति मेवाड़ ने की। भीलवाड़ा, बनेड़ा काछोला, देवगढ़, आमेट, नाथद्वारा, कांकरोली, सरदारगढ, कपासन, चितौड़, भीनू, सादड़ी, गिरवा, लसाडिया, माँडलगढ़ू आदि में विभिन्न कम्पनियों को अभ्रक विदोहन के ठेके दिये गये। इनमें से कुछ कंपनिया स्थानीय थी और कुछ अन्य प्रान्तों की थी। अभ्रक उत्पादन के विभिन्न केन्द्रों में भीलवाड़ा ने सबसे अधिक प्रगति की।

1943 से 1946 ई. की अवधि में अभ्रक उद्योग को फिर एक आघात लगा। युद्ध के अंतिम वर्षों में तथा युद्ध समाप्त होने के बाद विदेशों में अभ्रक की मांग कम हो गई। राजपूताना में 1942 ई. में 2218.8 टन अभ्रक का उत्पादन हुआ था जो देश के कुल उत्पादन का 23.9 प्रतिशत था। 1946 ई. में यह घट कर 1150.7 टन हो गया जो, देश के कुल उत्पादन का 17.7 प्रतिशत था। इस समय में अजमेर–मेरवाड़ा को उत्पादन में सबसे अधिक हानि सहनी पड़ी। जापान के युद्ध में प्रवेश करने के पहले अजमेर–मेरकड़ा का अभ्रक वहां भेजा जाता था। 1942 ई में यह मांग समाप्त हो गई। लेकिन इसका एक अनुकूल प्रभाव अभ्रक उद्योग पर पड़ा। यह महसूस किया गया कि पहले की अपेक्षा अच्छी किस्म के अभ्रक की खोज करनी होगी । 1943 ई. में पोदार माइनिंग कोरपोरेशन को खरवा में अधिक विदोहन के लिए चालीस साल का ठेका दिया गया। एक लम्बे समय के लिए ठेका मिलने के कारण इस कम्पनी ने खरवा में वैज्ञानिक पद्धति से विदोहन आरम्भ किया।

1946ई. में फिर से विदेशों में भारतीय अभ्रक की मांग बढ़ने लगी। अब यांत्रिक साधनों का भी प्रयोग किया जाने लगा अतएव अभ्रक के उत्पादन में निरन्तर वृद्धि होती रही। 1947ई. में राजस्थान का कुल उत्पादन 1425.4 टन था जो देश के कुल उत्पादन 20.91 प्रतिशत था। 1955 ई. में यह बढ़ कर 1737.2 हो गया जो देश के कुल उत्पादन का 31.64 प्रतिशत था।

जस्ता व सीसा(केडमियम व चाँदी के साथ) विश्व के अनेक– भागों में जस्ते को धातु के रूप में बहुत प्राचीन काल सें ही पहचाना जाता था, यद्यपि इसका उत्पादन व उपयोग कभी–कभी देखने थे ही मिलता था। प्राचीन काल की ट्रन्सिलवानिया से प्राप्त एक मूर्ति में 87.52 जस्ता और 11.41 सीसा पाया गया है। केमरोज के खण्डहरों में जो ईसा सें 500 वर्ष पूर्व ध्वस्त हो गये थे,भी जस्ता पाया गया है।

---

10. Mica Enquiry Committee Report,page 78.
11. A.K.Dey: Mineral Production of India,Records of the Geological Survey of India,Volume LXXX,page 409.
12. K.S.Mathur,Mica Industry in Rajasthan,pages 24–27.

रोम के शासक आगस्टस (ईसा से 20 वर्ष पूर्व से ईसा से 14 वर्ष.पूर्व) के काल में भी जस्ता को भीतों के मूसा या आक्साइड (Oxcide) अयस्क में संगलन को धीमें–धीमें कम करके और तांबा खण्डों से पीतल बनाया जाता था। सातवीं सदी में चीन में इसके छोटे सिक्के बनाये जाते थे। तथा दर्पण बनाने के काम में लाया जाता था। ऐसा विश्वास किया जाता था कि भारत में जस्ते की जानकारी 1000 से 1300 ईस्वी– के मध्य हुई होगी। इसका व्यवसायिक रूप से प्रद्रवण संभवत: चौदहवीं शताब्दी में मेवाड़ के महाराणा लक्षसिंह प्रथम (लाख) ने 1382 ई. के लगभग जावर की खदानों में आरम्भ कराया गया था। लेकिन कुछ वर्षो पहले इस क्षेत्र की खदानों का अध्ययन करके ब्रिटिश और भारतीय पुरावेत्ताओं के एक दल ने इसे काफी प्राचीन बताया है। औद्योगिक पुरातत्व विज्ञान सम्बन्धी प्रकाशन (भाग–15, पृष्ठ 211) के एक विशेषांक में ब्रिटिश म्यूजियम की अनुसंधान प्रयोगशाला के पाल क्रेडाक तथा हिन्दुस्तान जिंक लिमिटेड के एक भू–वैज्ञानिक ललित गुर्जर तथा बड़ौदा विश्वविद्यालय के पुरातत्व विभाग के अध्यक्ष टी.एम. हेगड़े ने लिखा है कि जावर की प्राचीन खानों में पाये गये लकड़ी के टुकड़ों से यह आभास होता है कि उस समय जो तकनीक अपनाई गई थी वह 2000 वर्ष से भी पहले की थी। उनकी खोज ने यह स्पष्ट कर दिया है कि "जावर में विश्व की प्राचीनतम जस्ता खानें विद्यमान है। ऐसा प्रतीत होता है कि मध्य कालीन युग में जावर जस्ते का अधिकांश भाग तांबे के साथ मिलाकर पीतल बनाने के काम में लाया जाता होगा। यद्यपि अभी तक इस क्षेत्र में पीतल या तांबे के कोई चिन्ह नहीं मिले है लेकिन अनुमान लगाया जाता है कि यहां से जस्ता पाकिस्तान के उत्तर–पश्चिमी सीमा पर स्थित तक्षशिला नगर को भेजा जाता होगा। तक्षशिला में चार शताब्दी ईसा पूर्व में पीतल के चिन्ह पाये गये है लेकिन उसके आस–पास जस्ता–अयस्क के कोई स्त्रोत उपलब्ध नहीं है। चौदहवीं सदी के एक ग्रन्थ "रसरत्न समुच्चय" में जस्ता व सीसा को शुद्ध करने की जानकारी दी गई है।

इसके अतिरिक्त जावर के खण्डहरों से प्राप्त साबुत भबकों (Retart), जो 1/3 से ½ इंच मोटे है तथा संगलित मिट्टी के बने हुए है, इससे भी हम इस प्रक्रिया को समझ सकते है । इन भबको में कई फिलाइट स्फिटक और क्वार्टजाइट के अंश मिले हुए है। ये भबके दूध की बड़ी बोतलों के समान एक सिरे पर नुकीले होते थे। इन्हें प्रद्रवण के लिए तीन–तीन के हिसाब से एक भट्टी में चुन दिया जाता था। फिर इन भट्टियों को 1100 प्रतिशत संताश तक गर्म किया जाता था। इस प्रक्रिया को लगातार कई घंटों तक जारी रखा जाता था। पाल क्रेडोक, गुर्जर और हेगड़े के मत में यह पद्धति वैज्ञानिक थी।

---

13. हिंदुस्तान जिंक लिमिटेड, उदयपुर – जस्ते का इतिहास, भारत में जस्ता (एक पेम्पलेट)
14. वही 15. वही 16. वही
17. हिन्दुस्तान जिंक लिमिटेड, उदयपुर – जिंक समाचार में जस्ता प्रद्रवण विश्व को भारत की देन नामक. लेख, 1984
18. वही

वीर विनोद में लिखा है कि उस समय इन खानों से जस्ते के साथ सीसा व चाँदी भी निकाली जाती थी। इन दोनों पदार्थो की मात्रा के बारे में निश्चित रूप से, कुछ कहना कठिन है लेकिन अभी हाल में किया गया एक सर्वेक्षण यह बताता है कि जावरमाला खान के 179.4 लाख टन के अयस्क भण्डार के 4 लाख 50 हजार टन वार्षिक अयस्क उत्पादन में 10,250 टन जस्ता, 5700 टन सीसा, 41750 किलोग्राम कैडमियम और 7,500 किलोग्राम चाँदी प्राप्त हो सकती है।

मेवाड़ में जावर के अतिरिक्त राजपुरा दरीबा में भी जस्ता सीसा युक्त अवशिष्ट के बड़े–बड़े ढेर मलवा तथा मिट्टी के शंखाकार असंख्य पात्र मिले है। यहां चाँदी के सिक्के भी पाये गये है। इससे सिद्ध होता है कि जावर व राजपुरा दरीबा इन खनिजों के विदोहन का प्रमुख केन्द्र रहा होगा।

इन धातुओं के उत्खनन और प्रद्रवण के कार्यों में सामन्तिक युद्धों व अन्य उथल–पुथलों के कारण समय–समय पर विघ्न पड़ता रहा। मुगल साम्राज्य के पतन के समय मराठा आक्रमण के समय मेवाड़ में अराजकता फैल गई। इस राज्य की आर्थिक स्थिति भी शोचनीय हो गई। अतएव 1813 ई. के लगभग विदोहन का कार्य बंद कर दिया गया। इस कार्य को लगभग 125 वर्ष तक पुन : प्रारम्भ नहीं किया गया। शायद इन क्षेत्रों की खानों से इन खनिजों के विदोहन में, अधिक लागत लगने के कारण ऐसा नहीं किया गया होगा। 1938 ई में मेवाड़ मिनरल कार्पोरिशन की स्थापना की गई। इस कार्पोरिशन ने यहां खनन का कार्य पुन : आरम्भ किया। 1945 ई. में एक दूसरी निजी कम्पनी मेटल कार्पोरिशन ऑफ इण्डिया ने इन खानों का अधिग्रहण किया। बिहार के धनबाद जिले के टुंडु स्थान पर स्थापित सीसा प्रद्रावक को यहां से कच्चा माल भेजा जाने लगा। इसी समय से आर्थिक व्यवस्था के लगभग सभी क्षेत्रों जैसे, ऊर्जा, परिवहन, कृषि, संचार, ऊर्जा–संचालन, जल–आपूर्ति, रक्षा–व्यवस्था, आवास, घरेलू उपयोग में आने वाले सामान तथा बैटरियों में जस्ता और सीसा का प्रयोग दिन प्रतिदिन बढ़ने लगा। राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था और रक्षा जैसे क्षेत्रों में जस्ते और सीसे की महत्वपूर्ण भूमिका के महत्व को जान कर भारत सरकार ने इन धातुओं के उत्पादन में वृद्धि करने का निश्चय किया। फलस्वरूप मेटल कार्पोरिशन ऑफ इण्डिया, जो उस समय जावुर खान और टुंडु स्मेल्टर का संचालन कर रही थी, अधिग्रहण कर लिया गया तथा 10 जनवरी, 1966 को हिन्दुस्तान जिंक लिमिटेड का सार्वजनिक क्षेत्र में एक कम्पनी के रूप में निगमन किया गया। इन चौबीस सालों में इसने अपना अभूतपूर्व विस्तार किया है। आज यह बहु इकाई तथा बहु–उत्पाद करने वाला,ऐसा संगठन हो गया है, जिसकी खानें एवं स्मेल्टर, देश के कई भागों–में कार्य कर रही है। राजस्थान मेंआज

---

19. हिन्दुस्तान जिंक लिमिटेड, उदयपुर – जिंक समाचार में जस्ता प्रद्रवण विश्व को भारत की देन नामक लेख, 1984
20. हिन्दुस्तान जिंक लिमिटेड, (एक पेम्पलेट)
21. 21 हिन्दुस्तान जिंक लिमिटेड, "आत्म निर्भरता की राह पर" (एक पेम्पलेट)
22. वही

जावर खान समूह के जिसमें मोचिया, बलारिया, जावरमाला एवं बरोई सम्मिलित है अतिरिक्तं मटून–राक फास्फेट खान,–राजपुर–दरीबा, सीसा– जस्ता खान से इन खनिजों का विदोहना हो रहा है। ये सब खानें उदयपुर के निकट स्थित है। उदयपुर के निकट ही देबारी में एक जिंक स्मेल्टर बनाया गया है जिसकी 1976–77 में क्षमता 45,000 टन जस्ता, को–प्रद्रवण करने की थी। अभी हाल में भीलवाडा जिले में रामपुरा–अगूवा में विश्व–भर के 15,4 प्रतिशत धातु अंश के 6 करोड़ 36 लाख टन अयस्क भण्डार का पता चलने से न केवल जस्ते और सीसे की उत्पादन की लागत में भारी कमी आने की संभावना है अपितु हिन्दुस्तान जिंक लिमिटेड की उत्पादन क्षमता भी अगले तीस महीनों में दुगुनी होने का अनुमान है। हिन्दुस्तान जिंक लिमिटेड के तत्वाधान में चितौड़ के निकट चंदेरिया में सीसा–जस्ता– स्मेल्टर का निर्माण भी तेजी के साथ हो रहा है।

जिप्सम (सेलखरी) – यह एक प्रकार की सफेद मिट्टी होती है जिसे खड़िया मिट्टी भी कहते है। इससे चॉक स्टिक (Chalk Stick) तथा चीनी मिट्टी के बर्तन–बनाये जाते है। यह उर्वरकों के उत्पादन में–भी काम में लाया जाता है। इसका प्रयोग सीमेंट उद्योग भी करने लगा है। प्लास्टर ऑफ पेरिस भी इससे बनाया जाता है। सबसे अधिक जिप्सम बीकानेर के निकट जामसर में पाया जाता है। नागौर के क्षेत्र में भी इसके भण्डार है लेकिन भूतल से काफी नीचे होने के कारण इनके विदोहन का व्यय काफी अधिक है। कुछ समय पहले ज्ञात हुआ है कि जैसलमेर में लगभग 40 लाख टन जिप्सम का भण्डार है। बाड़मेर, में भी जिप्सम पाया जाता है। यद्यपि 1961 में राजस्थान में जिप्सम का कुल उत्पादन 813,76 टन था जो देश के कुल उत्पादन का 80 प्रतिशत था लेकिन स्वतन्त्रता प्राप्ति के पहले इसका उत्पादन इतनी अधिक मात्रा में नहीं होता था। अब उर्वरक व सीमेंट उद्योग की आवश्यकताओं के कारण इसका उत्पादन बढ़ता जा रहा है।

लिगनाईट :– लिगनाईट कोयले की खान बीकानेर शहर से लगभग 14 मील दूर पलाना ग्राम में है। यहां की खदानों से लगभग 1927 से कोयला निकाला जा रहा है। विश्लेषण से ज्ञात हुआ है कि यहां का कोयला संसार में सर्वश्रेष्ठ लिगनाईट है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद बीकानेर जिले में खारी, गंग, सरोवर, भड़बानियाँ, केसरदेसर तथा नापासर में भी कोयले के भण्डार पाये गये है। 1961 में 58.63 मेट्रिक टन लिगनाईट का उत्पादन हुआ था।

लोहा :– यद्यपि राजस्थान का लोहा भारत में सर्वोच्च किस्म का है किन्तु शक्ति (Power) व साधनों की कमी के कारण दोसा, सीकर, अलवर खेतड़ी, बांसवाड़ा तथा डूंगरपुर जिले में प्राप्त लोहे का विदोहन 1947 तक नहीं किया जाता था। 1961 के लगभग इसका विदोहन आरम्भ हुआ।

टंगस्टन :– सामरिक उपयोग के खनिज की भारत में केवल एक मात्र खान जोधपुर क्षेत्र में डेगाना के निकट एक पहाड़ी में है। 1947 के काफी समय बाद इसका विदोहन आरम्भ किया गया।

---

23. हिंदुस्तान जिंक लिमिटेड – रामपुरा - अगूचा खनन क्षेत्र, – एक पेम्पलेट
24. हिन्दुस्तान जिंक लिमिटेड: चन्देरिया जस्ता–सीसा प्रद्रावक, (एक पेम्पलेट)

घीया पत्थर (Soap stone) :– इसका चूरा आसानी से किया जा सकता है। इससे मूर्तियाँ तथा खिलौने बनते है तथा साबुन में भी इसका मिश्रण किया जाता है। चेहरे पर लगाने का पाउडर भी है। राजस्थान के राज्यों के विलिंनीकरण के पहले इसका सीमित मात्रा में उत्पादन होता था किन्तु शनैः शनैः इसके उत्पादन में काफी वृद्धि हुई है। आजकल डूंगरपुर, बांसवाड़ा, कोटा व भीलवाड़ा इसके प्रमुख उत्पादक क्षेत्र है। इन इलाकों में भारत के कुल उत्पादन का लगभग 75 प्रतिशत घीया पत्थर उत्पादित होता है। इसका अधिकांश भाग विदेशों को भेज दिया जाता है।

मैगनीजः– यह, फौलाद बनाने में काम में आता है। इसके अतिरिक्त रोगन वार्निश, मुद्रण को स्याही,फोटोग्राफ की धुलाई, आदि में भी इसका प्रयोग होता है। यह पदार्थ भीलवाड़ा,उदयपुर तथा जयपुर के क्षेत्रों में पाया जाता है। 1947 के बाद इसके उत्पादन में काफी वृद्धि हुई है किन्तु बीच में कुछ वर्षो के लिए इसका उत्पादन लगभग समाप्त हो गया था। 1961 में इसका उत्पादन लगभग 4.12 टन था।

इमारती पत्थर :– आरम्भ से ही इस प्रदेश में इमारती पत्थरों की बहुतायत रही है। मकानों की छत पर डालने का पत्थर चितौड़ के आस–पास तथा राजस्थान के पूर्वी भाग में रामगंज मण्डी के निकट बहुत मिलता है। जोधपुर के पास फिदुसर में लाल पत्थर की पटिटया निकलती है। उदयपुर और जयपुर में लाल तथा काला पत्थर मिलता है। इनसें मकानों के फर्श, खरल, कुंडी, चक्की, सिलबट्टे आदि बनाये जाते है। सवाई माधोपुर,भरतपुर, भीलवाडा और बीकानेर जिले में भी इमारती पत्थर प्राप्त होता है। सीमेंट उद्योग के लिए चूने का पत्थर सोजत, बिलाड़ा, गुडवा आदि क्षेत्रों से राजस्थान व अन्य प्रान्तों को भेजा जाता है।

इमारती पत्थर के उत्पादन में राजस्थान सबसे आगे था और अब भी है। समय के साथ इसका उत्पादन बढ़ता जा रहा है।

राजस्थान का प्रदेश अपने संगमरमर के लिए प्रसिद्ध है। मकराने के श्वेत संगमरमर पत्थर से ही शाहजहां ने ताज महल बनवाया था। पिछले कुछ वर्षों से उदयपुर, डूंगरपुर व बांसवाड़ा जिले के अनेक स्थानों से भी विभिन्न रंगों का संगमरमर खदानों से निकाला जा रहा है। जेसलमेर से पीले रंग का पत्थर प्राप्त हो रहा है।

तांबा :–मध्य कालीन युग में जयपुर के खेतड़ी क्षेत्र की खानों से तांबें का विदोहन किया जाता था किन्तु विदोहन में अधिक लागत आने से इस कार्य को बंद किया गया था। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद खेतड़ी के निकट मदान और कुदान में सर्वेक्षण करके विदोहन की सम्भावनाओं का पता लगाया था; यद्यपि यहां से प्राप्त तांबों की किस्म निम्न है किन्तु 1961 में देश को लगभग 55,000 टन की जरूरत थी और केवल 10,0000 टन का ही उत्पादन होने के कारण खेतड़ी में तांबे के विदोहन करने का निश्चय किया गया।'

फ्लोराईट :– इस्पात और रसायनिक कारखानों में इसकी आवश्यकता होती है। क्योंकि कुछ समय पहले डूंगरपुर जिले में मांडव की पाल की पहाड़ियों में इसके भण्डार होने का पता चला है। मांडव की पाल व अन्य निकटवर्ती क्षेत्रों के भण्डारों से लगभग 150 लाख टन कच्चा फ्लोराइट प्राप्त हो सकेगा।

एस्वस्टस :– यह एक प्रक़ार का रेशेदार नरम पत्थर है। इसके रेशों से चद्दरें (सीमेंट की पतरे)' रस्से आदि बनाये जाते है। देशी राज्यों के शासन मैं इसका उत्पादन नहीं किया जाता था किन्तु अब उदयपुर, के निकट देवगढ़ तथा डूंगरपुर' जिले से भारत के कुल उत्पादन का 35 प्रतिशत एस्वस्टस प्राप्त' किया जाता हैं।

काँच की रेत(Glass sand) :– काफी समय से हमारे देश में काँच की रेत सबसे अधिक राजस्थान में पाई जाती है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पहले जयपुर व बूंदी से अधिकांश माल प्राप्त किया जाता था। धौलपुर जिले में भी इसके भण्डार है। 1955 में राजस्थान में 544 मैट्रिक टन–कांच बनाया गया।

फेल्डस्पार :– इसका उपयोग भृतकला - शिल्प उद्योग (Ceramic Industry) तथा चीनी के बर्तन बनाने में होता है। यह अभ्रक उद्योग के गौण पदार्थ के रूप में भी मिलता है। 1962 में -अजमेर जिले से राज्य का 96 प्रतिशत फेल्डस्पार प्राप्त होता था। शेष जोधपुर, जयपुर तथा उदयपुर के क्षेत्रों से मिलता था। राज्यों के विलीनीकरण के पहले इसका सीमित उत्पादन होता था।

बेरिलियम :– इसका प्रयोग मृत्तिका तथा विधुत उधयोगों में किया किया जाता हैं। अणु शक्ति में प्रयोग होने से इसकी महत्व बढ़ गया है। 1948 के पहले इसका नाम मात्र का उत्पादन होता था। आजकल ये जयपुर,उदयपुर,भीलवाडा के जिलों में मिलता है। टोंक,अलवर तथा डूंगरपुर जिलो से यह अल्प मात्रा में प्राप्त होता है।

बेराइटिस (Barytes) :– मुलायम बेराईटिस का प्रयोग पेन्ट(Paint) तथा सख्त का प्रयोग बेरियम कम्पाउण्डस में होता है। यह मुख्यत: अलवर जिले मे मिलता है। 1955 में इसका उत्पादन केवल 12 टन था। इससे अनुमान लगाया जा सकता हैं कि 1948 तक इसका उत्पादन अत्यन्त सीमित रहा होगा।

पन्ना (Emerald) :– राजस्थान के उदयपुर व अजमेर जिले में इसका उत्पादन होता था। 1948 के बाद इसके उत्पादन में काफी कमी आई है क्योंकि अच्छी किस्म के हीरे व पन्ने मिलना अत्यन्त कठिन है तथा इसमें व्यय भी अधिक होता है।

इनके अतिरिक्त इन पिछले 40 वर्षो में राजस्थान में बेन्टोनाइट केल्साइट, डोलोमाइट, मुल्तानी मिट्टी(Fuller's earth), ग्रेफाइट, किएनाईट (Kyanite), क्वार्टज, वेर्मिक्यूलाईट आदि के भण्डार भी पाये गये है। उदयपुर के निकट झामरकोटडा व ममटून में रॉक–फास्फेट का उत्पादन भी काफी मात्रा में हो रहा है।

17.4 संयुक्त राजस्थान के निर्माण के बाद खनिज सम्पदा के विदोहन की स्थिति

इस प्रान्त की अतुल खनिज सम्पदा का विदोहन व उपयोग करने के लिये राज्य की पंच वर्षीय योजनाओं में व्यवस्था की गई। प्रथम पंचवर्षीय योजनाओं में कृषि पर अधिक ध्यान

25. Third Five Year Plan,Rajasthan,pages 132–33.

दिया गया था लेकिन द्वितीय पंचवर्षीय योजना में इस हेतु 40.15 लाख रुपये की व्यवस्था की गई। इसमें से केवल 15.5 लाख ही व्यय किये गये। समस्त धन– राशि को उपयोग में न लाने का प्रमुख कारण विदेशों से मशीनें मंगाने के लिए लाइसेंस प्राप्त करने की कठिनाईयाँ थीं। तीसरी योजना में खानों के सुधार के लिए बीस लाख, रुपया खान चलाने के लिए ऋण देने हेतु पाँच लाख रुपया, सर्वेक्षण एवं डिपार्टमेन्ट आफ माइन्स एण्ड ज्योलोजी के पुनर्गठन के लिए पैसंठ लाख रुपया तथा राजस्थान स्टेट माइनिंग निगम की स्थापना के लिए 275 लाख रुपया निर्धारित किये गये। इस प्रकार कुल मिला कर 365 लाख रुपये की राशि की व्यवस्था की गई। इसके अतिरिक्त राज्य सरकार ने कुछ प्रमुख खनिजों के विदोहन के लिए भारत सरकार के नियम लागू किये तथा अन्य के विकास के लिए परिस्थितियों के अनुसार अपने नियम बनाये। फलस्वरूप खनिजो के विदोहन में उल्लेखंनिय प्रगति हुई है। इसका अनुमान विविध खनिज सम्पदाओं के विदोहन व उपयोग के 1961 के आंकड़ों से लगाया जा सकता है। लेकिन फिर भी अनेक खनिज प्रसाधनों की खोज का कार्य समाप्त नहीं हुआ है। केवल कुछ ही खनिज पदार्थो के बारे में पर्याप्त सूचनाये उपलब्ध है, अन्य के बारे में जानकारी नाम मात्र की है। 1968 के पहले यह कार्य भारत सरकार को भूगर्भ शास्त्र सर्वेक्षण विभाग व इण्डियन ब्यूरो ऑफ माइन्स द्वारा कराया जाता था लेकिन थे दोनों क़ेन्द्रीय विभाग अपने कार्य का संचालन समस्त भारत की आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर करते थे । अतएव 1968 में राजस्थान सरकार ने राजस्थान मिनरल डेवलपमेंट कार्पोरेशन की स्थापना की । इस कार्पोरेशन की स्थापना के बाद खनिज सम्पदा के सर्वेक्षण और विदोहन का कार्य, तेजी के साथ आगे बढ़ा लेकिन फिर भी अभी तक अनेक स्थानों पर पानी की कमी,परिवहन सुविधाओं का अभाव तथा बिजली व यांत्रिक शक्ति के उपलब्ध न होने से अनेक खनिजों के विदोहन की प्रगति धीमी है।

इस सम्बन्ध में जोधपुर विश्वविद्यालय के तत्वाधान में राजस्थान के प्राकृतिक साधन के विषय पर अक्टूबर, 1968 में आयोजित विचार विमर्श (Symposium) की सिफारिशें इस प्रकार थी।

(1) यद्यपि राजस्थान में खनिज सम्पदा का विशाल भण्डार है किन्तु कम कीमत पर इसके विदोहन किये जाने की आवश्यकता है।

(2) इन विशाल भण्डारों के विदोहन में तथा इन्हें शुद्ध करने में काफी समय लग जाता है। इसके फलस्वरूप इस प्रकार की खनिज सम्पदा को शुद्ध करने के लिए विदेशों को भेजना पड़ता है। इसलिये इनको प्रान्त में ही शुद्ध करने के लिए शीघ्र प्रबन्ध करने चाहिए।

(3) सिरेमिक (Ceramic) उद्योग के लिए इस प्रान्त में कोयले के अतिरिक्त अन्य कच्चा माल उपलब्ध है । अतएव सिरोमिक (Ware) की प्रान्त में मांग होते हुए भी इसे बाहर भेजा जाता है।

(4) यह अनुभव किया गया है कि कुछ अणु पदार्थों जैसे बेरील आदि के उत्पादन में राज्य के मिनरल कंशेसन नियम (Mineral Concession Rules) हितकारी नहीं है। इनमें सुधार किया जाये।

(5) अनेक ऐसे खनिज पदार्थों से जो कि प्रान्त में काफी मात्रा में उपलब्ध है सम्बन्धित उद्योगों को खोलने में राज्य सरकार प्रोत्साहन दे।

(6) राजस्थान में, पोटाश की जिसका कि उर्वरक (Fertiliser) के उत्पादन में काफी महत्व है,बड़े पैमाने पर खोज की जाए क्योंकि इसके इस प्रान्त में मिलने की काफी आशा है।

इस सिम्पोजियम ने राजस्थान सरकार को यह भी सिफारिश की कि वह केन्द्र की वैज्ञानिक और औद्योगिक,अनुसंधान परिषद से सहायता ले। खनिजों के उत्पादन के लिए अपने लक्ष्य निर्धारित करे। अपने नियमों को उदार बनाये तथा राज्य में उपलब्ध खनिजों सें सन्धन्धित उद्योगों कई स्थापना करने में रूचि ले। खनिज पदार्थो के विदोहन और समुचित उपयोग के लिऐ विशेषज्ञों की समिति नियुक्त करे।

राजस्थान में खनिज सम्पदा के पर्याप्त विदोहन और उपयोग के लिए यह भी आवश्यक समझा गया कि खदानों के ठेकेदारों को उनके द्वारा विदोहन किये जाने वाले खनिज के सुरक्षित भण्डारों, तथा उस खनिज की किस्म आदि के बारे में भी आवश्यक जानकारी दी जाये। खनिजो से संबन्धित उद्योगों के विकास के लिए राज्य सरकार पर्याप्त व्यवस्था करे। राज्य में बॉड गेज रेलवे लाइन के निर्माण तथा सड़कों के विकास की महत्व दिया जाये। खदानों को सड़कों द्वारा मुख्य सड़को से जोड़ा जाए। क्योंकि समय के साथ–साथ उच्च किस्म के खनिज पदार्थों के मिलने की मात्रा कम होती जा रही है इसलिये इनके विदोहन के साधनों में यांत्रिक शक्ति का अधिक से अधिक प्रयोग किया जाये। कच्चा माल को तैयार माल में बदलने से सम्बन्धित समस्याओं का अध्ययन करने के लिए एक क्षेत्रीय अनुसंधान खोली जाए।

इनमें से अनेक सुझावों को क्रियान्वित किया जा चुका है तथा राजस्थान लगातार इस क्षेत्र में प्रगति कर रहा है।

17.5 सारांश

प्रस्तावना –

(1) राजस्थान के चार प्राकृतिक विभागों का वर्णन तथा प्रत्येक भाग में खनिज सम्पदा का होना।

(2) खनिज सम्पदा का महत्व – आदि काल के मानव द्वारा खनिजों का उपयोग भारत में ऐतिहासिक काल से खनिज सम्पदा का विदोहन।

(3) आधुनिक युग में यान्त्रिक शक्ति के अभाव में भारत का खनिज विदोहन के क्षेत्र में पश्चिमी देशों से पिछड़ना।

(4) भारत में खनिज विदोहन वे प्रति ब्रिटिश सरकार की स्वार्थपूर्ण नीति का विवरण तथा इसके हानिकारक प्रभाव।

राजस्थान में खनिज सम्पदा का प्राचीनकाल से विदोहन –

(1) राजपूताना के राज्यों द्वारा इसके महत्व को भली–भांति नहीं समझना तथा केवल कम लागत पर प्राप्त होने वाले खनिजों के विदोहन में रूचि लेना।

(2) मध्यकालीन युग में खनिजों के विदोहन के मार्ग में बाधाऐं।

---

26. Techno Economic Survey of Rajasthan, page 78.

(3) 1818 के पश्चात् भी ब्रिटिश सरकार व राज्यों की उदासीनता।

(4) 1920 से नीति में परिवर्तन यूरोपियन कंपनियों तथा भारत की प्रतिष्ठित कम्पनियों को ठेके देकर विदोहन का कार्य करना।

(5) भिन्न–भिन्न राज्यों में खनिज विदोहन के लिए बनाये गये नियमों में भिन्नता।

(6) 1948 के बाद उल्लेखनीय प्रगति व राजस्थान में उत्पादित होने वाले खनिजों का विवरण ।

अभ्रक–

(1) प्राचीन काल से ही राजस्थान में इस खनिज का विदोहन जारी ।

(2) बीसवीं शताब्दी के आरंभ से इसका एक उधयोग के रूप में विदोहन।

(3) अभ्रक विदोहन उधयोग के विकास के 1947 तक पाँच चरणो का विवरण तथा इसके विदोहन में उतार चढ़ाव ।

(4) 1947 में राजस्थान में अभ्रक के कुल उत्पादन का विवरण।

जस्ता व सीसा (केडमियम व चाँदी के साथ)–

(1) प्राचीन काल से विश्व के भिन्न–भिन्न देशों में जस्ते का प्रयोग।

(2) यूरोप व चीन में प्राचीन काल में जस्ता के उपयोग के प्रमाण।

(3) भारत में भी प्राचीन काल में जस्ता का प्रयोग।

(4) मेवाड़ के जावर व राजपुर दरीबा में चौदहवीं सदी में जस्ता, सीसा व चांदी का उत्खनन के प्रमाण व इनको शुद्ध करने की विधि।

(5) आधुनिक अनुसंधान के आधार पर मेवाड़ में जस्ते का खनन का आरम्भ लगभग ईसा पूर्व चार सदी से प्रारम्भ।

(6) 1958 में जस्ता, सीसा आदि के उत्खनन के लिये मेवाड़ मिनरल कारपोरेशन की स्थापना।

(7) 1945 में मेटल कारपोरेशन ऑफ इंडिया द्वारा जावर आदि खानों का अधिग्रहण।

(8) 1966 में हिन्दुस्तान जिंक लिमिटेड की स्थापना तथा जस्ता व सीसा के उत्खनन में प्रगति एवं जिंक स्मेल्टर देबारी की स्थापना, रामपुरा–अगचा की खानों में उत्पादन का आरम्भ तथा चंदेरिया में एक और जिंक स्मेल्टर निर्माणाधीन जिप्सम–बीकानेर व जैसलमेर के, क्षेत्रों में उपलब्धि तथा 1947 के पहले इसका समिति उत्पादन।

लिगनाईट –

(1) बीकानेर के निकट 1927 से विश्व के सर्वश्रेष्ठ लिगनाईट का खनन।

(2) स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद इसके उत्पादन में वृद्धि।

लोहा –.

1947 तक इस धातु का विदोहन नहीं हुआ। टंगस्टन–डेगाना के भण्डार का 1947 के बाद विदोहन।

---

27. Ibid,Volume II, M.L.Sethi's Paper on Mineral Resources of Rajasthani,pages 761–767.

घीया पत्थर –

1947 तक इसका सीमित उत्पादन किन्तु बाद में उल्लेखनीय प्रगति।

मेगनीज –

भीलवाड़ा, उदयपुर व जयपुर में 1947 के पहले सीमित उत्पादन।

इमारती पत्तर.

(1) राजस्थार के अनेक भागों में प्राचीनकाल से विभिन प्रकार के इमारती पत्थरों की प्राप्ति व उसके प्रमुख केन्द्र।

(2) इमारती पत्थर के उत्पादन में राजस्थान 1947 के पहले भी अग्रणी ।

तांबा –

(1) मध्यकालीन युग में खेतडी के क्षेत्र में तांबा, का खनन किन्तु अधिक लागत के कारण इसके खनन को रोकना।

(2) स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद पुन: इसका खनन आरम्भ।

फ़्लोराईट –

1947 के बाद डूंगरपुर जिले में मांडव की पाल में इसके भंडार से खनन आरम्भ।

एस्बेस्टस –

1947 के बाद मेवाड़ के क्षेत्रों से इसका उत्पादन आरंभ।

काँच की रेत –

प्राचीन काल से राजस्थान इसके उत्पादन में अग्रणी तथा 1947 के बाद इसके उत्पादन में वृद्धि ।

फेल्डस्पार –

1947 के पहले राजस्थान में इसका सीमित उत्पादन तथा 1962 से अजमेर, जोधपुर, जयपुर व उदयपुर के इलाकों में इसका उत्पादन।

बेरिलियम–

1947 के पहले इसका सीमित उत्पादन तथा इसके बाद राजस्थान के अनेक प्रदेशों में इसका उत्खनन।

बेराइटिस –

1947 के पहले अत्यन्त सीमित उत्पादन, अब अलवर जिले में इसके उत्पादन में साधारण वृद्धि ।

पन्ना –

1947 के पहले उदयपुर व अजमेर जिलों में इसका पर्याप्त मात्रा में उत्पादन।

संयुक्त राजस्थान के निर्माण के बाद की स्थिति –

(1) द्वितीय व तृतीय पंचवर्षीय योजना में साधारण प्रगति एवं राजस्थान स्टेट माइन्स निगम की स्थापना।

(2) 1968 में राजस्थान मिनरल डेवलेपमेंट कारपोरेशन की स्थापना।

(3) 1968 में आयोजित सेमीनार में खनन उतपादन में वृद्धि के लिये दिये गये सुझाव।

17.6 शब्दावली

1. रिटार्ट (Retart) मध्यकालीन युग में मेवाड़ में जस्ता को शुद्ध करने के लिए प्रयोग मे लाये गए भबके
2. जिप्सम - खड़िया अथवा सफेद मिट्टी
3. लिगनाइट उत्तम किस्म का कोयला
4. टगस्टन – सामरिक उपयोग का एक महत्वपूर्ण खनिज पदार्थ
5. मेगनीज– फौलाद बनाने के अतिरिक्त वार्निश,मुद्रैण स्याही तथा फोटोग्राफ की धुलाई में काम आने वाला खनिज पदार्थ।
6. फ्लोराईट – इस्पात और रासायनिक वस्तुओं में काम में आने वाला खनिज पदार्थ
7. एस्बस्टस – एक प्रकार का रेशेदार नरम पत्थर
8. फेल्डस्पार – इस खनिज का उपयोग - भृतकला तथा चीनी के बर्तन बनाने मे किया जाता है।
9. बेरिलियम - अनु शक्ति के निर्माण में उपयोगी खनिज।
10. बेराइटिस – पेन्ट (Paint) तथा बेरयिम कम्पाउंडस मे काम आने वाला खनिज।

17.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

(1) राजस्थान में 1818–1947 तक विभिन खनिज पदार्थो के विदोहन के विवरण दीजिए।

(2) 1818 से 1947, तक राजस्थान में खनिजो के विदोहन की प्रगति मे बाधक कारणो को विवेचना कीजिये।

(3) राजस्थान में निमांकित खनिजों के विदोहन की 1947 तक की प्रगति का वर्णन कीजिये।

(अ) अभ्रक (ब)– जस्ता

(स) ब्रिटिश सरकार की खनिज विदोहन सम्बन्धी नीति

17.8 संदर्भ ग्रन्थो की सूची

1. M.L.Roonwal(Editor) : The Natural Resources of Rajasthani,Volumr I and II Jodhpur,1966.
2. National Council of Applied Economic Research,New Delhi. : Techno–Economic Survey of Rajasthan,1955
3. Government of India : The Gazetteer of India,Vol.III Economic Structure and Activities.
4. K.S.Mathur : Mica Industry in Rajasthan Asia publishing house jaipur,1968.

5.	James Tod	:	annals and antiquities of Rajastahn,volume I.
6.	T.holland	:	mineral production of India (records of geological survey of India volume XXXVI)1906.
7.	a.k.dey	:	-do-
8.	Mewar state	:	Administration report,1917–18.
9.	C.M. Rajgarhia	:	mining processes and use of Indian Mica, Mcgraw hill Book company.
10.	Government of India	:	mica enquiry committee report.
11.	Government of Rajasthan	:	third five year plan
12.	R.K.Sinha	:	a treatise on industrial minerals in India, allied publishers private ltd.bombay,1967.
13.	एन. के. शर्मा	:	राजस्थान का आर्थिक सर्वेक्षण, अनुराग प्रकाशन, अजमेर, 1971
14.	हिन्दुस्तान जिंक लिमिटेड उदयपुर द्वारा प्रकाशित पेम्पलेट्स		(अ)जिंक समाचार, 1984, जस्ता प्रद्रवण - विश्व को भारत की देन। (ब) आत्म निर्भरता की राह पर, गतिशील विकास के दो दशक, 1987. (स)जस्ते का इतिहास, भारत में जस्ता प्रगति,1981. (द) रामपुरा - अगुचा खनन क्षेत्र। (न) चंदेरिया जस्ता सीसा प्रद्रावक।

इकाई–18
उद्योग

इकाई की रूपरेखा

18.1 प्रस्तावना
18.2 सूती वस्त्र उद्योग
18.2.1 आधुनिक सूती वस्त्र एवं कपास उद्योग
18.2.2 कुटीर कपड़ा उद्योग का पुनर्जीवन
18.3 ऊनी वस्त्र उद्योग
18.4 नमक उद्योग
18.4.1 नमक पर अंग्रेजी नियंत्रण के परिणाम
18.5 अन्य उद्योग
18.5.1 मीनाकारी
18.5.2 पीतल– एवं तांबे का काम
18.5.3 हाथी दांत एवं लाख के कार्य
18.5.4 पत्थर एवं लकड़ी के कलात्मक कार्य
18.5.5 चमड़े का कार्य
18.5.6 मिट्टी के बर्तन
18.5.7 शस्त्र उद्योग
18.5.8 कागज उद्योग
18.5.9 अन्य हस्त शिल्प एवं उद्योग
18.5.10 आधुनिक स्वरूप के उद्योग
18.6 सारांश
18.7 अभ्यासार्थ प्रश्न
18.8 संदर्भ ग्रन्थों की

18.1 प्रस्तावना,

मध्यकाल में राजस्थान औद्योगिक क्षेत्र में काफी आगे बढ़ा हुआ था। बड़े उद्योग तो मध्यकाल में नहीं थे किन्तु कुटीर एवं शिल्प उद्योग अपनी विकसित अवस्था में थे । कुटीर एवं शिल्प उत्पादों का मात्रात्मक तथा गुणात्मक दोनों रूप में काफी महत्व था । आधुनिक काल में अंग्रेजी साम्राज्य के आर्थिक दबावों में राजस्थान के परम्परागत शिल्प कलात्मक उद्योगों का भारी पतन हुआ। नई स्थितियों में कुटीर उद्योग पतन की ओर अग्रसर थे तथा बचे हुए उद्योग के उत्पादन का कला पक्ष लुप्त होता जा रहा था एवं यह सुंदरता से भौडेंपन की ओर प्रयाण था। मध्यमाल में जहां राजस्थान में कुटीर उद्योग निर्मित माल का निर्यात भारत एवं, भारत के बाहर होता था वहीं आधुनिक काल में इनका सीमित स्थानीय उपभोग– रह गया था । 1931

की जनगणना रिपोर्ट में इस संदर्भ में लिखा है कि रेजा अथवा कोरे सूती,कपड़े की बुनाई का कार्य अभी भी अनेक भागों में होता है जो अत्यधिक दूरदराज के भागों तक सीमित है, मिलो द्वारा निर्मित कपड़े ने चालाकी से इसका स्थान मानव द्वारा पहनने वाले कपड़ों में ले लिया है। ऊँट पर माल ढोने के लिए इनकी भारी मांग थी, किन्तु मशीन निर्मित जूट के बारे जो पूरे देश– में सामान्य है, इस उद्योग में गिरावट के लिए जिम्मेदार है। चमड़े उद्योग में ऊँट के चमड़े के बने बर्तन जो ऊपर से सुसज्जित होते है बीकानेर राज्य के विशेष उत्पादन है, किन्तु अब इन बर्तनों की मांग भी घट गयी है।

कलात्मक एवं शान–शोकत के हस्तशिल्प उद्योगों के संदर्भ में लिखते हुए डी.आर.गाडगिल ने भारत के अन्य भू–भागों की तुलना, में राजस्थान के हल–शिल्पों को अधिक अच्छी स्थिति में माना है। इसके अनुसार कलात्मक एवं शान–शौकत के कार्यों को राजघरानों एवं दरबारों से प्रोत्साहन एवं बढ़ावा मिलता था। अंग्रेजी साम्राज्य की स्थापना के कारण इनका पतन हुआ देशी राज्यों की राजधानी, शहर व कसबों में अभी भी कलात्मक कार्य फल फूल रहे थे जबकि ब्रिटिश भागों में तीव्रता से पतन की ओर थे। किन्तु बने हुए दरबारों में भी अब इन शिल्पों को विशेष प्रश्रय नही दिया जा था तथा देशी रियासतों में भी ये ब्रिटिश भारत की तुलना मे धीमी गति से लुप्त होते जा रहे थे। अत: राजस्थान के सदियों से लोकप्रिय हस्त–शिल्प उत्पादों में भारी गिरावट आयी थी।

उद्योग किसी भी समाज की अनिवार्य आर्थिक क्रिया होती है। राजस्थान के औपनिवेशिक आर्थिक शोषण के उपरांत भी यहां विभिन्न उद्योग धंधे धीमी गति से चल रहे थे। 19वी सदी में ये उद्योग पतनशील थे, – किन्तु बीसवीं सदी में तथा विशेष रूप से प्रथम विश्वयुद्ध के बाद राजस्थान के परम्परागत उद्योग पुनर्जीवित होने लगे थे एवं आधुनिक बड़े उद्योगों की स्थापना भी हुई थी। अध्ययनकाल के दौरान (1818– 1949) राजस्थान में विभिन्न उद्योगों की स्थिति का अवलोकन निमांकित बिन्दुओं के आधार पर करना उपयुक्त होगा।

18.2 सूती वस्त्र उद्योग

यह राजस्थान का प्राचीन एवं समृद्ध उद्योग था। आधुनिक काल में सूती वस्त्र उद्योगों में मोटा एवं कोरा कपड़े का उत्पादन होता था। स्थानीय उपभोग हेतु मोटे कोरे कपड़े का उत्पादन राजस्थान के सभी गाँवों एवं कस्बों में होता था। कर्नल टॉड ने जोधपुर, जैसलमेर एवं बीकानेर में मोटे सूती कपड़े के बारे में यही उल्लेख किया है कि इसका उत्पादन भारी था, किन्तु अधिक व्यापारिक महत्व के न होने के कारण इनका उपभोग स्थानीय स्तर तक ही सीमित था। राजस्थान में मलमल की बुनाई अलवर, भरतपुर, जयपुर एवं कोटा राज्य में होती थी। कोटा की मलमल को राजस्थान में पहला स्थान प्राप्त था। कोटा कपड़ा बुनने का, कार्य बुनकर कोली आदि जाति के लोग करते थे जबकि मलमल की बुनाई में मुसलमान जुलाहे माहिर थे। कोटा में कैथून एवं मांगरोल कस्बे कपड़ा बुनाई महत्वपूर्ण केन्द्र थे, जहां मलमल की बुनाई के साथ–साथ इसकी रंगाई का काम भी होता था। कोटा की रंगीन मलमल से साफे एवं

चूंदडी बनाने का कार्य काफी लोकप्रिय था। कोटा की मलमल की विशेषता इसका अत्यधिक मुलायम एवं झीना होता था।

राजस्थान में कपड़ा उत्पादन के साथ विभिन्न प्रकार कई रंगाई–छपाई भी लोकप्रिय थी। जयपुर राज्य के सांगानेर कस्बे में सूती वस्त्रों की रंगाई–छपाई का कार्य भारी पैमाने पर होता था जो सर्वाधिक लोकप्रिय था। राजस्थान के बाहर पड़ोसी स्थानों पर सांगानेर की छपाई की प्रसिद्धि थी। सांगानेर के कारीगर एक ही कपड़े को विभिन्न रंगों से छापने में कुशल थे, तथा रंगों का निर्माण वनस्पति से स्वयं ही करते थे। जोधपुर राज्य के बाडमेर एवं पाली कस्बे रंगाई–छपाई के लिए प्रसिद्ध थे । पाली का खारा पानी पक्की रंगाई के लिए अधिक उपयुक्त था। राजस्थान में छींट उत्पादन यहां की रंगाई एवं छपाई कला का एक अद्भूत नमूना था,जो हाथ के सांचों द्वारा होती थी। किन्तु मशीनों द्वारा निर्मित रंगीन कपड़ों (इंग्लैंड से आयातित) की प्रतियोगिता के कारण यह उद्योग मरणासन्न था। कलात्मक एवं सुन्दर रंगाई के क्षेत्र में बंधेज की रंगाई अतिप्रसिद्ध थी, जो राजस्थान के सभी नगरों एवं कस्बों में होती थी; किन्तु कोटा एवं जयपुर की बंधेज की रंगाई ज्यादा लोकप्रिय थी । राजस्थान का सूती वस्त्र उद्योग उन्नीसवीं सदी में पतन की ओर अग्रसर होने लगा था, जिसके दो मुख्य कारण थे ।पहला, कारण इंग्लैड निर्मित कपड़े का आयात तथा दूसरा कारण था राजस्थान के शासकों की इनके प्रति उदासीनता । यहां एक बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि राजस्थान में हाथों से निर्मित कपड़ा उद्योग पूर्णत : लुप्त कभी नहीं हुआ था । आधुनिक काल में सामान्य वर्ग स्थानीय कारीगरों द्वारा निर्मित कपड़े का उपभोग करते थे । यदि अतर आया था तो धनी वर्गों के पहनावे में। इंग्लैड से विभिन्न किस्मों के कपड़ों के आयात ने तो राजस्थान के परम्परागत कपड़ा उत्पादन को प्रभावित किया था किन्तु धनी एवं उच्च वर्गो के पहनावे में परिवर्तन ने भी इसे विपरीत रूप में प्रभावित किया था। जब स्थानीय कपड़े का अधिकतर उपभोक्ता दरिद्र था तो यह उद्योग भी निर्धनता एवं पिछड़ेपन की स्थिति में था। धनी एवं उच्च वर्ग जब इस कपड़े का उपभोक्ता ही नहीं रह गया था तो इस उद्योग को इनका समर्थन मिलना भी संभव नही था।

उपरोक्त विवरण से इतना अवश्य स्पष्ट है कि राजस्थान में कपड़ा उद्योगों के लिए कुशल कारीगर समुदाय भारी संख्या मैं मौजूद था। कपड़े के उत्पादन एवं रंगाई–छपाई से सम्बन्धित कोली, बुनकर, जुलाहा, कंडेरे, पिनारे, रंगरेज, छीपा, नीलगर, बंधेरे, पटवा आदि जातियों का भारी जन समुदाय जनसंख्या का हिस्सा था। देखा जाये तो– कपड़ा उद्योग के विकास की भारी संभावनायें थी। किसी भी उद्योग के लिए कुशल श्रमिक, कच्चामाल, बाजार एवं पूंजी आदि आवश्यक तत्व होते है जो राजस्थान में मौजूद थे । इसके उपरांत साहसी उद्यमियों की आवश्यकता अनिवार्य होती है, जिसका राजस्थान में विभिन्न कारणों से अभाव था । इन सबके ऊपर राज्य की नीति का तत्व होता है । तत्कालीन राजनीतिक शक्तियों में ब्रिटिश सत्ता अपने व्यापारिक एवं औद्योगिक लाभ की दृष्टि से भारत के स्थानीय उद्योगों के विकास के पक्ष में नहीं थी तथा राजस्थान के सामंती शासकों के स्वभाव एवं चरित्र में पूंजीवादी तत्व खोजना महज एक कल्पना ही हो सकती है। यहाँ अनेक बार यह प्रश्न उठता है कि जब स्थानीय कपड़े की मांग भी थी तथा उत्पादनकर्ता भी मौजूद थे तो स्थानीय कपड़ा उत्पादन में

गिरावट क्यों आयी। पहली बात तो यह है कि राजस्थान के राज्यों की धन लिप्ता से कुटीर एवं शिल्प उद्योग भी नहीं बचे थे क्योंकि इन पर भी लाग–बागों के नाम से अनेक अवैध कर थोप दिये गये थे । दूसरा कारण कच्चे माल की तिजारत से सम्बन्धित था। कपास के व्यापार पर अंग्रेजों का लगभग एकाधिपत्य था, जिससे स्थानीय कारीगरों को उपयुक्त मात्रा एवं उचित दाम पर कच्चा माल मिलना कठिन था।

18.2.1 आधुनिक सूती वस्त्र एवं कपास उद्योग

उन्नीसवीं सदी में जिस दर पर सूती वस्त्र कुटीर उद्योग का पतन हुआ था, उस दर पर इससे सम्बन्धित नये उद्योगों की स्थापना नहीं हुई थी । आधुनिक उद्योगों की स्थापना में पहल 1897 में किशनगढ़ में हुई थी, जहाँ इस वर्ष एक कताई एवं बुनाई मिल स्थापित हुई थी । किन्तु इसमें केवल सूत कातने का काम होता था एवं बुनाई नहीं होती थी। यहाँ निर्मित सूत को कुटीर उद्योगों हेतु राजस्थान एवं राजस्थान के बाहर भेजा जाता था। 1904 में इसमें 500 श्रमिक प्रतिदिन कार्यरत थे, सूत कातने के 10 हजार तकुऐं थे तथा 685 टन धागा प्रतिवर्ष उत्पादित होता था । 1904 में राजस्थान में कुल 16 कपास ओटने के कारखाने थे जिनमें आठ निजी एवं आठ कम्पनियों के थे। इनमें जयपुर मैं तीन, किशनगढ़ में दो तथा उदयपुर, बूंदी एवं शाहपुरा प्रत्येक में एक–एक थे। इन आठ कारखानों में प्रतिदिन 700 से 1200 आदमी काम करते थे तथा लगभग 32,000 गाँठ रुई प्रतिवर्ष ओटी जाती थी। प्रथम विश्व–युद्ध के बाद राजस्थान के प्रत्येक राज्य में कपास ओटने के कारखाने लग चुके थे। कपास ओटने के कारखानों के पीछे उद्देश्य स्थानीय उद्योगों की स्थापना नहीं था बल्कि विभिन्न भारतीय कपड़ा उद्योगों के केन्द्रों तथा भारत से बाहर की माँग को पूरा करना था।

सही अर्थों में पहली कपड़ा मिल ब्यावर में कृष्णा कॉटन मिल थी, जहाँ धागा एवं कपड़े का उत्पादन होता था। यह कम्पनी 1889 में संयुक्त हिस्सा कम्पनी (Joint stock company)के रूप में चालू की गयी थी तथा इसमें 7 लाख रुपये कि पूंजी थी एवं मिल को 1891 में चालू किया गया था। 1897 में इसमें 542 श्रमिक, 250 करघे तथा 12,312 तकुऐं कार्यरत थे । वार्षिक उत्पादन 13,81,000 एलबीएस, धागा तथा 5,18,252 एलबीएस, कपड़ा तथा जिसका मूल्य 6,58,323 रुपये था। 1902 में तकुओं की संख्या पहले के बराबर ही थी किन्तु करघों की संख्या 252 हो गयी थी तथा सूत का उत्पादन 13,91,290 एलबीएस तथा कपड़ा 7,78,292 एलबीएस था जिसका मूल्य 7,31,803 रुपये था। इसमें कोरा कपड़ा बनता था जिसका उपयोग धोती, कमीज, चादर एवं खादी के रूप में होता था । इंगलैंड से आयातित ताना एवं बाने से अल्पमात्रा में अच्छा कपड़ा भी बनता था। अच्छी कोटि के धागे एवं कपड़े का स्थानीय उपयोग नहीं था बल्कि इसका अधिकांश भाग आगरा एवं कानपुर में निर्यात होता था ।

अजमेर मेरवाड़ा मैं केकड़ी, नसीराबाद, विजयनगर एवं ब्यावर में अनेक कपास, ओटने की मिलें थी, जिनमें मेवाड़ (उदयपुर), टोंक, किशनगढ़, कोटा एवं बूंदी से कपास आती थी । ब्यावर की कपड़ा एवं कपास ओटने की मिलों की आपूर्ति मुख्य रूप से मेवाड़ से ही होती थी।

ब्रिटिश प्रदेश होने के कारण यहाँ उद्योगों को विशेष प्रोत्साहन दिया गया था। वैसे ये मिलें इस स्वरूप की थी जिनसे अंग्रेजों के आर्थिक हितों की पूर्ति होती थी।

18.2.2 कुटीर कपड़ा उद्योग का पुनर्जीवन

प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान इंगलैड से भारत में आयात होने वाले कपड़े की मात्रा में गिरावट आयी थी। वैसे इस समय तक भारत में भी अनेक मिलें लग चुकी थी तथा बम्बई एवं अहमदाबाद आधुनिक कपड़ा उद्योग के केन्द्र थे । इन मिलों की तकनीकी पूर्णत : इंगलैंड से आयातित थी । युद्ध के दौरान जब इंगलैड एवं भारत के मध्य अनेक आवागमन एवं परिवहन सम्बन्धी अवरोध उत्पन्न हो गये थे तो इन मिलों की मशीनों के कल पुर्जे भी सहजता से उपलब्ध नहीं हो सकते थे। इसलिए मिलों के उत्पादन में गिरावट आयी। युद्ध के समय, मिलों से सैनिकों के कपड़े की पूर्ति के कारण भी आम जनता के उपभोग में आने वाले कपड़े का अभाव उत्पन्न हो गया था । कपड़े के मूल्य में इस समय भारी वृद्धि हुई थी । इस सब का लाभ कुटीर कपड़ा उद्योगों, अथवा हाथ करघे को मिला । स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उत्पादन में वृद्धि हुई ।

1920 के बाद भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की तीव्रता तथा विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार एवं स्वदेशी को अपनाने के नारे के प्रभाव में भी कुटीर उद्योगों को नई शक्ति प्राप्त हुई थी। राजस्थान में अनेक स्थानों पर खादी संघों की स्थापना होने लगी थी तथा खादी प्रचार जोर पकड़ने लगा था । इन सभी स्थितियों का लाभ स्थानीय कुटीर कपड़ा उद्योग को मिला । मोटे कपड़ों में चादरें, खेस, दरियाँ आदि का उत्पादन स्थानीय आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर नये रूप में आरम्भ हुआ था।

आजादी के बाद पुन: कपड़ा उद्योग पर भारी प्रहार हुआ तथा सही अर्थो में इसका पतन हुआ। खादी के नाम पर कारीगरों एवं उपभोक्ताओं का भारी शोषण तथा सरकारी अनुदान का दुरुपयोग भरपूर रूप में होता है।

18.3 ऊनी वस्त्र उद्योग

सूती कपड़ा उद्योग के बाद ऊनी वस्त्र उद्योग का महत्वपूर्ण स्थान था। राजस्थान में बीकानेर, जोधपुर एवं शेखावाटी में अच्छी कोटि की ऊन प्राप्त होती थी। वैसे राजस्थान के सभी क्षेत्रों में भेड पालन होता था। ऊन की भरपूर प्राप्ति के कारण यहाँ ऊनी वस्त्रों तथा ऊन आधारित उन वस्तुओं का उत्पादन होता था । विशेष रूप से पश्चिमी राजस्थान में ऊन से सम्बन्धित कुशल कारीगर भारी संख्या में थे । कर्नल टॉड ने जोधपुर, बीकानेर एवं जैसलमेर राज्यों में ऊनी वस्त्र उत्पादनों का विशेष उल्लेख किया है। इन स्थानों पर उत्पादित ऊनी वस्त्रों में कम्बल, लोई, दुपट्टे, साफा, घाघरा, शॉल आदि थे। बीकानेर के संदर्भ में लिखा है कि "रेगिस्तान में पाली जाने वाली भेड़ों की ऊन इस क्षेत्र (बीकानेर) में उद्योग एवं व्यापार की महत्वपूर्ण वस्तु है । इसका उपयोग सभी प्रकार के स्त्री एवं पुरुषों के वस्त्रों में होता है एवं सभी गरीब व अमीरों द्वारा पहने जाते है। इनका उत्पादन विभिन्न किस्मों की बुनाई द्वारा होता था, लोई या कम्बल का मूल्य तीन रुपये जोड़े से तीस रुपये जोड़े तक है । इसके साफे भी बनते है

जिनकी लम्बाई 40 से 61 फिट तक होती है, इसकी बुनाई इतनी सूक्ष्म होती है, कि ये सिर पर भारी नहीं होते।

ऊन पर आधारित उद्योगों पर राज्यों की ओर से विशेष ध्यान वहीं दिया गया था। इसलिए राजस्थान के निर्मित ऊनी वस्त्रों का निर्माण संभव नहीं था। फिर भी पश्चमी उत्तर प्रदेश एवं हरियाणा में इनका अल्प मात्रा में निर्यात होता था क्योंकि राजस्थान के ऊन उत्पाद काश्मीर एवं पंजाब की तुलना में सस्ते थे । जिन राज्यों में ऊन अधिक होती थी वहाँ से कच्चे माल का निर्यात अधिक होता था, जिससे राज्यों को सीमा शुल्क एवं चुंगी के नाम पर, काफी आय होती थी। राज्यों को उद्योग लगने से यह भय था कि कहीं उनकी कच्चे माल की निकासी से होने वाली आय समाप्त नहीं हो जाये ।राजस्थान से मेरठ में ऊन का भारी निर्यात होता था, जहां ऊन पर आधारित कुटीर उद्योग अच्छी स्थिति में थे। यहां से ऊन का निर्यात अहमदाबाद, एवं बम्बई में भी होता था। राजस्थान के ऊन उत्पादो में टोंक – मालपुर एवं बीकानेर के गलीचे अति लोकप्रिय थे जिनका–निर्यात होता था। ऊन निर्मित वस्त्रों एवं अन्य वस्तुओं की प्रतियोगिता विदेशी आयातित माल से लगभग की थी तथा आधुनिक काल में पंजाब में ऊन उद्योग का भारी विकास हुआ था ।किन्तु राजस्थान के राज्यों की प्रतिगामी नीतियों के कारण ऊन उद्योग विकसित नहीं हो सका था। राजस्थान से कच्चे माल का निर्यात अधिक होता था जिसमें पहला स्थान बीकानेर राज्य का था।

18.4 नमक उद्योग

राजस्थान में नमक उद्योग के विकास की भारी संभावनायें सदैव से रही है । यहाँ नमक के भारी भण्डार थे जिनका उल्लेख हम खनिजों के संदर्भ में कर चुके है। राजस्थान के नमक उद्योग पर पहला प्रहार तो 1765 में भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना के बाद हुआ था । अंग्रेजी भारत के क्षेत्रों में राजस्थान का नमक काकी लोकप्रिय था, जिसका पता इस बात से चलता है कि बनारस में राजस्थान का नमक काफी प्रसिद्ध था, किन्तु अंग्रेजों की कर नीति के कारण वह महंगा पड़ने लगा था तथा वहाँ बंगाल का नमक अधिक बिकने लगा था। मध्यकाल में राजस्थान का अधिकांश नमक दोआब के प्रदेशों में निर्यात होता आया था, किन्तु अंग्रेजी राज्य की स्थापना के बाद राजस्थान से संयुक्त प्रांत आगरा एवं अवध में जाने वाले नमक पर भारी कर लगा दिया गया था जिससे राजस्थान का नमक इन प्रदेशों में महंगा हो गया था ।

1818 में राजस्थान में अंग्रेजी सर्वोच्चता की स्थापना के बाद अंग्रेजों की गिद्ध दृष्टि यहाँ के नमक पर पड़ी थी। ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी नमक उद्योग पर एकाधिपत्य स्थापित करना चाहती थी, जिसके लिए ब्रिटिश भारत के संरक्षित नमक क्षेत्रों का विस्तार किया था । इन संरक्षित क्षेत्रों के आंतरिक नमक उत्पादन पर कम्पनी ने एकाधिपत्य स्थापित करके नमक उत्पादन को सीमित तथा नियंत्रित कर दिया था । तथा इन क्षेत्रों में बाहर से आने वाले नमक पर प्रतिबंध लगा दिया था। इस प्रतिबन्ध की सुरक्षा हेतु हजारों अधिकारी एवं रक्षक (गार्ड या सिपाही) नियुक्त किये गये थे। इस नियंत्रण से राजस्थान के नमक का राजस्थान के बाहर का बाजार सीमित हो गया था।

राजनीतिक स्थिरता स्थापित होने के बाद 1869 से अंग्रेजों ने राजस्थान के नमक पर एकाधिपत्य स्थापित करने की योजना बनाई थी। राजस्थान में नमक के न केवल भारी भण्डार थे बल्कि इसका गुणात्मक पक्ष भी काफी सुदृढ़ था। अंग्रेजी सत्ता की स्थापना के पूर्व नमक पर अधिक कर नही था। कर्नल टॉड ने जोधपुर राज्य के नमक उद्योग के ऊपर लिखा है जो 1820–22 के आसपास का वृतांत है। इसके अनुसार जोधपुर राज्य को नमक श्रोतों से होने वाली आय इस प्रकार थी :

पंचभद्रा	:	रु. 2,00,000/–
फलौदी	:	रु. 1,00,000/–
डीडवाना	:	रु. 1,15,000/–
सांभर	:	रु. 2,00,000/–
नावा	:	रु. 1,00,000/–
	कुल	**रु. 7,15,000/–**

उपरोक्त आंकड़ों से स्पष्ट है कि राजस्थान के नमक स्रोत अंग्रेजों की आर्थिक दृष्टि से अत्यधिक आकर्षक थे। इस नमक के संदर्भ में आगे लिखा है कि यह नमक हिन्दुस्तान में सिंधु से गंगा तक के प्रत्येक क्षेत्र में निर्यात होता है एवं सभी जगह सांभर के नमक के नाम से जाना जाता है तथा बिकता है।

अपने उद्देश्यों की पूर्ति हेतु अंग्रेजों ने 1869–1879 के मध्य अनेक नमक समझौतों के द्वारा राजस्थान के नमक पर एकाधिपत्य स्थापित कर लिया था। इस दिशा में पहला समझौता 1869–70 में सांभर झील के मामले में जोधपुर एवं जयपुर राज्यों के साथ किया गया था। सांभर झील राजस्थान का सबसे बड़ा नमक का स्रोत था। इसका नमक क्षेत्रफल 60 से 70 वर्गमील था। 1870 में अंग्रेजी नियंत्रण में आने के समय सांभर झील से नमक का वार्षिक उत्पादन 40,00,000 टन (चालीस लाख टन) था जो अंग्रेजी नियंत्रण में आने के बाद मात्र 1,35,000 टन रह गया था। इस परिवर्तन के भयानक परिणामों को आसानी से समझा जा सकता है। नमक संधियों का एक लम्बा दौर 1870 के बाद आरम्भ हुआ था जिनमें 1876 में भरतपुर के साथ संधि की गयी थी। भरतपुर राज्य में संधि के पूर्व खारे पानी के कुओं से नमक तैयार किया जाता था, जिसमें 16 लाख मन अच्छा दानेदार नमक निकलता था। 1876 में भरतपुर के नमक उत्पादन को पूर्णत: प्रतिबंधित कर दिया गया था। 1877 में अलवर राज्य के साथ संधि की गयी थी जिसके द्वारा स्थानीय नमक उत्पादन बंद हो गया था तथा बदले में अंग्रेजी सरकार ने अलवर राज्य को एक लाख पच्चीस हजार रुपये देना स्वीकार किया था। 1879 में जोधपुर राज्य के साथ दूसरे नमक समझौते द्वारा डीडवाना, पंचभद्रा, फलौदी, एवं लूनी नदी के नमक उत्पादन क्षेत्र अंग्रेजी नियंत्रण में चले गये तथा इसी वर्ष जयपुर राज्य के साथ समझौते के द्वारा कछोर रिवासा की झील पर भी अंग्रेजी नियंत्रण स्थापित हो गया था। 1879 से 1882 के मध्य राजस्थान के अन्य राज्यों के साथ भी समझौते किये गए थे, जिनके अंतर्गत स्थानीय नमक उत्पादन को बंद करवा दिया गया था तथा अंग्रेजों द्वारा उत्पादित नमक को अपने राज्य में संरक्षण प्रदान किया गया था।

18.4.1 नमक पर अंग्रेजी नियंत्रण के परिणाम

अंग्रेजी नियंत्रण का पहला परिणाम नमक उत्पादन में मात्रात्मक गिरावट था। अंग्रेजों ने अपना लाभ सुरक्षित करने के उद्देश्य से नमक उत्पादन को कम कर दिया था। राजस्थान के नमक उत्पादन का नियंत्रण उत्तरी भारत नमक राजस्व विभाग के अंतर्गत रखा गया था। 1903 में राजस्थान में नमक का कुल उत्पादन 1,64,000 टन वार्षिक रह गया था जबकि केवल राजस्थान में ही नमक की खपत 1,70,000 टन वार्षिक थी । इसका अर्थ यह हुआ कि राजस्थान में 6000 टन नमक प्रति वर्ष आयात होने लगा था। 1870 में नमक समझौते के पूर्व केवल सांभर झील से ही 40 लाख टन निकलता था, इसमें आसानी से नमक उत्पादन में गिरावट की भयंकरता को समझा जा सकता है ।

कम उत्पादन के दोहरे परिणाम थे पहला नमक के मूल्य में वृद्धि तथा दूसरा नमक उद्योग से जुड़े लोगों की बेरोजगारी। कम नमक उत्पादन के कारण न केवल राजस्थान में बल्कि सम्पूर्ण भारत में नमक का आयात भी होता था, जबकि भारत में नमक के अथाह भण्डार थे। एक सरकारी विवरण के अनुसार सम्पूर्ण भारत में 1903–04 में नमक का उत्पादन 7,71,000 से 12, 12,000 टन था तथा आयात किये जाने वाले नमक की मात्रा 3,31,000 से 5,14,000 टन तक थी । इसी में आगे लिखा है कि भारत में उपभोग किये जाने वाले नमक का 65 प्रतिशत भाग भारत में ही पैदा होता था, जबकि 35 प्रतिशत नमक विदेशों से आयात होता था। इस प्रकार नमक के आयात का परिणाम था भारत से धन निष्कासन नमक की मूल्य वृद्धि ने इसे और अधिक तीव्र कर दिया था। केवल राजस्थान में ही इतना नमक उपलब्ध था, कि सम्पूर्ण देश की आवश्यकता की पूर्ति हो सकती थी।

नमक पर अंग्रेजी नियंत्रण ने राजस्थान की अर्थ–व्यवस्था को चकनाचूर कर दिया था । इसका सबसे घातक प्रभाव बंजारों पर पड़ा था । राजस्थान के बंजारे नमक को भारत के विभिन्न भागों में पहुँचाते थे तथा लौटते समय राजस्थान में अनेक उपभोग सामग्री लाने थे। 1869–70 की राजस्थान की अकाल राहत रिपोर्ट में लिखा था कि राजस्थान से कुल 28 लाख मन नमक बाहर जाता था, जिसमें 16 लाख मन सांभर से तथा 12 लाख मन पंचभद्रा से था । बंजारे जो कि इस नमक के मुख्य वाहक थे वर्ष में तीन खेप करते थे । बंजारों को इस परिवहन में लगभग 5 लाख बैलों की आवश्यकता होती थी, लेकिन बाद में ऊँटों का उपयोग भी होने लगा था, इस समय 50 हजार ऊँट एवं 3 लाख 50,000 बैल इस कार्य में संलग्न थे । साधारण मौसम में बैलों एवं ऊँटों पर लौटते समय बंजारे भारत के अन्य भागों से राजस्थान में चीनी, पीतल के बर्तन, मेवा, सूखेफल, किराने का माल, मसाले, तिलहन आदि लाते थे, किन्तु जब कभी अनाज की आवश्यकता होती थी तो बंजारे ऊँट एवं बैलों पर अनाज लादकर लाते थे। राजस्थान में आने वाले इस अनाज की मात्रा 25 लाख मन थी। साँभर एवं पंचभद्रा की नमक झील 1869–70 में अंग्रेजी नियंत्रण में आ गयी थी । इसका तात्कालिक प्रभाव राजस्थान के अकाल राहत कार्यो पर पड़ा था इस संदर्भ में उपरोक्त अकाल रिपोर्ट में लिखा था कि अगस्त 1969 तक बंजारों के माध्यम से अनाज पहुँचना आरम्भ नही हुआ था, जिसके कारण राजस्थान में अकाल के समय अनाज का भारी अभाव उत्पन्न हो गया था। कुल मिलाकर यह

कहा जा सकता है कि नमक पर अंग्रेजी एकाधिकार ने न केवल हजारों बंजारों को ही बेरोजगार किया बल्कि राजस्थान की अनेक आर्थिक एवं व्यापारिक क्रियाओं को नष्ट कर दिया था। नमक उत्पादन में हुई गिरावट से नमक उत्पादन में श्रमिक के रूप में कार्य करने वाले लाखों लोग बेरोजगार हो गये थे। नमक के मूल्य में बार–बार वृद्धि लोगों के आर्थिक शोषण का साधन बनती थी। नमक का उपभोग गरीब आदमी नहीं कर सकता था। इससे कुपोषण का बढ़ना एक स्वाभाविक बात थी। अंग्रेजी शासन के समय पश्चिमी उत्तरप्रदेश में प्रचलित एक मजाक यहाँ अत्यधिक प्रासंगिक है। इसके अनुसार एक किसान ने खेत पर जाते समय अपनी पत्नी को खेत पर दोपहर का खाना लाने के लिए कहा था, जिसमें रोटियों के साथ नमक एवं प्याज लाने के लिए कहा था तो तुरंत पत्नी बोली एक साथ दो सब्जी फिर तो घर चल लिया, अंग्रेजी शासन के समय के अनेक उपन्यासों में आदिवासियों एवं किसानों को नमक के लिए तरसते हुए वर्णित किया गया है हो सकता है इनमें अतिश्योक्ति हो किन्तु सत्यांश अवश्य है।

नमक व्यवसाय से जुड़े राजस्थान के व्यापारियों पर इसके दुष्प्रभाव स्वाभाविक थे। कृषि पर भी इसके कुछ दुष्प्रभाव देखने को मिलते है। नमक पर अंग्रेजी एकाधिपत्य का सिंचाई के साधनों पर विपरीत प्रभाव पड़ा था। इस उद्योग में उत्पादन को कोई हानि न हो इस उद्देश्य से सांभर झील के समीप किशनगढ़ राज्य के रूपनगर जिले के क्षेत्रों में किशनगढ़ राज्य को अंग्रेजों ने सन 1900 में बांध न बांधने तथा कुऐं नहीं खोदने के लिए बाध्य किया था।

राजस्थान के अनेक कुटीर उद्योगों को भी इसने प्रभावित किया था। नमक के सहायक उत्पादों में शोरा, बारुद गंधक, खारी आदि थे जिनके उत्पादन में लगे लोग रोजी–रोटी के लिए मुहताज हो गये थे। इन उत्पादों का उपयोग सूती वस्त्रों के उत्पादन, रंगाई, चमड़ा शोधन एवं चमड़ा रंगाई, आतिशबाजी आदि में होता था। शोरे का उपयोग देशी दवाईयों के रूप में भी होता था। कुल मिलाकर कुटीर उद्योग बुरी तरह प्रभावित हुए थे। स्थानीय खारी नमक का उपयोग पशुओं की विभिन्न दवाईयों के रूप में भी होता था। अनेक बार पशुओं की खुराक एवं पाचन शक्ति बढ़ाने के लिए नमक खिलाया जाता था जिसके अभाव ने पशुओं के स्वास्थ्य को भी प्रभावित किया था।

18.5 अन्य उद्योग

अब तक के विवरण में हमने पाया कि राजस्थान में सूती वस्त्र, ऊनी वस्त्र उद्योगों तथा नमक उद्योग में विकास की भारी संभावनायें मौजूद थी। किन्तु नई व्यवस्था के अंतर्गत इनको प्रोत्साहन के स्थान पर निराशाजनक स्थितियों का सामना करना पड़ा था। इनके अतिरिक्त अन्य उद्योगों की स्थिति भी कोई अच्छी नहीं थी। परम्परागत कलात्मक एवं हथियार उत्पादनों को सरकारी संरक्षण न मिलने के कारण वे पतन के गर्त में गिरते जा रहे थे। औद्योगिक क्रियाओं के लिए अपेक्षित पूंजी का अभाव पैदा हो गया था। फिर भी राजस्थान के परम्परागत उद्योगों का पूर्ण लोप कभी नहीं हुआ तथा धीमी गति से इनमें उत्पादन कार्य होता रहा था । कुछ परम्परागत साहसी कारीगर एवं शिल्पी अपने हुनर से अपनी रोजी–रोटी कमाते हुए कला को जीवित रखे हुए थे।

कलात्मक एवं साज–सज्जा की वस्तुओं के उत्पादन में राजस्थान को मध्यकाल से ही काफी ऊँचा स्थान प्राप्त था। मुगलकालीन राजस्थान की शांति ने कलाओं के विकास को

अनुकूल स्थितियाँ उपलब्ध कराई थी। मुगल दरबार के साथ राजस्थान के शासकों के जुड़े होने के कारण मुगल दरबार की शान–शौकत का प्रभाव राजस्थान के दरबारों पर पड़ना स्वाभाविक बात थी । यहाँ एक बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि औरंगजेब के समय जब मुगल दरबार में कलाकार एवं शिल्पियों को संरक्षण मिलना कम हो गया था तो भारी संख्या में ये लोग राजस्थान में आकर राज्यों के संरक्षण में कार्य करने लगे थे। औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगल साम्राज्य पतन की ओर जाने लगा था। इस समय भी राजस्थान में करीगरों एवं शिल्पकारों का आगमन भारी संख्या में हुआ था। देखा जाए तो राजस्थान शिल्पकारों का मुख्य केंद्र बन गया था। राजस्थान के राजा एवं जागीरदारों ने इनको समयानुकूल संरक्षण देकर कलाओं को प्रोत्साहन प्रदान किया था।

राजा एवं जागीरदारों द्वारा राजधानी नगरों एवं ठिकाना कस्बों को सजाने एवं अलंकृत करने पर विशेष ध्यान दिया गया था। अत: स्वाभाविक तौर पर अनेक शिल्पों एवं कलाओं को संरक्षण दिया गया था। अठारहवीं सदीं में राजस्थान में कलाओं का विकास भरपूर एवं स्वछंद रूप में हुआ था। 1727 में सवाई जयसिंह द्वारा जयपुर नगर के निर्माण में इन कलाओं एवं शिल्पों का भारी योगदान रहा था। जयपुर को एक नियोजित ढंग से बसाया गया था। कारीगरों एवं शिल्पकारों को जयपुर में उचित तरीकें से बसाया गया था। कमोबेश राजस्थान के प्रत्येक राज्य ने कलात्मक शिल्पों के विकास पर ध्यान दिया था। राजा एवं सामन्त अपने नगरों, कस्बों, महलों एवं किलों कों अलंकृत करने तथा कलाकारो को संरक्षण देना अपने कुल की शान समझते थे । उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक राजस्थान के कलात्मक कार्य एवं, हस्तशिल्प अपने विकास की पराकाष्ठा पर थे। लंबी परम्पराओं के कारण कलाऐं अभी तक जीवित रही। इन परम्पराओं का ही परिणाम था कि आधुनिक काल में ब्रिटिश उपनिवेशवाद के विपरीत आर्थिक दबावों के उपरांत भी राजस्थान के कलात्मक एवं शिल्प कार्य जीवित रहे। यदि इनको बढ़ने का पूरा अवसर मिलता तो इनसे राजस्थान में औद्योगिक प्रगति विज्ञान एवं तकनीकी के विकास की अनेक संभावनायें थी । किन्तु अंग्रेजी सर्वोच्चता की स्थापना ने इन सब संभावनाओं को नष्ट कर दिया था। आजादी के बाद लगने वाले उद्योगों में भी इनको कोई विशेष स्थान नहीं दिया गया था। आँसू पूछने के लिए कुटीर उद्योगों के विकास की बात अवश्य की गयी थी। ब्रिटिश उपनिवेशवाद की विनाशकारी भूमिका राजस्थान के परम्परागत हस्त शिल्पों को नष्ट तो नहीं कर पायी थी, किन्तु भविष्य में इनके विकास का मार्ग अवरुद्ध अवश्य कर दिया था। विदेशी वस्तुओं के आयात ने हस्तशिल्प द्वारा निर्मित वस्तुओं को महंगा कर कठोर प्रहार किया था, जिसका प्रभाव हस्त शिल्पों पर पड़ना भी एक स्वाभाविक बात थी। राजस्थान में कलाओं के संरक्षक राजा एवं सामंतों ने साम्राज्यवादी आर्थिक दबावों के कारण इनको संरक्षण देना कम कर दिया था। पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव में राजा, सामंतों एवं धनी वर्गों के शौकों तथा आदतों में भी अंतर आया था । हस्तशिल्पों को कुटीर उद्योगों की श्रेणी में रखना उपयुक्त है। अत: यहाँ आधुनिक काल (1818–1949) के हस्त शिल्पों का विवरण उचित है, जो निम्नानुसार है।

18.5.1 मीनाकारी

राजस्थान के प्रत्येक नगर में विभिन्न कलात्मक कार्य होते थे जिनमें जेवरातों की मीनाकारी का कार्य अधिक कुशलता से किया जाता था। राजस्थान की नकल पर मीनाकारी का कार्य राजस्थान के बाहर पडोसी स्थानों पर भी होता था। सम्पूर्ण भारत में मीनाकारी के कार्यों में जयपुर का पहला स्थान था। सोने–चाँदी के गहनों के अतिरिक्त तांबे–पीतल के साज–सज्जा के बर्तनों पर भी मीनाकारी का कार्य होता था। इसकी प्रशंसा में राजपूताना गजेटियर में उल्लेख किया गया है कि जयपुर के मीनाकार सौंदर्यपूर्ण वस्तुऐं बनाते है जिनके बनाने की प्रक्रिया अन्य कहीं अनजानी एवं गुप्त है। धातु पर विभिन्न खनिज रसायन रंगों अथवा खनिज धातु रंगों का कार्य बड़ी कुशलता से होता था। जयपुर में मीनाकारी का कार्य अधिकांशत सोने पर होता था तथा इतनी बारीकी से काम किया जाता था कि विभिन्न रंगों की मीनाकारी के कारण धातु दिखाई नहीं देती, थी तथा धातु की सतह मीनायुक्त दिखाई देती थी। बीसवीं सदी के आरम्भ से जयपुर का मीनाकारी कार्य अवनति की ओर था क्योंकि पहले यह कार्य तलवार की मूठ, ढाल, मुकुट आदि पर भी होता था जो अब बंद हो चुका था। जयपुर के कारीगर रोजगार की तलाश में भारी संख्या में दिल्ली में निष्क्रमण कर गए थे। जैसा कि हमने पहले लिखा है कि मीनाकारी का कार्य राजस्थान के प्रत्येक नगर में कमोबेश होता था, किन्तु प्रसिद्धि की दृष्टि से जयपुर के अतिरिक्त प्रतापगढ़ का कांच के समान पर सोने–चाँदी की मीनाकारी का कार्य सम्पूर्ण देश में लोकप्रिय था। जयपुर न केवल मीनाकारी के लिए जाना जाता था बल्कि विभिन्न प्रकार के गहनों एवं जेवरातों के लिए भी समान रूप से लोकप्रिय था। अलवर एवं अन्य राजधानी नगरों के स्वर्णकार एवं रजतकार राज्यों के संरक्षण में उच्चतम कुशलता प्राप्त करते थे। इनके द्वारा निर्मित सोने–चाँदी के जेवर अनेक मौलिकता लिये हुए थे। राजपूताना गजेटियर में इनकी पुन : प्रशंसा करते हुए लिखा है कि राजपूताना की ये कलाऐं अति संवेदनशील एवं मौलिक है किन्तु यूरोप की नकल पर आधारित कलकत्ता व बम्बई से आयातित नमूनों के आगमन से इनके अभिलोपन या विनाश का खतरा सन्निकट है।

बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में जयपुर का मीनाकारी कार्य गिरावट की ओर था। इसके कारणों में शिल्पियों को राज्य का संरक्षण नहीं मिलना, नये यूरोपियन नमूनों का आयात, जनता की गरीबी आदि थे। आजादी के एक दशक बाद पुन इन पर ध्यान दिया गया तथा मीनाकारी विकास के नये अवसर प्रदान किये।

18.5.2 पीतल एवं तांबे का काम

भारतीय शिल्पकार सदियों से पीतल एवं तांबे की विभिन्न कलात्मक वस्तुऐं बनाने में कुशल थे । इस संदर्भ में चर्चा करते हुए इम्पीरियल गजेटियर की जिल्द–III के पृ. 240–41 में लिखा है कि यही के कारीगर पीतल एवं तांबे के कार्यो में कुशल थे, किन्तु इनके औजार यूरोप की तुलना में काफी पिछड़े हुए थे। पीतल एवं तांबे के कार्यों में सम्पूर्ण भारत की तुलना में राजस्थान का पहला स्थान था। दैनिक उपयोग हेतु तांबे एवं पीतल के बर्तन राजस्थान के सभी स्थानों पर बनते थे। साधारण घरेलू बर्तनों को विशेष अलकृत तो नहीं किया जाता था, किन्तु इनके आकार ही कलात्मक होते थे। पूजा एवं अन्य अनेक सामाजिक अवसरों पर काम आने

वाले बर्तनों जैसे कलश, लोटा, थाल, टोंटी (रामझारा या गंगासागर) आदि को विभिन्न कढाईयों से अलंकृत किया जाता था। राजस्थान में अतिलोकप्रिय तांबे एवं पीतल के कलात्मक कार्य जयपुर, बीकानेर एवं धौलपुर के थे।

बर्तनों के कलात्मक कार्य धातु पर नक्काशी के अच्छे नमूने थे। यह कार्य बर्तनों को गर्म करके किया जाता था। बर्तनों पर की गयी नक्काशी को अनेक बार विभिन्न खनिज रंगों से सजाया भी जाता था। बर्तनों पर नक्काशी के साथ मीनाकारी का कार्य भी होता था। तांबे–पीतल के कलात्मक कार्यो में जयपुर का कार्य सर्वाधिक प्रसिद्ध था। यहाँ के कलात्मक उत्पादों में मेज, चाय की मेज, थाल एवं तस्तरियाँ, गंगाजलियाँ तथा लघु रूप में बैल, ऊँट, बैलगाड़ी, हिरण, हाथी एवं ग्रामीण जीवन से सम्बन्धित दृश्य आदि थे।

18.5.3 हाथी दाँत एवं लाख के कार्य

राजस्थान में हाथी दाँत से चूड़ियाँ, मालाऐं, चवंर आदि बनाने का कार्य भी लम्बे समय से लोकप्रिय था। राजस्थान में हाथीदाँत के काम हेतु कच्चा काल उपलब्ध नहीं था। मध्यकाल में राजस्थान में हाथीदाँत मुख्यत : अफ्रीका से आता था। हाथीदाँत के लिए न केवल राजस्थान बल्कि सम्पूर्ण भारत अफ्रीका पर निर्भर करता था। अफ्रीका के हाथीदाँत की विशेषता हमेशा सफेद बना रहना तथा आभायुक्त होना था, जो ,कभी पीला नहीं पड़ता था। हाथीदाँत को तराशने का कार्य अलवर, बीकानेर एवं जोधपुर में (विशेषकर पाली) सर्वश्रेष्ठ होता था। हाथीदाँत से चूड़ियाँ बनाने का कार्य अलवर, बीकानेर, जोधपुर, जयपुर एवं उदयपुर में होता था। अन्य हाथीदांत की कलात्मक वस्तुओं में शतरंज के मौहरे, गोल श्रृंगार बक्से, मेज सजाने की चीजें लघु रूप में हाथी, ऊँट, घोड़े, गाडियाँ आदि थे।

राजस्थान के हाथीदाँत के विशेष उत्पादों में कोटा राज्य में बनने वाले संदूक थे । कोटा राज्य के इटावा नामक स्थान पर बक्सों एवं श्रृंगार सामग्री के डिब्बों का उत्पादन होता था। हाथीदाँत के साथ–साथ चंदन की लकड़ी का कार्य भी होता था। भरतपुर में पंखे एवं चंवर हाथीदाँत एवं चंदन की लकड़ी से बनाये जाते थे जिनकी प्रसिद्धि सम्पूर्ण उत्तरी भारत में थी। हाथीदाँत की चटाइयाँ बनाने का कार्य भी भरतपुर में होता था जो सम्पूर्ण भारत में पहले स्थान पर था। हाथीदाँत की अन्य कलात्मक वस्तुओं में कटार के हत्थे, कागज काटने के उस्तरे तथा कंघियाँ आदि थी।

लाख द्वारा निर्मित वस्तुओं में खिलौने, चौकियाँ, चूड़ियाँ आदि प्रमुख थी, जिसका कार्य राजस्थान के सभी राज्यों में होता था। बीकानेर में चमड़ा निर्मित तेल की कुप्पियों को रंगने के लिए लाख का उपयोग होता था तथा शाहपुरा में ढालों एवं मेजों के सौदर्यकरण में लाख का उपयोग होता था।

18.5.4 पत्थर एवं लकड़ी के कलात्मक कार्य

राजस्थान में विभिन्न प्रकार के पत्थर भारी मात्रा में उपलब्ध थे, जिन पर आधारित कलाओं का विकास एक स्वाभाविक बात थी। पत्थरों को तराशने, नक्काशी करने, मूर्ति बनाने एवं अनेक कलात्मक नमूने तैयार करने तथा भवन–निर्माण जैसी अनेक कलाऐं राजस्थान में

विकसित अवस्था में थी। ओसियाँ, माउन्ट आबू, दिलवाड़ा, रणकपुर, बाडोली के मंदिर तथा जयपुर, आम्बेर, चित्तौड़, जोधपुर, बीकानेर आदि स्थानों के किले एवं महल राजस्थान की विकसित प्रस्तर कला के साक्षी है। ये सभी स्मारक मध्यकाल के है। दुर्भाग्यवश आधुनिक काल में राजस्थान की यह कला पतनोमुख थी। यदि हम आधुनिक काल के विशाल भवनों की गणना करने लगें तो पायेंगे कि जोधपुर के उम्मेद भवन तथा जयपुर के एलबर्ट हॉल के अतिरिक्त तीसरा कोई उल्लेखनीय भवन राजस्थान– में नहीं बना था। स्वयं कर्नल टॉड जो राजस्थान में अंग्रेजी सर्वोच्चता के लाभ गिनाने से नहीं थकते थे ने इस बात को स्वीकार करते हुए लिखा था कि इन क्षेत्रों में महल–भवनों के निर्माण का युग समाप्त हो गया है, एवं भावी पीढ़ियां इनके बारे में कोतुहल से पूछेगी।

यह एक निर्विवाद सत्य है कि अंग्रेजी उपनिवेशवाद की विनाशकारी भूमिका का शिकार राजस्थान की पत्थर कला अधिक हुई थी। इसके उपरांत भी पत्थर कला के कुशल कारीगर लघु पैमाने पर अपने कौशल से कला साधना में लगे रहे थे। बलुआ पत्थर एवं संगमरमर से सम्बन्धित नक्काशी के कार्यों में डीग, उदयपुर, बीकानेर, मकराना (जोधपुर), जयपुर,अलवर, भरतपुर, धौलपुर, जैसलमेर एवं अजमेर के शिल्पी निरंतर कार्यरत थे। इन शिल्पकारों के मुख्य उत्पादों में पत्थर की मूर्तियाँ थी जिनकी आवश्यकता नये मंदिरों के निर्माण में अधिक थी। पत्थरों से भी अनेक स्थानों पर दैनिक उपभोग की वस्तुऐं जैसे सिल–लोटा, हमामदस्ता, ओखली, कूंडे, प्याली, आटा पीसने की चक्कियाँ, चूना पीसने की लोढी, पानी की टंकियाँ एवं हौदियाँ, नाल, मुकदर, कोल्हू आदि बनाने में हजारों कारीगर कार्यरत थे। बड़े खान क्षेत्रों पर कारीगर नक्काशी द्वारा इमारती सामग्रियाँ बनाते थे जिनमें जालियाँ, खिड़की, दरवाजे, रोशनदान, खम्भे, महराव आदि, प्रमुख थे। जोधपुर की प्रशासनिक रिपोर्ट 1905–07 में उल्लेख है कि मकराना में हजारों श्रमिक कार्यरत थे क्योंकि स्थानीय उपयोग हेतु यहाँ अनेक वस्तुओं का उत्पादन होता था तथा संगमरमर बाहर जाता था।

मूर्ति तथा प्रतिमा बनाने का कार्य मुख्य रूप से जयपुर एवं अलवर में लोकप्रिय था। मणियों या जवाहरात के कार्य में जयपुर के कारीगर अति कुशल थे। लघु कलात्मक वस्तुओं के उत्पादन का कार्य बलुआ पत्थर से जोधपुर, भरतपुर एवं करौली में तथा संगमरमर से जयपुर एवं जोधपुर में होता था।

काष्ठ कला अथवा लकड़ी के कलात्मक कार्यों का विकास भी मध्यकालीन राजस्थान में हुआ था। लकड़ी पर नक्काशी करने की कला भारत में प्राचीन काल से लोकप्रिय थी। राजस्थान में इसकी प्राचीनता का आभास अमीर खुसरों द्वारा इसके उल्लेख एवं प्रशंसा से होता है। जब 1299 में अलाउद्दीन खिलजी ने रणथम्भोर को अपने अधिकार में लिया था तो इसके समीपी स्थानों पर काष्ठकला विकसित अवस्था में थी। मध्यकाल में सवाई माधोपुर (जयपुर राज्य) एवं जहाजपुर (उदयपुर राज्य) रंगीन लकड़ी के कार्यों के लिए अधिक जाने जाते थे तथा आधुनिक काल में भी प्रसिद्ध थे। आधुनिक काल में लकड़ी के खिलौने, चूड़ियाँ, संदूकें, लकड़ी पर नक्काशी किये गये दरवाजे, खिड़कियाँ, मेज, पलंग, अलमारी आदि कलात्मक कार्य प्रचलित थे। खाती एवं सुथारों का मुख्य व्यवसाय लकड़ी के कार्यों से जुड़ा हुआ था। कृषि उपकरण भी लकड़ी के बनते

थे। परिवहन के साधनों में बैलगाड़ी एवं नावें बनाने का कार्य भी होता था। ऊँटों की काठियों भी लकड़ी से बनती थी।

18.5.5 चमड़े का कार्य

पशुधन से सम्पन्न राजस्थान में चमड़ा उद्योगों के विकास की अनेक संभावनायें थी, किन्तु आधुनिक काल में इनका अधिक विकास नहीं हो सका तथा चमड़े की वस्तुओं का उत्पादन लघु पैमाने पर जारी रहा। राजस्थान में चमड़ा उद्योग का बड़े पैमाने पर अभाव था अत: यहाँ का अधिकांश चमड़े का कच्चा माल आगरा एवं कानपुर चला जाता था। दैनिक उपभोग एवं कृषि कार्यों हेतु चमड़े से बनने वाली वस्तुओं में जूती, डोलची, चडस, मशक आदि प्रमुख थी। चमड़े की कलात्मक वस्तुओं का उत्पादन राजस्थान के सभी राज्यों में होता था किन्तु जयपुर, जोधपुर एवं बीकानेर का कार्य अधिक प्रसिद्ध था। जयपुर, जोधपुर एवं बीकानेर में चमड़े की जूतियों पर कढ़ाई या कसीदाकारी का कार्य अत्यधिक आकर्षक किया जाता था। घोड़े की कलात्मक काठियों (जीन) के उत्पादन में जयपुर एवं बीकानेर का प्रमुख स्थान था। जोधपुर एवं बीकानेर में ऊँट के चमड़े से तेल की कुप्पियाँ बनती थी।

18.5.6 मिट्टी के बर्तन

मानव द्वारा मिट्टी के बर्तनों का उपयोग प्राचीन काल से होता रहा है। काँच एवं चीनी मिट्टी के बर्तन भी इन्हीं का विकसित रूप कहे जा सकते है। मिट्टी के बर्तनों के साथ–साथ राजस्थान के मिट्टी के खिलौने भी लोकप्रिय रहे है। कुम्हार जो मिट्टी के बर्तन खिलौने आदि बनाते थे प्रत्येक गाँव में ग्रामीण जीवन के अनिवार्य अंग थे। कुम्हार घड़े, मटकी, कुल्लड, सकोरे, नांद,तस्तरीयाँ, दीपक एवं अनाज भरने के बर्तन आदि बनाते थे खिलौनों में ऊँट, बैल, हाथी, चक्की, सीटियाँ, झुंझने आदि प्रमुख थे। मिट्टी के बर्तनों में खिलौनों को खनिज रंगों से कलात्मक तरीकों से रंगा जाता था, कच्चे बर्तनों को लाकर पकाया जाता था जिससे इनके रगं पक्कै होते थे। काले एवं लाल रंग के बर्तन अधिक बनते थे'। राजस्थान में कोटा के मिट्टी निर्मित कलात्मक बर्तन अधिक प्रसिद्ध थे। कोटा के इन्द्रगढ नामक स्थान पर भी काँच एवं चीनी मिट्टी के बर्तनों का उत्पादन होता था। अलवर में बने चीनी मिट्टी एवं काँच के बर्तनों का निर्यात दिल्ली में होता था।

18.5.7 शस्त्र उद्योग

राजस्थान में लोहे के हथियारों के उत्पादन को भी विशेष स्थान प्राप्त था। तलवार, कटार, भाले, फरसे, छूरे आदि का उत्पादन मुख्य रूप से झालावाड़, सिरोही तथा उदयपुर में होता था। इनमें सिरोही की तलवारें सर्वाधिक लोकप्रिय थी। मध्यकाल में राजस्थान के प्रत्येक राज्य में हथियारों के उत्पादन का कार्य प्रगति पर था प्रत्येक राज्य के अपने हथियार उत्पादन कार्य थे। अंग्रेजी सर्वोच्चता की स्थापना के बाद राजस्थान के राज्यों की हथियार आवश्यकतायें लगभग सीमित हो गयी थी। आधुनिक हथियारों के आने से राजस्थान के परम्परागत हथियारों

का महत्व कम हो गया था। आधुनिक काल में परम्परागत हथियार साज–सज्जा की सामग्री बनकर रह गये थे।

18.5.8 कागज उद्योग

भारत में कागज का उपयोग आरंभ करने का श्रेय मुगलों को दिया जाता है जिन्होंने इसका उपयोग चीनियों से सीखा था। राजस्थान में कागज उत्पादकों एवं व्यापारियों का समुदाय जिन्हें कागजी कहा जाता था, प्रत्येक राज्य के राजधानी अथवा कस्बों में था। आधुनिक काल में कागज के उपयोग में भारी वृद्धि हुई थी। अंग्रेजी पद्धति पर राजस्थान के राज्यों के प्रशासनिक पुनर्गठन ने कागज के उपयोग को बढ़ा दिया था। आधुनिक काल में कागज न केवल राजस्थान बल्कि सम्पूर्ण भारत में इंग्लैंड से आयात होता था। भारत में कागज– उत्पादन अत्यधिक लघु पैमाने पर होता था। 1908 में सम्पूर्ण भारत में कागज उत्पादन के नौ बड़े कारखाने थे, जिनमें चार बम्बई में, चार बंगाल में एवं एक लखनऊ में था। राजस्थान में उल्लेखनीय कागज उत्पादन केवल जयपुर राज्य तक सीमित था।

जयपुर के कागज उत्पादन सांगानेर, सवाईमाधोपुर एवं जयपुर में होता था। यहाँ उत्पादित कागज को क्रमश सांगानेरी, सवाईमाधोपुरी, ईश्वरीसिंह शाही एवं जहागिरी के नाम से जाना जाता था। सांगानेर का कागज मोटा था तथा चित्रकला के लिए अधिक उपयोगी था। अधिक टिकाऊ होने के कारण इसका उपयोग पट्टों एवं अनेक दस्तावेजों में भी होता था। इस खुरदरें कागज का बहियाँ बनाने में भी उपयोग होता था जो काली स्याही के लेखन हेतु अधिक उपयोगी था। यह कागज आधुनिक छपाई के लिए उपयुक्त नहीं था। सवाईमाधोपुरी कागज चिकना कागज था जो जयपुर के सवाई माधोपुर कस्बे में उत्पादित होता था। तीसरी श्रेणी का कागज जयपुर में ही बनता था, जिसका उत्पादन महाराजा ईश्वरीसिंह के संरक्षण में आरम्भ हुआ था तथा चौथी श्रेणी का कागज जहाँ गीर के दरबार में उपयोग में लाया जाता था। अंतिम दोनों श्रेणियों का कागज उच्च कोटि का था।

18.5.9 अन्य हस्त शिल्प एवं उद्योग

अन्य हस्त शिल्पों में राजस्थानी कढ़ाई, कशीदाकारी, गोटा–किनारी, सिलाई आदि महत्वपूर्ण थे। राजस्थान के सभी मुख्य संग्रहालयों में इन कलात्मक वस्त्रों के नमूने भारी मात्रा में उपलब्ध है। अनेक प्रकार के केश तेल एवं इत्रों के उत्पादन का कार्य भी राजस्थान की शाही एवं उच्च शान, शौकत के अनुरूप था। देशी शराब निकालने का कार्य, भी उन्नत शान शौकत के अनुरूप था। देशी शराब निकालने का कार्य भी उन्नत अवस्था में था। वैसे अनेक प्रतिबंधों के कारण शराब व्यवसाय के विकास की संभावनाऐं धुंधली पड़ गयी थी। कलालों का, समुदाय राजस्थान में प्रत्येक जगह पर था जो शराब बनाने एवं बेचने के कार्य से जुड़े हुए थे। किन्तु आधुनिक काल में उच्च वर्गों में अंग्रेजी शराब के चलन ने स्थानीय शराब उत्पादन को कुचलना शुरू कर दिया था।

अन्य: उद्योगों में टाट पट्टी, सूतली, रस्सी, मूंजबान आदि थे। इनका उत्पादन भी कुटीर उद्योगों के रूप में होता था। केवल अजमेर–मेरवाड़ा के केकड़ी नामक स्थान पर जूट के, बोरे

बनाने का एक कारखाना था। झालावाड़ राज्य के झालरापाटन नामक स्थान पर सूतली एवं टाट पट्टी का कार्य कुछ संगठित पैमाने पर था। धाणियों द्वारा तेल निकालने का कार्य स्थानीय आवश्यकताओं के अनुकूल था।

18.5.10 आधुनिक स्वरूप के उद्योग

राजस्थान में आधुनिक उद्योग नाम मात्र के थे। यहाँ खनिजों, सूत, ऊन, चमड़ा, हड्डियाँ आदि पर आधारित बड़े आधुनिक उद्योगों की स्थापना की भारी संभावनायें थी किन्तु अंग्रेजी औपनिवेशिक हितों के कारण इनका विकास नहीं हो सका था। आधुनिक उद्योगों के नाम पर कपास ओटने एवं गांठे बनाने के कारखाने थे। नाममात्र का कपड़ा उत्पादन ब्यावर में होता था। रेलों की स्थापना से कहीं–कही रेलवे कार्यशाला (Work shops) अवश्य स्थापित हुई थी जहां केवल मरम्मत का कार्य होता था। दो विश्वयुद्धों के मध्य सम्पूर्ण भारत में औद्योगिक प्रगति दिखाई देती है, किन्तु राजस्थान इस औद्योगिक विस्तार के युग से वंचित रहा था। कहीं–कहीं बर्फ सोडावाटर आदि के कार्य भी होने लगे थे, जो औद्योगिक प्रगति के सूचक नहीं कहे जा सकते है। 1939–45 के मध्य जयपुर, जोधपुर, उदयपुर एवं बीकानेर राज्यों में कुछ नये उद्योग स्थापित हुए थे अथवा योजनायें बनी थी, किन्तु 1947 तक कोई उल्लेखनीय प्रगति इस दिशा में नहीं हो सकी थी।

18.6 सारांश

सारांशत : यह कहा जा सकता है कि आधुनिक काल में राजस्थान की औद्योगिक दशायें पिछड़ी हुई थी। नाममात्र के कुछ नये उद्योगों की स्थापना अवश्य हुई थी, किन्तु उनका सम्बन्ध विशेष उपभोग सामग्री उत्पादित करने के स्थान पर कच्चे माल की प्रक्रिया से ही था। विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि 19वीं सदी के दौरान राजस्थान के परम्परागत कुटीर उद्योगों एवं शिल्प कार्यो का पतन हुआ था। कुल मिलाकर राजस्थान औद्योगिक रूप से पिछड़ गया था। पिछड़ी औद्योगिक स्थितियों में स्वस्थ व्यापार भी सम्भव नहीं था।

18.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. आधुनिक राजस्थान में सूतीवस्त्र उद्योग की स्थिति पर प्रकाश डालिये।
2. राजस्थान में नमक उद्योग पर अंग्रेजी नियंत्रण के परिणामों की व्याख्या कीजिये।
3. आधुनिक कालीन राजस्थान में विभिन्न कुटीर एवं कलात्मक उद्योगों का विवरण दीजिये।

18.8 संदर्भ ग्रथों की सूची

1. ब्रजकिशोर शर्मा : आधुनिक राजस्थान का आर्थिक इतिहास
2. रामप्रसाद व्यास : आधुनिक राजस्थान का वृहद इतिहास, भाग–2
3. कालू राम शर्मा : उन्नीसवीं सदी के राजस्थान का सामाजिक एवं आर्थिक जीवन
4. पी. एस चौधरी : राजस्थान बिटविन टू वर्ल्ड वार्स
5. एम. एस. जैन : आधुनिक राजस्थान का इतिहास

इकाई – 19
व्यापार एवं वाणिज्य

इकाई की रूपरेखा

19.0 उद्देश्य
19.1 प्रस्तावना
19.2 व्यापारिक केन्द्र
19.2.1 भीलवाड़ा
19.2.2 पाली
19.2.3 जैसलमेर
19.2.4 जयपुर
19.2.5 बीकानेर
19.2.6 अजमेर–मेरवाड़ा
19.2.7 किशनगढ़
19.2.8 कोटा
19.3 व्यापारिक स्वरूप
19.4 व्यापारिक शुल्क
19.5 व्यापारिक मार्गो की सुरक्षा
19.6 सारांश
19.7 अभ्यासार्थ प्रश्न
19.8 संदर्भ ग्रन्थों की सूची

19.0 उद्देश्य

(i) राजस्थान के परम्परागत व्यापार पर अंग्रेजी सर्वोच्चता की स्थापना 'के विपरीत व अनुकूल प्रभावों से अवगत करवाना ।

(ii) आधुनिक काल में राजस्थान के व्यापारिक केन्द्रों का विवरण देना ।

(iii) अंग्रेजी सर्वोच्चता के अन्तर्गत राजस्थान के व्यापारिक स्वरूप का विश्लेषण करना ।

(iv) व्यापारिक' मांगों की सुरक्षा व्यवस्था की जानकारी देना।'

(v) समग्र रूप' में आधुनिक कालीन राजस्थान के व्यापार व वाणिज्य की पूर्ण' जानकारी देना।

19.1 प्रस्तावना

आधुनिक काल में राजस्थान की व्यापारिक क्रियाओं में काफी गिरावट आयी थी जो राजस्थान से व्यापारियों के निष्क्रमण से स्पष्ट है । सदियों से विकसित व्यापार पूरी तरह नष्ट नहीं हुआ था तथा धीमी गति से अल पैमाने पर व्यापार चलता रहा था। मध्यकालीन व्यापारी मार्गो का महत्व अवश्य कम हो गया था, किन्तु इन, मार्गों से व्यापारिक क्रियायें आधुनिक काल में भी चलती रही । इसी प्रकार पारम्परिक व्यापारिक केन्द्र भी व्यापार एवं वाणिज्य की

दृष्टि से उजड़ने लगे थे । आधुनिक काल में कुछ नई प्रवृत्तियां अवश्य दृष्टिगोचर होती, है । इस समय अंग्रेजी माल की खपत बढ़ाने के लिए नये व्यापारिक केन्द्रों का विकास हुआ तथा अंग्रेजों के प्रभाव में राजस्थान के शासकों ने कुछ नई व्यापारिक सुविधाऐं देना आरम्भ किया था। रेलों की स्थापना के बाद कुछ नये व्यापारिक मार्ग एवं व्यापारिक, केन्द्र अस्तित्व में आये थे । व्यापार एक सामाजिक प्रक्रिया है जो समाज के साथ–साथ चलती रहती है । राजस्थान में ब्रिटिश सर्वोच्चता की स्थापना के विनाशकारी परिणामों के उपरांत भी राजस्थान का परम्परागत व्यापार धीमी गति से अल्प पैमाने पर चलता रहा ।

19.2 व्यापारिक केन्द्र

मध्यकाल में राजस्थान में अनेक विकसित व्यापारिक केन्द्र थे । अंग्रेजों के आगमन के पूर्व उदयपुर राज्य का भीलवाड़ा, बीकानेर राज्य का चूरू एवं राजगढ़, जयपुर राज्य का मालपुरा तथा जोधपुर राज्य का पाली विकसित व्यापारिक केन्द्र थे। से व्यापारिक केन्द्र समुद्री किनारों, तथा उत्तरी भारत को जोड़ने वाली कड़ी का अंग थे । ये व्यापारिक केन्द्र विदेशी व्यापार का केन्द्र थे । इन केन्द्रों पर भारत काश्मीर एवं चीन के उत्पादों का यूरोप, अफ्रीका, एशिया एवं अर्बिया की वस्तुओं के साथ विनिमय अथवा आदान–प्रदान होता था। कच्छ एवं गुजरात के बंदरगाहों से कारवां हाथीदांत, गैडें की खाल ताँबा, बबूल का गौंद, सुहागा,–नारियल बनात, चंदन की लकड़ी, औषध रंग मसाले आदि लाते थे तथा छींट, मेवा, शक्कर, अफीम, सिल्क, मलमल, रंगीन कम्बल शाँल हथियार एवं नमक ले जाते थे । व्यापारी कारवां के रक्षक अधिकांशत: चारण हुआ करते थे ।ये शक्ति अथवा आत्मोंत्सर्ग द्वारा कारवों की रक्षा करते थे। स्थानीय उत्पादनों के निर्यात में प्रमुख नमक,ऊन, घी, पशु, अफीम एवं रंगीन कपड़े जबकि आयातों में गेहूँ, चावल, शक्कर, फल, सिल्क, लोहा, तम्बाकू, आदि थे। सीधा अथवा आर–पार व्यापार होता था किन्तु आधुनिक काल में राजस्थान के राज्यों द्वारा थोपी गयी अनेक चुंगियों राहदरी शुल्क,के कारण बाधाऐं उत्पन्न हो गयी थी । उन्नीसवीं सदी के अंतिम दो दशकों में सहदरी शुल्क को समाप्त करने अथवा कम करने के अंग्रेजी प्रयासों के कारण कुछ राज्यों ने इनमें छूट प्रदान की थी । राहदरी शुल्क राजस्थान के व्यापारियों के मार्ग में तो अनेक बाधायें उत्पन्न करती थी, किन्तु राजस्थान में अंग्रेजी माल के आयात में भी अनेक कठिनाईयां आती थी जो अंग्रेजों के हित में नहीं था ।

राजस्थान में अंग्रेजी सर्वोच्चता की स्थापना के बाद राजस्थान के अनेक राज्यों की राजधानियाँ प्रमुख व्यापारिक केन्द्र के रूप में उभरकर सामने आयी थी । वैसे व्यापार के स्वाभाविक विकास की गति यही होती है कि गाँव का व्यापारी कस्बे की ओर, कस्बे का व्यापारी शहर की ओर तथा शहर का व्यापारी बड़े शहरों अथवा राजधानी शहरों की ओर आता है । किन्तु आधुनिक काल में यह प्रवृत्ति व्यापार के विकास के कारण नहीं बल्कि सुरक्षा की दृष्टि से दिखाई देती है । अध्ययन काल के दौरान (1818–1949) राजस्थान के विभिन्न राजधानी नगरों के अतिरिक्त बाँरा, भीलवाड़ा, चूरू, डीग, झुंझनु, मेड़ता, नागौर, पाली, सांभर एवं सीकर थे ।

अंग्रेजी साम्राज्यवादी शासकों को रुचि ऐसे व्यापारिक केन्द्रों को विकसित करने में थी जो विदेशी माल का बाजार बना सकें । अंग्रेज लेखकों का यह प्रयास रहा है कि वे अपने लेखन से यह सिद्ध कर सकें कि अंग्रेजी सर्वोच्चता स्थापित होने के पहले राजस्थान का व्यापार नष्ट हो गया था तथा इसके बाद पुन: जीवित हो रहा था । कर्नल टॉड ने भी राजस्थान में अंग्रेजी सर्वोच्चता की स्थापना को समृद्धि लाने वाला सिद्धे किया है जो सर्वथा पूर्वाग्रहों से युक्त है । जबकि राजस्थान के परम्परागत व्यापार का पतन अंग्रेजी सर्वोच्चता की स्थापना के बाद हुआ था। नई व्यवस्था से विस्थापित आदिवासी, सैनिक, जागीरदार एवं अन्य अनेक परम्परागत राज्य के सेवक आंदोलित हो गये थे । जिन्होंने ब्रिटिश सत्ता के विरोध में लूट–पाट एवं अराजकता उत्पन्न कर दी थी । यहां आंतरिक अशांति व्यापारिक गतिविधियों को चौपट करने वाली थी । इन सबसे निपटने के लिए अंग्रेजों को अपनी सर्वोच्चता की स्थापना के बाद तीन दशक का समय लगा था । अंग्रेजों के राजस्थान में राजनीतिक हितों के समान ही आर्थिक हित भी थे । अपने आर्थिक हितों की पूर्ति के लिए अंग्रेजों ने व्यापारिक केन्द्रों को विकसित करने की ओर कुछ ध्यान अवश्य दिया था ।

19.2.1 भीलवाड़ा :

उदयपुर राज्य का भीलवाड़ा कस्बा आधुनिक काल में एक प्रमुख व्यापारिक केन्द्र था । इसके संदर्भ में कर्नल टॉड का विवरण इस प्रकार था मुख्य वाणिज्यिक केन्द्र भीलवाड़ा जिसमें मानव के अवशेष नहीं दिखाई देते थे शीघ्र बर्बादी, से उभर रहा था तथा कुछ ही महीनों में इसमें बारह सौ परिवार हो गये जिनमें आधे परिवार बाहर के व्यापारियों के थे। टूरदराज के क्षेत्रों के उत्पादों सामान की गांठों के गलियों (बाजारों) में ढेर लगें रहते थे, जिनमें पहले घास उगी थी तथा स्थानीय उत्पादकों हेतु साप्ताहिक हाट स्थापित की गयी थी । एक सुविधा एवं प्रतिरक्षा अधिकार पत्र जारी किया गया था, पहले वर्ष उनको (व्यापारी) सभी करों से मुक्ति तथा भविष्य मे इसमें परिवर्तन इस प्रकार विकास का आकलन करके इन प्रयासों के पुरस्कार का उपभोग किया जाने लगा । अपने मुख्य, न्यायाधीश एवं न्यायदाताओ के चयन का अधिकार उपरोक्त सब चीजों से अपरिहार्य था जिसमे उनको न्यायालयों के लालची नौकरों से स्वतंत्र रखा जा सके । उनकी (व्यापारियों) सुरक्षा के लिए एक पहरेदार सरकार द्वारा उपलब्ध कराया गया था तथा पूरी सीमा तक उनके अधिकारों तथा कार्यो की पूर्ण आजादी की पवित्रता से रक्षा करने के लिए सक्षम प्राधिकरण का गठन किया गया था। इस योजना की पूर्ण सफलता पुनरावृत्ति को शीघ्र रोकने में निहित थी । 1822 में भीलवाड़ा में लगभग तीन हजार घर थे, जो मुख्यत: व्यापारियों, साहूकारों अथवा– शिल्पकारों से आबाद थे । व्यापारियों से लिये जाने वाले करों से कस्बे के बीच में एक नई गली (बाजार) का निर्माण किया गया था तथा दुकान एवं घर साधारण किराये की दर पर दिये गये थे, जबकि बाहर से लौटे हुए लोगों को उनके स्थानों पर निर्मित स्थान– निर्माण कीमत लेकर दिये गये थे ।..... उदार नीति के उपरांत एक ईर्ष्यालु प्रतियोगिता ने भीलवाड़ा की समृद्धि को नियंत्रित किया । पूर्ण एकाधिकार, की भावना से स्थानीय बाहरी व्यापारियों से अधिक कस्बाकर (मापा) लिया जाता था । इसकी अविवेकता पर विचार–विमर्श किया गया था तथा यह न्याय के अनुरूप दर्शाया गया कि वह जो जैसलमेर,

सूरत, बनारस अथवा दिल्ली से आया है से स्थानीय व्यापारी[की तुलना, में कम कर लिया जाये । यह संकीर्णता के कारण विघटन का कारण बन गया था ।

कर्नल टॉड ने अपनी पुस्तक में भीलवाड़ा के संदर्भ में अनेक स्थानों पर लिखते हुए इसके विकास का श्रेय अंग्रेजी शासन को दिया है । यह भी एक सत्य है कि भीलवाड़ा का व्यापारिक केन्द्र के रूप में विकास आधुनिक काल में अधिक हुआ था, किन्तु इसके लिए केवल अंग्रेजी प्रयासों को क्षेय नही दिया जा सकता है । इसका पहला कारण तो इसका परम्परागत व्यापारिक केन्द्र ही होना था । दूसरा भीलवाड़ा के आस–पास कपास, तम्बाकू, अफीम, जैसा मूल्यवान फसलों का पैदा होना तथा कृषि की समृद्ध स्थिति होना था । मारवाड़ अथवा पश्चिमी राजस्थान से मालवा की ओर जाने वाले व्यापारियों के मार्ग पर बसे होने के कारण यहाँ बाहर से व्यापारी आकर बसने लगे थे अथवा भीलवाड़ा में अपनी गद्दी या व्यापारिक संस्थान स्थापित करके मालवा में व्यापारिक क्रियाऐं संचालित करने लगे थे । अंग्रेजी क्षेत्र अजमेर से समीपता के कारण भी इसका महत्व बढ़ा था ।

19.2.2 पाली :

जब हम मध्यकालीन व्यापारिक केन्द्रों की बात करते है तो पाते है कि पश्चिमी राजस्थान के विभिन्न शहर एवं कस्बे व्यावहारिक केन्द्र थे । मध्यकाल में जोधपुर राज्य में सांचोर, भीनमाल, जालोर एवं पाली मुख्य व्यापारिक केन्द्र थे । किन्तु आधुनिक काल में जोधपुर शहर के अतिरिक्त पाली एक महत्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्र था । पाली पूर्वी एवं पश्चिमी प्रदेशों का गोदाम था जहां भारत, काश्मीर एवं चीन के उत्पादों की अदला–बदली यूरोप, अफ्रीका, पर्शिया एवं अर्बिय के माल के साथ होती थी । गुजरात एवं कच्छ के बंदरगाहों से कारवां (कतार) हाथीदांत, ताम्बा, बबूल का गौद, खजूर, सुहागा, नारियल, बनात, रेशम, चंदन की लकड़ी, कपूर, रंग, दवाईयां, संखिया, मसाले आदि का आयात करते थे तथा बदले में छींट, मेवा, जीरा, हींग, शक्कर, अफीम (कोटा एवं मालवा) रेशम एवं महीन कपड़े, पोटाश, शॉल, रंगीन कम्बल, हथियार एवं नमक निर्यात करते थे ।

आधुनिक काल में पाली एक महत्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्र था । यह प्राचीनकाल से ही महत्वपूर्ण था तथा यहां से निकले पालीवाल ब्राह्मण भारी संख्या में व्यापार अथवा साहूकारी के व्यवसाय से भारत के विभिन्न भागों से जुड़े रहे थे । टॉड ने भीलवाड़ा के बाद पाली की व्यापारिक केन्द्र के रूप में भारी प्रशंसा की है । इसके बारे में टॉड ने लिखा है "इन क्षेत्रों में वाणिज्य स्वतंत्रता का आधार है, यहां तक कि निरंकुशता भी इसे असंयत छोडने के लिए मजबूर है । भीलवाड़ा, झालरापाटन, रैनी एवं अन्य बाजारों की तरह पाली भी अगने न्यायाधीश चुनने के अधिकार का उपयोग करती है, जो नगर व्यवस्थापन तथा वाणिज्यिक मामलों में फैसला देते है । यह वाणिज्य ही था जिसने यूरोप को सामंती बंधनों से मुक्त किया एवं उपरोक्त कस्बे यूरोप के हान्ता कस्बों की भूमिका अदा करने के लिए वही सुखी भौगोलिक स्थिति चाहते है। भीलवाड़ा की तरह पाली की अपनी मुद्रा है जो मध्य में सर्वमान्य गिरावट के बाद भी आधार को सुरक्षित रखे हुए है । लम्बे समय से पाली समुद्री तटों तथा उत्तरी भारत को जोड़ने वाली कड़ी रहा है ।

१८१९ में पाली में १० हजार परिवार आबाद थे तथा वाणिज्यिक करों से ७५,००० रुपये वार्षिक आय थी । टॉड ने आगे लिखा है कि "मसकट–मांडवी, सूरत एवं नवानगर में स्थापित व्यापारिक संस्थान (पाली के) पर्शिया, अर्बिया, अफ्रीका तथा –यूरोप का माल भिजवाते है, तथा भारत एवं तिब्बत का माल प्राप्त करते है । इन सभी वस्तुओं के निरूपण हेतु प्रत्येक के विभिन्न उत्पादनों का नाम देना अनिवार्य होगा : समुद्रीतट से हाथीदांत, गैडे की खाल, ताम्बा, टिन, जस्ता, सूखे एवं गीले खजूर जिसका इन क्षेत्रों में भारी उपयोग होता है, बबूल का गौद, सुहागा, नारियल, बनात, धारीदार रेशम जिसे पतंग कहा जाता है, अनेक रंग, मुख्यत किरमिजी, दवाईयां, मुख्यतः संखिया एवं पारा : मसाले, चंदन की लकड़ी, कपूर, चाय, हरा कांच । भावलपुर से सोडा (सज्जी), अत एवं मजीठ कहे जाने वाले रंग, तोड़ेदार बंदूकें, सूखे फल, हींग, मुलान छींट एवं घरेलू लकड़ी के समान हेतु लकड़ी । कोटा एवं मालवा से अफीम एवं छींट । जयपुर से अनेक कपड़े एवं शक्कर, भुज से तलवार एवं घोड़े ।

निर्यात किये जाने वाले स्थानीय उत्पादनों में नमक एवं ऊन प्रमुख है, जिसके साथ हम कोरा कपड़ा तथा पाली कस्बा में निर्मित कागज को शामिल कर सकते है । लोई एवं कम्बल पूरे भारत में जाते है तथा चार से सात रुपये प्रति जोड़ा की दर से लिये जा सकते हैं, दुपट्टे एवं साफे उसी माल से बनते है, लेकिन निर्यात के लिए नही, किन्तु नमक निर्यात की मुख्य वस्तु है तथा इससे मिलने वाले कर की राशि प्रदेश (जोधपुर) की भू–राजस्व की राशि से आधा है ।

19.2.3 जैसलमेर :

जैसलमेर को मध्यकाल से ही प्रमुख व्यापारिक केन्द्र का दर्जा प्राप्त था। जैसलमेर राज्य का पोकरण नामक स्थान भी अत्यधिक महत्वपूर्ण केन्द्र था । जैसलमेर में ऊन एवं नमक के अतिरिक्त व्यापार योग्य कोई अन्य वस्तु नहीं थी, किन्तु मुख्य व्यापारिक मार्ग पड़ने के कारण यह आधुनिक काल में भी एक महत्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्र बना रहा । यह पूर्व के देशों तथा 'सिंधुघाटी एवं इसके पार के प्रदेशों की वस्तुओं के विनिमय का प्रमुख केन्द्र था। हैदराबाद (सिंध), रोड़ी–बाखर, शिकारपुर उच्च से– गंगा के प्रांतों तथा पंजाब से आने जाने वाले व्यापारिक कितारा (ऊंटों के कारवां) जैसलमेर होकर गुजरते थे। दोआब की नील, कोटा तथा मालवा की अफीम, बीकानेर की मिश्री, जयपुर से लोहे के औजार, शिकारपुर में निर्यात किये जाते थे जो सिंधु घाटी का विशाल' व्यापारिक केन्द्र था, जबकि हाथीदांत (अफ्रीका से), खजूर, नारियल, दवाईयां, साथ ही भावलपुर से पिस्ता एवं मेवा आयात होते थे, १८१९–२० में जैसलमेर' राज्य को चुंगियों एवं माल के आवागमन के करों से लगभग तीन लाख रुपये सालाना की आय थी । किन्तु व्यापार के घटने के कारण कम होती जा रही थी ।

19.2.4 जयपुर :

जयपुर आधुनिक काल में एक प्रमुख व्यापारिक केन्द्र था। १७२७ में जयपुर नगर को बसाते समय यहां व्यापार को विशेष दर्जा दिया गया था । आज अपनी स्थापना के ७५० वर्ष

बाद' भी पुराने शहर के बाजार लाखों व्यापारियों को समाहित किये, हुए है । सही अर्थो में देखा जाए तो उत्तर मध्यकाल में निर्मित यह शहर आधुनिक एवं वर्तमान, काल की व्यापारिक क्रियाओं का आधारभूत साधन बना रहा । ब्रिटिश भारत के भू–भागों के समीप स्थित होने के कारण भी इसका महत्व अधिक बढ़ गया था । जयपुर के विभिन्न शासकों द्वारा शहर के व्यापारिक एवं वाणिज्यिक महत्व को बढ़ाने के पूरे प्रयास किये गये जिसके परिणाम स्वरूप अनेक व्यापारी जयपुर की ओर आकर्षित हुए । १९०८ के "इम्पीरियल गजेटियर में उल्लेख किया गया था कि जयपुर राजपूताना का विशालतम तथा धनाढ्यतम शहर बैकिंग एवं आदान–प्रदान का मुख्यालय है । आधुनिक काल में जयपुर कलात्मक कार्यों एवं कुटीर उद्योगों का न केवल राजस्थान का बल्कि भारत का प्रमुख केन्द्र था ।

जैसा ऊपर उल्लेख किया गया है कि जयपुर बैकिंग एवं लेन–देन के व्यवसाय का मुख्य केन्द्र था किन्तु ब्रिटिश भारत में रोजगार के अवसरों की वृद्धि के कारण जयपुर का यह व्यवसाय गिरावट की ओर था । स्वाभाविक तौर पर जयपुर का महत्व बैंकिंग व्यवसाय के रूप में कम होता जा रहा था। किन्तु साथ ही व्यापारिक महत्व बढ़ता जा रहा था। आगरा–अहमदाबाद तथा दिल्ली–अहमदाबाद मार्ग का संगम स्थल होने के कारण इसका महत्व निरंतर रूप से बना हुआ था । रेल मार्ग बनने के बाद इसका महत्व और अधिक बढ़ गया था।

जयपुर शहर के अतिरिक्त राज्य का शेखावादी क्षैत्र भी व्यापारिक क्रियाओं में समृद्ध था। राजस्थान से ब्रिटिश भारत में निष्क्रमण करने वाले व्यापारियों में अधिक संख्या शेखावाटी के लोगों की थी। शेखावाटी में सीकर, झुंझनु, लक्ष्मणगढ़,. फतेहपुर, बगड़, नवलगढ़, चिड़ावा, उदयपुरवाटी, रामगढ़, नीम ल थाना आदि बैकिंग व्यवसाय, के लिए आधुनिक काल में भी जाने जाते थे । यहां के कस्बा में मध्यकाल में बैकिंग विनिमय हुण्डी एवं महाजनी का कार्य काफी विकसित हुआ, इसका कारण इसकी पाली, राजगढ़ एवं चूरू जैसे व्यापारिक केन्द्रों की समीपता को माना जा सकता है । इन व्यापारिक स्थानों के व्यापारियों को सहायक के रूप मे शेखावाटी के,कस्बों में महाजनी व्यवसाय विकसित हुआ था। १९०8' में 'प्रकाशित "इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इंडिया" में, उल्लेख किया है कि जयपुर राज्य में शेखावाटी के कस्बों में बैंकिंग एक्सचेंज एवं महाजनी का व्यवसाय अधिक है ।

जयपुर राज्य के अनेक कस्बों के व्यापारिक विकास पर ध्यान दिया गया था। जयपुर राज्य के चौमू कस्बे के–संदर्भ में पं. हनुमान शर्मा ने लिखा है कि "संवत १८९१(१८३४ ई) के मध्य भाग में ठाकुर लक्ष्मणसिंह जी ने चौमू के व्यापार व्यवसाय को बढ़ाने के विचार से कई एक नवीन विधान बनाए थे । उनको कार्यरूप में परिणित करने के लिए संवत् 1891 के आसोज सुदी ९ को उन्होंने अपने प्रधान मंत्री दीपसिंह जी के द्वारा चौमू फ्रे समस्त व्यापारियों को सूचित करवाया, कि जो लोग यहां के बाशिन्दे हैं या, बाहर से आए हों, वे यहां अपने कारोबार को बढ़ावेंगे तो उनको ठिकाने की ओर से हर तरह की सहायता दी जायेगी और हर हालत में उनकी सम्हाल की जायेगी। इसके सिवा जो लोग अपने खर्च से यहां दुकान या मकान बनवावेंगे उनको कायम की हुई मियाद तक मुफ्त में जमीन दी जायेगी और इमारत का फुटकर सामान थूणी, बलछीडें, फड और मूंगधणा आदि भी यथा योग्य मिलेगा । इस घोषणा के प्रकाशित होते

ही 'पुराने कागज' (नं.७१२) के अनुसार अजमेर, माधोपुर, तिघरया, निवाणा, खेजडोली, चला, चौकड़ी, गुढा जालसू, डहरा, डूंगरी, अचरोल, अटावा, पाटण, चीतल, चीतवाडी, चन्दवाजी, सामोद, ढ़ोढसर, टाँकरडा, साखूंण, हरदास का बांस, धिणोही, राजगढ़, घानोला, मऊ, मूंडरो, मोरीजा और बाधावास आदि के ६५ अग्रवाल, ४९ खण्डेलवाल, ४७ वीजावरगी, ४३ सरावगी, १८ महसरी और ५ ब्राह्मण बाहर से आए थे । उनको नियमित कर की (मामूली) कोड़ियों ११६ को सबकर, ४३ को चौथकर और २ को अधकर माफ किया था और शेष को यथापूर्व रखा था । इस व्यवस्था को स्थायी करने के लिए कईयों को पट्टे भी दिये थे और बरेली, धामपुर, रिवाड़ी, भिवानी या नारनौल आदि के बड़े व्यापारियों को यह विश्वास भी दिया जाता था कि चौमू के व्यापारी मंगवाए हुए माल का मूल्य मन से भेजते रहेंगे । कदाचित किसी की देर होगी या कुछ कारण दिखेगा तो उसकी तामिल तगाजा या दुरस्ती करा दी जायेगी । इस व्यवस्था से चौमू का व्यापार थोड़े ही दिनों में इतना अधिक बढ़ गया कि उसके क्रय–विक्रय की सुविधा के लिए शहर के दक्षिणी जिले में 'नया–बाजार और बनवाया गया' और कई एक दूकानें कोणे–खंदे चौराहे या गलियों आदि में और बढ़ाई गई ।

उपरोक्त विवरण का यह अर्थ कदापि नहीं है कि आधुनिक काल में व्यापार का विकास हो रहा था । असल में राजस्थान के व्यापारिक केन्द्रों में परिवर्तन आ रहा था । अनेक स्थानों पर हमने लिखा है कि मध्यकाल में पश्चिमी राजस्थान का व्यापारी समुदाय निष्क्रमण करने लगा था । निष्क्रमण हुए व्यापारी अधिकांशत: ब्रिटिश भारत की ओर गये थे, किन्तु काफी संख्या में पूर्वी एवं दक्षिण पूर्वी राजस्थान में आकर बस गये थे । कहने का तात्पर्य यह है कि आधुनिक काल में अनेक कारणों से पूर्वी राजस्थान में व्यापारिक क्रियाओं में वृद्धि हुई थी । पूर्वी राजस्थान के बाजार यूरोपियन एवं ब्रिटिश भारत के माल से भरे पड़े थे ।

19.2.5 बीकानेर :

आधुनिक काल में बीकानेर ऊन की प्रमुख मंडी के रूप में उभरकर सामने आया था । यहां से अहमदाबाद, बोम्बे, पंजाब एवं संयुक्त प्रांत में ऊन जाती थी । राजगढ़, बीकानेर राज्य का विशाल वाणिज्यक केन्द्र था तथा सभी भागों से आने वाले कारवाँओं का मिलन स्थल था। यहां पंजाब तथा काश्मीर का उत्पादन हांसी–हिसार होकर तथा पूर्वी प्रांतों का, माल दिल्ली, रेवाड़ी दादरी आदि होकर आता था, जिसमें रेशम,, महीन कपड़ा, नील, शक्कर, लोहा, तम्बाकू आदि था । हाड़ौती एवं मालवा से अफीम आती थी, मुलतान एवं शिकारपुर से खजूर, गेहूँ, लुंगियां, फल आदि पानी से समुद्री प्रदेशों का आयात जैसे मसाले, टिन, दवाई, नारियल, हाथीदांत आदि आते थे ।

19.2.6 अजमेर–मेरवाड़ा :

अजमेर–मेरवाड़ा का प्रदेश अंग्रेजी नियंत्रण में होने के कारण आधुनिक व्यापार एवं व्यवसाय का स्थल बनता जा रहा था । प्रदेश में अजमेर, ब्यावर, केकड़ी, नसीराबाद, विजयनगर आदि प्रमुख व्यापारिक केन्द्र थे । इनके प्रभाव में किशनगढ़, गुलाबपुरा, शाहपुरा एवं भीलवाड़ा का व्यापारिक महत्व भी बढ़ा था । अजमेर सत्रहवीं सदी के आरम्भ में यूरोपियन व्यापार का

केन्द्र बन गया था । १६१४ में ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी की ओर से सूरत फैक्ट्री के मि. एडवर्ड ने अजमेर में एक व्यापारिक एजेन्सी स्थापित की थी ।

स्वाभाविक तौर पर अजमेर लम्बे वर्षों तक राजपूताना तथा उत्तरी भारत के माल का यूरोप की वस्तुओं के साथ अदला–बदली का केन्द्र बना रही । १८७९ के आसपास अजमेर शहर के व्यापार में गिरावट आयी थी जिसका उल्लेखनीय कारण विकासोन्मुख कस्बों ब्यावर एवं नसीराबाद का प्रतियोगिता में आना था । किन्तु रेलवे की स्थापना से इसने अपने महत्व को पुन: प्राप्त कर लिया था । अजमेर के बाद ब्यावर का महत्व कपास व्यापार के क्षेत्र में बढ़ता जा रहा था । ब्यावर की कपास मंडी में मेवाड़ (उदयपुर) एवं दक्षिणी राजस्थान से कपास आती थी । यहां से निर्यात होने वाली वस्तुओं में कपास प्रमुख था, जिसके व्यापार का मुख्य केन्द्र ब्यावर था । कपास को बम्बई में निर्यात किया जाता था तथा भेजने के पूर्व गांठे बनाने का कार्य होता था । ब्यावर में मैसर्स राली ब्रादर्स, वोल कार्ट ब्रादर्स एवं अन्य अनेक देशी व्यापारियों के व्यापारिक प्रतिष्ठान थे । ब्यावर में कपास का निर्यात १४८१ में ३५६१ टन था जो १८९१ में बढ़कर ८,४७१ टन हो गया था ।

19.2.7 किशनगढ़ :

अजमेर के समीप होने के कारण किशनगढ़ भी एक मुख्य व्यापारिक केन्द्र था । यहाँ से कपास, ऊन, घी एवं जीरे का निर्यात होता था तथा शक्कर, नमक, अनाज तथा अन्य विदेशी उपयोग की वस्तुओं का आयात होता था । यहाँ से निहित किये जाने वाले कपास का अधिकांश भाग आगरा, अलीगढ़, कानपुर एवं हाथरस जाता था ।

19.2.8 कोटा :

आधुनिक काल में कोटा का व्यापारिक केन्द्र के रूप में काफी महत्व बढ़ गया था। राजपूताना एवं मालवा के संगम स्थल पर स्थित होने के कारण कोटा महत्वपूर्ण स्थान था। मालवा की ओर जाने वाले अथवा मालवा में व्यापारिक क्रियाओं में संलग्न मारवाड़ी व्यापारियों का कोटा में जमघट लगने लगा था । १८९९ में बीना–बारा रेल लाईन के खुलने से इसके महत्व में वृद्धि हुई थी । १९१० में नागदा–मधुरा रेलवे लाईन बनने से कोटा, बम्बई से सीधा जुड़ गया था। कोटा के व्यापारिक केन्द्र के रूप में महत्व को इस बात से जाना जा सकता है कि यहाँ का व्यापार मुख्य रूप से बम्बई, कलकत्ता एवं कानपुर के साथ चलता था ।

व्यापारिक केन्द्रों के उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि राजस्थान में व्यापारिक क्रियाऐं संतोषजनक थी । व्यापारिक केन्द्रों से अधिकतर कच्चा माल निर्यात होता था तथा ऐसा कोई विशेष उल्लेखनीय तैयार माल राजस्थान में नही रह गया था, जिसका निर्यात किया जाता हो। अधिकतम व्यापारिक केन्द्र आयातित समान की तिजारत पर निर्भर थे । अनेक ऐसी वस्तुऐं जिनका उत्पादन राजस्थान में संभव का निर्यात भी बंद हो गया था तथा अनेक धातु उत्पादन जो मध्यकलाम्मल में प्रचलित थे उनका भी, आधुनिक काल में आयात करना पड़ रहा था । आधुनिक व्यापार प्रदेश की आर्थिक संमृद्धि मे कुछ जोड़ नहीं रहा था बल्कि आर्थिक रूप से खोखला ही कर रहा था ।

19.3 व्यापारिक स्वरूप

आधुनिक काल में राजस्थान के व्यापारिक स्वरूप में भारी परिवर्तन आया था । भारत के विदेशी व्यापार में राजस्थान का विशेष उल्लेखनीय स्थान नहीं रह गया था। इसका सीधा कारण भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना को माना जा सकता है । राजस्थान' में व्यापार के पराभव के अन्य कारणों में उन कारणों को भी गिना जा सकता है, जो व्यापारियों के निष्क्रमण के कारण थे । आधुनिक काल में राजस्थान के व्यापार का स्वरूप स्थानीय' स्तर का रह गया था। निर्यात की तुलना में आयात किये हुए माल का व्यापार अधिक प्रचलित था । स्थानीय उपयोग हेतु देश के विभिन्न भागों से तैयार माल का आय किया जाता था। स्थानीय स्तर पर उत्पादित माल का अधिकांश भाग स्थानीय उपभोग हेतु: आंतरिक व्यापार का अंग था।

अंग्रेजी काल के दौरान राजस्थान से निर्यात होने वाली वस्तुओं में नमक, अफीम, ऊन, ऊनी वस्त्र, कपास, तिलहन, बाजरा, घी, संगमरमर एवं अन्य पत्थर, छपे कपड़े, ऊँट, बैल, दुधारू पशु, भेड–बकरी, चमड़ा आदि प्रमुख थे । इन वस्तुओं के निर्यात – व्यापार के विकास की भारी संभावनायें थी, किन्तु अनेक कारणों से उनका भरपूर विकास नहीं किया जा सकता था।

निर्यातक वस्तुओं में नमक का पहला स्थान था । किन्तु अंग्रेजों ने नमक उद्योग पर अपना एकाधिकार स्थापित कर राजस्थान के नमक उत्पादन को नियंत्रित कर दिया था । उनीसवी सदी के सातवें दशक तक नमक व्यवसाय विशेष प्रभावित नहीं हुआ था । वैसे नमक व्यवसाय पर साम्राज्यवादी प्रहार उनीसवीं सदी के आरम्भ में ही हो गया था, क्योंकि राजस्थान से ब्रिटिश भारत के भू–भागों में जाने वाले नमक पर भारी सीमा शुल्क थोप दिया गया था । राजस्थान का कोई ऐसा राज्य नहीं था जहां नमक उत्पादन न होता हो, किन्तु अंग्रेजों ने विभिन्न राज्यों के साथ नमक समझौतों के अंतर्गत सभी राज्यों में नमक उत्पादन को लगभग बंद करवा दिया था तथा महत्वपूर्ण नमक स्रोतों को अपने हाथ में ले लिया था । आधुनिक काल में केवल सांभर, पंचभद्रा एवं डीडवाना में नमक उत्पादन होता था । राजस्थान का नमक पंजाब, सिंध संयुक्त प्रांत एवं मध्य भारत में निर्यात होता था जहाँ यह काफी लोकप्रिय था ।

नमक के बाद दूसरा स्थान अफीम का था । राजस्थान में अफीम का उत्पादन मुख्यत: दक्षिणी एवं दक्षिण–पूर्वी राजस्थान में होता था । अफीम व्यापार पर भी अंग्रेजी एकाधिकार स्थापित होने के कारण राजस्थान के अफीम व्यवसाय पर भी विपरीत प्रभाव पड़ा था । अपना लाभ बनाये रखने के उद्देश्य से अंग्रेजों ने राजस्थान के अफीम उत्पादन को भारी करारोपण के द्वारा कम करने का प्रयास किया ।

कपास एवं ऊन का निर्यात राजस्थान से मेरठ, कानपुर, आगरा एवं अहमदाबाद में होता था । ऊनी वस्त्रों का निर्यात राजस्थान के समीपी स्थानों पर कुछ मात्रा में होता था । अन्य निर्यातक वस्तुओं में अनेक प्रकार के पत्थर एवं राजस्थान का पशुधन प्रमुख था ।घी का भी राजस्थान से निर्यात होता था। कृषि उत्पादो में बाजरा,' दालें एवं तिलहन निर्यातक वस्तुऐं थी । चमड़े का गुजरात एवं संयुक्त प्रांत में निर्यात होता था।

सम्पुर्ण राजस्थान के व्यापार के स्वरूप का स्पष्ट निर्धारण राज्यों की विभिन्नता के कारण संभव नहीं है । किन्तु प्रत्येक राज्य के विवरण से इसके बारे में जानकारी हासिल की जा सकती है । १९०८ में प्रकाशित इम्पीरियल गजेटियर में इस संदर्भ में उल्लेख है कि अस्थानीय उत्पादनों के निर्यात में मुख्यत: नमक, ऊन, घी, पशु, अफीम एवं छपे कपड़े थे, जबकि आयात में गेहूँ चावल., शक्कर, फल, सिल्क, लोहा, तम्बाकू आदि थे। अब प्रमुख निर्यात नमक, ऊन एवं ऊनी वस्त्र, कपास, तिलहन, अफीम, घी, मार्बल एवं बलुआ पत्थर, चमड़ा, छपे कपड़े, ऊँट, पशु, भेड़ एवं बकरी तथा मुख्य आयात में खाद्यान, अंग्रेजी एवं भारतीय सूती सामान, शक्कर, तम्बाकू, धातु, इमारती लकड़ी एवं मिट्टी का तेल शामिल थे।

उपरोक्त विवरण व्यापार के स्वरूप के संदर्भ में एक सतही जानकारी प्रदान करता है । बीकानेर राज्य मध्यकाल में व्यापार का महत्वपूर्ण केन्द्र रहा था । आधुनिक काल में यहाँ के व्यापार के संदर्भ में समकालीन विवरण १९३९ में प्रकाशित बीकानेर राज्य के इतिहास में डॉ. गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने इस प्रकार दिया है । "एक समय बीकानेर का बाहरी व्यापार बहुत बढ़ा–चढ़ा था और राजगढ़ में दूर–दूर से कारवां (काफिले) आकर ठहरते थे । वहाँ हाँसी और हिसार से होती हुई पंजाब तथा काश्मीर की वस्तुएं, पूर्वीय प्रदेशों से दिल्ली तथा रेवाड़ी होकर रेशम, महान कपड़े, नील, चीनी, लोहा और तम्बाकू, हाड़ौती और मालवा से अफीम, सिंध और मुलतान से गेहूँ, चावल, रेशम तथा सूखें फल, तथा पाली से मसाले, टिन, दवाइयां, नारियल और हाथीदांत व्यापार के लिए आते थे । इनमें से कुछ सामान तो राज्य में ही खप जाता था ' और शेष उधर से गुजरकर अन्य देशों में चला जाता था, जिसकी राहदारी से राज्य को काफी धन मिलता था । अटठारहवीं शताब्दी में कई कारणों से यह व्यापार नष्ट हो गया । अब रेल के खुल जाने, मार्गों के सुरक्षित हो जाने और राहदारी के नियमों में परिवर्तन हो जाने से व्यापार मैं पुनः वृद्धि हो गयी । यहाँ से बाहर जाने वाली वस्तुओं में ऊन, कम्बल, दरी, गलीचे, मिश्री, सज्जी, सोडा, शोरा, मुलानी मिट्टी, चमड़ा तथा पशुओं में ऊँट, गाय, बैल, भैस, भेड़, बकरी आदि मुख्य हैं । बाहर से आने वाली वस्तुओं में पंजाब, सिंध, आगरा और जयपुर से गल्ला, बम्बई, कलकत्ता और दिल्ली से कपड़ा, सिंध और अमृतसर से चावल, भिवानी, कानपुर, चंदौसी और गाजीपुर से चीनी, जयपुर, जोधपुर और सिंध से रुई, कोटा और मालवा से अफीम, सिंध और जयपुर से तम्बाकू, बंबई, कलकत्ता, करांची और पंजाब से लोहा तथा अन्य धातुऐ मुख्य हैं ।

अजमेर–मेरवाड़ा का प्रांत सीधे ब्रिटिश नियंत्रण में होने के कारण यहाँ के अनेक कस्बे व्यापार के प्रमुख केन्द्र थे । यहां से निर्यात होने वाली वस्तुओं में कपास का प्रमुख स्थान था। आयात में शक्कर, गुड़, धातु, विदेशी कपड़ा, अनाज आदि थे, जिनका आंतरिक उपभोग हेतु मेवाड़ की ओर निर्यात होता था। अपनी विशेष भौगोलिक स्थिति के कारण जयपुर भी आधुनिक व्यापार के केन्द्र के रूप में उभरा था, जो धीरे–धीरे राजस्थान का मुख्य व्यापारिक केन्द्र बनता जा रहा था ।, जयपुर से नमक, कपास, घी, तिलहन, छपे कपड़े, ऊनी वस्त्र, संगमरमर की मूर्तियाँ, पीतल के बर्तन एवं लाख के चूड़ों का निर्यात होता था तथा अंग्रेजी सामान, शक्कर,

चावल, तम्बाकू एवं लोहे के सामान का आयात होता था। कोटा आधुनिक काल में प्रमुख व्यापारिक केन्द्र का स्थान प्राप्त करता जा रहा था। कोटा का व्यापार राजस्थान के सभी भागों के साथ जुड़े होने के अतिरिक्त बम्बई, कलकत्ता एवं कानपुर के साथ भी जुड़ा हुआ था। कोटा से होने वाले निर्यातों में खाद्यान्न एवं दालें, अफीम, तिलहन, कपास एवं चमड़ा मुख्य थे जबकि मुख्य आयातों में नमक, अंग्रेजी सामान, धागा, चावल, शक्कर, गुड़, लोहा एवं अन्य धातुऐं थी।

पूर्ण ओंकड़ों के अभाव में आयात–निर्यात के सम्बन्ध में विश्लेषण संभव नहीं है। १८७९ में प्रकाशित राजपूताना गजेटियर में भरतपुर राज्य के सम्बन्ध में कुछ आकड़े दिये हैं जिनसे आयात–निर्यात की प्रवृत्तियों का आभास होता है। यह विवरण इस प्रकार है :

विवरण	१९६५–६६		१८७२–७३		१8'७४–७५	
	व्यापार मात्रा टन में	शुल्क प्राप्ति रुपयों में	व्यापार मात्रा टन में	शुल्क प्राप्ति रुपयों में	व्यापार मात्रा टन में	शुल्क प्राप्ति रुपयों में
आयात	१८,४८८	७१०००	१९,१0७	६६,१२७	१४,२९५	६५,९९७
निर्यात	१०,३८७	३२,३७०	९,३९०	३७,२४२	३०,७१२	४७,००८
निकासी	१३,८४१	८४,४०३	२१,१६१	१८,५१०	४,६९८	२४,२६४
आंतरिक	२६,५०७	५८,७६३	१८,१४५	५४,१७०	२७,९०९	६४,०७४
कुल	६९,२२३	२४६,५३६	६८,६०३	२५६,१३२	७७,०१४	२०१,३४३

उपरोक्त तालिका दर्शाती है कि आयात घट रहा थी तथा निर्यात बढ़ रहा था। किन्तु इस प्रवृत्ति को सम्पूर्ण राजस्थान के बारे में सही नहीं माना जा सकता है। निर्यात १८६५–६६, १8७२–७३ में आयात की तुलना में कम था किन्तु १8७४–७५ में निर्यात आयात से लगभग दो गुना हो गया था। भरतपुर के आगरा के समीप स्थित होने तथा कृषि क्षेत्र में समृद्ध होने के कारण भरतपुर के आयात एवं निर्यात व्यापार में लगभग ठीक संतुलन था।

व्यापार के स्वरूप के संदर्भ में यही कहा जा सकता है कि राजस्थान के निर्यात एवं आयात में सही संतुलन नहीं था। राजस्थान से निर्यात होने वाली वस्तुओं में निर्मित माल कम तथा कच्चा माल अधिक था, जबकि आयात की जाने वाली वस्तुओं में केवल तैयार माल ही था। राजस्थान से निर्यात होने वाली तैयार वस्तुओं का व्यापार भी अनेक कारणों से गिरने लगा था।

19.4 व्यापारिक शुल्क

कर निर्धारण नीति व्यापार को काफी सीमा तक प्रभावित करती है। आधुनिक काल में राजस्थान के विभिन्न राज्यों के राजस्व का एक हिस्सा व्यापारिक शुल्कों से प्राप्त होता था। प्रत्येक राज्य एवं जागीरदार अपने क्षेत्रों में होकर माल की निकासी एवं आवागमन पर सीमा शुल्क वसूल करता था। सीमा शुल्क के अतिरिक्त अनेक स्थानीय कर थे, जो स्थानीय व्यापार पर लगते थे। व्यापारिक शुल्क एवं करों की व्यवस्था बड़ी जटिल थीर जिसने व्यापार के सहज विकास के मार्ग में अनेक अवरोध उत्पन्न कर दिये थे । बीकानेर में व्यापारिक करों के संदर्भ

में १८७९ में प्रकाशित. "राजपूताना गजेटियर" में रोचक जानकारी मिलती है जो इस प्रकार थी "राहदारी" कर शहर के दरवाजों पर शहर में आने वाले सामान पर लगता था, इसकी दर दो रुपये से नौ रुपये प्रति गाड़ी (बैलगाड़ी) अथवा ऊँट पर लदे वजन पर थी, रुपाटा" नामक कर दुकानों से एवं ऊँट की बिक्री तथा अन्य वस्तुओं पर लगता था । "अफीम का सौदा" कर अफीम के सट्टेबाजों से लिया जाता था जिसकी दर २ रुपये से ६ रुपये प्रति सट्टेबाज थी । "मेह का सौदा" कर वर्षा के सट्टेबाजों से वसूल किया जाता था । इसके अतिरिक्त तुलाई एवं दलाली करने वालों पर भी कर लगता था। शिल्पकारों जैसे सुनारों, लुहारों, दर्जियों, जूता बनाने वालों आदि से लाईसेंस अथवा अनुज्ञापत्र कर, वसूल किया जाता था । १४७०–७१ की राजपूताना एडमिनिस्ट्रेटिव, रिपोर्ट में इन करों की संख्या ग्यारह बताई है जो राहदारी, रुपाटा, अफीम का सौदा, तुलाई कर, सोना रुपा की छदामी, कुड़ की लाग, सिंगोली, मेह का सौदा, कपड़े की दलाली, चौथ जमीन, गैवल आदि थे ।

व्यापारिक कर सभी राज्यों में वसूल किये जाते थे जिसमें सबसे प्रमुख सीमा शुल्क ही थे । सीमा शुल्क को राहदारी, सायर, डान, जगाता, मापा आदि नामों से जाना जाता था । १९०८ में प्रकाशित "इम्पीरियल गजेटियर" में इस संदर्भ में लिखा है कि 'सीधा व्यापार उल्लेखनीय था किन्तु अनेक माल निकासी करों जैसे राहदारी, मापा, दलाली, चुंगी आदि के कारण इसमें अनेक रुकावटें आ गयी थी । वर्तमान में चार या पांच कम महत्वपूर्ण राज्यों को छोड़कर पारगमन शुल्क या तो पूर्णत: समाप्त कर दिया गया है अथवा केवल अफीम, शराब या नशीली दवाईयों पर वसूल किया जाता है, किन्तु आयात एवं निर्यात शुल्क अभी भी अधिकांश राज्यों में वसूल किया जाता है ।

ब्रिटिश सरकार पारगमन माल पर लगने वाले शुल्कों के पक्ष मैं नहीं थी । इससे अंग्रेजों को व्यापारिक हानि अधिक होती थी क्योंकि राजस्थान में आयात होने वाला ब्रिटिश माल स्थानीय माल की तुलना में अधिक महंगा हो जाता था । अतः अपने व्यापारिक हितों की सुरक्षार्थ इन करों को समाप्त करने का प्रयास किया गया था । वैसे भी यह कर नीति अनेक बार जनता के भारी कष्ट का कारण बन जाती थी । विशेषकर अकालों के दौरान अधिक कठिनाई उत्पन्न होती थी । १८६८–७० के अकाल के समय पहली बार भारी कठिनाईयों का सामना करना पड़ा था । अकाल के समय राजस्थान में अनाज की माँग बढ़ी जिसके आयात में सीमा शुल्क बाधक थे । जयपुर राज्य ने इस मामले में पहल करते हुए १८६8 के आरंभ में ही अपने राज्य की सीमाओं में होकर अनाज की निकासी को शुल्क मुक्त कर दिया था । यह एक सही अवसर था जब अंग्रेज अपनी कर सम्बन्धी नीति को कार्यान्वित कर सकते थे । १६ दिसम्बर, १८६८ को अजमेर में ब्रिटिश अधिकारियों के साथ राजस्थान के सभी राज्यों के प्रतिनिधियों की बात हुई जिसमें अनाज पर निकासी शुल्क माफ ' करने' का निर्णय लिया गया था । किन्तु यह व्यवस्था केवल अकालों के समय से सम्बन्धित थी । १८६८ के निर्णय के बाद सभी वस्तुओं पर माल निकासी कर समाप्त करने की ओर प्रयास आरम्भ हुए थे । १८८०–१८९४ के मध्य अंग्रेज राजस्थान में माल की निकासी सम्बन्धी करों को समाप्त करवाने में सफल रहे थे । राज्यों की आय को होने वाली इस हानि की पूर्ति नशीले पदार्थो जैसे अफीम, गांजा, भांग,

चरस, शराब आदि पर माल की निकासी कर में वृद्धि कर दी गयी थी । इसकी पुष्टि जयपुर राज्य के संदर्भ में प्राप्त निम्नलिखित आंकड़ो से होती है, जो वर्ष १८८२ के है :

अफीम पर लगने वाले शुल्क की पूर्व एवं प्रस्तावित दरों का विवरण

	पिछली दर प्रतिमन रु.	वर्तमान दर प्रतिमान रु.
आयात दर		
अफीम की टिकिया	४०	50
अफीम का रस	१५	२५
निर्यात दर		
अफीम की टिकिया	२५	३५
अफीम का रस	१५	२५

असलियत तो यह थी कि अंग्रेजों की रुचि माल की निकासी पर लगने वाले शुल्क को समाप्त करवाने में थी, जिससे ब्रिटिश भारत के भू–भागों से अंग्रेजी माल राजस्थान के सभी राज्यों में सहज तरीके से पहुंच सके तथा मंहगा भी न पड़े । इसी के अनुकूल वे माल निकासी शुल्क समाप्त करवाने में सफल रहे थे । आंतरिक माल पर चुंगी आदि शुल्क निरन्तर रूप से लागू रहे थे ।

१८८० से १९०० के मध्य राजस्थान के राज्यों में चुंगी या कस्टम विभागों का पुनर्गठन किया गया था । इसके पहले की व्यवस्था यह थी कि अधिकांश राज्य चुंगी एवं राहदारी शुल्क वसूल करने का ठेका व्यक्ति विशेष को दे दिया करते थे । इस व्यवस्था के तहत ठेकेदार भारी लाभ अर्जित करते थे । चुंगी विभागों के पुनर्गठन के द्वारा ठेकेदारी व्यवस्था को समाप्त कर दिया था ।

19.5 व्यापारिक मार्गों की सुरक्षा

व्यापारियों एवं व्यापारिक मार्गों की सुरक्षा की समस्या ने राजस्थान की व्यापारिक गतिविधियों में अनेक अवरोध उत्पन्न किये थे । मुगल सामाज्य के पतन की प्रक्रिया, के साथ–साथ राजस्थान के शासकों में स्वतंत्र होने की प्रवृति तथा राज्य विस्तार की महत्वाकांक्षा बढ़ने से आपसी युद्ध एवं संघर्ष आरंभ हो गया था । इस अशांति का व्यापार पर विपरीत प्रभाव पड़ना एक स्वाभाविक बात थी । अठारहवीं सदी के चौथे दशक में मराठों के राजस्थान में प्रवेश, ने अराजकता की स्थिति उत्पन्न कर दी थी । मराठों, के सहयोगी पिण्डारी मराठों के सैनिक अभियानों में लूट की भावना से ही सम्मिलित होते थे । अत: अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में राजस्थान के व्यापारिक मार्ग असुरक्षित हो गये थे ।

१८१८ में अंग्रेजी सर्वोच्चता की स्थापना के बाद भी राजस्थान में अराजकता एवं अव्यवस्था का अंत नहीं हुआ था । नई व्यवस्था के तहत जागीरदारों की स्थिति में परिवर्तन आया था तथा उनका सैनिक एवं राजनीतिक महत्व भी कम हो गया था, जिससे इनमें असंतोष बढ़ता जा 'रहा था। असंतुष्ट जागीरदार क्रोधवश स्वयं अराजकता को बढ़ावा दे रहे थे । १८१८ की संधियों के बाद राजस्थान के राज्यों की अधिकांश सेना को भंग कर दिया गया था तथा भारी संख्या में सैनिक बेरोजगार हो गयें थे । अपनी रोजी रोटी के लिए ये लोग लूट–पाट पर

उतर आये थे । राजस्थान के आदिवासी जिनमें, भील, मेर एवं मीणा प्रमुख थे, भीं नई–व्यवस्था से, अन्दोलित हो गये थे। उदयपुर राज्य के खेरवाड़ा क्षेत्र के भीलों ने १८१८ में ही खुली बगावत आरंभ कर दी थी । परंपरागत रूप से भी अपने क्षेत्रों से गुजरने वाले व्यापारिक माल एवं काफिलों से बोलाई, एवं रखवाली नामक कर वसूल करते थे, जिसे अंग्रेजों ने बंद कर दिया था। इसके विरोध में भीलों ने अपने क्षेत्रों में व्यापारिक काफिलों को लूटना आरंभ कर दिया था। मीणा एवं मेर भी अपने क्षेत्रों में लूट–पाट एवं चोरी आदि गतिविधियों में संलग्न हो गये थे ।

उनीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक व्यापारिक मागों की असुरक्षा बनी रही अंग्रेजों ने मेरी, भीलों एवं मीणों तथा कुछ राजपूतों की नई सेनाओं का गठन किया, जिसने एक ओर इन' समुदायों के लोगों को रोजगार उपलब्ध कराया तथा दूसरी ओर इन्हीं के बल पर इनके समुदाय को कुचलने की व्यवस्था की गयी थी । जब सैनिक कार्यवाहियों ने आदिवासी एवं अन्य असंतुष्ट समुदायों के खुले विद्रोह कुचल दिये तो चोरी, डकैती एवं ठगी जैसे अपराधों में वृद्धि हो गयी थी । भारी प्रयासों के बाद १८५० तक इन अपराधों को कम करके व्यापारिक मार्ग कुछ सीमा तक सुरक्षित हो गये थे ।

परंपरागत रूप से राज्यों एवं जागीरदारों द्वारा अपने क्षेत्र से माल की निकासी पर लिया जाने वाला शुल्क इसलिए उचित था कि वे, व्यापारियों एवं व्यापारिक मार्गो को सुरक्षा प्रदान करते थे । ये कर आधुनिक काल में लिये जा रहे थे, किन्तु व्यापारियों को उचित सुरक्षा प्राप्त नहीं थी । व्यापारिक काफिलों की सुरक्षा की व्यवस्था स्वयं व्यापारी भी करते थे । व्यापारी व्यापारिक काफिलों की सुरक्षार्थ चारण जाति के रक्षक नियुक्त करते थे । चारण राजपूतों के पूजनीय थे तथा वे तलवार के धनी भी थे । चारण को मारना भी एक बहुत बड़ा अपराध माना जाता था । यदि चारण तलवार एवं ढाल से व्यापारिक काफिलों की रक्षा करने में असमर्थ होते थे तो आत्मोत्सर्ग द्वारा रक्षा करते थे । किन्तु बदलते परिवेश में इनका महत्व कम होता जा रहा था । अब व्यापारी स्वयं द्वारा नियुक्त बंदूकधारी रक्षकों का उपयोग करने लगे थे ।

मार्गों की बढ़ती हुई असुरक्षा, के कारण सुरक्षा के नये उपायों का सहारा लिया जाने लगा था। इसमें व्यापारिक माल के बीमा की प्रणाली प्रमुख थी । अनेक व्यापारी इसी कार्य में संलग्न हो गये थे तथा व्यापारिक माल को सुरक्षित पहुंचाने के लिए जोखिम लेने का व्यवसाय आरंभ कर दिया था । बीकानेर राज्य में माल की बीमा प्रणाली को हुण्डा भाड़ा के नाम से जाना जाता था । बीमा व्यवसाय करने वाले लोग माल भेजने वाले को जोखिम उठाने का गारंटी पत्र लिखकर देते थे, जिसमें माल के पूर्ण विवरण के साथ लिखा रहता था कि "ताती–सीली, चोरी–जोरी के वे जिम्मेदार है' यदि बीमा किया हुआ माल लुट जाता था या किसी अन्य कारण से इसका नुकसान होता था तो जोखिम लेने वाला उसकी पूर्ति करता था । बीमा व्यवसाय में लगे लोग स्वयं के बंदूकधारी रक्षक रखते थे । उन्नीसवी सदी के अंतिम दौ दशकों में रेल, सड़क एवं डाकतार के आरम्भ होने से व्यापारिक मार्ग स्वाभाविक तौर पूर सुरक्षित हो गये थे ।

19.6 सारांश

मध्यकाल में राजस्थान में व्यापारिक गतिविधियां काफी आगे बढ़ी हुई थी । भारत के प्रमुख व्यापारिक मार्ग राजस्थान के विभिन्न छोरों से निकलते थे तथा मुगलों की आधीनता के पश्चात् राजस्थान में शांति थी । आधुनिक काल में राजस्थान की व्यापारिक क्रियाओं में गिरावट आयी थी । अनेक पुराने व्यापारिक केन्द्र उजड़ने लगे थे एवं नये व्यापारिक केन्द्र अस्तित्व में आये। रेल एवं सड़क मार्गो के विकास ने आधुनिक काल में राजस्थान के व्यापार एवं वाणिज्य को नये आयाम दिये थे ।

परम्परागत व्यापार तो निश्चित रूप से समाप्त होने लगा था, किन्तु अंग्रेजों की रुचि राजस्थान को भी विदेशी माल का बाजार बनाने में थी । अत: आधुनिक काल में राजस्थान के व्यापारिक स्वरूप में परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं । सही बात तो यह थी कि औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगल सामाज्य का पतन आरंभ हो गया था । राजस्थान आंतरिक कलह में डूबने लगा था तथा मराँठो के सैनिक अभियानों ने भी राजस्थान को राजनैतिक व आर्थिक दृष्टि से तबाह कर दिया था । अर्थात अठारहवीं सदी में राजस्थान में व्यापारिक अवनति हुई थी । अत: अंग्रेजी सर्वोच्चता की स्थापना से राजस्थान में नये व्यापारिक युग का आरंभ हुआ था। विदेशी व्यापार में राजस्थान का स्थान पिछड़ गया था । आधुनिक काल में राजस्थान के व्यापार का स्वरूप स्थानीय स्तर का रह गया था । निर्यात की तुलना में आयात किये हुए माल का व्यापार अधिक था। 'व्यापारिक शुल्कों' के मामलों में नीति एवं नियम स्पष्ट न होकर अनेक जटिलताओं से युक्त थे । अंग्रेजों ने राजरथान में व्यापारिक शुल्कों के संदर्भ में तार्किक पद्धति लागू करने का प्रयास अवश्य किया था, किन्तु राजा व जागीरदारों ने इस दिशा में अड़चने पैदा की थी । अंग्रेज चाहते तो अपनी निश्चित नीति थोप संकते थे, किन्तु राजस्थान के व्यापार में अंग्रेजों की अधिक रुचि नहीं थी । अत: अकारण अंग्रेज राजा एवं जागीरदारों को नाराज करना नहीं चाहते थे ।

राजस्थान में अंग्रेजी सर्वोच्चता की स्थापना के उपरांत भी अराजकता एवं अव्यवस्था का अंत नही हुआ था । अत: उनीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक भी व्यापारिक मार्ग असुरक्षित रहे। चोरी, ठगी, डकैती, राहजनी इत्यादि अपराधों को कुचलने में अंग्रेजों को कुछ समय लगा था। बीमा प्रणाली लागू होने से व्यापारिक सुरक्षा बढ़ी थी । जोखिम लेने का व्यवसाय काफी फला फूला एवं इन्होंने व्यापारिक काफिलों व सामान के साथ बंदूकधारी रक्षकों को भेजना आरंभ किया था । रेल, सड़क एवं डाकतार आरंभ होने से व्यापारिक मार्ग स्वाभाविक तौर पर सुरक्षित हो गये थे, जिससे व्यापारिक गतिविधियों में निश्चितता की स्थिति आई थी। आधुनिक कालीन राजस्थान जन जीवन से भरपूर था । अत: समाज की आवश्यकता के अनुकूल व्यापारिक क्रियायें भी संचालित थी ।

19.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

(i) राजस्थान में अंग्रेजी सर्वोच्चता की स्थापना के व्यापार पर क्या प्रभाव पड़े?

(ii) आधुनिक काल के राजस्थान के प्रमुख व्यापारिक केन्द्रों का विवरण दीजिये।

(iii) आधुनिक काल में राजस्थान के व्यापारिक स्वरूप का विश्लेषण कीजिये।

(iv) आधुनिक कालीन राजस्थान में व्यापारिक शुल्क पर प्रकाश डालिये ।

19.8 संदर्भ ग्रंथों की सूची

1. ब्रजकिशोर शर्मा : आधुनिक राजस्थान का आर्थिक इतिहास
2. आरपी. व्यास, : आधुनिक राजस्थान का वृहद् इतिहास, भाग–2
3. कालू राम शर्मा : उन्नीसवीं सदी के राजस्थान का सामाजिक एवं आर्थिक जीवन
4. पी.एस चौधरी : राजस्थान बिटविन टू वर्ल्ड वार्स
5. एम. एस. जैन : आधुनिक राजस्थान का इतिहास।

इकाई - 20
परिवहन एवं संचार

इकाई की रूपरेखा

20.0 उद्देश्य
20.1 प्रस्तावना
20.2 रेल मार्गो का विकास
20.3 सड़क मार्गों का विकास
20.4 संचार साधनों का विकास
20.5 सारांश
20.6 अभ्यासार्थ प्रश्न
20.7 संदर्भ ग्रन्थों की सूची

20.0 उद्देश्य

(i) राजस्थान में परिवहन एवं संचार के आधुनिक साधनों के विकास के इतिहास का विवरण देना ।

(ii) सामाजिक व आर्थिक जीवन में परिवहन एवं संचार साधनों के योगदान को समझाना।,

20.1 प्रस्तावना

परिवहन एवं संचार साधनों की सकारात्मक सामाजिक–आर्थिक भूमिका होती है । व्यापार में इनके महत्व को कम करके नहीं आंका जा सकता । उनीसवी सदी के अंतिम तीन दशकों के दौरान परिवहन, यातायात एवं संचार के आधुनिक साधनों का विकास हुआ । इसके पूर्व परमपरागत साधन ही मुख्य थे, जो व्यापारिक कार्यो के संचालन में उपयोगी थे । यातायात एवं परिवहन के परम्परागत साधनों में मुख्यत: ऊँट, बैल, घोड़े, गधे, खच्चर, टट्टू, बैल गाड़ियों एवं ऊँट गाड़ी आदि का उपयोग होता था । बैल गाड़ियों अथवा ऊँट गाड़ियों का उपयोग स्थानीय स्तर पर कम दूरी के लिए होता था। लम्बी दूरी तक माल के लाने ले जाने का कार्य अधिकांशत: बैलों अथवा ऊँटों की पीठ पर लादकर किया जाता था'। 1870 की अकाल रिपोर्ट में उल्लेख मिलता है कि राजस्थान से बाहर जाने वाले नमक के ढोने के कार्य में 3,50,000 बैल एवं 50,000 ऊँट संलग्न थे, जबकि नमक ढोने के लिए 5 लाख बैलों की आवश्यकता थी । पारगमन व्यापार में माल परिवहन के कार्य में मुख्यत: बनजारे संलग्न थे ।

वनजारों का राजस्थान की व्यापारिक क्रियाओं में भारी महत्व था, जो रेलवे की स्थापना के बाद कम होने लगा था । बनजारा जैसा कि शब्दार्थ से स्पष्ट है कि विपणन अथवा, व्यापार से जुड़े लोगों की एक व्यावसायिक जाति थी । बनजारे हिन्दू एवं मुसलमान दोनों धर्मो को मानने वाले थे जिन्हें क्रमश: हिन्दू बनजारा एवं मुसलमान बनजारों के नाम से जाना जाता है । बनजारों का पारगमन व्यापार में संलग्न होने का ही परिणाम था कि वे यूरोप के देशों में भारी संख्या में पहुँच गये थे । विशेषकर जर्मनी के जिप्सी लोगों को राजस्थान के बनजारा बताया जाता है । मध्यकाल से ही बनजारों का राजस्थान की व्यापारिक गतिविधियों में महत्वपूर्ण

स्थान था । बनजारे एक स्थान से दूसरे स्थान तक सामान, लाकर एवं ले जाकर आंतरिक एवं बाह्य व्यापार के संचालन में भारी सहयोगी थे । अकालों के समय बनजारों का अनाज लेकर जोधपुर में आना वांछित था । 1783 में जोधपुर महाराजा ने धन्ना, दुर्गा, मोती एवं उनके नेता नानू को हीरों का हार एवं सम्मान वस्त्र प्रदान किये थे जो इस वर्ष जोधपुर अनाज लेकर आये थे ।

बनजारों के संदर्भ में अनेक रोचक जानकारियां मिलती है । एक रोचक विवरण इस प्रकार है "बनजारा" (या बिणजारे) वाणिज्य करने से विख्यात हुए हैं । रेल के पहले बिणजारों की वालद से ही लाखों मण माल भारत के हर प्रांत में भेजा जाता था । "हिन्दी विश्वकोष" में लिखा है कि बनजारा का नाम दशकुमार भी है । इनके कई देश और कई खांप हैं । मथुरा के बनजारे "मथुरिया" कहलाते है । लवण बेचने वाले लुणीया कहलाते है और इधर–उधर आने जाने वाले "चारण" कहलाते है । मुसलमान बादशाहों के जमाने में इस देश के राजाओं का माल असबाब ये ही लाते ले जाते थे । यह संवत् 1565 में पहले पहल यहाँ आए थे । 1587 में आसुफ–जई के अधींने रहे थे। उसने इनको तांबे के पत्र में सोने के अक्षर लिखवा के पट्टा कर दिया था जिसको देखकर सभी देश इन पर विश्वास करते थे और हैदराबाद के नवाब ने इनको सम्मान का खिलअत दिया था । इनमें लक्खी बिणजारा विशेष विख्यात हुआ । उसके पास एक लाख बैल थे और वह परम विश्वासी था । उसने भारत में अनेक जगह अति विशाल कुएं और बावड़ी बनवाई थी । उसके वंशजों का कहना है कि चौमू की बावड़ी उसी की बनवाई हुई है । वह बड़ा पक्का हिसाबी था । अपने दौरे में हजारों बैलों पर माल लाद कर हर जगह यथा–स्थान पहुँचाता और प्रत्येक व्यापारी का पूरा माल तथा हिसाब संभलाता था । उसके सब हिसाब जबानी रहते थे परन्तु किसी में कोड़ी की भी गलती नहीं होती थी । उसके बैले और आदमी हर जिले में मौजूद रहते थे । उन दिनों चौमू में भी 4 हजार बैल थे जिनकों जोगी लादते थे । हर्दोई जिला में मुसलमान बनजारे है । मद्रास में रामभक्त सुग्रीव के वंश के बनजारे है । पश्चिम के बनजारे 36 गोत्र के है । भटनेर के बनजारे वैद कहलाते है । ये जादू भी जानते है । और मुकेरी के बनजारे मक्का से आए हुए है। बहुरुपिया बनजारे हिन्दू है । बनजारों के अतिरिक्त व्यापारिक माल परिवहन के व्यवसाय में अनेक लोग संलग्न थे। भिवानी से मारवाड़ एवं बीकानेर तथा बीकानेर से भावलपुर मार्ग पर व्यापारिक माल लाने व ले जाने का कार्य सिक्ख लोग करते थे, जिन्हें "दीवाना फकीर" कहा जाता था। जैसलमेर, जोधपुर से पंजाब के मार्ग पर मुलर ब्राह्मण यह कार्य किया करते, थे ।

उनीसवी सदी तक राजस्थान में यातायात एवं परिवहन पशुओं पर ही आधारित रहा था । पशुओं द्वारा संचालित गाड़ियों का प्रचलन भी अधिक नहीं था, जिसके कारण प्राकृतिक एवं भौगोलिक थे । बैल अथवा ऊँट गाड़ियां पहाड़ों, रेगिस्तान, एवं नदी नालों के मार्गो से नहीं निकल सकती थी । अत: पशुओं की पीठ पर लाद कर ही सामान की दुलाई संभव थी । वर्षा के मौसम में बनजारों द्वारा पशुओं पर लाद कर सामान ढोने का कार्य भी बंद हो जाता था । उनीसवी सदी के अंतिम तीन दशकों में रेल एवं सड़क निर्माण के कार्य आरम्भ होने से

यातायात एवं परिवहन के आधुनिक साधन अस्तित्व में आये तथा बीसवीं सदी में ये साधन प्रमुख एवं महत्वपूर्ण बन गये थे

20.2 रेल मार्गो का विकास

परिवहन एवं यातायात के साधनों मे रेल मार्गों के निर्माण एवं विकास का महत्वपूर्ण स्थान है । रेल मार्गों के बाद दूसरा महत्वपूर्ण स्थान सड़क मार्गो का था । भारत में रेल मार्गों के निर्माण के पीछे मुख्य तीन उद्देश्य थे । पहला – सैनिक, दूसरा – प्रशासनिक एवं तीसरा – व्यापारिक। 1884 की रिपोर्ट ऑफ दि कमेटी ऑन रेल्वेज इन इंडिया में इसके चार प्रमुख उद्देश्य बताये थे – (i) अकालों से सुरक्षा प्राप्त करना. (ii) रेलवे के पहुँचने से अधिक लाभकारी फसलों का विकास, (iii) कोयला खानो का विकास तथा (iv) जनता की आर्थिक दशा में सुधार । इन उद्देश्यों से भी इन्कार नही किया जा सकता किन्तु इसके पीछे अंग्रेजी आयातित वस्तुओं को भारत के दूरदराज तक के क्षेत्रों तक पहुँचाना तथा वहां से कच्चे माल को बंदरगाहों तक लाना था तथा दूसरा भारतीय सायाज्य की सुरक्षार्थ सेना को आसानी से सभी भागों तक पहुँचाना था । मूल उद्देश्य तो यही थे, किन्तु रेलों के विकास से अन्य अनेक, सामाजिक आर्थिक लाभ भी स्वाभाविक तौर पर हुए थे। राजस्थान में रेल मार्गो का निर्माण 1874–1881 के मध्य हुआ तथा 1881 में रेल मार्ग की कुल लम्बाई 652 मील, 1891 मे 943 मील, 1901 में 1359 मील तथा 1906 में 1576 मील' थी। इनमें सें 739 मींल रेल मार्ग ब्रिटिश सरकार की सम्पत्ति 'थी एवं शेष' विभिन्न रियासतों के स्वामित्व में था तथा 48 मील के अतिरिक्त सम्पूर्ण रेलमार्ग छोटी नाम का था।

राजस्थान का सबसे पुराना एवं महत्वपूर्ण रेल' मार्ग राजपूताना–मालवा था जिसका स्वामित्व ब्रिटिश सरकार का था एवं इसकी कुल लम्बाई लगभग 720 मील थी । इस रेल 'मार्ग को निर्माण 1874 से 1881 के मध्य हुआ तथा यह मार्ग भारत सरकार की ओर से बोम्बे बड़ौदा एण्ड सैट्रल इंडिया रेलवे कंपनी द्वारा संचालित था तथा समय–समय पर' इसका कार्यकाल बढ़ा दिया जाता' जाता था। इसकी एक शाखा बांदीकुई से आगरा तथा दूसरी दिल्ली की ओर जाती थी। इसकी अन्य शाखाऐं क्रमश: अजमेर से दक्षिण में नीमच तक तथा फुलेरा से उत्तर–पूर्व में रेवाड़ी तक थी।

राजस्थान में ब्रिटिश सरकार का दूसरा रेलमार्ग ग्रेट इंडिया पेनिसुला रेलवे का मध्य भाग भारतीय अनुभाग का था थी, जो आगरा से ग्वालियर, के मध्य धौलपुर राज्य में होकर 19 मील था । यह बेड़ी नाप का रेलमार्ग था तथा 1878 में आरंभ हुआ था ।

राजस्थान में राज्यों द्वारा संचालित रेलमार्गो मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण जोधपुर–बीकानेर रेल मार्ग था, जो दोनों राज्यों' की जो दोनों राज्यों की संपति था । राजस्थान के राज्यों के निजी रेल मार्गो की तुलना में इस मार्ग का विस्तार भी सबसे अधिक था । इस रेल मार्ग का निर्माण 1881 से 1902 के मध्य, हुआ तथा 1904 तक इसमें दोनों राज्यों की लागत पूँज 173 लाख रुपये थी तथा वार्षिक आयु 13.5 लाख को पार कर चुकी थी । इस प्रकार कुल लागत पूंजी पर 8 प्रतिशत का लाभ था।, 1902 में इसकी कुल लम्बाई 824 मील थी । कुल

लम्बाई में से 700 मील राजस्थान में था जिसमें से 455 जोधपुर राज्य में एवं 245 बीकानेर राज्य में था तथा शेष 124 मील ब्रिटिश भू–भागों में स्थित था,। यह मार्ग राजपूताना मालवा के मारवाड़ जंक्शन से आरम्भ, होकर उत्तर–पश्चिम में 44 मील चलकर लूनी पहुँचता था, जहाँ से इसकी दो शोखाऐं थी, पहली शाखा जोधपुर, मेडता रोड एवं बीकानेर से पंजाब में भटिंडा तक जाती थी। इसकी एक अन्य शाखा मेड़ता से कुचामन रोड तक चलकर राजपूताना– मालवा मार्ग में मिल जाती थी । दोनों राज्यों में रेल मार्ग का विस्तार निरंतर होता रहा तथा 1929 में जोधपुर–बीकानेर रेल' मार्ग की लम्बाई 1190 मील थी जिसमें से 617 जोधपुर में एवं 563 बीकानेर में थी। इसके अतिरिक्त जोधपुर–हैदराबाद रेलमार्ग तथा 'मीरपुर रेल मार्ग था जिसकी लम्बाई 227 मील थी एवं इस पर ब्रिटिश सरकार का स्वामित्व था।

अन्य रेल मार्गो में उदयपुर चितोड़ रेल मार्ग भी प्रमुख था । इसकी कुल लम्बाई 67 मील थी तथा उदयपुर दरबार की सम्पत्ति था । इस मार्ग का निर्माण 1895 एवं 1899 के क्या हुआ तथा 1898 से यह कार्यशील था। 1904 के अंत तक इसमें लगभग 21 लाख रुपये की पूंजी लगी हुई थी तथा औसत लाभ 5 प्रतिशत था । यह मार्ग उदयपुर को राजपुताना–मालवा रेल मार्ग से जोड़ता था।

जयपुर राज्य के लम्बे भू–भाग में होकर राजपूताना मालवा रेल मार्ग निकलता था । इसके अतिरिक्त दरबार का निजी रेल मार्ग भी था। जयपुर से सवाई– माधोपुर रेल मार्ग का निर्माण कार्य 1907 में पूरा' हुआ तथा इसकी कुल लम्बाई 73 मील थी । दूसरा रेल मार्ग जयपुर से रींगस होकर पलसाना तक था, जिसकी लम्बाई 51 मील थी एवं 1918 मे प्रारम्भ हुआ था। इस मार्ग का धीरे–धीरे विकास हुआ तथा लुहारू तक इसका विस्तार हुआ जिससे जयपुर राज्य में शेखावाटी का विस्तृत भू–भाग रेल व्यवस्था के अंतर्गत आ गया था । इसी समय नागदा मधुरा रेल मार्ग तैयार हुआ था तथा इसका सवाई–माधोपुर से गंगापुर सिटी तक का रेल मार्ग – जयपुर सरकार ने 85 हजार रुपये में खरीद लिया था।

कोटा दरबार के निजी स्वामित्व में बीना–गुना–बाँरा रेलमार्ग का मात्र 29 मील लम्बा मार्ग था, जिस पर रेल गाड़ियों का आवागमन 1899 में प्रारम्भ हुआ था तथा यह ग्रेट इंडिया–पेनिसुला रेलवे के प्रबन्ध में था। इस मार्ग पर कोटा के भू–भाग में 17 लाख रुपये पूंजी लगी थी तथा औसत मात्र 1.5 प्रतिशत था । यह मार्ग टोंक राज्य के छबड़ा जिले से 22 मील तक गुजरता था, किन्तु इस मार्ग का यह भाग ग्वालियर राज्य के स्वामित्व के अंतर्गत था। 1913 में नागदा–मथुरा रेल मार्ग के खुल जाने सें कोटा एक महत्वपूर्ण रेल मार्ग का संगम स्थल बन गया था तथा कोटा कोटा राज्य के भू–भाग से गुजरने वाले इस मार्ग को 32 लाख रुपये के बदले कोटा दरबार ने खरीद लिया था ।

राजस्थान में रेल मार्गो के निर्माण, एवं विस्तार के महत्व को कम करके नही आंका जा सकता है । रेलों के लाभ ही अधिक थे। 1908 के इम्पीरियल गजेटियर, जिल्द XXI,पृ.135 में राजस्थान में रेल मार्ग का महत्व अंकित करते हुए लिखा था कि मरेल–मार्गो द्वारा जनता को मिलने वाले लाभों, विशेषकर अकालों के समय के लाभों को बढ़ा–चढ़ाकर

देखना कठिन होगा। इसके बिना 1899–1900 में हजारों लोग और पशु मर गये होते ।यह (रेलमार्ग) कीमतों के स्थिरीकरण एवं समानीकरण तथा असंगठित ग्रामीण अर्थ–व्यवस्था से स्थानीय अभावों को रोकने में प्रभावी रहा है तथा व्यापार योग्य कृषि उत्पादनों को प्रोत्साहन, देने के कारण सामान्य समृद्धि को बढ़ाने में सफल रहे है । रेल मार्गों ने लोगों के स्वभाव (आदत) को जो प्रभावित किया है, यह कहा जा सकता है कि इसने जातीय पाबंदियों को कम किया है इससे अच्छी हिन्दुस्तानी (खड़ी हिंदी) भाषा से परिचय हुआ है तथा प्रत्येक दिन' के उपयोग में अंग्रेजी शब्दों का उपयोग बढ़ा है ।

राजस्थान में रेल मार्गों के निर्माण के लाभ अधिक थे। अंग्रेज शासकों ने अपने साम्राज्यवादी हितों की पूर्ति हेतु रेल मार्गों का निर्माण किया था । राजस्थान के शासकों से को इसके लिए उत्साहित करने के अनेक प्रयास किये थे । शासक वर्ग रेलों के पक्ष में नहीं थे, क्योंकि रेल मार्गों के विकास से राजस्थान के राज्यों पर ब्रिटिश नियंत्रण अधिक बढ़ने की संभावना थी । इसका दूसरा कारण रेलों से सामाजिक चेतना के बढ़ने को माना जा सकता है जो सामंती व्यवस्था के लिए चुनौती उपस्थित कर सकती थी । इसके अतिरिक्त राजस्थान के शासकों रेलों के सम्बन्ध में कोई जानकारी भी नहीं थी । अंग्रेजों ने राजस्थान में रेल निर्माण प्रोत्साहित किया । इसके बाद राजस्थान के राज्यों के बीच निजी रेलमार्गो का निर्माण कार्य प्रारम्भ हुआ था, जो कि मुख्य राजपूताना–मालवा रेल व्यवस्था के साथ भली–भाँति जुड़ने लगे थे ।

20.3 सड़क मार्गो का विकास

राजस्थान में सड़क निर्माण कार्य भी रेल मार्ग से अधिक पुराना नहीं था । वैसे आधुनिक सड़क का निर्माण कार्य रेल मार्गो के निर्माण से लगभग दो दशाब्दी पहले आरम्भ हुआ था। सड़क निर्माण के पीछे भी अंग्रेजों के उद्देश्य सैनिक एवं व्यापारिक थे। यहाँ एक बात उल्लेखनीय है कि सड़क निर्माण में प्रगति रेल मार्गों के निर्माण के साथ ही अधिक हुई थी। रेल मार्गो ने सड़क मार्गो का निर्धारण सरलता से किया था' । मुख्य सड़कें लगभग रेलमार्गो के समानान्तर ही निर्मित हुई थी तथा सहायक सड़के रेलवे स्टेशनो से जोड़ी गयी थी।

1908 में राजस्थान में पक्की सड्कों की कुल, लम्बाई 1190 मील थी एवं कच्ची' सड़के 2360 मील थी, जिसमें से 250 मील ब्रिटिश सरकार द्वारा सम्पोषित तथा शेष विभिन्न राज्यों के नियंत्रण में थी। 1949 में राजस्थान प्रदेश के गठन के समय राजस्थान में कुल 3374 मील पक्की सड़कें एवं कुल 5940 मील कच्ची सड़के थी।

राजस्थान की पहली विशाल सड़क का निर्माण 1865 एवं 1875 के' मध्य आगरा से डीसा (गुजरात) के' बीच हुआ। इसकी कुल लम्बाई को 360r मील हिस्सा राजस्थान के भरतपुर, जयपुर, किशनगढ़, जोधपुर एवं सिरोही राज्यों से होकर गुजरता था। इस सडक निर्माण का व्यय 'आंशिक तौर पर ब्रिटिश सरकार ने तथा, शेष सम्बन्धित राज्यों के द्वारा वहन किया गया था। इसी समय दूसरी महत्वपूर्ण सड़क का निर्माण नासीराबाद से नीमच के बीच हुआ जो मूल रूप 'से एक सैनिक थी एवं दो प्रमुख' सैनिक छावनियों को जोडती थी। अन्य महत्वपूर्ण सड़कों' देवली–नसीराबाद सड़क जो दो महत्वपूर्ण सैनिक छावनियों को जोड़ती थीं की लम्बाई 57 मील

थी एवं 1871में बनी। एक अन्य सड़क उदयपुर से नीमच के बीच 1879 में तैयार हुई थी। उदयपुर से खैरवाड़ा के' बीच 1876–77 में' सड़क निर्माण कार्य आरम्भ हुआ था।

उन्नीसवीं सदी के अंत तक सड़कों का जाल राजस्थान के विस्तृत भू–भोग में फैल' चुका था। उन्नीसवी सदी के अंत में अकाल राहत नीति कें अंतर्गत सड़क निर्माण कों प्राथमिकता देना आरम्भ में दिया था। बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध अव्वल राहत कार्यो के तहत अनेक स्थानिय सड्कों का निर्माण हुआ, जिससे दूरदराज के क्षेत्र मुख्य सड़क मार्गो अथवा रेलवे स्टेशनों से जुड़ गये थे।

1908 में ब्रिटिश सरकार की सड़कों के अतिरिक्त विभिन्न राज्यों के नियंत्रण में पक्की सड़कों की लम्बाई जयपुर राज्य में 292 मील, भरतपुर में 165 मील, कोटा में 143 मील तथा उदयपुर में 142 मील थी। 1918 से 1939 के मध्य राजस्थान के विभिन्न राज्यों में सड़क निर्माण की प्रगति निम्नानुसार थी –

राज्य	पक्की सड़क		कच्ची सड़क	
	1918	1939	1918	1939
जयपुर	283	570	230	330
भरतपुर	165	2,398	23	138
कोटा	143	_	410	_
उदयपुर	142	353	257	_
अलवर	68	189	183	390
जोधपुर	48	334	108	775
बीकानेर	59	_	_	_
अन्य	32	_	843	_
बिटिश सरकार	250	_	_	_

सड़क निर्माण ने प्रदेश के आर्थिक महत्व को बढ़ाने में भारी मदद की थी। सड्कों के माध्यम से अकालों के समय चारा, अनाज, पानी आदि की अपूर्ति में भारी सुविधा हो गयी थी। इससे बाजारों के विकास एवं शहरीकरण में भी सहायता मिली थी। कुल मिलाकर परिवहन एवं यातायात के आधुनिक साधनों के विकास ने राजस्थान में सामाजिक एवं आर्थिक गतिशीलता को बढ़ावा दिया जो आर्थिक सामाजिक विकास का साधन बनी।

20.4 संचार साधनों का विकास

संचार के साधनों की व्यापार एवं वाणिज्य में महत्वपूर्ण भूमिका होती है। आधुनिक काल में राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय बाजार व्यवस्था के विकास में संचार साधनों ने निर्णायक भूमिका निभाई है। संचार साधयों के माध्यम से बाजार भाव, वस्तु की मांग एवं आपूर्ति आदि सरल, सुरक्षित एवं सुगम तरीके से संभव होती हैं। राजस्थान में संचार के आधुनिक साधनों का आरम्भ एवं विकास 1839 से हुआ।

परम्परागत डाक व्यवस्था समाज के विशिष्ट वर्गो के लिए थी तथा इसका प्रसार एवं प्रचलन सीमित पैमाने पर था। प्रत्येक राज्य की अपनी डाक व्यवस्था थी, जिसका संचालन हरकारों के माध्यम से होता था। राज्यों की डाक में सरकारी पत्र व्यवहार, एक दूसरे राज्य के साथ पत्रों का आदान–प्रदान, शासन के राजधानी से बाहर रहने पर सम्पर्क बनाये रखने आदि से सम्बन्धित होती थी। राज्यों के नमूने पर बड़े जागीरदार नियमित डाक व्यवस्था रखते थे, जबकि छोटे जमारिदार आवश्यकता पड़ने पर अपने हरकारों से डाक भेजते थे। इसी प्रकार व्यापारी भी अपनी निजी डाक व्यवस्था रखते थे।

राजस्थान में अंग्रेजी सर्वोच्चता की स्थापना के बाद अंग्रेजों ने भी अपनी निजी डाक व्यवस्था आरम्भ की थी। डाक संचालन हेतु डाक घरों की स्थापना भी आरम्भ हुई। 1839 में जोधपुर ब्रिटिश रेजीडेन्सी की स्थापना के बाद जोधपुर में पहला अंग्रेजी डाक घर स्थापित हुआ था। 1866–67 में जयपुर राज्य में 18 अंग्रेजी डाक घर स्थापित किये गये थे। 1880 के बाद सम्पूर्ण राजस्थान मैं अंग्रेजी डाक घरों का जाल बिछ गया था। 1880–81 से 1902–03 के बीच डाक व्यवस्था की प्रगति नामांकित आँकडों से स्पष्ट होती है -

विवरण	1880–81	1890–91	1900–01	1902–03
फेस्ट आफिसों की संख्या	85	225	303	343
लैटर बॉक्सों की संख्या	44	131	227	249
डाक संचार मीलों में	2072	3661	4797	5311
डाक द्वारा भेजी गई वस्तुओं की संख्या				
लैटर्स	3,067,096	4670784	5656474	6,044490
पोस्टकार्डस	172,394	2099360	4850693	5797338
पैकेट्स	31911	134239	251,195	330,657
समाचार पत्र	16078	346088	275,900	403111
पार्सल	42,522	56599	84,523	97741
बेचे गये टिकटों का मूल्य रु.	78909	21794	228818	209922
धनादेशों की राशि रु.	1245500	3560710	6623911	5054753
बचत बैक जमा राशि रु.	–	754308	1,023,911	1,224,583

बूंदी, धौलपुर, डूंगरपुर, जयपुर, किशनगढ़, शाहपुरा एवं उदयपुर राज्यों में ब्रिटिश पोस्ट आफिसों के अतिरिक्त इन की अपनी डाक व्यवस्था भी थी इस स्थानीय डाक सेवा का प्राथमिक उद्देश्य सरकारी पत्र–व्यवहार का आदान–प्रदान था, किन्तु, जनता भी इसका उपयोग शुल्क देकर कर सकती थी या बूटी, जयपुर एवं किशनगढ़ में डाक टिकट लगाकर उपयोग कर सकती थी ।

संचार के साधनों में डाकव्यवस्था के बाद दूसरा स्थान तारघरों का था । राजस्थान में तारघरों की स्थापना रेल मार्गो के साथ ही हुई थी तथा इसका संचालन का कार्य रेल अथवा सेना विभागों द्वारा किया जाता था । राजस्थान में पहली तार, व्यवस्था आगरा–अजमेर के मध्य 1864 में आरम्भ हुई थी । इस वर्ष स्वाभाविक तौर पर जयपुर–अजमेर एवं जयपुर–

आगरा के मध्य भी तार व्यवस्था आरम्भ हो गयी थी । उनीसवीं सदी के अंत तक राजस्थान के सभी राज्यों के मुखालय तार व्यवस्था से जुड़ गये, थे ।

संचार के आधुनिक साधनों ने राजसम्मान के व्यापारिक केन्द्रों को भारत के बड़े व्यापारिक केन्द्रों के साथ जोड़ने का महत्वपूर्ण कार्य किया । इनका केवल आर्थिक महत्व ही नहीं था, बल्कि सामाजिक एवं राजनीतिक महत्व भी था । अत : संचार के आधुनिक साधन राजस्थान के आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक उत्थान में सहायक हुये ।

20.5 सारांश

मध्यकाल में राजस्थान का भारत के आंतरिक एवं विदेशी व्यापार में महत्वपूर्ण स्थान था, जो आधुनिक काल में समाप्त हो गया था । राजस्थान में व्यापारिक एवं पूंजी निवेश की क्षीण संभावनाओं के कारण राजस्थान के व्यापारी वर्ग का ब्रिटिश भारत के भू–भागों में भारी निक्रमण हुआ ।

उनीसवीं सदी में पुराने व्यापारिक मार्ग वीरान होने लगे थे तथा नये व्यापारिक केन्द्र भी अस्तित्व में आये । नये व्यापारिक केन्द्रों के विकास में अंग्रेजों की स्वाभाविक रुचि थी, जिसमें अंग्रेजी माल के व्यापार का विकास किया जा सका था। बड़े व्यापारिक केन्द्रों का विकास संभव नहीं था, क्योंकि आधुनिक काल में राजस्थान के व्यापार का स्वरूप स्थानीय स्तर का ही रह गया था । व्यापारिक क्रियाओं में निर्यात के स्थान पर अयात अधिक था । नमक एवं अफीम के निर्यात की संभावनाऐं थी, किन्तु ब्रिटिश नियंत्रण के कारण इनके उत्पादन में गिरावट आयी, जिससे व्याप्त संभावनायें समाप्त हो गयी थी । व्यापार के विकास में राज्यों की कर एवं शुल्क नीति भी बाधक थी । उनीसवीं सदी में व्यापारिक मार्गो की असुरक्षा ने भी व्यापार के विकास को अवरुद्ध किया था । अविकसित, परिवहन यातायात एवं संचार के साधनों के कारण भी व्यापार का विकास संभव नहीं था ।

उन्नीसवीं सदी के अंतिम दो दशकों में परिवहन एवं संचार के आधुनिक साधनों के विकास ने व्यापारिक क्रियाओं को बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी । परिवहन एवं संचार साधनों के विकास का सामाजिक प्रगति में भी भारी योगदान रहा था ।

20.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

(i) परिवहन एवं संचार के आधुनिक साधनों के विकास के पूर्व राजस्थान में इनकी व्यवस्था क्या थी ?

(ii) आधुनिक कालीन राजस्थान मे रेल मार्गो के विकास का विवरण देते हुए इसके आर्थिक लाभों का विश्लेषण कीजिए ।

(iii) आधुनिक काल में राजस्थान में सड़क मार्गो के विकास कु विवरण दीजिए ।

(iv) आधुनिक संचार के साधनों का ब्रिटिश कालीन राजस्थान में महत्व बताइये ।

20.7 संदर्भ

1. ब्रजकिशोर शर्मा : आधुनिक राजस्थान का आर्थिक इतिहास

2. आर.पी. व्यास : आधुनिक राजस्थान का वृहद् इतिहास, भाग–2

3. कालू राम शर्मा : उनीसवी सदी कें राजस्थान को सामाजिक एवं आर्थिक जीवन
4. पी.एस चौधरी : राजस्थान बिटविन टू वर्ल्ड वार्स
5. एम. एस. जैन : आधुनिक राजस्थान का इतिहास ।